

उत्तरपुराण

अनुक्रमणिका

- 48) भगवान अजितनाथ, सगर चक्रवर्ती चरित
- 48) भगवान सम्भवनाथ चरित
- 50) भगवान अभिनन्दननाथ चरित
- 50) भगवान सुमतिनाथ चरित
- 52) भगवान पद्मप्रभनाथ चरित
- 52) भगवान सुपार्श्वनाथ चरित
- 54) भगवान चन्द्रप्रभ चरित
- 54) भगवान सुविधिनाथ चरित
- 56) भगवान शीतलनाथ चरित
- 56) भगवान श्रेयांसनाथ, विजय बलभद्र, त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण चरित
- 58) भगवान वासुपूज्य, त्रिपृष्ठ नारायण, अचल बलभद्र और तारक प्रतिनारायण चरित
- 58) भगवान विमलनाथ, धर्म बलभद्र, स्वयंभू नारायण और मधु प्रतिनारायण चरित
- 60) भगवान अनन्तनाथ, सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण, मधुसूदन प्रतिनारायण चरित
- 60) भगवान धर्मनाथ, मघवा चक्रवर्ती, सनत्कुमार चक्रवर्ती चरित
- 62) अपराजित बलभद्र तथा अनन्तवीर्य नारायण चरित
- 62) शान्तिनाथ तीर्थकर और चक्रवर्ती चरित
- 64) कुन्थुनाथ तीर्थकर और चक्रवर्ती चरित
- 64) भगवान अरनाथ, सुभौम चक्रवर्ती, नंदीषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायण चरित
- 66) भगवान मल्लिनाथ, पद्म चक्रवर्ती, नंदिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण बलीन्द्र प्रतिनारायण चरित
- 66) भगवान मुनिसुव्रत, हरिषेण चक्रवर्ती, राम बलभद्र, रावण प्रतिनारायण, राजा सागर, सुलासा, मधुपिंगल, राजा वसु, क्षीरकदम्बक, पर्वत, नारद चरित
- 68) राम, लक्ष्मण, रावण और अणुमान चरित
- 68) भगवान नमिनाथ, जयसेन चक्रवर्ती चरित
- 70) भगवान नमिनाथ, श्रीकृष्ण चरित
- 70) श्रीकृष्ण, बनदेव, श्रीकृष्ण की पट्टरानियां
- 72) नमिनाथ भगवान, प्रद्युम्नकुमार, पद्म बलभद्र, कृष्ण, जरासन्ध, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती चरित
- 72) भगवान पार्श्वनाथ चरित
- 74) भगवान महावीर, सती चंदना, राजा श्रेणिक, अभयकुमार, राजा चेटक, चेलना, जीवन्धर चरित
- 74) राजा चेटक, चेलना, जीवन्धर चरित
- 76) राजा श्वेतवाहन, जम्बू-स्वामी, प्रीतिकर मुनि, कल्कि-पुत्र अजितंजय, प्रलय-काल, आगामी तीर्थकर
- 76) पर्व - 77

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्री-गुणभद्राचार्य-प्रणीत

श्री

उत्तर-पुराण

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥3॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-उत्तर-पुराण नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तारः श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तारः श्री-गणधर-देवाः प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-गुणभद्राचार्य विरचितं ॥

॥ श्रोतारः सावधान-तया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

भगवान् अजितनाथ, सगर चक्रवर्ती चरित

पर्व - 48

कथा :

अनन्त-चतुष्टय रूप अन्तरंग लक्ष्मी और अष्ट-प्रातिहार्य रूप बहिरंग लक्ष्मी से युक्त वे अजितनाथ स्वामी सदा जयवन्त रहें जिनके कि निर्दोष (पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित) वचन, जल की तरह भव्य जीवों के मन में स्थित राग-द्वेषादिरूप मल को धो डालते हैं ॥1॥ मैं उन अजितनाथ स्वामी के उस पुराण को कहूँगा जिसके कि सुनने से भव्य जीवों को बाधाहीन महाभ्युदय से युक्त मोक्षरूपी लक्ष्मी का समागम प्राप्त हो जाता है ॥2॥

इस जम्बूद्वीप के अतिशय प्रसिद्ध पूर्व-विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स नाम का विशाल देश है ॥3॥

उसमें अपने वैभव से आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला सुसीमा नाम का नगर है । किसी समय इस सुसीमा नगर का राजा विमलवाहन था जो बड़ा ही प्रभावशाली था ॥4॥

संसार में यह न्याय प्रसिद्ध है कि गुणों की चाह रखनेवाले मनुष्य गुणों की खोज करते हैं परन्तु इस राजा में यह आश्चर्य की बात थी कि स्नेह से भरे हुये सभी गुण अपने आप ही आकर रहने लगे थे ॥5॥

वह राजा उत्साह-शक्ति, मन्त्र-शक्ति और फल-शक्ति इन तीन शक्तियों से तथा उत्साह-सिद्धि, मन्त्र-सिद्धि और फल-सिद्धि इन तीन सिद्धियों से सहित था, आलस्य-रहित था और अपनी सन्तान के समान न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन करता था ॥6॥

'धर्म से पुण्य होता है, पुण्य से अर्थ की प्राप्ति होती है और अर्थ से काम (अभिलषित भोगों) की प्राप्ति होती है, पुण्य के बिना अर्थ और काम नहीं मिलते हैं' यही सोचकर वह राजा जैन-धर्म के द्वारा सच्चा धर्मात्मा हो गया था ॥7॥

किसी समय उस राजा के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय दूर होकर सिर्फ संज्वलन कषाय का उदय रह गया उसी समय उसे आत्म-ज्ञान अथवा रत्नत्रय की प्राप्ति हुई और वह संसार से विरक्त हो मन ही मन एकान्त में इस प्रकार विचार करने लगा ॥8॥

'इस जीव का शरीर में जो निवास हो रहा है वह आयु-कर्म से ही होता है, मैं यद्यपि शरीर में स्थित हूँ तो भी काल की परिमित घड़ियों में धारण किया हुआ मेरा आयुरूपी जल शीघ्र ही गलता जाता है (उत्तरोत्तर कम होता जाता है) इसलिए मेरा वह आयुरूपी जल जब तक समाप्त नहीं होता तब तक मैं स्वर्ग और मोक्ष के मार्गभूत जैनधर्म में उत्साह के साथ प्रवृत्ति करूँगा' ॥9-10॥

इस प्रकार आशारूपी पाश को छेदकर वह राजा राज्य-लक्ष्मी से निस्पृह हो गया तथा स्वाधीन होने पर भी अनेक राजाओं के साथ दीक्षारूपी लक्ष्मी के द्वारा अपने आधीन कर लिया गया अर्थात् अनेक राजाओं के साथ उसने जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥11॥

जिसने बहुत समय तक तीव्र तपस्या की है, जिसे ग्यारह अंगों का स्पष्ट ज्ञान हो गया है, जिसकी आत्मा पुण्य के प्रकाश से जगमगा रही है और जो दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं के चिन्तन में निरंतर तत्पर रहता है ऐसे इस विमलवाहन ने तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध किया ॥12॥

इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला वह विमलवाहन आयु के अन्त समय पंच-परमेष्ठियों में चित्त स्थिरकर, समाधिमरण कर तैंतीस सागर की आयु का धारक हो विजय नामक अनुत्तर विमान में पहुँचा ॥13॥

वहाँ वह द्रव्य और भाव दोनों ही शुल्क-लेश्याओं से सहित था तथा समचतुरस्त्र-संस्थान से युक्त एक हाथ ऊँचे एवं प्रशस्त रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से सम्पन्न शुभ शरीर को लेकर उत्पन्न हुआ था, सोलह महीने और पन्द्रह दिन बाद उच्छ्वास लेता था, तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, उसने अपने अवधिज्ञान के द्वारा लोकनाड़ी को व्याप्त कर रखा था अर्थात् लोकनाड़ी पर्यन्त के रूपी पदार्थों को वह अपने अवधिज्ञान से देखता था, उसमें लोकनाड़ी को उखाड़कर दूसरी जगह रख देने की शक्ति थी, वह उतने ही क्षेत्र में अपने शरीर की विक्रिया भी कर सकता था और सुख-स्वरूप पंचेन्द्रियों के द्वारा प्रवीचारजन्य सुख से अनन्तगुणा अधिक अप्रवीचार सुख का उपभोग करता था ॥14-17॥

उस महाभाग के स्वर्ग से पृथिवी पर अवतार लेने के छह माह पूर्व से ही प्रतिदिन तीर्थकर नामक पुण्य-प्रकृति के प्रभाव से जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप-गोत्री राजा जितशत्रु के घर में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वृष्टिकी ॥ 18-20॥

तदनन्तर जेठ महीने की अमावस के दिन जब कि रोहिणी-नक्षत्र का कला मात्र से अवशिष्ट चन्द्रमा के साथ संयोग था तब ब्राह्ममुहूर्त के पहले महारानी विजयसेना ने सोलह स्वप्न देखे । उस समय उनके नेत्र बाकी बची हुई अल्प निद्रा से कलुषित हो रहे थे । सोलह स्वप्न देखने के बाद उसने देखा कि हमारे मुख-कमल में एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है । जब प्रातःकाल हुआ तो महारानी ने जितशत्रु महाराज से स्वप्नों का फल पूछा और देशावधिज्ञानरूपी नेत्र को धारण करनेवाले महाराज जितशत्रु ने उनका फल बतलाया कि तुम्हारे स्फटिक के समान निर्मल गर्भ में विजयविमानसे तीर्थकर पुत्र अवतीर्ण हुआ है । वह पुत्र, निर्मल तथा पूर्वभव से साथ आने वाले मति-श्रुत-अवधिज्ञानरूपी तीन नेत्रों से देदीप्यमान है ॥21-24॥

जिस प्रकार नीति, महान् अभ्युदय को जन्म देती है उसी प्रकार महारानी विजयसेना ने माघमास के शुक्लपक्ष की दशमी तिथि के दिन प्रजेशयोग में प्रजापति तीर्थकर भगवान् को जन्म दिया ॥25॥

भगवान् आदिनाथ के मोक्ष चले जाने के बाद जब पचास लाख करोड़ सागर वर्ष बीत चुके तब द्वितीय तीर्थकर का जन्म हुआ था । इनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी । जन्म होते ही, सुन्दर शरीर के धारक तीर्थकर भगवान् का देवों ने मेरूपर्वत पर जन्माभिषेक कल्याणक किया और अजितनाथ नाम रक्खा ॥26-27॥

इन अजितनाथ की बहत्तर लाख पूर्व की आयु थी और चार सौ पचास धनुष शरीर की ऊँचाई थी । अजितनाथ स्वामी के शरीर का रंग सुवर्ण के समान पीला था । उन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर के समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी । जब उनकी आयु का चतुर्थांश बीत चुका तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ । उस समय उन्होंने अपने तेज से सूर्य का तेज जीत लिया था । एक लाख पूर्व कम अपनी आयु के तीन भाग तथा एक पूर्वांग तक उन्होंने राज्य किया । 'देखूँ, आपके साथ सम्भोग-सुख का अन्त आता है या मेरा ही अन्त होता है' इस

विचार से राज्य लक्ष्मी के द्वारा आलिंगित हुए भगवान् अजितनाथ ने प्रशंसनीय भोगों का अनुभव किया ॥28-31॥

किसी समय अजितनाथ स्वामी महल की छतपर सुख से विराजमान थे कि उन्होंने लक्ष्मी को अस्थिर बतलानेवाली बड़ी भारी उल्का देखी ॥32॥

ज्ञानियों में श्रेष्ठ अजितनाथ स्वामी उसी समय विषयों से विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि जिन्हें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होनेवाला है उन्हें लक्ष्मी को छोड़ने के लिए कौनसा कारण नहीं मिल जाता ? ॥33॥

उसी समय सारस्वत आदि देवर्षियों (लौकान्तिक देवों) ने ब्रह्मस्वर्ग से आकर उनके विचारों की बहुत भारी प्रशंसा तथा पुष्टि की ॥34॥ जिस प्रकार लोग देखते तो अपने नेत्रों से हैं परन्तु सूर्य उसमें सहायक हो जाता है उसी प्रकार भगवान् यद्यपि स्वयं बुद्ध थे तो भी लौकान्तिक देवों का कहना उनके यथार्थ अवलोकन में सहायक हो गया ॥35॥

उन्होंने जूँठन के समान विवेकी मनुष्यों के द्वारा छोड़ने योग्य राज्य, राज्याभिषेक पूर्वक अजितसेन नामक पुत्र के लिए दे दिया ॥36॥ देवों ने उनका दीक्षा-कल्याणक सम्बन्धी महाभिषेक किया । अनन्तर वे सुप्रभा नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर सहेतुक वन की ओर चले । उनकी पालकी को सर्वप्रथम मनुष्यों ने, फिर विद्याधरों ने और फिर देवों ने उठाया था । माघ-मास के शुक्लपक्ष की नवमी के दिन रोहिणी नक्षत्र का उदय रहते हुए उन्होंने सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के समीप जाकर सायंकाल के समय एक हजार आज्ञाकारी राजाओं के साथ वेला का नियम लेकर संयम धारण कर लिया (दीक्षा ले ली) ॥37-39॥

दीक्षा लेते ही वे मनःपर्यय ज्ञान से सम्पन्न हो गये और दूसरे दिन दानियों को अपूर्व आनन्द उपजाते हुए साकेतनगरी में प्रविष्ट हुए ॥40॥ वहाँ बह्मा नामक राजा ने उन्हें यथा-क्रम से दान दिया और साता-वेदनीय आदि पुण्य-प्रकृतियों का बन्धकर पंचाश्वर्य प्राप्त किये ॥41॥ शुद्धज्ञान के धारक भगवान् ने बारह-वर्ष छद्मस्थ अवस्था में बिताये । तदनन्तर पौष-शुक्ल एकादशी के दिन शाम के समय रोहिणी नक्षत्र में आप्तपना प्राप्त किया अर्थात् लोकालोकावभासी केवलज्ञान को प्राप्तकर सर्वज्ञ हो गये ॥42॥

उनके सिंहासेन आदि नब्बे गणधर थे । तीन हजार सात सौ पचास पूर्वधारी, इक्कीस हजार छह सौ शिक्षक, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बीस हजार केवल ज्ञानी, बीस हजार चार सौ विक्रिया-ऋद्धिवाले, बारह हजार चार सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी और बारह हजार चार सौ अनुत्तरवादी थे । इस प्रकार सब मिलाकर एक लाख तपस्वी थे, प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं, और असंख्यात देव देवियाँ थीं । इस तरह उनकी बारह सभाओं की संख्या थी ॥43-48॥ इस प्रकार बाहर सभाओं से वेष्टित भगवान् अजितनाथ संसार, मोक्ष, उनके कारण तथा फल के भेदों का विस्तार से कथन करते थे ॥49॥ उन अजितनाथ स्वामी को समवसरण लक्ष्मी कटाक्षों से देख रही थी, वे पुण्योत्पादित चिह्नस्वरूप आठ प्रातिहार्यों से युक्त थे, उन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं में से घातिया कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट कर दिया था और अघातिया कर्मरूप शत्रुओं को अभी नष्ट नहीं कर पाए थे, उनकी वैराग्य-परिणति अत्यन्त बढ़ी हुई थी, वे निज और पर के गुरु थे, कृतकृत्य मनुष्य के प्रार्थनीय थे और अतिशय-प्रसिद्ध अथवा समृद्ध थे ॥50॥

'यह न तो कहीं पापों से जीते जाते हैं और न समस्त वादी ही इन्हें जीत सकते हैं इसलिए "अजित" इस सार्थक नाम को प्राप्त हुए हैं' इस प्रकार विद्वानों की स्तुति के पात्र होते हुए भगवान् अजितनाथ ने समस्त आर्यक्षेत्र में विहार किया और अन्त में सम्मेदाचलपर पहुँचकर दिव्यध्वनि से रहित हो एक मास तक वहीं पर स्थिर निवास किया ॥51॥

उस समय उन्होंने प्रति-समय कर्म-प्रकृतियों की असंख्यातगुणी निर्जरा की, उनकी स्थिति आदि का विधान किया -- दण्ड, प्रतर आदि लोकपूरण-समुद्घात किया, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान के द्वारा योगों का वैभव नष्ट किया, औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों के सम्बन्ध को पृथक् किया, और सातिशय विशुद्धता को प्राप्त हो व्युपरत-क्रियानिवर्ती नामक चतुर्थ शुक्ल-ध्यान के आश्रय से अनन्तज्ञानादि आठ गुणों को प्राप्त किया ॥52॥

इस प्रकार चैत्रशुक्ल पंचमी के दिन जब कि चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र पर था, प्रातःकाल के समय प्रतिमायोग धारण करनेवाले भगवान् अजितनाथ ने मुक्तिपद प्राप्त किया ॥53॥

जो पहले विमलवाहन भव में युद्ध के समय दुर्जेय रहे, फिर पापनाशक तपश्चरण में उद्यत रहे, तदनन्तर विजयविमान में सुख के भण्डार स्वरूप श्रेष्ठ देव हुए उन अजित जिनेन्द्र को हे भव्यजीवों ! नमस्कार करो ॥54॥

चूँकि धर्म सोलह भावनाओं से महापुण्य तीर्थकर प्रकृति को उत्पन्न करता है, श्रेष्ठ ध्यान के प्रभाव से समस्त दुष्ट कर्मों के समूह का नाश कर देता है, स्वयं निर्मल है, सुख की परम्परा को करनेवाला है और नित्य मोक्षसुख को देता है इसलिए शुद्ध तथा आप्तोपज्ञ धर्म की हे विद्वज्जनो ! मदरहित होकर उपासना करो ॥55॥

जो तीर्थकरों में द्वितीय होने पर भी श्रुत के मार्ग में अद्वितीय (अनुपम) हैं, वे अजितनाथ भगवान्, कवि को पुराण का विशाल मार्ग पूरा करने में सहायता प्रदान करें ॥56॥

द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ के तीर्थ में सगर नाम का दूसरा चक्रवर्ती हुआ । हे बुद्धिमान् श्रेणिक ! तू अब उसका चरित्र सुन ॥57॥

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश है । उसमें पृथिवी नगर का अधिपति, मनुष्यों के द्वारा सेवनीय जयसेन नाम का राजा था । उसकी स्त्री का नाम जयसेना था । उन दोनों के रतिषेण और धृतिषेण नाम के दो पुत्र थे ॥

58-59॥

वे भाग्यशाली दोनों पुत्र अपने तेज से सदा सूर्य और चन्द्रमा को जीतते हुए शोभित होते थे । उनके माता-पिता आकाश और पृथिवी के समान उनसे कभी पृथक् नहीं रहते थे अर्थात् स्नेह के कारण सदा अपने पास रखते थे ॥60॥

एक दिन किसी कारणवश रतिषेण की मृत्यु हो गई सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु का कारण क्या नहीं होता ? अर्थात् जब मरण का समय आता है तब सभी मृत्यु के कारण हो जाते हैं ॥61॥

रतिषेण की मृत्युरूपी मेघ से निकले हुए शोकरूपी वज्र ने लता-सहित कल्पवृक्ष के समान भार्या-सहित राजा जयसेन को बाधित (दुखी) किया ॥62॥

उस समय अवसर पाकर यमराज के आगे-आगे चलनेवाली मूर्च्छा ने उन दोनों का आलिङ्गन किया अर्थात् वे दोनों मूर्च्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि छिद्र प्राप्त करनेवाले शत्रु अपकार किये बिना नहीं रहते ॥63॥

जब वैद्यजनों के श्रेष्ठ उपायों के द्वारा धीरे-धीरे वे चैतन्य को प्राप्त हुए तो बृहस्पति के समान श्रेष्ठ गुरु ने राजा जयसेन को बड़ी कठिनाई से समझाया ॥64॥

तदनन्तर वह इस शरीर को दुःख का घर मानकर उसका निग्रह करने के लिए आग्रह करने लगा । और यमराज को मारने के लिए उद्यत हुआ सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्यों को यही योग्य है ॥65॥

वह प्राणों का अन्त करनेवाले अथवा इन्द्रियादि प्राण हैं अन्त में जिनके ऐसे परिग्रहों को पुराने पत्तों के समान समझने लगा तथा राज्य के उपभोग में भाग्यशाली आर्य धृतिषेण नामक पुत्र को नियुक्त कर अनेक राजाओं और महारूत नामक साले के साथ यशोधर गुरु के द्वारा बतलाये हुए शुद्ध मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ - दीक्षित हो गया ॥66-67॥

जयसेन मुनि ने आयु के अन्त में संन्यास-मरण किया जिससे अन्तिम अच्युत स्वर्ग में महाबल नाम के देव हुए ॥68॥

जयसेन का साला महारूत भी उसी स्वर्ग में मणिकेतु नाम का देव हुआ । वहाँ उन दोनों में परस्पर प्रतिज्ञा हुई कि हम लोगों के बीच जो पहले पृथिवी-लोक पर अवतीर्ण होगा (जन्म धारण करेगा), दूसरा देव उसे समझानेवाला होगा - संसार का स्वरूप समझाकर दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा । महाबल देव, अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर पर्यन्त देवों के सुख भोगकर कौशल देश की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा समुद्र विजय और रानी सुबालाके सगर नाम का पुत्र हुआ । उसकी आयु सत्तरलाख पूर्व की थी । वह चार सौ पचास धनुष ऊँचा था, सब लक्षणों से परिपूर्ण था, लक्ष्मीमान् था तथा सुवर्ण के समान कान्ति से युक्त था ॥69-73॥

उसके अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्था में व्यतीत हुए । तदनन्तर महा-मण्डलेश्वर पद प्राप्त हुआ । उसके बाद इतना ही काल बीत जाने पर छह खण्डों की पृथिवी के समूह पर आक्रमण करने में समर्थ चक्ररत्न प्रकट हुआ और दिशाओं के समूह पर आक्रमण करती हुई प्रतापपूर्ण कीर्ति प्रकट हुई ॥74-75॥

प्रथम चक्रवर्ती भरत के समान इसने भी चिर कालतक दिग्विजय किया, वहाँ की सारपूर्ण वस्तुओं के ग्रहण किया और सब लोगों को अपनी आज्ञा ग्रहण कराई ॥76॥

दिग्विजय से लौटकर वह साम्राज्य (लक्ष्मी) के गृह-स्वरूप अयोध्या नगरी में वापिस आया और निर्विघ्न रूप से दश प्रकार के भोगों का उपभोग करता हुआ सुख से रहने लगा ॥77॥

उस पुण्यवान् के साठ-हजार पुत्र थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो विधाता ने पुत्रों के आकार में उसके गुण ही प्रकट किये हों ॥78॥

किसी समय सिद्धिचरित में श्रीचतुर्मुख नाम के मुनिराज पधारे थे और उसी समय उन्हें समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥79॥

उनके कल्याणोत्सव में अन्य देवों तथा इन्द्रों के साथ मणिकेतु देव भी आया था । वहाँ आकर उसने जानना चाहा कि हमारा मित्र महाबल कहाँ उत्पन्न हुआ है ? इच्छा होते ही उसने अवधिज्ञान के प्रकाश से जान लिया कि वह बाकी बचे हुए पुण्य से सगर चक्रवर्ती हुआ है ।

ऐसा जानकर वह सगर चक्रवर्ती के पास पहुँचा और कहने लगा ॥80-81॥

कि 'क्यों स्मरण है ? हम दोनों अच्युत स्वर्ग में कहा करते थे कि हम लोगों के बीच जो पहले पृथिवी पर अवतीर्ण होगा उसे यहाँ रहनेवाला साथी समझावेगा' ॥82॥

'हे भव्य ! मनुष्यजन्म के सारभूत साम्राज्य का तू चिरकाल तक उपभोग कर चुका है । अब सर्प के फणा के समान भय उत्पन्न करनेवाले इन भोगों से क्या लाभ है ? हे राजन ! अब मुक्तिके लिए उद्योग कर' । मणिकेतु के इतना कहनेपर भी वह चक्रवर्ती इससे विमुख रहा सो ठीक ही है क्योंकि मुक्ति का मार्ग काललब्धि के बिना कहाँ से मिल सकता है ? ॥83- 84॥

सगर चक्रवर्ती की विमुखता जान मणिकेतु अन्य वार्तालाप कर वापिस लौट गया सो उचित ही है क्योंकि अनुक्रम को जानने वाले पुरुष अहित की बात जाने दो, हित के द्वारा भी किसी की इच्छा के विरुद्ध काम नहीं करते ॥85॥

इन भोगों को धिक्कार है जो कि मनुष्यों को इस प्रकार अपने कहे हुए वचनों से च्युत करा देते हैं, पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और बड़ी कठिनाई से छोड़े जाते हैं' इस तरह निर्वेद को प्राप्त होता हुआ मणिकेतु देव स्वर्ग चला गया ॥86॥

फिर कुछ समय बाद मणिकेतुदेव राजा को तप ग्रहण कराने का एक दूसरा उपाय सोचकर पृथिवीपर आया ॥87॥

उसने चारण ऋद्धिधारी मुनि का रूप बनाया । वह मुनि अनेक लक्षणों से युक्त था, कान्ति से चन्द्रमा को, प्रभा से सूर्य को और सुन्दर शरीर से कामदेव को जीत रहा था । इस प्रकार जितेन्द्रिय हो उत्कृष्ट संयम की भावना करता हुआ वह मुनि जिनेन्द्र भगवान् की वन्दनाकर सगर चक्रवर्ती के चैत्यालय में जा ठहरा ॥88-89॥

उस चारण मुनि को देख चक्रवर्ती को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने पूछा कि आपने इस अवस्था में यह तप क्यों धारण किया है ? चारण मुनि ने भी झूठ-मुठ कहा कि यह यौवन बुढ़ापा के द्वारा प्रास्य है (ग्रसन के योग्य है), आयु प्रतिक्षण कम हो रही है, यह शरीर चूँकि अपवित्र है, पापी है, दुर्धर है, और दुःखों का पात्र है अतः छोड़ने के योग्य है । सदा अनिष्ट वस्तुओं का संयोग और इष्ट वस्तुओं का वियोग होता रहता है । यह संसार रूपी भँवर, अनादि काल से बीत रही है फिर भी अनन्त ही बनी हुई है । जीव की यह सब दशा कर्मरूप शत्रुओं के द्वारा की जा रही है अतः मैं तपरूपी अग्नि के द्वारा उन कर्म-शत्रुओं को जलाकर सुवर्ण पाषाण के समान अविनाशी शुद्धि को प्राप्त होऊँगा (मोक्ष प्राप्त करूँगा) ॥90-93॥

मणिकेतु के इस प्रकार कहने पर वह चक्रवर्ती संसार से भयभीत तो हुआ परन्तु मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि पुत्ररूपी साँकलों से मजबूत बँधा हुआ था ॥94॥

'अभी इसका संसार बहुत बड़ा है' इस प्रकार विषाद करता हुआ मणिकेतु चला गया सो ठीक ही है क्योंकि निष्फल उपाय किस बुद्धिमान् को विषाद नहीं करता ? ॥95॥

वह देव सोचने लगा कि देखो साम्राज्य की तुच्छ लक्ष्मी से वशीभूत हुए चक्रवर्ती ने अच्युत स्वर्ग की लक्ष्मी भुला दी सो ठीक ही है क्योंकि कामी मनुष्यों को अच्छे-बुरे पदार्थों के अन्तर का ज्ञान कहाँ होता है ? ॥96॥

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह चक्रवर्ती सब लाभों में पुत्र-लाभ को ही लाभ मानता है, स्वर्ग और मोक्ष-लक्ष्मी का लाभ इसके लिए लाभ नहीं है, ऐसा समझकर ही यह पुत्रों में अत्यन्त लीन हो रहा है ॥97॥

किसी समय सिंह के बच्चों के समान उद्धत और अहंकार से भरे हुए वे राजपुत्र सभा में विराजमान चक्रवर्ती से इस प्रकार निवेदन करने लगे कि शूरवीरता और साहस से सुशोभित क्षत्रिय-पुत्रों का यौवन यदि दुःसाध्य कार्य में पिता का मनोरथ सिद्ध नहीं करता तो वह यौवन नहीं है । ऐसे प्राणी के जन्म लेने अथवा जीवन धारण करने से क्या लाभ है ? जन्म लेना और जीवन धारण करना ये दोनों ही सर्व-साधारण हैं अर्थात् सब जीवों के होते हैं । इसलिए हे राजन् ! हम लोगों को साहस से भरा हुआ कोई ऐसा कार्य बतलाइये कि जिससे

हमारी केवल भोजन में सम्मिलित होनेसे उत्पन्न होनेवाली दीनता अथवा अधर्म दूर हो सके ॥98-101॥

यह सुन चक्रवर्ती ने हर्षित होकर कहा कि 'हे पुत्रो ! चक्र से सब कुछ सिद्ध हो चुका है, हिमवान् पर्वत और समुद्र के बीच ऐसी कौनसी वस्तु है जो मुझे सिद्ध नहीं हुई है ? तुम्हारे लिए मेरा यही काम है कि तुम लोग मिलकर मेरी इस विशाल राज्यलक्ष्मी का यथायोग्य रीति से उपभोग करो' ॥102-103॥

इस प्रकार राजा ने जब उन्हें बहुत निवारण किया तब वे चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध वंश में उत्पन्न हुए पुत्र पिता के आज्ञाकारी ही होते हैं ॥104॥

आत्मशुद्धि से भरे वे राजपुत्र किसी एक दिन फिर राजा के पास जाकर कहने लगे कि यदि आप हम लोगों को कोई कार्य नहीं देते हैं तो हम भोजन भी नहीं करते हैं ॥105॥

पुत्रों का निवेदन सुनकर राजा कुछ चिन्ता में पड़ गये । वे सोचने लगे कि इन्हें कौनसा कार्य दिया जावे । अकस्मात् उन्हें याद आ गई कि अभी धर्म का एक कार्य बाकी है । उन्होंने हर्षित होकर आज्ञा दी कि भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर महारत्नों से अरहन्त-देव के चौबीस मन्दिर बनवाये हैं, तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी को उन मन्दिरों की परिखा बना दो ।' उन राजपुत्रों ने भी पिता की आज्ञानुसार दण्ड-रत्न से वह काम शीघ्र ही कर दिया ॥106-108॥

प्रेम और सज्जनता से प्रेरित हुआ मणिकेतु देव फिर भी अपने मन्त्रियों के साथ राजा सगर को समझाने के लिए योग्य उपाय का इस प्रकार विचार करने लगा ॥109॥

कि वचन चार प्रकार के होते हैं -- कुछ वचन तो हित और प्रिय दोनों ही होते हैं, कुछ हित और अप्रिय होते हैं, कुछ प्रिय होकर अहित होते हैं और कुछ अहित तथा अप्रिय होते हैं । इन चार प्रकार के वचनों में अन्त के दो वचनों को छोड़कर शेष दो प्रकार के वचनों से हित का उपदेश दिया जा सकता है । ऐसा निश्चय कर वह मणिकेतु एक दुष्ट नाग का रूप धरकर कैलास पर्वत पर आया और उन अहंकारी राजकुमारों को भस्म की राशि के समान कर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि मंत्रीगण जब कुछ उपाय नहीं देखते हैं तब हित होने पर भी अप्रिय वचनों का प्रयोग करते ही हैं ॥110-112॥

मंत्री यह जानते थे कि राजा का पुत्रों पर कितना स्नेह है अतः पुत्रों का मरण जानकर भी वे राजा को यह समाचार सुनाने के लिए समर्थ नहीं हो सके । समाचार का सुनाना तो दूर रहा किन्तु उसे छिपा कर ही बैठ रहे ॥113॥

तदनन्तर मणिकेतु ब्राह्मण का रूप रख कर चक्रवर्ती सगर के पास पहुँचा और बहुत भारी शोक से आकान्त होकर निम्नांकित वचन कहने लगा ॥114॥

'हे देव ! जब आप पृथ्वी-मण्डल का पालन कर रहे हैं तब हम लोगों की यहाँ सब प्रकार कुशल है किन्तु आयु की अवधि दूर रहने पर भी यमराज ने मेरा पुत्र हरण कर लिया है । वह मेरा एक ही पुत्र था । यदि आप उसे आयु से युक्त अर्थः जीवित नहीं करते हैं तो आज मुझे भी आपके देखते-देखते उस यमराज के द्वारा ले जाया हुआ समझें । क्योंकि अहंकारी लोग क्या नहीं करते हैं । जो कच्चे फल खाने में सत्पूर्ण है वह भला पके फल क्यों छोड़ेगा' ॥115-117॥

ब्राह्मण के वचन सुनकर राजा ने कहा कि हे द्विजराज ! क्या आप नहीं जानते कि यमराज सिद्ध भगवान् के द्वारा ही निवारण किया जाता है; अन्य जीवों के द्वारा नहीं, यह बात तो आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है ॥118॥

इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं कि जिनकी आयु बीच में ही छिद जाती है और कितने ही ऐसे हैं कि जो जितनी आयु का बंध करते हैं उतना जीवित रहते हैं- बीच में उनका मरण नहीं होता । यह यमराज उन सब जीवों का संहार करता है पर स्वयं संहार से रहित है ॥ 119॥

'यदि तुम उस यमराज पर द्वेष रखते हो तो घर के भीतर व्यर्थ ही जीर्ण-शीर्ण मत होओ । मोक्ष प्राप्त करने के लिए शीघ्र ही दीक्षा धारण करो; शोक छोड़ो' ॥120॥

जब राजा सगर यह कह चुके तो ब्राह्मण-वेषधारी मणिकेतु बोला -- 'हे देव ! यदि यह सच है कि यमराज से बढ़कर और कोई बलवान नहीं है तो मैं जो कुछ कहूँगा उससे आपको भयभीत नहीं होना चाहिये' । ॥121॥

'आपके जो पुत्र कैलाश पर्वत पर खाई खोदने के लिए गये थे वे सब उस यमराज के द्वारा अपने पास बुला लिये गये हैं इसलिए आपको

अपने कहे हुए मार्ग के अनुसार दुष्ट यमराज पर बहुत वैर धारण करना चाहिये अर्थात् दीक्षा लेकर यमराज को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये ॥122॥

ब्राह्मण के उक्त वचन रूपी वज्र से जिसका हृदय विदीर्ण हो गया है ऐसा राजा सगर क्षण-भर में मरे हुए के समान निश्चेष्ट हो गया ॥123॥ चन्दन और खस से मिले हुए जल से, मित्रों के वचनों से तथा पंखों की कोमल वायु से जब वह सचेत हुआ तो इस प्रकार विचार करने लगा कि व्यर्थ ही खेद को बढ़ानेवाली यह लक्ष्मीरूपी माया मुझे प्राप्त न हो-मुझे इसकी आवश्यकता नहीं। यह काम भयंकर है, यमराज नीच है, प्रेम का समागम नश्वर है, शरीर अपवित्र है, क्षय हो जानेवाला है और इसीलिए सेवन करने योग्य नहीं है अथवा अकल्याणकारी है, यह यौवन इन्द्रधनुष के समान नश्वर है.....ऐसा जानते हुए तीर्थंकर भगवान् वन में चले जाते हैं। परन्तु मैं मूर्ख अब भी इन्हींमें मूढ़ हो रहा हूँ'.....ऐसा विचार कर सगर चक्रवर्ती ने भगलि देश के राजा सिंहविक्रम की पुत्री विदर्भा के पुत्र भव्य भगीरथ के लिए राज्य सौंप दिया और आप दृढधर्मा केवली के समीप दीक्षा धारण कर तपश्चरण रूपी राज्य में सुशोभित होने लगा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष घर में तभी तक रहते हैं जबतक कि विरक्त होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता ॥124-128॥

इधर चक्रवर्ती ने दीक्षा ली उधर वह मणिकेतु देव उन पुत्रों के पास पहुँचा और कहने लगा कि किसी ने आपके मरण का यह अश्रवणीय समाचार राजा से कह दिया जिसे सुनकर वे शोकान्ति से बहुत ही अधिक उदीपित हुए और भगीरथ के लिए राज्य देकर तप करने लगे हैं। मैं आपकी कुल-परम्परा से चला आया ब्राह्मण हूँ अतः शोक से यहाँ आप लोगों को खोजने के लिए आया हूँ ॥129-130॥

ऐसा कहकर उस देव ने मायामयी भस्म से अवगुण्ठित राजकुमारों को सचेत कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि मित्रों की माया भी हित करने वाली होती है ॥131॥

मणिकेतु के वचन सुन उन चरम-शरीरी राजकुमारों ने भी जिनेन्द्र भगवान् का आश्रय लेकर तप धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो उचित बात को जानते हैं उन्हें ऐसा करना ही योग्य है ॥132॥

जब भगीरथ ने यह समाचार सुना तब वह भी उन मुनियों के पास गया और वहाँ उसने उन सब को भक्ति से नमस्कार कर जिनेन्द्रोक्त धर्म का स्वरूप सुना तथा श्रावक के व्रत ग्रहण किये ॥133॥

अन्त में मित्रवर मणिकेतु ने उन सगर आदि मुनियों के समक्ष अपनी समस्त माया प्रकट कर दी और कहा कि आप लोग क्षमा कीजिये ॥134॥

'इसमें आपका अपराध ही क्या है? यह तो आपने हमारा हित तथा प्रिय कार्य किया है' इस प्रकार के प्रसन्नता से भरे हुए शब्दों द्वारा उन सब मुनियों ने मणिकेतु देव को सान्त्वना दी ॥135॥

जिसका कार्य सिद्ध हो गया है ऐसा देव भी सन्तुष्ट होकर स्वर्ग चला गया सो ठीक ही है क्योंकि अन्य पुरुषों के कार्य सिद्ध करने से ही प्रायः महापुरुषों को संतोष होता है ॥136॥

वे सभी विद्वान् मुनिराज चिरकाल तक यथाविधि तपश्चरण कर सम्मैद शैल पर पहुँचे और शुक्लध्यान के द्वारा परम-पद को प्राप्त हुए ॥137॥

उन सब का मोक्ष जाना सुनकर भगीरथ का मन निर्वेद से भर गया अतः उसने वरदत्त के लिए अपनी राज्यश्री सौंपकर कैलाश पर्वत पर शिवगुप्त नामक महामुनि से दीक्षा ले ली तथा गंगा नदी के तट पर प्रतिमा-योग धारण कर लिया ॥138-139॥

इन्द्र ने क्षीरसागर के जल से महामुनि भगीरथ के चरणों का अभिषेक किया जिसका प्रवाह गंगा में जाकर मिल गया। उसी समय से गंगा नदी भी इस लोक में तीर्थरूपता को प्राप्त हुई अर्थात् तीर्थ मानी जाने लगी। भगीरथ गंगा नदी के तट पर उत्कृष्ट तप कर वहीं से निर्वाण को प्राप्त हुआ ॥140-141॥

गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक! इस लोक तथा परलोक में मित्र के समान हित करनेवाला दूसरा नहीं है। न मित्र से बढ़कर कोई भाई है। जो बात गुरु अथवा माता-पिता से भी नहीं कही जाती ऐसी गुप्त से गुप्त बात मित्र से कही जाती है, मित्र अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता हुआ कठिन-से-कठिन कार्य सिद्ध कर देता है। मणिकेतु ही इस विषय का स्पष्ट दृष्टान्त है इसलिए सबको ऐसा ही मित्र बनाना चाहिये ॥142॥

जो पहले शत्रुओं की सेना को जीतनेवाले जयसेन हुए, फिर अच्युत-स्वर्ग में महाबल देव हुए, वहाँ से आकर शत्रुओं द्वारा अजेय सगर

चक्रवर्ती हुए और अन्त में अपना चरम शरीर (अन्तिम देह) नष्ट कर शरीर-प्रमाण आत्मा के धारक रह गये, ऐसे महाराज सगर सदा जयवन्त रहें ॥143॥

भगवान् सम्भवनाथ चरित

पर्व - 49

कथा :

जिनका ज्ञान सामने रखे हुए समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए दर्पण के समान है तथा जो सब प्रकार के पाखण्डों के विस्तार को नष्ट करनेवाले हैं ऐसे सम्भवनाथ तीर्थंकर मेरा कल्याण करें ॥1॥

इसी पहले जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है । उसके क्षेमपुर नगर में राजा विमलवाहन राज्य करता था ॥2॥

जिसे निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त होने वाला है ऐसा वह राजा किसी कारण से शीघ्र ही विरक्त हो गया । वह विचार करने लगा कि इस संसार में वैराग्य के तीन कारण उपस्थित हैं ॥3॥

प्रथम तो यह कि यह जीव यमराज के दाँतों के बीच में रहकर भी जीवित रहने की इच्छा करता है और मोहकर्म के उदय से उससे निकलने का उपाय नहीं सोचता इसलिए इस अज्ञानान्धकार को धिक्कार हो ॥4॥

वैराग्य का दूसरा कारण यह है कि इस जीव की आयु असंख्यात समय की ही है उन्हें ही यह शरण माने हुए है परन्तु आश्चर्य है कि ये आयु के क्षण ही इन जीवों को नष्ट होने के लिए यमराज के समीप पहुँचा देते हैं ॥5॥

तीसरा कारण यह है कि ये जीव अभिलाषारूपी धूप से संतप्त होकर विषयभोगरूपी किसी नदी के जीर्णशीर्ण तट की छाया का आश्रय ले रहे हैं सो उनका यह आश्रय कुशलतापूर्वक उनकी रक्षा नहीं कर सका ॥6॥

इत्यादि विचार करते हुए विमलवाहन राजा ने अपना राज्य विमलकीर्ति नाम के पुत्र के लिए देकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की शिष्यता स्वीकार कर ली अर्थात् उनके पास दीक्षा धारण कर ली ॥7॥

ग्यारह अंगों का जानकार होकर उसने सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाला तीर्थंकर नामक नाम-कर्म का बन्ध किया ॥8॥

अन्त में संन्यास की विधि से शरीर छोड़कर प्रथम ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान में बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करनेवाला अहमिन्द्र हुआ ॥9॥

तेईस सागर की उसकी आयु थी, साठ अंगुल ऊँचा उसका शरीर था, शुल्क लेश्या थी, साढ़े ग्यारह माह में एक बार श्वास लेता था, तेईस हजार वर्ष बाद मन से आहार का स्मरण करता था, उसके भोग प्रवीचार से रहित थे, सातवें नरक के अन्त तक उसका अवधिज्ञान था, अवधिज्ञान के क्षेत्र में गमन करने की शक्ति थी, उतनी ही उसके शरीर की प्रभा थी और उतनी ही दूर तक उसका वैक्रियिक शरीर आ जा सकता था ॥10-12॥

इस प्रकार वह श्रीमान् उत्तम अहमिन्द्र अणिमा, महिमा आदि गुणों से सहित तथा पाँच प्रकार के पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले अहमिन्द्र के सुखों का अनुभव करता था ॥13॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में श्रावस्ती नगरी का राजा दृढराज्य था । वह इक्ष्वाकुवंशी तथा काश्यपगोत्री था । उसके शरीर की कान्ति बहुत ही उत्तम थी । सुषेणा उसकी स्त्री का नाम था । जब पूर्वोक्त देव के अवतार लेने में छहमास बाकी रह गये तब सुषेणा रत्नवृष्टि आदि माहात्म्य को प्राप्त हुई । फाल्गुन शुल्क अष्टमी के दिन प्रातःकाल के समय मृगशिरा नक्षत्र में पुण्योदय से रानी सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे ॥14-16॥

तदनन्तर स्वप्न में ही उसने देखा कि सुमेरू पर्वत के शिखर के समान आकारवाला तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त एक श्रेष्ठ हाथी उसके मुख में प्रवेश कर रहा है ॥17॥

अपने पति से उन स्वप्नों का फल सुनकर वह आनन्द को प्राप्त हुई । उसी दिन वह अहमिन्द्र उसके गर्भ में आया । तदनन्तर नवमें महीने में कार्तिक शुल्का पौर्णमासी के दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योग में उसने तीन ज्ञानों से युक्त उस पूज्य अहमिन्द्र पुत्र को प्राप्त किया ।

जन्मकल्याणक-सम्बन्धी उत्सव हो जानेके बाद उसका 'संभव' यह नाम प्रसिद्ध हुआ ॥18-19॥

इन्द्रों ने उस समय भगवान् संभवनाथ की इस प्रकार स्तुति की -- हे संभवनाथ ! तीर्थकर नाम-कर्म के उदय के बिना ही केवल आपके जन्म से ही आज जीवों को सुख मिल रहा है । इसलिए आपका संभवनाथ नाम सार्थक है ॥20॥

हे भगवन् ! जिसमें अनेक लक्षण और वयज्जनारूपी फूल लग रहे हैं तथा जो लम्बी-लम्बी भुजाओंरूपी शाखाओं से सुशोभित है ऐसे आपके शरीररूपी आम्रवृक्षपर देवों के नेत्ररूपी भ्रमर चिरकाल तक तृप्त रहते हैं ॥21॥

हे देव ! जिस प्रकार स्यादवाद का निर्मल तेज कपिल आदि के मतों का तिरस्कार करता हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार आपका निर्मल तेज भी अन्य लोगों के तेज को तिरस्कृत करता हुआ सुशोभित हो रहा है ॥22॥

जिस प्रकार सब जीवों को आह्लादित करनेवाली सुगन्धि से चन्दन जगत् का हित करता है उसी प्रकार आप भी साथ उत्पन्न हुए तीन प्रकार के ज्ञान से जगत् का हित कर रहे हैं ॥23॥

हे नाथ ! आपके स्नेहसे बढ़ा हुआ यह लोक, दीपकके समान कारण के बिना ही हित करनेवाले तथा खजाने के समान देदीप्यमान आपको नमस्कार कर रहा है ॥24॥

इस प्रकार स्तुतिकर जिसने आनन्द नाम का नाटक किया है ऐसा प्रथम स्वर्ग का अधिपति सौधर्मेन्द्र माता-पिता के लिए भगवान् को सौंपकर देवों के साथ स्वर्ग चला गया ॥25॥

द्वितीय तीर्थकर की तीर्थ-परम्परा में जब तीस लाख करोड़ सागर बीत चुके थे तब संभवनाथ स्वामी उत्पन्न हुए थे । उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी । उनकी साठ लाख पूर्व की आयु थी, चार सौ धनुष ऊँचा शरीर था, जब उनकी आयु का एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्हें राज्य का महान् वैभव प्राप्त हुआ था । वे सदा देवोपनीत सुखों का अनुभव किया करते थे ॥26-28॥

इस प्रकार सुखोपभोग करते हुए जब चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग व्यतीत हो चुके तब किसी दिन मेघों का विभ्रम देखने से उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया, वे उसी समय विरक्त हो गये और संसारका अन्त करनेवाले श्रीसंभवनाथ स्वामी अपने मन में आयु आदिका इस प्रकार विचार करने लगे ॥29-30॥

कि प्राणी के भीतर रहनेवाला आयुर्कर्म ही यमराज है, अन्य वालों ने भूल से किसी दूसरेको यमराज बतलाया है, संसार के प्राणी इस रहस्य को नहीं जानते अतः अनन्तवार यमराज के द्वारा मारे जाते हैं ॥31॥

यमराज इसी शरीर में रहकर इस शरीर को नष्ट करता है फिर भी इस जीव की मूर्खता देखो कि यह इसी शरीर में वास करता है ॥32॥ रागरूपी रस में लीन हुआ यह जीव विष के समान नीरस विषयोंको भी सरस मानकर सेवन करता है इसलिए अनादि काल से चले आये इसकी बुद्धि के विभ्रमको धिक्कार है ॥33॥

आत्मा, इन्द्रिय, आयु और इष्ट पदार्थ के संनिधानसे संसार में सुख होता है सो आत्मा का सन्निधान तो इस जीव के सदा विद्यमान रहता है फिर भी यह जीव क्यों नहीं जानता और क्यों नहीं इसका विचार करता । यह लक्ष्मी बिजलीकी चमक के समान कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होती । जो जीव इसकी इच्छा को छोड़ देता है वही निर्मल सम्यग्यान की किरणों से प्रकाशमान मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त हो सकता है ॥34-35॥

इस प्रकार पदार्थ के सार को ग्रहण करनेवाले संभवनाथ स्वामी की स्तुति कर लौकान्तिक देव चले गये । तथा भगवान् भी अपने पुत्र के लिए राज्य देकर दीक्षा कल्याणकका उत्सव प्राप्त करते हुए देवों द्वारा उठाई हुई सिद्धार्थ नाम की पालकीमें सवार हो नगरसे बाहर निकले और सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥36-37॥

दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया । सुवर्ण के समान प्रभा को धारण करनेवाले भगवान् ने दूसरे दिन भिक्षाके हेतु श्रावस्ती नगरी में प्रवेश किया ॥38॥

वहाँ कांचन जैसी कान्ति के धारक सुरेन्द्रदत्त नामक राजा ने उन्हें पगाहकर आहार दान दिया और जिसमें अनेक रत्न चमक रहे हैं ऐसे पंचाश्रय प्राप्त किये ॥39॥

इस प्रकार शुद्ध बुद्धि के धारक भगवान् संभवनाथ चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में मौन से रहे । तदनन्तर दीक्षावन में पहुँचकर शाल्मली वृक्ष के नीचे कार्तिक कृष्ण चतुर्थीके दिन जन्मकालीन मृगशिर नक्षत्र में शाम के समय वेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए और

चार घातिया कर्मरूपी पाप-प्रकृतियों को नष्ट कर अनन्तचतुष्टयको प्राप्त हुए ॥40-41॥

उसी समय इन्होंने कल्पवासियों तथा ज्यौतिष्क आदि तीन प्रकार के देवों के साथ कैवल्य महोत्सव किया - ज्ञानकल्याणक उत्सव किया ॥ 42॥

जिस प्रकार छोटे-छोटे अन्य अनेक पर्वतोंसे घिरा हुआ सुमेरू पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार चारुषेण आदि एक सौ पाँच गणधरोंसे घिरे हुए भगवान् संभवनाथ सुशोभित हो रहे थे ॥43॥

वे दो हजार एक सौ पचास पूर्वधारियों से परिवृत थे, एक लाख उन्तीस हजार तीन सौ शिक्षकों से युक्त थे ॥44॥

नौ हजार छह सौ अवधि ज्ञानियों से सहित थे, पन्द्रह हजार केवलज्ञानियों से युक्त थे ॥45॥

उन्नीस हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक उनके साथ थे, बारह हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनकी सभा में थे ॥46॥

तथा बारह हजार वादियों से सुशोभित थे, इस प्रकार वे सब मिलाकर दो लाख मुनियों से अत्यन्त शोभा पा रहे थे ॥47॥

धर्मार्थको आदि लेकर तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थी, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यच उनकी स्तुति करते थे । इस प्रकार वे भगवान्, धर्म को धारण करनेवाली बारह सभाओं के स्वामी थे ॥48-49॥

वे चौत्तीस अतिशय और आठ प्रातिहार्योंके प्रभु थे, दिव्यध्वनिरूपी चाँदनीके द्वारा सबको आह्लादित करते थे तथा नमस्कार करनेवालोंको सूर्य के समान प्रकाशित करते थे ॥50॥

भगवान् संभवनाथ ने चन्द्रमा को तिरस्कृत कर दिया था क्योंकि चन्द्रमा सुदी और वदी दोनों पक्षों में संचार करता है परन्तु भगवान् शुद्ध अर्थात् निर्दोष पक्ष में ही संचार करते थे, चन्द्रमा दिन में लक्ष्मीहीन हो जाता है परन्तु भगवान् मोक्ष-लक्ष्मी से सहित थे, चन्द्रमा कलंक सहित है परन्तु भगवान् निष्कलंक-निष्पाप थे, चन्द्रमा सातंक-राहु आदि के आक्रमण के भय से युक्त अथवा क्षय रोग से सहित है परन्तु भगवान् निरातंक-निर्भय और नीरोग थे, चन्द्रमा के राहु तथा मेघ आदि के आवरणरूप अनेक शत्रु हैं परन्तु भगवान् शत्रु-रहित थे, चन्द्रमा कुपक्ष-कृष्ण पक्ष को करनेवाला है परन्तु भगवान् कुपक्ष-मलिन सिद्धान्त को नष्ट करनेवाले थे, चन्द्रमा दिन में ताराओं से रहित दिखता है परन्तु भगवान् सदा मुनि रूपी तारागणों से युक्त रहते थे, चन्द्रमा काम को बढ़ानेवाला है परन्तु भगवान् काम के शत्रु थे, चन्द्रमा तेज-रहित है परन्तु भगवान् महान् तेज के धारक थे, चन्द्रमा पूर्णिमा के सिवाय अन्य तिथियों में वृत्ताकार न रहकर भिन्न-भिन्न आकार का धारक होता है परन्तु भगवान् सदा सद्गुण-सदाचार के धारक रहते थे, चन्द्रमा केवल पूर्णिमा को ही पूर्ण रहता है अन्य तिथियों में अपूर्ण रहता है परन्तु भगवान् सदा ज्ञानादि गुणों से पूर्ण रहते थे, चन्द्रमा के निकट ध्रुव ताराका उदय नहीं रहता परन्तु भगवान् सदा अभ्यर्ण ध्रुवोदय थे-उनका अभ्युदय ध्रुव अर्थात् स्थायी था, चन्द्रमा केवल मध्यम लोक के द्वारा सेवनीय है परन्तु भगवान् तीनों लोकों के द्वारा सेवनीय थे, चन्द्रमा कमलों को मुकुलित कर देता है परन्तु भगवान् सदा भव्य जीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करते थे अथवा भव्यजीवों की प्रज्ञा अर्थात् लक्ष्मी को बढ़ाते थे, चन्द्रमा केवल बाह्य अन्धकार को ही नष्ट करता है परन्तु भगवान् ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के अन्धकार को नष्ट कर दिया था, तथा चन्द्रमा केवल लोक को प्रकाशित करता है परन्तु भगवान् ने लोक-अलोक दोनों को प्रकाशित कर दिया था । इस प्रकार चन्द्रमा को तिरस्कृत कर धर्म की वर्षा करने के लिए भगवान् ने आर्य देशों में विहार किया था सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों की चेष्टा मेघके समान सब लोगों को सुख देनेवाली होती है ॥51-54॥

अन्त में जब आयु का एक माह अवशिष्ट रह गया तब उन्होंने सम्मेदाचल प्राप्त कर विहार बन्द कर दिया और एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया ॥55॥

तथा चैत्र-मास के शुक्ल-पक्ष की षष्ठी के दिन जब कि सूर्य अस्त होना चाहता था तब अपने जन्म-नक्षत्र में मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त किया ॥ 56॥

जो पंचम ज्ञान (केवलज्ञान) के स्वामी हैं और पंचम गति (मोक्षावस्था) को प्राप्त हुए हैं ऐसे भगवान् संभवनाथ की पंचमकल्याणक-निर्वाण-कल्याणक में पूजा कर पुण्य का संचय करने वाले देव यथास्थान चले गये ॥57॥

उपायों के जानने में निपुण भगवान् संभवनाथ ने छठवें से लेकर चौदहवें तक संयम के उत्तम गुणस्थानों का उल्लंघन किया, अत्यन्त दुष्ट आठ कर्मरूपी शत्रुओं का विनाश किया, अत्यन्त इष्ट सम्यक्त्व आदि आठ गुणों को अपना अविनश्वर शरीर बनाया और अष्टम भूमि में अनन्त सुख से युक्त हो सुशोभित होने लगे ॥58॥

जिन्होंने अनन्त-चतुष्टयरूप विशाल तथा निर्मल लक्ष्मी प्राप्त की है, जिन्होंने शरीर-रहित मोक्ष-लक्ष्मी का साक्षात्कार किया है, जिन्होंने अपने शरीर की प्रभा से सूर्य को पराजित कर दिया है, जो पहले इस पृथ्वी पर विमलवाहन राजा हुए थे, फिर अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर जिन्होंने पंचकल्याणक लक्ष्मी का आलिंगन प्राप्त किया ऐसे श्री संभवनाथ स्वामी तुम सबका कल्याण करें ॥59॥

भगवान अभिनन्दननाथ चरित

पर्व - 50

कथा :

पदार्थ के सत्य होनेसे जिनके वचनोंकी सत्यता सिद्ध है और ऐसे सत्य वचन ही जिन यथार्थ वक्ता की सत्यताको प्रकट करते हैं ऐसे अभिनन्दन स्वामी वन्दना करनेवाले लोगों को आनन्दित करते हुए हम सबकी रक्षा करें ॥1॥

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक मंगलावली नाम का देश सुशोभित है ॥2॥

उसके रत्नसंचय नगर में महाबल नाम का राजा था । वह बहुत भारी राजसम्पत्तिसे सहित तथा चारों वर्णों और आश्रमों का आश्रय था- रक्षा करने वाला था ॥3॥

उसके पृथिवी की रक्षा करते समय 'अन्याय' यह शब्द ही नहीं सुनाई पड़ता था और समस्त प्रजा किसी प्रतिबन्धके बिना ही अपने-अपने मार्ग में प्रवृत्ति करती थी ॥4॥

शत्रुओं को नष्ट करनेवाले उस राजा में सन्धि-विग्रह आदि छह गुणोंका समूह भी निर्गुणताको प्राप्त हो गया था और इस तरह निर्गुण होने पर भी वह राजा त्याग तथा सत्य आदि गुणों से गुणवान् था ॥5॥

वह राजा लक्ष्मी का एक ही पति था । यद्यपि सरस्वती कीर्ति और वीरलक्ष्मी उसकी सौतें थीं तो भी राजा सब पर प्रसन्नचित्त रहता था । उसकी कीर्ति अन्य मनुष्यों के वचनों तथा कानों में रहती है, सरस्वती उसके वचनों में रहती है, वीरलक्ष्मी वक्षःस्थल पर रहती है और मैं सर्वांग में रहती हूं यह विचार कर ही लक्ष्मी अत्यन्त सन्तुष्ट रहती थी ॥6-7॥

स्त्रीरूपी कल्पलता से रमणीय उसका शरीररूपी कल्पवृक्ष, वह जिस जिसकी इच्छा करता था वही वही सुख प्रदान करता था ॥8॥

जिसके नेत्ररूपी भ्रमर सुन्दर स्त्रियों के मुखरूपी कमलों की सेवा करने में सदा सतृष्ण रहते हैं ऐसे उस राजा महाबलने बहुत लम्बा समय सुख से काल की एक कलाके समान व्यतीत कर दिया ॥9॥

किसी समय इच्छानुसार मिलनेवाले भोगोपभोगोंमें अतृप्ति होनेसे उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे उस उदारचेताने धनपाल नामक पुत्र के लिए राज्य देकर विमलवाहन गुरूके पास पहुँच संयम धारण कर लिया । वह ग्यारह अंग का पाठी हुआ और सोलह कारण भावनाओं का उसने चिन्तन किया ॥10-11॥

सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करनेसे उससे पंचकल्याणकरूपी फल को देनेवाले तीर्थकर नामकर्म-बन्ध किया जिससे यह तीर्थकर होगा । सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्यों को क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥12॥

आयु के अन्त में समाधिमरण कर वह विजय नाम के पहले अनुत्तर में तैत्तीस सागर की आयुवाला अहमिन्द्र हुआ ॥13॥

विजय विमान में जो शरीर की ऊँचाई, लेश्या, अवधिज्ञान का क्षेत्र तथा श्वासोच्छवासादिका प्रमाण बतलाया है वह उन सबसे सहित था, पाँचो इन्द्रियों के सुख का अनुभव करता था, चित्त शान्त था, वैराग्यरूपी सम्पत्तिसे उपलक्षित हो भक्ति-पूर्वक अर्हन्त भगवान् का ध्यान करता हुआ वहाँ रहता था और आयु के अन्त में समस्त कर्मों-का क्षय करने के लिए इस पृथिवीतल पर अवतार लेगा ॥14-15॥

जब अवतार लेनेका समय हुआ तब इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अयोध्या नगरी का स्वामी इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री तथा आश्चर्यकारी वैभवको धारण करनेवाला एक स्वयंवर नाम का राजा था । सिद्धार्थ उसकी पटरानी का नाम था । अहमिन्द्र के अवतार लेने के छह माह पूर्व से सिद्धार्थ ने रत्नवृष्टि आदि पूजाको प्राप्त किया और वैशाख मास के शुक्लपक्ष की षष्ठी तिथि के दिन सातवें शुभ नक्षत्र (पुनर्वसु) में सोलह स्वप्न देखनेके बाद अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा । उसी समय वह अहमिन्द्र उसके गर्भ में आया ॥16-18॥

राजा से स्वप्नों का फल सुनकर वह बहुत सन्तुष्ट हुई और माघ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी के दिन अदिति योग में उसने पुण्योदय से उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥19॥

उस पुत्र के प्रभाव से इन्द्रका आसन कम्पायमान हो गया जिससे उस बुद्धिमान् ने अवधिज्ञान के द्वारा त्रिलोकीनाथका जन्म जान लिया ॥

इन्द्र ने अपनी शचीदेवी द्वारा उस दिव्य मानवको प्राप्त किया और उसे लेकर देवों से आवृत हो शीघ्रता से सुमेरू पर्वत पर पहुँचा । वहाँ दिव्य सिंहासनपर विराजमानकर बाल सूर्य के समान प्रभावले बालकका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक किया, आभूषण पहनाये और अभिनन्दन नाम रक्खा ॥21-22॥

उस समय जिसने विक्रिया-वश बहुत-सी भुजाएँ बना ली हैं, हजार नेत्र कर लिये हैं और जो अनेक भाव तथा रसों से सहित हैं ऐसे इन्द्र ने आश्चर्यकारी करणों से प्रारम्भ किये हुए अंगहारों द्वारा आकाशरूपी आंगन में भक्ति से ताण्डव नृत्य किया और अनेक अभिनय दिखलाये । उस समय उसका राग परम सीमाको प्राप्त था, साथ ही वह अन्य अनेक धीरोदात्त नटोंको भी नृत्य करा रहा था ॥23-24॥

जन्माभिषेकसे वापिस लौटकर इन्द्र अयोध्यानगरी में आया तथा मायामयी बालक को दूर कर माता-पिता के सामने सचमुचके बालक को रख कर स्वर्ग चला गया ॥25॥

श्री संभवनाथ तीर्थकर के बाद दश लाख करोड़ वर्ष का अन्तराल बीत जानेपर अभिनन्दननाथ स्वामी अवतीर्ण हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी वे मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानों से सुशोभित थे, पचास लाख पूर्व उनकी आयु थी, साढ़े तीन सौ धनुष ऊँचा शरीर था, वे बाल चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त थे, अथवा जिसका अनुभाग प्रकट हो रहा है ऐसे पुण्य कर्म के समूह के समान जान पड़ते थे ॥26-27॥

गुणों से सबको आह्लादित करते हुए वे शोभा अथवा लक्ष्मी की वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे । उनकी कान्ति सुवर्ण के समान देदीप्यमान थी । कामदेव के सारथिके समान कुमार अवस्थाके जब साढ़े बारह लाख पूर्व बीत गये तब 'तुम राज्य का उपभोग करो' इस प्रकार राज्य देकर इनके पिता वनको चले गये । उसी समय इन्होंने राज्य प्राप्त किया ॥28-29॥

उस समय चन्द्रमा इनकी कान्ति को चाहता था, सूर्य इनके तेजकी इच्छा करता था, इन्द्र इनका वैभव चाहता था और इच्छाएं इनकी शान्ति चाहती थीं ॥30॥

अपने उत्कृष्ट अनुभागबन्ध की अनन्तगुणी वृद्धि होने से उनके सभी पुण्य परमाणु प्रत्येक समय फल देते रहते थे ॥31॥

उन्होंने अन्य सबके तेज को जीतकर तथा सब प्रजा को प्रसन्न कर चन्द्रमा और सूर्य को भी जीत लिया था इस तरह वे अपने ही तेज से सुशोभित हो रहे थे ॥32॥

समस्त राजा लोग इन्हें अपने मुकुट झुकाते थे इसमें उनकी क्या स्तुति थी । क्योंकि ये जन्म से ही ऐसे पुण्यात्मा थे कि इन्द्र भी इनके चरणों की पूजा करता था ॥33॥

जब मोक्ष-लक्ष्मी भी इन्हें अपने कटाक्षों का विषय बनाती थी तब राज्य-लक्ष्मी इनमें अनुराग करने लगी इसमें आश्चर्य की क्या बात है ॥ 34॥

उनके कभी नष्ट नहीं होनेवाला शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन था और तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति थी । सो ठीक ही है क्योंकि तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य के इससे बढ़कर दूसरी कौनसी आत्म-सम्पत्ति है ? ॥35॥

वे भगवान् कुमार-अवस्था में धीर और उद्धत थे, संयमी अवस्था में धीर और प्रशान्त थे तथा अन्तिम अवस्था में धीर और उदात्त अवस्था को प्राप्त हुए थे ॥36॥

उनकी उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीनों शक्तियोंने धर्मानुबन्धिनी सिद्धि को फलीभूत किया था सो ठीक ही है क्योंकि शक्तियां वही हैं जो कि दोनों लोकों में हित करने वाली हैं ॥37॥

उनकी कीर्ति में शास्त्र भरे पड़े थे, स्तुति में वर्ण और अक्षरों से अर्कित अनेक गीत थे, मनुष्यों की दृष्टि में उनकी प्रीति थी, और उनका स्मरण सदा गुणों के विवेचन के समय होता था ॥38॥

वे उत्पन्न होने के पूर्व ही समस्त उत्तम गुणों से परिपूर्ण थे । यदि ऐसा न होता तो गर्भ में ही उनकी सेवा करने के लिए देवों के आसन कम्पायमान क्यों होते ? ॥39॥

उनका उत्तम रत्नत्रय प्रचुर मात्रा में पूर्वभव से साथ आया था तथा अन्य गुणों की क्या बात ? उनकी बुद्धि के गुण भी विद्वानों के द्वारा वर्णनीय थे ॥40॥

उनके उत्साह गुण का वर्णन अलग से तो करना ही नहीं चाहिये क्योंकि वे तीनों लोकों के कण्टक स्वरूप मोह शत्रु को अन्य समस्त पापों के साथ नष्ट करना ही चाहते थे ॥41॥

जन्म के समय भी उनका प्रताप ऐसा था कि दोपहर के सूर्य को भी प्रताप-रहित करता था फिर इस समय उसे दूसरा सह ही कौन सकता था ? ॥42॥

इनके गुण इस प्रकार बढ़ रहे थे मानो परस्पर में एक दूसरे का उल्लंघन ही करना चाहते हों । सो ठीक है क्योंकि एक साथ बढ़ने वालों की ईर्ष्या को कौन रोक सकता है ? ॥43॥

इस प्रकार संसार के श्रेष्ठतम विशाल भोगों के समूह का उपभोग करनेवाले भगवान् अभिनन्दननाथ केवलज्ञान-रूपी सूर्य का उदय होने के लिए उदयाचल के समान थे ॥44॥

जब उनके राज्यकाल के साढ़े छत्तीस लाख पूर्व बीत गये और आयु के आठ पूर्वांग शेष रहे तब वे एक दिन आकाश में मेघोंकी शोभा देख रहे थे कि उन मेघों में प्रथम तो एक सुन्दर महल का आकार प्रकट हुआ परन्तु थोड़े ही देर में वह नष्ट हो गया । इस घटना से उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया । वे सोचने लगे कि ये विनाशीक भोग इस संसार में रहते हुए मुझे अवश्य ही नष्ट कर देंगे । क्या टूटकर गिरनेवाली शाखा अपने ऊपर स्थित मनुष्य को नीचे नहीं गिरा देती ? ॥45॥

यद्यपि मैंने इस शरीर को सभी मनोरथों अथवा समस्त इष्ट पदार्थों से परिपुष्ट किया है तो भी यह निश्चित है कि वेश्या के समान यह मुझे छोड़ देगा । इस तरह विचार कर वे शरीर से विरक्त हो गये ॥46-48॥

उन्होंने यह भी विचार किया कि आयु के रहते हुए मरण होता है, आयु के न रहने पर मरण नहीं होता । इसलिए जो मरण से डरते हैं उन्हें सबसे पहिले आयु से डरना चाहिये ॥49॥

समस्त सम्पदाओं का हाल गन्धर्वनगर के ही समान है अर्थात् जिस प्रकार यह मेघों का बना गन्धर्वनगर देखते-देखते नष्ट हो गया उसी प्रकार संसार की समस्त सम्पदाएं भी नष्ट हो जाती हैं यह बात विद्वानों की कौन कहे मूर्ख भी जानते हैं ॥50॥

जिस समय भगवान् ऐसा विचार कर रहे थे उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी पूजा की । देवों ने भगवान् का निष्क्रमण कल्याणक किया । तदनन्तर जितेन्द्रिय भगवान् हस्तचित्रा नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर अग्रउद्यान में आये । वहाँ उन्होंने माघ शुल्क द्वादशी के दिन शाम के समय अपने जन्म नक्षत्र का उदय रहते वेला का नियम लेकर एक हजार प्रसिद्ध राजाओं के साथ जिन-दीक्षा धारण कर ली । उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥51-53॥

दूसरे दिन भोजन करने की इच्छा से उन्होंने साकेत (अयोध्या) नगर में प्रवेश किया । वहाँ इन्द्रदत्त राजा ने पडगाह कर उन्हें आहार दिया तथा पंचाश्वर्य प्राप्त किये ॥54॥

तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाके अठारह वर्ष मौन से बीत जाने पर वे एक दिन दीक्षावन में असन वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए ॥55॥

पौष शुल्क चतुर्दशी के दिन शाम के समय सातवें पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान हुआ, समस्त देवों ने उनकी पूजा की ॥56॥

वज्रनाभि आदि एक सौ तीन गणधर, शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले दो हजार पाँच सौ पूर्वधारी, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, सोलह हजार केवलज्ञानी, उन्नीस हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक, ग्यारह हजार छह सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी और ग्यारह हजार प्रचण्ड वादी उनके चरणों की निरन्तर वन्दना करते थे ॥57-60॥

इस तरह वे सब मिलाकर तीन लाख मुनियों के स्वामी थे, मेरूषेणा आदि तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाओं से सहित थे, तीन लाख श्रावक उनके चरण युगलकी पूजा करते थे, पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी स्तुति करती थीं, असंख्यात देव-देवियों के द्वारा वे स्तुत्य थे, और संख्यात तिर्य्यक उनकी सेवा करते थे ॥61-63॥

इस प्रकार शिष्ट और भव्य जीवोंकी बारह सभाओं के नायक भगवान् अभिनन्दननाथ ने धर्मवृष्टि करते हुए इस आर्यखण्ड की वसुधा पर दूर-दूर तक विहार किया ॥64॥

इच्छा के विना ही विहार करते हुए वे सम्मोद गिरि पर जा पहुँचे । वहाँ एक मास तक दिव्य-ध्वनि से रहित होकर ध्यानारूढ़ रहे, उस समय वे ध्यान काल में होनेवाली योगनिरोध आदि क्रियाओं से युक्त थे, समुच्छिन्न क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक दो ध्यानों से

सहित थे, अत्यन्त निर्मल थे, और प्रतिमायोग को धारण किये हुए थे। वहीं से उन्होंने वैशाख शुल्क षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय पुनर्वसु नामक सप्तम नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ परमपद-मोक्ष प्राप्त किया ॥65-66॥

उसी समय भक्ति से जिनके आठों अंग झुक रहे हैं ऐसे इन्द्र ने आकर उन त्रिलोकीनाथ की पूजा की, स्तुति की और तदनन्तर यथा-क्रम से स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया ॥67॥

जिन्होंने इन्द्रों के द्वारा पंच कल्याणकों में उत्पन्न होनेवाली पुण्यमयी लक्ष्मी प्राप्त की, जिन्होंने कर्म क्षय से होनेवाली तथा अनन्त-चतुष्टय से देदीप्यमान अविनाशी अंतरंग लक्ष्मी प्राप्त की जो रूप से रहित होने पर भी निर्मल गुणों के धारक रहे, मोक्ष-लक्ष्मी ने जिनका आलिंगन किया, जिनका उदय कभी नहीं हो सकता और जो पूर्वोक्त लक्ष्मियों से युक्त रहे ऐसे श्री अभिनन्दन जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥68॥

जो पहले रत्नसंचय नगर के राजा महाबल हुए, तदनन्तर विजय नामक अनुत्तर विमान में विजयी अहमिन्द्र हुए, फिर ऋषभनाथ तीर्थंकर के वंश में अयोध्या नगरी के अधिपति अभिनन्दन राजा हुए वे अभिनन्दन स्वामी तुम सबकी रक्षा करें ॥69॥

जिन्होंने निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों से विभाग कर समस्त पदार्थों का विचार किया है, अपने भवकी विभूति को नष्ट करने के लिए देवों ने भक्ति से जिनकी स्तुति की है, जो तीनों लोकों के स्वामी हैं, निर्भय हैं और संसार के प्राणियों का भय दूर करनेवाले हैं ऐसे अभिनन्दन जिनेन्द्र, हे भव्य जीवों ! तुम सबकी विभूति को करनेवाले हों ॥70॥

भगवान सुमतिनाथ चरित

पर्व - 51

कथा :

अथानन्तर जो लोग सुमतिनाथ की बुद्धि को ही बुद्धि मानते हैं अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित मत में ही जिनकी बुद्धि प्रवृत्त रहती है उन्हें अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसके सिवाय जिनके वचन सज्जन पुरुषोंके द्वारा ग्राह्य हैं ऐसे सुमतिनाथ भगवान् हम सबके लिए सद्बुद्धि प्रदान करें ॥1॥

अखण्ड घातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरूपर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक पुष्कलावती नाम का उत्तम देश है ॥2॥

उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में रतिषेण नाम का राजा था। वह राजा राज - सम्पदाओंसे सहित था, उसे किसी प्रकार का व्यसन नहीं था और पूर्व भाग में उपार्जित विशाल पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुए राज्य का नीति - पूर्वक उपभोग करता था। उसका वह राज्य शत्रुओं से रहित था, क्रोधके कारणों से रहित था और निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता था ॥3-4॥

राजा रतिषेण की जो राजविद्या थी वह उसी की थी वैसी राजविद्या अन्य राजाओं में नहीं पाई जाती थी। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड इन चारों विद्याओं में चौथी दण्डविद्या का वह कभी प्रयोग नहीं करता था क्योंकि उसकी प्रजा प्राण-दण्ड आदि अनेक दण्डों में से किसी एक भी मार्ग में नहीं जाती थी ॥5॥

इन्द्रियों के विषय में अनुराग रखनेवाले मनुष्य को जो मानसिक तृप्ति होती है उसे काम कहते हैं। वह काम, अपने इष्ट समस्त पदार्थों की संपत्ति रहने से राजा रतिषेण को कुछ भी दुर्लभ नहीं था ॥6॥

वह राजा अर्जन, रखण, वर्धन और व्यय इन चारों उपायों से धन संचय करता था और आगम के अनुसार अर्हन्त भगवान् को ही देव मानता था। इस प्रकार **अर्थ** और धर्म को वह काम की अपेक्षा सुलभ नहीं मानता था अर्थात् काम की अपेक्षा अर्थ तथा धर्म पुरुषार्थका अधिक सेवन करता था ॥7॥

इस प्रकार लीलापूर्वक पृथिवी का पालन करनेवाले और परस्पर की अनुकूलता से धर्म, **अर्थ**, काम इस त्रिवर्ग की वृद्धि करनेवाले राजा रतिषेण का जब बहुत-सा समय व्यतीत हो गया तब एक दिन उसके हृदय में निम्नांकित विचार उत्पन्न हुआ ॥8॥

वह विचार करने लगा कि इस संसार में जीव का कल्याण करनेवाला क्या है ? और पर्यायरूपी भँवरों में रहनेवाले दुर्जन्म तथा दुर्मरण रूपी सर्पों से दूर रहकर यह जीव सुख को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? **अर्थ** और काम से तो सुख हो नहीं सकता क्योंकि उनसे संसार की ही वृद्धि होती है। रहा धर्म, सो जिस धर्म में पाप की संभावना है उस धर्म से भी सुख नहीं हो सकता। हां, पापरहित एक मुनिधर्म है उसी से इस जीव को उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार विरक्त राजा के हृदय में उत्तम फल देनेवाला विचार उत्पन्न

हुआ ॥9-11॥

तदनन्तर संसार का अन्त करनेवाले राजा रतिषेण ने राज्य का भारी भार अपने अतिरथ नामक पुत्र के लिए सौंप कर तपका हलका भार धारण कर लिया ॥12॥

उसने अर्हन्नन्दन जिनेन्द्र के समीप दीक्षा धारण की, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और मोह-शत्रु को जीतनेकी इच्छा से अपने शरीर में भी ममता छोड़ दी ॥13॥

उसने दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता आदि कारणों से तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि जिससे अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि होती है बुद्धिमान् पुरुष वैसा ही आचरण करते हैं ॥14॥

उसने अन्त समयमें संन्यासमरण कर उत्कृष्ट आयु का बन्ध किया तथा वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया । वहां उसका एक हाथ ऊँचा शरीर था । वह सोलह माह तथा पन्द्रह दिन में एक बार श्वास लेता था, तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, शुल्क-लेश्या का धारक था, अपने तेज तथा अवधिज्ञान से लोकनाड़ीको व्याप्त करता था, उतनी ही दूर तक विक्रिया कर सकता था, और लोकनाड़ी उखाड़ कर फेंकनेकी शक्ति रखता था ॥15-17॥

इस संसार में अहमिन्द्र का सुख ही मुख्य सुख है, वही निर्द्वन्द्व है, प्रवीचारसे रहित है और राग से शून्य है । अहमिन्द्र का सुख राजा रतिषेणके जीव को प्राप्त हुआ था ॥18॥

आयु के अन्त में समाधिमरण कर जब वह अहमिन्द्र यहाँ अवतार लेने को हुआ तब इस जम्बूद्वीप-सम्बन्धी भरत-क्षेत्रकी अयोध्यानगरी में मेघरथ नाम का राजा राज्य करता था । वह भगवान् वृषभदेव के वंश तथा गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, क्षत्रिय था, शत्रुओं से रहित था और अतिशय प्रशंसनीय था । मंगला उसकी पट्टरानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयों से सम्मान को प्राप्त थी ॥19-20॥

उसने श्रावण-शुक्ल द्वितिया के दिन मघा नक्षत्र में हाथी आदि सोलह स्वप्न देखकर अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा । उसी समय वह अहमिन्द्र रानी के गर्भ में आया ॥21॥

अपने पति से स्वप्नों का फल जानकर रानी बहुत ही हर्षित हुई । तदनन्तर नौवें चैत्र माह के शुल्क पक्ष की एकादशी के दिन चित्रा नक्षत्र तथा पितृ योग में उसने तीन ज्ञान के धारक, सत्पुरुषों में श्रेष्ठ और त्रिभुवन के भर्ता उस अहमिन्द्र के जीव को उत्पन्न किया ॥22-23॥ सदा की भांति इन्द्र लोग जिन-बालक को सुमेरू-पर्वत पर ले गये, वहां उन्होंने जन्माभिषेक-सम्बन्धी उत्सव किया, सुमति नाम रक्खा और फिर घर वापिस ले आये ॥24॥

अभिनन्दन स्वामी के बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जाने पर उत्कृष्ट पुण्य को धारण करनेवाले भगवान् सुमतिनाथ उत्पन्न हुए थे । उनकी आयु भी इसी समय में शामिल थी ॥25॥

इनकी आयु चालीस लाख पूर्व की थी, शरीर की ऊंचाई तीन सौ धनुष थी, तपाये हुए सुवर्ण के समान उनकी कान्ति थी, और आकार स्वभावसे ही सुन्दर था ॥26॥

वे देवों के द्वारा लाये हुए बाल्यकाल के योग्य समस्त पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते थे । उनके शरीर के अवयव ऐसे जान पड़ते थे मानो चन्द्रमाकी किरणें ही हों ॥27॥

उनके पतले, टेढ़े, चिकने तथा जामुनके समान कान्ति वाले शिरके केश ऐसे जान पड़ते थे मानो मुख में कमल की आशंका कर भौरें ही इकट्ठे हुए हों ॥28॥

मैंने देवों के द्वारा अभिषेकके बाद तीन लोक के राज्य का पट्ट प्राप्त किया है । यह सोच कर ही मानो उनका ललाटतट ऊंचाईको प्राप्त हुआ था ॥29॥

तीन ज्ञान को धारण करनेवाले भगवान् के कान सब लक्षणों से युक्त थे और पांच वर्ष के बाद भी उन्होंने किसी के शिष्य बनने का तिरस्कार नहीं प्राप्त किया था ॥30॥

उनकी भौहें बड़ी ही सुन्दर थीं, भौहों के संकेत मात्रसे दिये हुए धन-समूह से उन्होंने याचकों को संतुष्ट कर दिया था अतः उनकी भौहों की शोभा बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा भी नहीं कही जा सकती थी ॥31॥

समस्त इष्ट पदार्थों के देखने से उत्पन्न होनेवाले अपरिमित सुख को प्राप्त हुए उनके दोनों नेत्र विलास पूर्ण थे, स्नेहसे भरे थे, शुक्ल कृष्ण

और लाल इस प्रकार तीन वर्ण के थे तथा अत्यन्त सुशोभित होते थे ॥32॥

मुख-कमल की सुगन्धि का पान करनेवाली उनकी नाक, 'मेरे बिना मुख की शोभा नहीं हो सकती' इस बात का अहंकार धारण करती हुई ही मानो ऊंची उठ रही थी ॥33॥

उनके दोनों कपोलों की लक्ष्मी उत्तमांग अर्थात् मस्तक का आश्रम होने तथा संख्यामें दो होने के कारण वक्षःस्थल पर रहनेवाली लक्ष्मी को जीतती हुई-सी शोभित हो रही थी ॥34॥

उनके दांतोंकी पंक्ति कुन्द पुष्पके सौन्दर्यको जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो मुख कमल में निवास करनेसे संतुष्ट हो हँसती हुई सरस्वती ही हो ॥35॥

जिन्होंने समस्त देवोंको तिरस्कृत कर दिया है, सुमेरु पर्वत की शोभा बढ़ाई है और छह रसों के सिवाय सप्तम अलौकिक रसके आस्वादसे सुशोभित हैं ऐसे उनके अधरों (ओठों) की अधर (तुच्छ) संज्ञा नहीं थी ॥36॥

जिससे समस्त पदार्थों का उल्लेख करनेवाली दिव्यध्वनि प्रकट हुई है ऐसे उनके मुख की शोभा तो कही ही नहीं जा सकती । उनके मुख की शोभा वचनों से प्रिय तथा उज्ज्वल थी अथवा वचनरूपी वल्लभा-सरस्वतीसे देदीप्यमान थी ॥37॥

जब कि अपनी-अपनी वल्लभाओं से सहित देवेन्द्र भी उस पर सतृष्ण भ्रमर जैसी अवस्था को प्राप्त हो गये थे तब उनके मुख-कमल के हाव का क्या वर्णन किया जावे ? ॥38॥

जिन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्त से समस्त वादियों को कुण्ठित कर दिया है ऐसे भगवान् सुमतिनाथ के कण्ठ में जब इन्द्रों ने तीन लोक के अधिपतित्व की कण्ठी बाँध रखी थी तब उसकी क्या प्रशंसा की जावे ? ॥39॥

शिरसे भी ऊँचे उठे हुए उनकी भुजाओं के शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानो वक्षःस्थल पर रहने वाली लक्ष्मी के क्रीड़ा-पर्वत ही हों ॥40॥
घुटनों तक लटकने वाली विजयी सुमतिनाथ की भुजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो पृथिवी की लक्ष्मी को हरण करने के लिए वीर लक्ष्मी ने ही अपनी भुजाएँ फैलाई हों ॥41॥

उनके वक्षःस्थल की शोभा का पृथक्-पृथक् वर्णन कैसे किया जा सकता है जब कि उस पर मोक्षलक्ष्मी और अभ्युदयलक्ष्मी साथ ही साथ निवास करती थीं ॥42॥

उनका मध्यभाग कृश होने पर भी कृश नहीं था क्योंकि वह मोक्षलक्ष्मी और अभ्युदयलक्ष्मी से युक्त उनके भारी शरीर को लीलापूर्वक धारण कर रहा था ॥43॥

उनकी आवर्त के समान गोल नाभि गहरी थी यह कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यदि वह वैसी नहीं होती तो उनके शरीर में अच्छी ही नहीं जान पड़ती ॥44॥

समस्त अच्छे परमाणुओं ने विचार किया - हम किसी अच्छे आश्रय के विना रूप तथा शोभा को प्राप्त नहीं हो सकते ऐसा विचार कर ही समस्त अच्छे परमाणु उनकी कमर पर आ कर स्थित हो गये थे और इसीलिए उनकी कमर अत्यन्त सुन्दर हो गई थी ॥45॥

केले के स्तम्भ आदि पदार्थ अन्य मनुष्यों की जाँघों की उपमानता को भले ही प्राप्त हो जावें परन्तु भगवान् सुमतिनाथ के जाँघों के सामने वे गोलाई आदि गुणों से उपमेय ही बने रहते थे ॥46॥

विधाता ने उनके सुन्दर घुटने किसलिए बनाये थे यह बात मैं ही जानता हूँ अन्य लोग नहीं जानते और वह बात यह है कि इनकी ऊरुओं तथा जंघाओं में शोभा सम्बन्धी ईर्ष्या न हो इस विचार से ही बीच में घुटने बनाये थे ॥47॥

विधाता ने उनकी जंघाएँ वज्र से बनाई थीं, यदि ऐसा न होता तो वे कृश होने पर भी त्रिभुवन के गुरु अथवा त्रिभुवन में सबसे भारी उनके शरीर के भार को कैसे धारण करतीं ॥48॥

यह पृथिवी संपूर्ण रूप से हमारे तलवों के नीचे आकर लग गई है यह सोचकर ही मानो उनके दोनों पैर हर्ष से कछुवेकी पीठके समान शुभ कान्ति के धारक हो गये थे ॥49॥

इन भगवान् सुमतिनाथ में कर्मों को नष्ट करनेवाले इतने धर्म प्रकट होंगे यह कहने के लिए ही मानो विधाता ने उनकी दश अंगुलियाँ बनाई थीं ॥50॥

उनके चरणों के नख ऐसी शंका उत्पन्न करते थे कि मानो उनसे श्रेष्ठ कान्ति प्राप्त करने के लिए ही चन्द्रमा दश रूप बनाकर उनके चरणों

की सेवा करता था ॥51॥

इस प्रकार लक्षणों तथा व्यंजनोंसे सुशोभित उनके सर्व शरीर की शोभा मुक्तिरूपी स्त्रीको स्वीकृत करेगी इसमें कुछ भी संशय नहीं था ॥ 52॥

इस प्रकार भगवान् की कुमार अवस्था स्वभाव से ही सुन्दरता धारण कर रही थी, यद्यपि उस समय उन्हें यौवन नहीं प्राप्त हुआ था तो भी वे कामदेव के बिना ही अधिक सुन्दर थे ॥53॥

तदनन्तर यौवन प्राप्त कर कामदेव ने भी उनमें अपना स्थान बना लिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे कौन सत्पुरुष हैं जो स्थान पाकर स्वयं नहीं ठहर जाते ॥54॥

इस प्रकार क्रम-क्रम से जब उनके कुमार-काल के दश लाख पूर्व बीत चुके तब उन्हें स्वर्गलोक के साम्राज्य का तिरस्कार करनेवाला मनुष्योंका साम्राज्य प्राप्त हुआ ॥55॥

शुक्ललेश्या को धारण करनेवाले भगवान् सुमतिनाथ न कभी हिंसा करते थे, न झूठ बोलते थे और न चोरी तथा परिग्रह सम्बन्धी आनन्द उन्हें स्वप्न में भी कभी प्राप्त होता था । भावार्थ-वे हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और परिग्रहानन्द इन चारों रौद्रध्यानसे रहित थे ॥56॥
उन्हें न कभी अनिष्ट-संयोग होता था, न कभी इष्ट-वियोग होता था, न कभी वेदनाजन्य दुःख होता था और न वे कभी निदान ही करते थे ।
इस प्रकार वे चारों आर्तध्यानसम्बन्धी संल्लेखसे रहित थे ॥57॥

गुण, पुण्य और सुखोंको धारण करनेवाले भगवान् अनेक गुणों की वृद्धि करते थे, नवीन पुण्य कर्म का संचय करते थे और पुरातन समस्त पुण्य कर्मोंके विपाकका अनुभव करते थे ॥58॥

अनुराग से भरे हुए देव, विद्याधर और भूमिगोचरी मानव सदा उनकी सेवा किया करते थे, उन्होंने इस-लोक सम्बन्धी समस्त आरम्भ दूर कर दिये थे, और वे सर्व सम्पदाओं से परिपूर्ण थे ॥59॥

वे मनुष्य तथा देवोंमें होनेवाले काम-भोगोंमें, न्यायपूर्ण अर्थ में तथा हितकारी धर्म में श्रेष्ठ सुख को प्राप्त हुए थे ॥60॥

वे दिव्य अंगराग, माला, वस्त्र और आभूषणों से सुशोभित, सुन्दर, समान अवस्थावाली तथा स्वेच्छा से प्राप्त हुई स्त्रियों के साथ रमण करते थे ॥61॥

समान प्रेमसे संतोषित दिव्य लक्ष्मी और मानुष्य लक्ष्मी दोनों ही उन्हें सुख पहुँचाती थीं सो ठीक ही है क्योंकि मध्यस्थ मनुष्य किसे प्यारा नहीं होता ? ॥62॥

संसार में सुख वही था जो इनके इन्द्रियगोचर था, क्योंकि स्वर्ग में भी जो सारभूत वस्तु थी उसे इन्द्र इन्हीं के लिए सुरक्षित रखता था ॥ 63॥

इस प्रकार दिव्य-लक्ष्मी और राज्य-लक्ष्मी इन दोनों में समय व्यतीत करते हुए भगवान् सुमतिनाथ संसार से विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्यपना इसीको कहते हैं ॥64॥

भगवान् ने विचार किया कि अल्प सुखकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् मानव, इस विषयरूपी मांस में क्यों लम्पट हो रहे हैं । यदि ये संसार के प्राणी मछली के समान आचरण न करें तो इन्हें पापरूपी वंसीका साक्षात्कार न करना पड़े ॥65॥

जो परम चातुर्य को प्राप्त नहीं हैं ऐसा मूर्ख प्राणी भले ही अहितकारी कार्योंमें लीन रहे परन्तु मैं तो तीन ज्ञानों से सहित हूँ फिर भी अहितकारी कार्यों में कैसे लीन हो गया ? ॥66॥

जब तक यथेष्ट वैराग्य नहीं होता और यथेष्ट सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा की स्व-स्वरूप में स्थिरता कैसे हो सकती है ? और जिसके स्वस्वरूप में स्थिरता नहीं है उसके सुख कैसे हो सकता है ? ॥67॥

राज्य करते हुए जब उन्हें उन्तीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग बीत चुके तब अपनी आत्मा में उन्होंने पूर्वोक्त विचार किया ॥68॥

उसी समय सारस्वत आदि समस्त लौकान्तिक देवों ने अच्छे-अच्छे स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की, देवों ने उनका अभिषेक किया और उन्होंने उनकी अभय नामक पालकी उठाई ॥69॥

इस प्रकार भगवान् सुमतिनाथ ने वैशाख सुदी नवमीके दिन मघा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ वेला का नियम लेकर दीक्षा धारण कर ली । संयम के प्रभाव से उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥70-71॥

दूसरे दिन वे भिक्षाके लिए सौमनस नामक नगर में गये । वहाँ सुवर्ण के समान कान्ति के धारक पद्म राजा ने पडगाह कर आहार दिया तथा स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्त की ॥72॥

उन्होंने सर्वपाप की निवृत्ति रूप सामायिक संयम धारण किया था, वे मौन से रहते थे, उनके समस्त पाप शान्त हो चुके थे, वे अत्यन्त सहिष्णु-सहनशील थे और जिसे दूसरे लोग नहीं सह सकते ऐसे तपको बड़ी सावधानीके साथ तपते थे ॥73॥

उन्होंने छद्मस्थ रहकर बीस वर्ष बिताये । तदनन्तर उसी सहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास लेकर योग धारण किया ॥ 74॥

और चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन जब सूर्य पश्चिम दिशा की ओर ढल रहा था तब केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥75॥

देवों ने उनके ज्ञान-कल्याणक की पूजा की । सप्त ऋद्धियों के धारक अमर आदि एक सौ सोलह गणधर निरन्तर सम्मुख रह कर उनकी पूजा करते थे, दो हजार चार सौ पूर्वधारी निरन्तर उनके साथ रहते थे, वे दो लाख चौअन हजार तीन सौ पचास शिक्षकों से सहित थे, ग्यारह हजार अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, तेरह हजार केवलज्ञानी उनकी स्तुति करते थे, आठ हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि के धारण करनेवाले उनका स्तवन करते थे, दश हजार चार सौ मनःपर्ययज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, और दश हजार चार सौ पचास वादी उनकी वंदना करते थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख बीस हजार मुनियों से वे सुशोभित हो रहे थे ॥76-80॥

अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ उनकी अनुगामिनी थीं, तीन लाख श्रावक उनकी पूजा करते थे, पाँच लाख श्राविकाएँ उनके साथ थीं ॥81॥

असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यचोसे वे सदा घिरे रहते थे । इस प्रकार देवों के द्वारा पूजित हुए भगवान् सुमतिनाथ ने अठारह क्षेत्रों में विहार कर भव्य जीवों के लिए उपदेश दिया था । जिस प्रकार अच्छी भूमिमें बीज बोया जाता है और उससे महान् फलकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार भगवान् ने प्रशस्त अप्रशस्त सभी भाषाओंमें भव्य जीवों के लिए दिव्य ध्वान रूपी बीज बोया था और उससे भव्य जीवों को रत्नत्रयरूपी महान् फलकी प्राप्ति हुई थी ॥82-83॥

अन्त में जब उसकी आयु एक मासकी रह गई तब उन्होंने विहार करना बन्द कर सम्मेदगिरि पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और वहीं से चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया । देवों ने उनका निर्वाणकल्याणक किया ॥84-85॥

जो पहले शत्रु राजाओं को नष्ट करने के लिए यमराज के दण्ड के समान अथवा इन्द्रके समान पुण्डरीकिणी नगरी के अधिपति राजा रतिषेण थे, फिर वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए और फिर अनन्त लक्ष्मी के धारक, समस्त गुणों से सम्पन्न तथा कृतकृत्य सुमतिनाथ तीर्थंकर हुए वे तुम सबको सिद्धि प्रदान करें ॥86॥

जो भगवान् स्वर्गावतरण के समय गर्भकल्याण के उत्सवमें 'सद्योजात' कहलाये, जन्माभिषेक के समय इन्द्रों के व्रजसे विरचित आभूषणों से सुशोभित होकर 'वाम' कहलाये, दीक्षा- कल्याण के समय 'अघोर' कहलाये, केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर 'ईशान' कहलाये और निर्वाण होने पर 'तत्पुरुष' कहलाये ऐसे रागद्वेष रहित अतिशय पूज्यभगवान् सुमतिनाथ का शान्ति के लिए हे भव्य जीवों ! आश्रय ग्रहण करो ॥87॥

भगवान पद्मप्रभनाथ चरित

पर्व - 52

कथा :

कमल दिन में ही फूलता है, रातमें बन्द हो जाता है अतः उसमें स्थिर न रह सकनेके कारण जिस प्रकार प्रभा की शोभा नहीं होती और इसीलिए उसने कमल को छोड़कर जिनका आश्रय ग्रहण किया था उसी प्रकार लक्ष्मी ने भी कमल को छोड़कर जिनका आश्रय लिया था वे पद्मप्रभ स्वामी हम सबकी रक्षा करें ॥1॥

दूसरे धातकीखण्डद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स देश है । उसके सुसीमा नगर में महाराज अपराजित राज्य करते थे । महाराज अपराजित वास्तव में अपराजित थे क्योंकि उन्हें शत्रु कभी भी नहीं जीत सकते थे और उन्होंने अन्तरंग तथा बहिरंग के सभी शत्रुओं को जीत लिया था ॥2-3॥

वह राजा कुटिल मनुष्यों को अपने पराक्रम से ही जीत लेता था अतः बाहुबलसे सुशोभित उस राजा की सप्तांग सेना केवल बाह्य आडम्बर मात्र थी ॥4॥

उसके सत्य से मेघ किसानों की इच्छानुसार बरसते थे और वर्ष के आदि, मध्य तथा अन्त में बोये जानेवाले सभी धान्य फल प्रदान करते थे ॥5॥

उसके दान के कारण दारिद्र्य शब्द आकाश के फूलके समान हो रहा था और पृथिवी पर पहले जिन मनुष्यों में दरिद्रता थी वे अब कुबेर के समान आचरण करने लगे थे ॥6॥

जिस प्रकार उत्तम खेत में बोये हुए बीज सजातीय अन्य बीजों को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार उस राजा के उक्त तीनों महान् गुण सजातीय अन्य गुणों को उत्पन्न करते थे ॥7॥

इस राजा की रूपादि सम्पत्ति अन्य मनुष्यों के समान इसे कुमार्ग में नहीं ले गई थी सो ठीक ही है क्योंकि वृक्षों को उखाड़ने वाला क्या मेरु पर्वत को भी कम्पित करने में समर्थ है ? ॥8॥

वह राजा राजाओं के योग्य सन्धि विग्रहादि छह गुणों से सुशोभित था और छह गुण उससे सुशोभित थे । उसका राज्य दूसरों के द्वारा घर्षणीय -तिरस्कार करने के योग्य नहीं था पर वह स्वयं दूसरोंका घर्षक -तिरस्कार करने वाला था ॥9॥

इस प्रकार अनेक भावोंमें उपार्जित पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त तथा अनेक मित्रों में बटे हुए राज्य का उसने चिरकाल तक उपभोग किया ॥10॥

तदनन्तर वह विचार करने लगा कि इस संसार में समस्त पर्याय क्षणभंगुर हैं, सुख पर्यायों के द्वारा भोगा जाता है और कारण का विनाश होने पर कार्य की स्थिति कैसे हो सकती है ? ॥11॥

इस प्रकार ऋजुसूत्र नय से सब पदार्थों को भंगुर स्मरण करते हुए उस राजा ने अपने आत्मा को वश करनेवाले सुमित्र पुत्र के लिए राज्य दे दिया, वन में जाकर पिहितास्त्रव जिनेन्द्र को दीक्षा-गुरू बनाया, ग्यारह अंगों का अध्ययन कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और आयु के अन्त में समाधिमण के द्वारा शरीर छोड़कर अत्यन्त रमणीय ऊर्ध्व-ग्रैवेयक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया ॥12-14॥ इकतीस सागर उसकी आयु थी, दो हाथ ऊँचा शरीर था, शुल्क लेश्या थी, चार सौ पैंसठ दिन में श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था, इकतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार से संतुष्ट होता था, अपने तेज, बल तथा अवधि- ज्ञान से सप्तमी पृथिवी को व्याप्त करता था और वहीं तक उसकी विक्रिया-ऋद्धि थी । इस प्रकार अहमिन्द्र सम्बन्धी सुख उसे प्राप्त थे । आयु के अन्त में जब वह वहां से चय कर पृथिवी पर अवतार लेने के लिए उद्यत हुआ ॥15-17॥

तब इसी जम्बूद्वीप की कौशाम्बी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री धरण नाम का एक बड़ा राजा था । उसकी सुसीमा नाम की रानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयों से सम्मानित थी । माघकृष्ण षष्ठी के दिन प्रातः काल के समय जब चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का संयोग हो रहा था तब रानी सुसीमा ने हाथी आदि सोलह स्वप्न देखने के बाद मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा । पति से स्वप्नों का फल जानकर बहुत ही हर्षित हुई ॥18-20॥

कार्तिक मास के कृष्णपक्ष की त्रयोदशीके दिन त्वष्ट योग में उसने लाला कमल की कलिका के समान कान्तिवाले अपराजित पुत्र को उत्पन्न किया ॥21॥

इस पुत्र की उत्पत्ति होते ही गुणों की उत्पत्ति हुई, दोष समूह नाश हुआ और हर्ष से प्राणियों का शोक शान्त हो गया ॥22॥

स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग चलानेवाले भगवान् के उत्पन्न होते ही मोहरूपी शत्रु कान्ति-रहित हो गया तथा 'अब मैं नष्ट हुआ' यह सोचकर काँपने लगा ॥23॥

उस समय विद्वानों में निम्न प्रकार का वार्तालाप हो रहा था कि जब भगवान् सब को प्रबुद्ध करेंगे तब बहुत से लोग मोह -निद्रा को छोड़ देवेंगे, प्राणियों का जन्मजात विरोध नष्ट हो जावेगा, लक्ष्मी विकास को प्राप्त होगी और कीर्ति तीनों जगत् में फैल जावेगी ॥24-25॥

उसी समय इन्द्रों ने मेरु पर्वत पर, ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया, हर्ष से पद्मप्रभ नाम रक्खा, स्तुति की, तदनन्तर महाकान्तिमान् जिन-बालक को वापिस लाकर माता की गोद में रक्खा, हर्षित होकर नृत्य किया और फिर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया ॥ 26-27॥

चन्द्रमा के समान उनके बाल्यकाल की सब बड़े हर्ष से प्रशंसा करते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो सबको आह्लादित कर वृद्धि को प्राप्त होता है उससे कौन पराङ्मुख रहता है ? ॥28॥

भगवान् पद्मप्रभ के शरीर की जैसी सुन्दरता थी वैसी सुन्दरता न तो शरीर रहित कामदेवमें थी और न अन्य किसी मनुष्य में भी । यथार्थ में उनकी सुन्दरता की किसी से उपमा नहीं दी जा सकती थी ॥29॥

इसी प्रकार उनके रूप का भी पृथक् पृथक् वर्णन नहीं करना चाहिये क्योंकि जो जो गुण उनमें विद्यमान थे विद्वान् लोग उन गुणों की अन्य मनुष्यों में रहनेवाले गुणों के साथ उपमा नहीं देते थे ॥30॥

स्त्रियाँ पुरुषों की इच्छा करती हैं और पुरुष स्त्रियों की इच्छा करते हैं परन्तु उन पद्मप्रभ की, स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही इच्छा करते थे सो ठीक ही है । क्योंकि जिनका भाग्य अल्प है वे इनके सौभाग्य को नहीं पा सकते हैं ॥31॥

जिस प्रकार मत्त भौरों की पंक्ति आममंजरी में परम संतोष को प्राप्त होती है उसी प्रकार सब मनुष्यों की दृष्टि उनके शरीर में ही परम संतोष प्राप्त करती थी ॥32॥

हम तो ऐसा समझते हैं कि समस्त इन्द्रियों के सुख यदि उन पद्मप्रभ भगवान् में पूर्णता को प्राप्त नहीं थे तो फिर अण्ण पुण्य के धारक दूसरे किन्हीं भी मनुष्यों में पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकते थे ॥33॥

जब सुमतिनाथ भगवान् की तीर्थ परम्परा के नब्बे हजार करोड़ सागर बीत गये तब भगवान् पद्मप्रभ उत्पन्न हुए थे ॥34॥

तीस लाख पूर्व उनकी आयु थी, दो सौ पचास धनुष ऊँचा शरीर था और देव लोग उनकी पूजा करते थे । उनकी आयु का जब एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्होंने एकछत्र राज्य प्राप्त किया । उनका वह राज्य क्रम-प्राप्त था -वंश-परम्परा से चला आ रहा था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन मनुष्य उस राज्य की इच्छा नहीं करते हैं जो अन्य रीति से प्राप्त होता है ॥35-36॥

जब भगवान् पद्मप्रभ को राज्यपट्ट बाँधा गया तब सबको ऐसा हर्ष हुआ मानो मुझे ही राज्यपट्ट बाँधा गया हो । उनके देश में आठों महाभय समूल नष्ट हो गये थे ॥37॥

दरिद्रता दूर भाग गई, धन स्वच्छदन्ता से बढ़ने लगा, सब मंगल प्रकट हो गये और सब सम्पदाओं का समागम हो गया ॥38॥

उस समय दाता लोग कहा करते थे कि किस मनुष्य को किस पदार्थ की इच्छा है और याचक लोग कहा करते थे कि किसी को किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है ॥39॥

इस प्रकार जब भगवान् पद्मप्रभ को राज्य प्राप्त हुआ तब संसार मानो सोने से जाग पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि राजाओं का राज्य वही है जो प्रजाको सुख देनेवाला हो ॥40॥

जब उनकी आयु सोलह पूर्वांग कम लाख पूर्व की रह गई तब किसी समय दरवाजे पर बँधे हुए हाथीकी दशा सुनने से उन्हें अपने पूर्व भवोंका ज्ञान हो गया और तत्त्वों के स्वरूप को जाननेवाले वे संसार को इस प्रकार धिक्कार देने लगे । वे पाप तथा दुःखों को देनेवाले काम-भोगों में विरक्त हो गये । वे विचारने लगे कि इस संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिसे मैंने देखा न हो, छुआ न हो, सूँघा न हो, सुना न हो, और खाया न हो जिससे वह नये के समान जान पड़ता है ॥41-43॥

यह जीव अपने पूर्वभवों में जिन पदार्थों का अनन्त बार उपभोग कर चुका है उन्हें ही बार-बार भोगता है अतः अभिलाषा रूप सागर के बीच पड़े हुए इस जीव से क्या कहा जावे ? ॥44॥

घातिया कर्मों के नष्ट होने पर इसके केवलज्ञानरूपी उपयोग में जब तक सारा संसार नहीं झलकने लगता तब तक मिथ्यात्व आदिसे दूषित इन्द्रियों के विषयों से इसे तृप्ति नहीं हो सकती ॥45॥

यह शरीर रोगरूपी साँपों की वामी है तथा यह जीव देख रहा है कि हमारे इष्टजन इन्हीं रोगरूपी साँपों से काटे जाकर नष्ट हो रहे हैं फिर भी यह शरीर में अविनाशी मोह कर रहा है यह बड़ा आश्चर्य है । क्या आज तक कहीं किसी जीवने आयु के साथ सहवास किया है ? अर्थात् नहीं किया ॥46-47॥

जो हिंसादि पाँच पापों को धर्म मानता है, और इन्द्रिय तथा पदार्थ के सम्बन्ध से होनेवाले सुख को सुख हिंसादि पाँच पापों को धर्म मानता है, और इन्द्रिय तथा पदार्थ के सम्बन्ध से होनेवाले सुख को सुख समझता है उसी विपरीतदर्शी मनुष्य के लिए यह संसार रूचता है - अच्छा मालूम होता है ॥48॥

जिस कार्य से पाप और पुण्य दोनों उपलेपों का नाश हो जाता है, विद्वानोंको सदा उसी का ध्यान करना चाहिये, उसीका आचरण करना चाहिये और उसीका अध्ययन करना चाहिये ॥49॥

इस प्रकार संसार, शरीर और भोग इन तीनोंके वैराग्यसे जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, लौकान्तिक देवों ने जिनका उत्साह बढ़ाया है और चतुर्निकाय देवों ने जिनके दीक्षा-कल्याणक का अभिषेकोत्सव किया है ऐसे भगवान् पद्मप्रभ, निवृत्ति नाम की पालकी पर सवार होकर मनोहर नाम के वन में गये और वहाँ वेला का नियम लेकर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीके दिन शाम के समय चित्रा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ आदर पूर्वक उन्होंने शिक्षा के समान दीक्षा धारण कर ली ॥50-52॥

जिन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानोंमें श्रेष्ठ पद्मप्रभ स्वामी दूसरे दिन चर्याके लिए वर्धमान नामक नगर में प्रविष्ट हुए ॥53॥ शुक्ल कान्ति के धारक राजा सोमदत्त ने उन्हें दान देकर पंचाश्वर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदानसे क्या नहीं होता है ? ॥54॥ शुभ आस्त्रवों से पुण्य का संचय, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय तथा चारित्र्य इन छह उपायों से कर्म समूह का संवर और तपके द्वारा निर्जरा करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के छह माह मौन से व्यतीत किये । तदनन्तर क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने चार घातिया-कर्मों का नाश किया तथा चैत्र शुक्ल पौर्णमासी के दिन जब कि सूर्य मध्याह्न से कुछ नीचे ढल चुका था तब चित्रा नक्षत्र में उन पर कल्याणकारी भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त किया ॥55-57॥

उसी समय इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की । जगत् का हित करनेवाले भगवान्, वज्र चामर आदि एक सौ दश गणधरोंसे सहित थे, दो हजार तीन सौ पूर्वधारियों से युक्त थे, दो लाख उनहत्तर हजार शिक्षकों से उपलक्षित थे, दश हजार अवधिज्ञानी और बारह हजार केवलज्ञानी उनके साथ थे, सौलह हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारकों से समृद्ध थे, दश हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी उनकी सेवा करते थे, और नौ हजार छह सौ श्रेष्ठ वादियों से युक्त थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख तीस हजार मुनि सदा उनकी स्तुति करते थे । रात्रिषेणाको आदि लेकर चार लाख बीस हजार आर्यिकाएँ सब ओरसे उनकी स्तुति करती थीं । तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यच उनके साथ थे ॥58-64॥

इस प्रकार धर्मोपदेशके द्वारा भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगाते और पुण्यकर्म के उदय से धर्मात्मा जीवों को सुख प्राप्त कराते हुए भगवान् पद्मप्रभ सम्मोद शिखर पर पहुँचे । वहाँ उन्होंने एक माह तक ठहर कर योग-निरोध किया तथा एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण किया ॥65-66॥

तदनन्तर फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी के दिन शाम के समय चित्रा नक्षत्र में उन्होंने समुच्छिन्न-क्रिया प्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों का नाश कर निर्वाण प्राप्त किया । उसी समय इन्द्र आदि देवों ने आकर उनके निर्वाण-कल्याणक की पूजा की ॥67-68॥ सेवा करने योग्य क्या है ? कमलों को जीत लेने से लक्ष्मी ने भी जिन्हें अपना स्थान बनाया है ऐसे इन्हीं पद्मप्रभ भगवान् के चरणयुगल सेवन करने योग्य हैं । सुनने योग्य क्या है ? सब लोगों को विश्वास उत्पन्न करानेवाले इन्हीं पद्मप्रभ भगवान् के सत्य वचन सुनने के योग्य हैं, और ध्यान करने योग्य क्या है ? अतिशय निर्मल इन्हीं पद्मप्रभ भगवान् के दिग्दिगन्त तक फैले हुए गुणों के समूह का ध्यान करना चाहिये इस प्रकार उक्त स्तुतिके विषयभूत भगवान् पद्मप्रभ तुम सबकी रक्षा करें ॥69॥

जो पहले सुसीमा नगरी के अधिपति, शत्रुओं के जीतनेवाले, अपराजित नाम के लक्ष्मी-सम्पन्न राजा हुए, फिर तप धारण कर तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध करते हुए अन्तिम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर कौशाम्बी नगरी में अनन्तगुणों से सहित, इक्ष्वाकुवंश के अग्रणी, निज-परका कल्याण करनेवाले छठवें तीर्थंकर हुए वे पद्मप्रभ स्वामी सब लोगों का कल्याण करें ॥70॥

भगवान् सुपार्श्वनाथ चरित

पर्व - 53

कथा :

जिन्होंने जीवाजीवादि तत्त्वों को सत्त्व असत्त्व आदि किसी एक रूप से निश्चित नहीं किया है फिर भी उनके जानकार वही हैं ऐसे सुपार्श्वनाथ भगवान् मेरे गुरु हों ॥1॥

धातकीखण्ड के पूर्व विदेह-क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का देश है । उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिषेण नाम का राजा राज्य करता था ॥2॥

वह राजा बुद्धि और पराक्रम से युक्त था, उसके अनुचर सदा उसमें अनुराग रखते थे, यही नहीं दैव भी सदा उसके अनुकूल रहता था ।
इसलिए उसकी राज्यलक्ष्मी सबको सुख देनेवाली थी ॥3॥

उसके शरीर की न तो वैद्य लोग रक्षा करते थे और न राज्यकी मंत्री ही रक्षा करते थे फिर भी पुण्योदय से उसके शरीर और राज्य दोनों ही कुशलयुक्त थे ॥4॥

धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्परका उपकार करते हुए उसी एक राजा में स्थित थे इसलिए यह उस राजाका उपकारीपना ही था ॥5॥

शत्रुओं को जीतनेवाले इस राजा नन्दिषेण को जीतनेकी इच्छा सिर्फ इस लोक सम्बन्धी ही नहीं थी किन्तु समीचीन मार्गकी रक्षा करते हुए इसके परलोक के जीतनेकी भी इच्छा थी ॥6॥

इस प्रकार वह श्रीमान् तथा बुद्धिमान राजा बन्धुओं, मित्रों तथा सेवकोंके साथ राज्य-सुख का अनुभव करता हुआ शीघ्र ही विरक्त हो गया ॥7॥

वह विचार करने लगा कि यह जीव दर्शनमोह तथा चरित्रमोह इन दोनों मोहकर्म के उदय से मिली हुई मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मों को बाँधकर उन्हीं के द्वारा प्रेरित हुआ चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है ॥8॥

अत्यन्त दुःखसे तरने योग्य इस अनादि संसार में चक्रकी तरह चिरकाल से भ्रमण करता हुआ भव्य प्राणी दुःखसे दूषित हुआ कदाचित् कालादि लब्धियाँ पाकर अतिशय कठिन मोक्षमार्ग को पाता है फिर भी मोहित हुआ स्त्रियों आदिके साथ क्रीडा करता है । मैं भी ऐसा ही हूँ अतः कामियोंमें मुख्य मुझको बार-बार धिक्कार है ॥9-10॥

मैं समस्त कर्मों को नष्ट कर निर्मल हो ऊर्ध्वगामी बनकर सबका हित करनेवाले सर्वज्ञ-निरूपित निर्वाणलोकको नहीं प्राप्त हो रहा हूँ यह दुःख की बात है ॥11॥

इस प्रकार विचार कर उत्तम हृदयको धारण करनेवाले राजा नन्दिषेण ने अपने पद पर सज्जनोत्तम धनपति नामक अपने पुत्रको विराजमान किया और स्वयं अनेक राजाओं के साथ पाप कर्म को नष्ट करता हुआ बड़े हर्ष से पूज्य अर्हन्नन्दन मुनिका शिष्य बन गया ॥ 12-13॥

तदनन्तर ग्यारह अंग का धारी होकर उसने आगम में कही हुई दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त में संन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र नामक मध्यम विमान में अहमिन्द्र का जन्म धारण किया ।

वहाँ उसके शुल्क लेश्या थी, और दो हाथ ऊँचा शरीर था ॥14-15॥

चार सौ पाँच दिन में श्वास लेता था और सत्ताईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था ॥16॥

उसकी विक्रिया ऋद्धि, अवधिज्ञान, बल और कान्ति सप्तमी पृथिवी तक थी तथा सत्ताईस सागर उसकी आयु थी । इस प्रकार समस्त सुख भोगकर आयु के अन्त में वह पृथिवी तल पर अवतीर्ण होनेको हुआ तब इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष सम्बन्धी काशी देशमें बनारस नाम की नगरी थी । उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे । सुप्रतिष्ठका जन्म भगवान् वृषभदेव के इक्ष्वाकु-वंश में हुआ था । उनकी रानी का नाम था पृथिवीषेणा था । रानी पृथिवीषेणाके घर के आंगन में देवरूपी मेघोंने छह माह तक उत्कृष्ट रत्नों की वर्षा की थी । उसने भाद्रपद शुल्क षष्ठी के दिन विशाखा नक्षत्र में सोलह शुभ स्वप्न देखकर मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा । उसी समय वह अहमिन्द्र रानी के गर्भ में आया । पतिके मुखसे स्वप्नों का फल जानकर रानी पृथिवीषेणा बहुत ही हर्षित हुई । तदनन्तर ज्येष्ठशुल्क द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभयोग में उसने ऐरावत हाथी के समान उन्नत और बलवान् अहमिन्द्र को पुत्र रूप से उत्पन्न किया ॥17-22॥

इन्द्रों ने सुमेरू पर्वत के मस्तक पर उसका जन्मकालीन महोत्सव किया, उसके चरणों में अपने मुकुट झुकाये और 'सुपार्श्व' ऐसा नाम रक्खा ॥23॥

पद्मप्रभ जिनेन्द्र के बाद नौ हजार करोड़ बीत जाने पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ था । उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी ॥24॥

उनकी आयु बीस लाख पूर्व की थी, और शरीर की ऊँचाई दो सौ धनुष थी, वे अपनी कान्ति से चन्द्रमा को लज्जित करते थे । इस तरह

उन्होंने यौवन-अवस्था प्राप्त की ॥25॥

जब उनके कुमार-काल के पाँच लाख पूर्व व्यतीत हो गये तब उन्होंने दानी की भाँति धन का त्याग करने के लिए साम्राज्य स्वीकार किया ॥26॥

उस समय इन्द्र शुश्रूषा आदि बुद्धि के आठ गुणों से श्रेष्ठ, सर्वशास्त्रोंमें निपुण झुण्डके झुण्ड नटों को, देखने योग्य तथा नृत्य करने में निपुण नर्तकोंको, उत्तम कण्ठवाले गायकों को, श्रवण करने योग्य साढ़ेसात प्रकार के वादित्र-वादकों को, हास्य-विनोद करने में चतुर, अनेक विद्याओं और कलाओं में निपुण अन्य अनेक मनुष्यों को, ऐसे ही गुणों से सहित अनेक स्त्रियोंको तथा गन्धर्वों की श्रेष्ठ सेना को बुलाकर अनेक प्रकार के विनोदोंसे भगवान् को सुख पहुँचाता था ॥27-29॥

इसी प्रकार चक्षु और कर्ण के सिवाय शेष तीन इन्द्रियों के उत्कृष्ट विषयों से भी इन्द्र, भगवान् को निरन्तर सुखी रखता था । यथार्थ में संसार में सुख वही था जिसका कि भगवान् सुपार्श्वनाथ उपभोग करते थे ॥30॥

प्रशस्त नाम-कर्म के उदय से उनके निःस्वेदत्व आदि आठ अतिशय प्रकट हुए थे, वे सर्वप्रिय तथा सर्वहितकारी वचन बोलते थे, उनका व्यापाररहित अतुल्य बल था, वे सदा प्रसन्न रहते थे, उनकी आयु अनपवर्त्य थी - असमय में कटनेवाली नहीं थी, गुण, पुण्य और सुख रूप थे, उनका शरीर कल्याणकारी था, वे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से सहित थे, प्रियंगु के पुष्प के समान उनकी कान्ति थी, उनके अशुभ कर्म का अनुभाग अत्यन्त मन्द था, शुभ कर्म का अनुभाग अत्यन्त उत्कृष्ट था, उनका कण्ठ मानो मोक्ष-स्वर्ग तथा मानवोचित ऐश्वर्यकी कण्ठीसे ही सुशोभित था । उनके चरणों में नखों में समस्त इन्द्रों के मुखकमल प्रतिबिम्बित हो रहे थे, इस प्रकार लक्ष्मी को धारण करनेवाले प्रकृष्टज्ञानी भगवान् सुपार्श्वनाथ अगाध संतोषसागरमें वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे ॥31-34॥

जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया लोभ इन आठ कषायों का ही केवल उदय रह जाता है ऐसे सभी तीर्थंकरों के अपनी आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष के बाद देश-संयम हो जाता है ॥35॥

इसलिए यद्यपि उनके भोगोपभोग की वस्तुओं की प्रचुरता थी तो भी वे अपनी आत्माको अपने वश रखते थे, उनकी वृत्ति नियमित थी तथा असंख्यातगुणी निर्जरा का कारण थी ॥36॥

जब उनकी आयु बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की रह गई तब किसी समय ऋतु का परिवर्तन देखकर वे 'समस्त पदार्थ नश्वर हैं' ऐसा चिन्तन करने लगे ॥37॥

उनके निर्मल सम्यग्ज्ञान रूपी दर्पणमें काललब्धि के कारण समस्त राज्य - लक्ष्मी छायाकी क्रीडा के समान नश्वर जान पड़ने लगी ॥38॥

मैं नहीं जान सका कि यह राज्यलक्ष्मी इसी प्रकार शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली तथा माया से भरी हुई है । मुझे धिक्कार हो, धिक्कार हो । सचमुच ही जिनके चित्त भोगों के राग से अन्धे हो रहे हैं ऐसे कौन मनुष्य हैं जो मोहित न होते हों ॥39॥

इस प्रकार भगवान् के मनरूपी सागरमें चन्द्रमा के समान उत्कृष्ट आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर समयानुकूल पदार्थों से भगवान् की स्तुति की ॥40॥

तदनन्तर भगवान् सुपार्श्वनाथ, देवों के द्वारा उठाई हुई मनोगति नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर सहेतुक वन में गये और वहाँ ज्येष्ठशुक्ल द्वादशी के दिन सायंकाल के समय, गर्भके विशाखा नखत्रमें वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयमी हो गये - दीक्षित हो गये । उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ॥41-42॥

दूसरे दिन वे चर्याके लिए सोमखेट नामक नगर में गये । वहाँ सुवर्ण के समान कान्तिवाले महेन्द्रदत्त नाम के राजा ने पङ्गाह कर देवों से पूजा प्राप्त की ॥43॥

सुपार्श्वनाथ भगवान् छद्मस्थ अवस्था में नौ वर्ष तक मौन रहे । तदनन्तर उसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हुए । वहीं फाल्गुन (?) कृष्ण षष्ठी के दिन सायंकाल के समय गर्भावतार के विशाखा नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जिसमें देवों ने उनकी पूजा की ॥44-45॥

वे बलको आदि लेकर पंचानवे गुणधरों से सदा घिरे रहते थे, दो हजार तीस पूर्वधारियों के अधिपति थे, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक उनके साथ रहते थे, नौ हजार अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, ग्यारह हजार केवलज्ञानी उनके सहगामी थे, पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रियाऋद्धि के धारक उनकी पूजा करते थे, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, और आठ हजार छह

सौ वादी उनकी वन्दना करते थे । इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख मुनियों के स्वामी थे । मीनार्याको आदि लेकर तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ उनके साथ रहती थीं, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी पूजा करती थीं, असंख्यात देव-देवियाँ उनकी स्तुति करती थीं और संख्यात तिर्यंच उनकी वन्दना करते थे ॥46-51॥

इस प्रकार लोगों को धर्मामृतरूपी वाणी ग्रहण कराते हुए वे पृथिवीपर विहार करते थे । अन्त में जब आयु का एक माह रह गया तब विहार बन्द कर वे सम्मदशिखर पर जा पहुँचे । वहाँ एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमा-योग धारण किया और फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में सूर्योदयके समय लोकका अग्रभाग प्राप्त किया - मोक्ष पधारे ॥52-53॥

तदनन्तर पुण्यवान् कल्पवासी उत्तम देवों ने निर्वाण-कल्याणक किया, तथा 'यहाँ निर्वाण-क्षेत्र है' इस प्रकार सम्मदशिखर को निर्वाण-क्षेत्र ठहराकर स्वर्ग की ओर प्रयाण किया ॥54॥

अत्यन्त बुद्धिमान् और निपुण जिन सुपार्श्वनाथ भगवान् ने दुःख से निवारण करने के योग्य पापरूपी बड़े भारी शत्रुओं के समूह को निष्क्रिय कर दिया, मौन रखकर उसके साथ युद्ध किया, कुछ काल तक समवसरण में प्रतिष्ठा प्राप्त की, अत्यन्त दुष्ट दुर्वासनाको दूर किया और अन्त में निर्वाण की अवधि को प्राप्त किया, वे श्रेष्ठतम भगवान् सुपार्श्वनाथ हम सब परिचितों को चिरकाल के लिए शीघ्र ही अपने समीपस्थ करें ॥55॥

जो पहले भवमें क्षेमपुर नगर के स्वामी तथा सबके द्वारा स्तुति करने योग्य नन्दिषेण राजा हुए, फिर तप कर नव ग्रैवेयकों में से मध्य के ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए, तदनन्तर बनारस नगरी में शत्रुओं को जीतनेवाले और इक्ष्वाकु वंश के तिलक महाराज सुपार्श्व हुए वे सप्तम तीर्थंकर तुम सबकी रक्षा करें ॥56॥

भगवान् चन्द्रप्रभ चरित

पर्व - 54

कथा :

जो स्वयं शुद्ध हैं और जिन्होंने अपनी प्रभाके द्वारा समस्त सभाको एक वर्णकी बनाकर शुद्ध कर दी, वे चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबकी शुद्धिके लिए हों ॥1॥

शरीर की प्रभाके समान जिनकी वाणी भी हर्षित करनेवाली तथा पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली थी और जो आकाश में देवरूपी ताराओंसे घिरे रहते थे उन चन्द्रप्रभ स्वामीको नमस्कार करता हूँ ॥2॥

जिनका नाम लेना भी जीवों के समस्त पापोंको नष्ट कर देना है फिर सुना हुआ उनका पवित्र चरित्र क्यों नहीं नष्ट कर देगा ? इसलिए मैं पहलेके सात भवोंसे लेकर उनका पवित्र चरित्र क्यों नहीं नष्ट कर देगा ? इसलिए मैं पहलेके सात भवोंसे लेकर उनका चरित्र कहूँगा । हे भव्य श्रेणिक ! तुझे उसे श्रद्धा रखकर सुनना चाहिये ॥3-4॥

दान, पूजा तथा अन्य कारण यदि सम्यग्ज्ञान से सुशोभित होते हैं तो वे मुक्तिके कारण होते हैं और चूँकि वह सम्यग्ज्ञान इस पुराण के सुनने से होता है अतः हितकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा अवश्य ही सुननेके योग्य हैं ॥5॥

अर्हन्त भगवान् ने अनुयोगोंके द्वारा जो चार प्रकार के सूक्त बतलाये हैं उनमें पुराण प्रथम सूक्त है ! भगवान् ने इन पुराणोंसे ही सुननेका क्रम बतलाया है ॥6॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थका उपदेश देनेवाले भगवान् ऋषभदेव आदिके पुराणोंको जो जीभ कहती है, जो कान सुनते हैं और जो मन सोचता है वही जीभ है, वही कान है और वही मन है, अन्य नहीं ॥7॥

इस मध्यम लोक में एक पुष्करद्वीप है । उसके बीच में मानुषोत्तर पर्वत है । यह पर्वत चारों ओरसे बलयके आकार गोल है तथा मनुष्यों के आवागमन की सीमा है ॥8॥

उसके भीतरी भाग में दो सुमेरू पर्वत हैं एक पूर्व मेरू और दूसरा पश्चिम मेरू । पूर्व मेरूके पश्चिमकी ओर विदेहक्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर एक सुगन्धि नाम का बड़ा भारी देश है । जो कि योग्य किला, वन, खाई, खानें और बिना बोये होनेवाली धान्य आदि पृथिवीके गुणों से सुशोभित है ॥9-10॥

उस देशके सभी मनुष्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णमें विभक्त थे तथा नेत्र विशेषके समान स्नेह से भरे हुए, सूक्ष्म पदार्थों को देखने वाले

एवं दर्शनीय थे ॥11॥

उस देशके किसान तपस्वियोंका अतिक्रमण करते थे अर्थात् उनसे आगे बढ़े हुए थे । जिस प्रकार तपस्वी ऋजु अर्थात् सरलपरिणामी होते हैं उसी प्रकार वहाँके किसान भी सरलपरिणामी – भोले भाले थे, जिस प्रकार तपस्वी धार्मिक होते हैं उसी प्रकार किसान भी धार्मिक थे – धर्मात्मा थे अथवा खेतीकी रक्षाके लिए धर्म – धनुषसे सहित थे, जिस प्रकार तपस्वी वीतदोष – दोषों से रहित होते हैं उसी प्रकार किसान भी वीतदोष – निर्दोष थे अथवा खेतीकी रक्षाके लिए दोषाएँ – रात्रियाँ व्यतीत करते थे, जिस प्रकार तपस्वी क्षुधा तृषा आदिके कष्ट सहन करते हैं उसी प्रकार किसान भी क्षुधा तृषा आदिके कष्ट सहन करते थे । इस प्रकार सादृश्य होने पर भी किसान तपस्वियों से आगे बढ़े हुए थे उसका कारण था कि तपस्वी मनुष्यों के आरम्भ सफल भी होते थे और निष्फल भी चले जाते थे परन्तु किसानोंके आरम्भ निश्चित रूप से सफल ही रहते थे ॥12॥

वहाँके सरोवर अत्यन्त निर्मल थे, सुख से उपभोग करने के योग्य थे, कमलोंसे सहित थे, सन्तापका छेद करनेवाले थे, अगाध – गहरे थे और मन तथा नेत्रोंको हरण करनेवाले थे ॥13॥

वहाँके खेत राजा के भाण्डारके समान जान पड़ते थे, क्योंकि जिस प्रकार राजाओं के भण्डार सब प्रकार के अनाजसे परिपूर्ण रहते हैं उसी प्रकार वहाँके खेत भी सब प्रकार के अनाजसे परिपूर्ण रहते थे, राजाओं के भण्डार जिस प्रकार हमेशा सबको संतुष्ट करते हैं उसी प्रकार वहाँके खेत भी हमेशा सबको सन्तुष्ट रखते थे, और राजाओं के भण्डार जिस प्रकार सम्पन्न -सम्पत्ति से युक्त रहते हैं उसी प्रकार वहाँ के खेत भी धान्यरूपी सम्पत्तिसे सम्पन्न रहते थे अथवा 'समन्तान् पन्नाः सम्पन्नाः' सब ओरसे प्राप्त करने योग्य थे ॥14॥

वहाँके गाँव इतने समीप थे कि मुर्गा भी एकसे उड़ कर दूसरे पर जा सकता था, उत्तम थे, उनमें बहुतसे किसान रहते थे, पशु धन धान्य आदिसे परिपूर्ण थे । उनमें निरंतर काम – काज होते रहते थे तथा सब प्रकारसे निराकुल थे ॥15॥

वे गांव दण्ड आदिकी बाधासे रहित होने के कारण सर्व सम्पत्तियों से सुशोभित थे, वर्णाश्रमसे भरपूर थे और वहीं रहने वाले लोगोंका अनुकरण करनेवाले थे ॥16॥

वह देश ऐसे मार्गोंसे सहित था जिनमें जगह – जगह कंधों पर्यन्त पानी भरा हुआ था, अथवा जो असंचारी – दुर्गम थे, अथवा जो असंचारी – आने जानेकी रूकावटसे रहित थे । वहाँके वृक्ष फलोंसे लदे हुए तथा कांटोंसे रहित थे । आठ प्रकार के भयोंमें से वहाँ एक भी भय दिखाई नहीं देता था और वहाँके वन समीपवर्ती गलियों रूपी स्त्रियों के आश्रय थे ॥17॥

नीतिशास्त्रके विद्वानोंने देशके जो जो लक्षण कहे हैं यह देश उन सबका लक्ष्य था अर्थात् वे सब लक्षण इसमें पाये जाते थे ॥18॥

उस देशमें धनकी हानि सत्पात्रको दान देते समय होती थी अन्य समय नहीं । समीचीन क्रिया की हानि फल प्राप्त होने पर ही होती थी अन्य समय नहीं । उन्नतिकी हानि विनयके स्थान पर होती थी अन्य स्थान पर नहीं, और प्राणों की हानि आयु समाप्त होने पर ही होती थी अन्य समय नहीं ॥19॥

ऊँचे उठे हुए पदार्थोंमें यदि कठोरता थी तो स्त्रियों के स्तनोंमें ही थी अन्यत्र नहीं थी । प्रपात यदि था तो हाथियोंमें ही था अर्थात् उन्हींका मद झरता था अन्य मनुष्योंमें प्रपात अर्थात् पतन नहीं था । अथवा प्रपात था तो गुहा आदि निम्न स्थानवर्ती वृक्षोंमें ही था अन्यत्र नहीं ॥

20॥

वहाँ यदि दण्ड था तो छत्र अथवा तराजूमें ही था वहाँके मनुष्योंमें दण्ड नहीं था अर्थात् उनका कभी जुर्माना नहीं होता था । तीक्ष्णता – तेजस्विता यदि थी तो कोतवाल आदिमें ही, वहाँके मनुष्योंमें तीक्ष्णता नहीं-क्रूरता नहीं थी । रूकावट केवल पुलोंमें ही थी वहाँके मनुष्योंमें किसी प्रकारकी रूकावट नहीं थी । और अपवाद यदि था तो व्याकरण शास्त्रमें ही था वहाँके मनुष्योंमें अपवाद - अपयश नहीं था ॥21॥

निस्त्रिंश शब्द कृपाणमें ही आता था अर्थात् कृपाण ही (त्रिंशद्भ्योऽङ्गुलिभ्यो निर्गत इति निस्त्रिंशः) तीस अंगुलसे बड़ी रहती थी, वहाँके मनुष्योंमें निस्त्रिंश - क्रूर शब्दका प्रयोग नहीं होता था । विश्वाशित्व अर्थात् सब चीजें खा जाना यह शब्द अग्निमें ही था वहाँके मनुष्यों में विश्वाशित्व - सर्वभक्षकपना नहीं था । तापकत्व अर्थात् संताप देना केवल सूर्यमें था वहाँके मनुष्योंमें नहीं था, और मारकत्व केवल यमराज के नामोंमें था वहाँके मनुष्योंमें नहीं था ॥22॥

जिस प्रकार सूर्य दिन में ही रहता है उसी प्रकार धर्म शब्द केवल जिनेन्द्र प्रणीत धर्म में ही रहता था । यही कारण था कि वहाँ पर उल्लुओं के समान एकान्त वादोंका उद्गम नहीं था ॥23॥

उस देशमें सदा यथास्थान रखे हुए यन्त्र, शस्त्र, जल, जौ, घोड़े और रक्षकों से भरे हुए किले थे ॥24॥

जिस प्रकार ललाटके बीच में तिलक होता है उसी प्रकार अनेक शुभस्थानोंसे युक्त उस देशके मध्य में श्रीपुर नाम का नगर है । वह श्रीपुर नगर अपनी सब तरहकी मनोहर वस्तुओंसे देवनगर के समान जान पड़ता था ॥25॥

खिले हुए नीले तथा लाल कमलोंके समूह ही जिनके नेत्र हैं ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए सरोवररूपी मुखोंके द्वारा वह नगर शत्रुनगरोंकी शोभाकी मानो हँसी ही उड़ाता था ॥26॥

उस देशमें अनेक प्रकार के फूलों के स्वादिष्ट केशरके रसको पीनेवाले भौरै भ्रमरियोंके समूह के साथ पान - गोष्ठीका आनन्द प्राप्त करते थे ॥27॥

उस नगर में बड़े - बड़े ऊँचे पक्के भवन बने हुए थे, उनमें मृदंगोंका शब्द हो रहा था । जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो 'आप लोग यहाँ विश्राम कीजिये' इस प्रकार वह नगर मेघोंको ही बुला रहा था ॥28॥

ऐसा मालूम होता था कि वह नगर सर्व वस्तुओं का मानो खान था । यदि ऐसा न होता तो निरन्तर उपभोगमें आने पर वे समाप्त क्यों नहीं होतीं ? ॥29॥

उस नगर में जो वस्तु दिखाई देती थी वह अपने वर्गमें सर्वश्रेष्ठ रहती थी अतः देवोंको भी भ्रम हो जाता था कि क्या यह स्वर्ग ही है ? ॥ 30॥

वहाँके रहने वाले सभी लोग उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए थे, व्रतसहित थे तथा सम्यग्दृष्टि थे अतः वहाँके मरे हुए जीव स्वर्ग में ही उत्पन्न होते थे ॥31॥

'स्वर्ग में क्या रक्खा ? वह तो ऐसा ही है' यह सोच कर वहाँके सम्यग्दृष्टि मनुष्य मोक्ष के लिए ही धर्म करते थे, स्वर्ग की इच्छा से नहीं ॥ 32॥

उस नगर में विवेकी मनुष्य उत्सवके समय मंगलके लिए और शोकके समय उसे दूर करने के लिए जिनेन्द्र भगवान् की पूजा किया करते थे ॥33॥

वहाँके जैनवादी लोग अपरिमित सुख देनेवाले धर्म, **अर्थ** और कामको साध्य पदार्थों के समान उन्हींसे उत्पन्न हुए हेतुओंसे सिद्ध करते थे ॥ 34॥

उस नगरको घेरे हुए जो कोट था वह ऐसा जान पड़ता था मानो पुष्करवरद्वीप के बीच में पड़ा हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो । वह कोट अपने रत्नों की किरणोंमें ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्य के संतापके भय से छिप ही गया हो ॥35॥

नमस्कार करने वाले शत्रु राजाओं के मुकुटों में लगे हुए रत्नों की किरणों रुपी जल में जिसके चरण, कमल के समान विकसित हो रहे हैं ऐसा, इंद्र के समान कान्ति का धारक श्रीषेण नाम का राजा उस श्रीपुर नगर का स्वामी था ॥36॥

जिस प्रकार शक्तिशाली मन्त्रके समीप सर्प विकाररहित हो जाते हैं उसी प्रकार विजयी श्रीषेणके पृथिवी का पालन करने पर सब दुष्ट लोग विकाररहित हो गये थे ॥37॥

उसने साम, दान आदि उपायोंका ठीक - ठीक विचार कर यथास्थान प्रयोग किया था इसलिए वे दाताके समान बहुत भारी इच्छित फल प्रदान करते थे ॥38॥

उसकी विनय करनेवाली श्रीकान्ता नाम की स्त्री थी । वह श्रीकान्ता किसी अच्छे कवि की वाणी के समान थी । क्योंकि जिस प्रकार अच्छे कवि की वाणी सती **अर्थ**ात् दुःश्रवत्व आदि दोषों से रहित होती है उसी प्रकार वह भी सती अर्थात् पतिव्रता थी और अच्छे कवि की वाणी जिस प्रकार मृदुपदन्यासा अर्थात् कोमलकान्तपदविन्यास से युक्त होती है उसी प्रकार वह भी मृदुपदन्यासा अर्थात् कोमल चरणों के निक्षेप से सहित थी ॥39॥

स्त्रियों के रूप आदि जो गुण हैं वे सब उसमें सुख देनेवाले उत्पन्न हुए थे । वे गुण पुत्र के समान पालन करने योग्य थे और गुरुओं के समान सज्जनोंके द्वारा वन्दनीय थे ॥40॥

जिस प्रकार स्यादेवकार - स्यात् एव शब्दसे (किसी अपेक्षासे पदार्थ ऐसा ही है) से युक्त नय किसी विद्वान के मन को आनन्दित करते हैं उसी प्रकार उसकी कान्ता के रूप आदि गुण पतिके मन को आनन्दित करते थे ॥41॥

वह स्त्री अन्य स्त्रियों के लिए आदर्शके समान थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो नाम-कर्म रूपी विधाता ने अपनी बुद्धि की प्रकर्षता बतलानेके लिए गुणों की पेटी ही बनाई हो ॥42॥

वह दम्पती देवदम्पतीके समान पापरहित, अविनाशी, कभी नष्ट न होनेवाले और समान तृप्ति को देनेवाले उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता था ॥43॥

वह राजा निष्पुत्र था अतः शोक से पीड़ित होकर पुत्र के लिए अकेला अपने मन में निम्न प्रकार विचार करने लगा ॥44॥

स्त्रियाँ संसार की लता के समान हैं और उत्तम पुत्र उनके फल के समान है । यदि मनुष्य के पुत्र नहीं हुए तो इस पापी मनुष्य के लिए पुत्रहीन पापिनी स्त्रियों से क्या प्रयोजन है ? ॥45॥

जिसने दैवयोग से पुत्र का मुखकमल नहीं देखा है वह छह खण्ड की लक्ष्मी का मुख भले ही देख ले पर उससे क्या लाभ है ॥46॥

उसने पुत्र प्राप्त करने के लिए पुरोहितके उपदेशसे पाँच वर्णके अमूल्य रत्नों से मिले सुवर्णकी जिन-प्रतिमाएँ बनवाई । उन्हें आठ प्रातिहार्यों तथा भृंगार आदि आठ मंगल-द्रव्य से युक्त किया, प्रतिष्ठा-शास्त्र में कही हुई क्रियाओं के क्रम से उनकी प्रतिष्ठा कराई, महाभिषेक किया, जिनेन्द्र भगवान् के संसर्ग से मंगल रूप हुए गन्धोदकसे रानी के साथ स्वयं स्नान किया, जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी अभ्युदयको देनेवाली आष्टाह्निकी पूजा की ॥47-50॥

इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत होने पर कुछ कुछ जागती हुई रानीने हाथी सिंह चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक ये चार स्वप्न देखे ॥51॥

उसी समय उसके गर्भ धारण हुआ तथा क्रम से आलस्य आने लगा, अरुचि होने लगी, तन्द्रा आने लगी और बिना कारण ही ग्लानि होने लगी ॥52॥

उसके दोनों स्तन चिरकाल व्यतीत हो जाने पर भी परस्पर एक दूसरेको जीतने में समर्थ नहीं हो सके थे अतः दोनोंके मुख प्रतिदिन कालिमा को धारण कर रहे थे ॥53॥

'स्त्रियों के लिये लज्जा ही प्रशंसनीय आभूषण है अन्य आभूषण नहीं' यह स्पष्ट करने के लिए ही मानो उसकी समस्त चेष्टाएँ लज्जासे सहित हो गई थीं ॥54॥

जिस प्रकार रात्रिके अन्त भाग में आकाशके ताराओं के समूह अल्प रह जाते हैं उसी प्रकार भार धारण करने में समर्थ नहीं होनेसे उसके योग्य आभूषण भी अल्प रह गये थे - विरल हो गये थे ॥55॥

जिस प्रकार अल्प धनवाले मनुष्य की विभूतियाँ परिमित रहती हैं उसी प्रकार उसके वचन भी परिमित थे और नई मेघमाला के शब्दके समान रुक-रुक कर बहुत देर बाद सुनाई देते थे ॥56॥

इस प्रकार उसके गर्भके चिह्न निकटवर्ती मनुष्यों के लिए कुतूहल उत्पन्न कर रहे थे । वे चिह्न कुछ प्रकट थे और कुछ अप्रकट थे ॥57॥

यह समाचार कहा । यद्यपि यह समाचार दासियोंके मुख की प्रसन्नतासे पहले ही सूचित हो गया था तो भी उन्होंने कहा था ॥58॥

गर्भ धारण का समाचार सुनकर राजा का मुख-कमल ऐसा विकसित हो गया जैसा कि सूर्योदयसे कमल और चन्द्रोदयसे कुमुद विकसित हो जाता है ॥59॥

जो वंशरूपी समूहको वृद्धिंगत करने के लिए चन्द्रोदयके समान है अथवा कुलको अलंकृत करने के लिए तिलकके समान है ऐसा पुत्रका प्रादुर्भाव किसके संतोषके लिए नहीं होता ? ॥60॥

जिसका मुखकमल अभी देखने को नहीं मिला है, केवल गर्भ में ही स्थित है ऐसा भी जब मुझे इस प्रकार संतुष्ट कर रहा है तब मुख दिखाने पर कितना संतुष्ट करेगा इस बात का क्या कहना है ॥61॥

ऐसा मान कर राजा ने उन दासियोंके लिये इच्छित पुरस्कार दिया और द्विगुणित आनन्दित होता हुआ कुछ आम जनों के साथ वह रानी के घर गया ॥62॥

वहाँ उसने नेत्रोंको सुख देनेवाली रानीको ऐसा देखा मानो मेघ से युक्त आकाश ही हो, अथवा रत्नगर्भा पृथिवी हो अथवा उदय होने के समीपवर्ती सूर्यसे युक्त पूर्व दिशा ही हो ॥63॥

राजा को देखकर रानी खड़ी होनेकी चेष्टा करने लगी परन्तु 'हे देवि, बैठी रहो' इस प्रकार राजा के मना किये जाने पर बैठी रही ॥64॥

राजा एक ही शय्या पर चिरकाल तक रानी के साथ बैठा रहा और लज्जा सहित रानी के साथ योग्य वार्तालाप कर हर्षित होता हुआ

वापिस चला गया ॥65॥

तदनन्तर कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर पुण्य-कर्म के उदय से अथवा गुरु शुक्र आदि शुभ ग्रहोंके विद्यमान रहते हुए उसने जिस प्रकार इन्द्र की दिशा (प्राची) सूर्य को उन्नत करती है, शरद्-ऋतु पके हुए धानको उत्पन्न करती है और कीर्ति महोदय को उत्पन्न करती है उसी प्रकार उसी प्रकार रानीने उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥66- 67॥

जिसका भाग्य बढ रहा है और जो सम्पूर्ण लक्ष्मी पानेके योग्य है ऐसे उस पुत्रका बन्धुजनोंने 'श्रीवर्मा' यह शुभ नाम रक्खा ॥68॥

और थोड़ी सेनावाले राजा को विजय मिलनेसे संतोष होता है उसी प्रकार उस पुत्र-जन्मसे राजा को संतोष हुआ था ॥69॥

उस पुत्र के शरीर के तेज से जिनकी कान्ति नष्ट हो गई है ऐसे रत्नोंके दीपक रात्रिके समय सभा-भवन में निरर्थक हो गये थे ॥70॥

उसके शरीर की वृद्धि वैद्यक शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार होती थी और अच्छी क्रियाओं को करनेवाली बुद्धिकी वृद्धि व्याकरण आदि शास्त्रोंके अनुसार हुई थी ॥71॥

जिस प्रकार यह जम्बूद्वीप ऊँचे मेरु पर्वत से सुशोभित होता है उसी प्रकार पृथिवी - मंडलका पालन करनेवाला यह लक्ष्मी - सम्पन्न राजा उस श्रेष्ठ पुत्रसे सुशोभित हो रहा था ॥72॥

किसी एक दिन शिवंकर वनके उद्यान में श्रीपद्म नाम के जिनराज अपनी इच्छा से पधारे थे । वनपालसे यह समाचार सुनकर राजा ने उस दिशामें सात कदम जाकर शिरसे नमस्कार किया और बड़ी विनयके साथ उसी समय जिनराज के पास जाकर तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, नमस्कार किया और यथास्थान आसन ग्रहण किया । राजा ने उनसे धर्म का स्वरूप पूछा, उनके कहे अनुसार वस्तु तत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया, शीघ्र ही भोगोंकी तृष्णा छोड़ी, धर्म की तृष्णा में अपना मन लगाया, श्री वर्मा पुत्र के लिए राज्य दिया और उन्हीं श्रीपद्म जिनेन्द्र के समीप दीक्षा धारण कर ली ॥73-76॥

जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश से जिसका मिथ्यादर्शनरूपी महान्धकार नष्ट हो गया है । ऐसे श्रीवर्मा ने भी वह चतुर्थ गुणस्थान धारण किया जो कि मोक्ष की पहली सीढ़ी कहलाती है ॥77॥

चतुर्थ गुणस्थान के सन्निधानमें जिस पुण्य-कर्म का संचय होता है वह स्वयं ही इच्छानुसार समस्त पदार्थों को सन्निहित - निकटस्थ करता रहता है । उन पदार्थों से श्रीवर्मा ने इच्छित सुख प्राप्त किया था ॥78॥

किसी समय राजा श्रीवर्मा आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन जिनेन्द्र भगवान् की उपासना और पूजा कर अपने आप्तजनों के साथ रात्रि में महलकी छत पर बैठा था ॥79॥

वहाँ उल्कापात देखकर वह भोगों से विरक्त हो गया । उसने श्रीकान्त नामक बड़े पुत्र के लिए राज्य दे दिया और श्रीप्रभ जिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर चिरकाल तक तप किया तथा अन्त में श्रीप्रभ नामक पर्वत पर विधिपूर्वक संन्यासमरण किया ॥80-81॥

जिससे प्रथम स्वर्गके श्रीप्रभ विमान में दो सागर की आयु वाला श्रीधर नाम का देव हुआ ॥82॥

वह देव अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों से युक्त था, सात हाथ ऊँचा उसका शरीर था, वैकियिक शरीर का धारक था, पीतलेश्या वाला था, एक माह में श्वास लेता था; दो हजार वर्ष में अमृतमय पुद्गलों का मानसिक आहार लेता था, काय-प्रवीचार से संतुष्ट रहता था, प्रथम पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था, बल तेज तथा विक्रिया भी प्रथम पृथिवी तक थी, इस तरह अपने पुण्य कर्म के परिपाकसे प्राप्त हुए सुख का उपभोग करता हुआ वह सुख से रहता था ॥83-85॥

धातकीखण्ड द्वीप की पूर्व दिशा में जो इष्वाकार पर्वत है उससे दक्षिण की ओर भरत-क्षेत्र में एक अलका नाम का सम्पन्न देश है । उसमें अयोध्या नाम का नगर है । उसमें अजितंजय राजा सुशोभित था । उसकी अजितसेना नाम की वह रानी थी जो कि पुत्र-सुख को प्रदान करती थी ॥86-87॥

किसी एक दिन पुत्र-प्राप्ति के लिए उसने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की और रात्रि को पुत्रकी चिन्ता करती हुई सो गई । प्रातः काल नीचे लिखे हुए आठ शुभ स्वप्न उसने देखे । हाथी, बैल, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, कमलों से सुशोभित सरोवर, शंख और पूर्ण कलश । राजा अजितंजयसे उसने स्वप्नों का निम्न प्रकार फल ज्ञात किया । हे देवि ! हाथी देखने से तुम पुत्र को प्राप्त करोगी; बैलके देखने से वह पुत्र गंभीर प्रकृति का होगा; सिंह के देखने से अनन्तबलका धारक होगा, चन्द्रमा के देखने से सबको संतुष्ट करनेवाला होगा, सूर्य के देखने से तेज और प्रतापसे युक्त होगा, सरोवरके देखने से सबको शंख, चक्र आदि बत्तीस लक्षणों से सहित होगा, शंख देखने से चक्रवर्ती होगा

और पूर्ण कलश देखने से निधियोंका स्वामी होगा ॥88-91॥

स्वप्नों का उक्त प्रकार फल जानकर रानी बहुतही संतुष्ट हुई । तदनन्तर कुछ माह बाद उसने पूर्वोक्त श्रीधरदेव को उत्पन्न किया । राजा ने शत्रुओं को जीतनेवाले इस पुत्र का अजितसेन नाम रक्खा ॥92॥

राजा उस तेजस्वी पुत्र से ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि धुलिरहित दिन सूर्य से सुशोभित होता है । यथार्थमें ऐसा पुत्र ही कुल का आभूषण होता है ॥93॥

दूसरे दिन स्वयंप्रभ नामक तीर्थकर अशोक वन में आये । राजा ने परिवार के साथ जाकर उनकी पूजा की, स्तुति की, धर्मोपदेश सुना और सज्जनों के छोड़ने योग्य राज्य शत्रुओं को जीतनेवाले अजितसेन पुत्र के लिए देकर संयम धारण कर लिया तथा स्वयं केवलज्ञानी बन गए ॥94-95॥

इधर अनुराग से भरी हुई राज्य-लक्ष्मी ने कुमार अजितसेन को अपने वश कर लिया जिससे वह युवावस्था में ही प्रौढ़की तरह मुख्य सुखों का अनुभव करने लगा ॥96॥

उसके पुण्य-कर्म के उदय से चक्रवर्ती के चक्ररत्न आदि जो-जो चेतन-अचेतन सामग्री उत्पन्न होती है वह सब आकर उत्पन्न हो गई ॥97॥ उसके समस्त दिशाओं के समूह को जीतनेवाला चक्ररत्न प्रकट हुआ । चक्ररत्न के प्रकट होते ही उस विजयी के लिए दिग्विजय करना नगर के बाहर घूमने के समान सरल हो गया ॥98॥

इस चक्रवर्ती के कारण कोई भी दुःखी नहीं था और यद्यपि यह छह खण्ड का स्वामी था फिर भी परिग्रह में इसकी आसक्ति नहीं थी । यथार्थ में पुण्य तो वही है जो पुण्य-कर्म का बन्ध करनेवाला हो ॥99॥

उसके साम्राज्य में प्रजा को यदि दुःख था तो अपने अशुभ-कर्मोदय से था और सुख था तो उस राजा के द्वारा सम्यक् रक्षा होने से था । यही कारण था कि प्रजा उसकी वन्दना करती थी ॥100॥

देव और विद्याधर राजाओं के मुकुटों के अग्रभाग पर चमकने वाले रत्नों की किरणों को निष्प्रभ बनाकर उसकी उन्नत आज्ञा ही सुशोभित होती थी ॥101॥

यदि निरन्तर उदय रहने वाले और कमलों को आनन्दित करने वाले सूर्य का बल प्राप्त नहीं होता तो इन्द्र स्वयं अधिपति हो कर भी अपनी दिशा की रक्षा कैसे करता ! ॥102॥

विधाता अवश्य ही बुद्धि-हीन है क्योंकि यदि वह बुद्धिहीन नहीं होता तो आग्नेय दिशाकी रक्षा के लिए अग्निको क्यों नियुक्त करता ? भला, जो अपने जन्मदाता को जलाने वाला है उससे भी क्या कहीं किसी की रक्षा हुई है ? ॥103॥

क्या विधाता यह नहीं जानता था कि यमराज पालक है या मारक ? फिर भी उसने उसी सर्व-भक्षी पापी को दक्षिण दिशा का रक्षक बना दिया ॥104॥

जो कुत्ते के स्थानपर रहता है, दीन है, सदा यमराज के समीप रहता है और अपने जीवन में भी जिसे संदेह है ऐसा नैऋत किसकी रक्षा कर सकता है ? ॥105॥

जो जल भूमि में विद्यमान बिल में मकरादि हिंसक जन्तुके समान रहता है, जिसके हाथ में पाश है, जो जलप्रिय है - जिसे जल प्रिय है (पक्ष में जिसे जड - मूर्ख प्रिय है) और जो नदीनाश्रय है- समुद्रमें रहता है (पक्ष में दीन मनुष्यों का आश्रय नहीं है) ऐसा वरूण प्रजा की रक्षा कैसे कर सकता है ? ॥106॥

जो अग्नि का मित्र है, स्वयं अस्थिर है और दूसरों को चलाता रहता है उस वायु को विधाता ने वायव्य दिशा का रक्षक स्थापित किया सो ऐसा वायु क्या कहीं ठहर सकता है ? ॥107॥

जो लोभी है वह कभी पुण्य-संचय नहीं कर सकता और जो पुण्यहीन है वह कैसे रक्षक हो सकता है जब कि कुबेर कभी किसी को धन नहीं देता तब उसे विधाता ने रक्षक कैसे बना दिया ? ॥108॥

ईशान अन्तिम दशा को प्राप्त है, गिनती उसकी सबसे पीछे होती है, पिशाचों से घिरा हुआ है और दुष्ट है इसलिए यह ऐशान दिशा का स्वामी कैसे हो सकता है ? ॥109॥

ऐसा जान पड़ता है कि विधाता ने इन सब को बुद्धि की विकलता से ही दिशाओं का रक्षक बनाया था और इस कारण उसे भारी अपयश

उठाना पड़ा था । अब विधाता ने अपना सारा अपयश दूर करने के लिए ही मानो इस एक अजितसेन को समस्त दिशाओं का पालन करने में समर्थ बनाया था ॥110॥

इस प्रकार के उदार वचनों की माला बनाकर सब लोग जिसकी स्तुति करते हैं और अपने पराक्रम से जिसने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर लिया है ऐसा अजितसेन इन्द्रादि देवों का उल्लंघन करता था ॥111॥

उसका धन दान देनेमें, बुद्धि धार्मिक कार्यों में, शूरवीरता प्राणियों की रक्षा में, आयु सुख में और शरीर भोगोपभोग में सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहता था ॥112॥

उसके पुण्य की वृद्धि दूसरे के अधीन नहीं थी, कभी नष्ट नहीं होती थी और उसमें कभी किसी तरह की बाधा नहीं आती थी । इस प्रकार वह तृष्णा-रहित होकर गुणों का पोषण करता हुआ बड़े आराम से सुख को प्राप्त होता था ॥113॥

उसके वचनों में सत्यता थी, चित्तमें दया थी, धार्मिक कार्योंमें निर्मलता थी, और प्रजाकी अपने गुणों के समान रक्षा करता था फिर वह राजर्षि क्यों न हो ? ॥114॥

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि सुजनता उसका स्वाभाविक गुण था । यदि ऐसा न होता तो प्राण हरण करनेवाले पापी शत्रु पर भी वह विकार को क्यों नहीं प्राप्त होता ॥115॥

उसके राज्य में न तो कोई मूलहर था - मूल पूँजी को खानेवाला था, न कोई कदर्य था - अतिशय कृपण था और न कोई तादात्विक था - भविष्यत् का विचार न रख वर्तमान में ही मौज उड़ानेवाला था, किन्तु सभी समीचीन कार्यों में खर्च करनेवाले थे ॥116॥

इस प्रकार जब वह राजा पृथिवी का पालन करता था तब सब ओर सुराज्य हो रहा था और प्रजा उस बुद्धिमान् राजा को ब्रह्मा मानकर वृद्धि को प्राप्त हो रही थी ॥117॥

जब नव यौवन प्राप्त हुआ तब उस राजा के पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से चौदह-रत्न और नौ-निधियाँ प्रकट हुई थीं ॥118॥

भाजन, भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधि, रत्न, नगर और नाट्य इन दश भोगों का वह अनुभव करता था ॥119॥

श्रद्धा आदि गुणों से संपन्न उस राजा ने किसी समय एक माह का उपवास करनेवाले अरिन्दम नामक साधु के लिए आहार-दान देकर नवीन पुण्यका बन्ध किया तथा रत्न-वृष्टि आदि पंचाश्वर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम कार्योंके करने में तत्पर रहनेवाले मनुष्यों को क्या दुर्लभ हैं ? ॥120-121॥

दूसरे दिन वह राजा, गुप्तप्रभ जिनेन्द्रकी वन्दना करने के लिए मनोहर नामक उद्यान में गया । वहाँ उसने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए श्रेष्ठ धर्म रूपी रसायन का पान किया, अपने पूर्व भव के सम्बन्ध सुने, जिनसे भाई के समान प्रेरित हो शीघ्र ही वैराग्य प्राप्त कर लिया । वह जितशत्रु नामक पुत्र के लिए राज्य देकर त्रैलोक्य-विजयी मोह राजा को जीतने के लिए तत्पर हो गया तथा बहुत से राजाओं के साथ उसने तप धारण कर लिया । इस प्रकार निरतिचार तप तप कर आयु के अन्त में वह नभस्तिलक नामक पर्वत के अग्रभाग पर शरीर छोड़ सोलहवें स्वर्ग के शान्तकार विमान में अच्युतेन्द्र हुआ । वहाँ उसकी बाईस सागर की आयु थी, तीन हाथ ऊँचा तथा धातु-उपधातुओं से रहित देदीप्यमान शरीर था, शुक्ल-लेश्या थी, वह ग्यारह माह में एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद एक बार अमृतमयी मानसिक आहार लेता था, उसके देशावधिज्ञान-रूपी नेत्र छठवीं पृथिवी तक के पदार्थों को देखते थे, उसका समीचीन तेज, बल तथा वैक्रियिक शरीर भी छठवीं पृथिवी तक व्याप्त हो सकता था ॥122-128॥

इस प्रकार निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाला वह अच्युतेन्द्र चिरकाल तक स्वर्ग के सुख भोग आयु के अन्त में कहाँ उत्पन्न हुआ यह कहते हैं ॥129॥

पूर्व धातकीखण्ड द्वीप में सीता नदी के दाहिने तट पर एक मंगलावती नाम का देश था । उसके रत्नसंचय नगर में कनकप्रभ राजा राज्य करते थे । उनकी कनकमाला नाम की रानी थी । वह अहमिन्द्र उन दोनों दम्पत्तियों के शुभ स्वप्नों द्वारा अपनी सूचना देता हुआ पद्मनाभ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । पद्मनाभ, बालकोचित सेवा - विशेष के द्वारा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता था ॥130-131॥

उपयोग तथा क्षमा आदि सब गुणों की पूर्णता हो जाने पर राजा ने उसे व्रत देकर विद्यागृह में प्रविष्ट कराया ॥132॥

कुलीन विद्वानों के साथ रहनेवाला वह राजकुमार, दास तथा महावत आदि को दूर कर समस्त विद्याओं के सीखने में उद्यम करने लगा ॥ 133॥

उसने इन्द्रियों के समूह को इस प्रकार जीत रक्खा था कि वे इंद्रियाँ सब रूप से अपने विषयों के द्वारा केवल आत्मा के साथ ही प्रेम बढ़ाती थीं ॥134॥

वह बुद्धिमान् विनय की वृद्धि के लिए सदा वृद्धजनों की संगति करता था । शास्त्रों से निर्णय कर विनय करना कृत्रिम विनय है और स्वभाव से ही विनय करना स्वाभाविक विनय है ॥135॥

जिस प्रकार चन्द्रमा का पाकर गुरु और शुक्र गृह अत्यन्त सुशोभित होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाओं को धारण करने वाले अतिशय सुन्दर उस राजकुमार को पाकर स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार के विमान अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥136॥

वह बुद्धिमान् राजकुमार सोलहवें वर्ष में यौवन प्राप्त कर ऐसा सुशोभित हुआ जैसा कि विनयवान् जितेन्द्रिय संयमी वन को पाकर सुशोभित होता है ॥137॥

जिस प्रकार भद्र जाति के हाथी को देखकर उसका शिक्षक हर्षित होता है उसी प्रकार रूप, वंश, अवस्था और शिक्षा से सम्पन्न तथा विकार से रहित पुत्र को देखकर पिता बहुत ही हर्षित हुए । उन्होंने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के साथ उसकी विद्या की पूजा की तथा संस्कार किये हुए रत्न के समान उसकी बुद्धि दूसरे कार्य में लगाई ॥138-139॥

जिस प्रकार शुद्धपक्ष - शुक्लपक्ष के आश्रय से कलाओं के द्वारा बालचन्द्र को पूर्ण किया जाता है उसी प्रकार बलवान् राजा ने उस सुन्दर पुत्र को अनेक स्त्रियों से पूर्ण किया था अर्थात् उसका अनेक स्त्रियों के साथ विवाह किया था ॥140॥

जिस प्रकार सूर्य के किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उसकी सोमप्रभा आदि रानियों के सुवर्णनाभ आदि शुभ पुत्र उत्पन्न हुए ॥141॥

इस प्रकार पुत्र - पौत्रादि से घिरे हुए श्रीमान् और बुद्धिमान् राजा कनकप्रभ सुख से अपने राज्य का पालन करते थे ॥142॥

किसी दिन उन्होंने मनोहर नामक वन में पधारे हुए श्रीधर नामक जिनराज से धर्म का स्वरूप सुनकर अपना राज्य पुत्र के लिए दे दिया तथा संयम धारण कर क्रम-क्रम से निर्वाण प्राप्त कर लिया ॥143॥

पद्मनाभ ने भी उन्हीं जिनराज के समीप श्रावक के व्रत लिये तथा मन्त्रियों के साथ स्वराष्ट्र और पर-राष्ट्र की नीति का विचार करता हुआ वह सुख से रहने लगा ॥144॥

परस्पर के समान प्रेम से उत्पन्न हुए और कामदेव के पूर्व रंग की शुभ पुष्पांजलि के समान अत्यन्त कोमल स्त्रियों की विनय, हँसी, स्पर्श, विनोद, मनोहर बातचीत और चंचल चितवनों के द्वारा वह चित्त की परम प्रसन्नता को प्राप्त होता था ॥145-146॥

कामदेव रुपी कल्पवृक्ष से उत्पन्न हुए, स्त्रियों के प्रेम से प्राप्त हुए और पके हुए भोगोपभोग रुपी उत्तम फल ही राजा पद्मनाभ के वैराग्य की सीमा हुए थे अर्थात् इन्हीं भोगोपभोगों से उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया था ॥147॥

ये सब भोगोपभोग पूर्वभव में किये हुए पुण्य-कर्म के फल हैं इस प्रकार मूर्ख मनुष्यों को स्पष्ट रीति से बतलाता हुआ वह तेजस्वी पद्मनाभ सुखी हुआ था ॥148॥

विद्वानों में श्रेष्ठ पद्मनाभ भी, श्रीधर मुनि के समीप धर्म का स्वरूप जानकर अपने हृदय में संसार और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप इस प्रकार विचारने लगा ॥149॥

उसने विचार किया कि 'जब तक औदयिक भाव रहता है तब तक आत्माको संसार-भ्रमण करना पड़ता है, औदयिक भाव तब तक रहता है जब तक कि कर्म रहते हैं और कर्म तब तक रहते हैं जब तक कि उनके कारण विद्यमान रहते हैं ॥150॥

कर्मों के कारण मिथ्यात्वादिक पाँच हैं । उनमें से जहाँ मिथ्यात्व रहता है वहाँ बाकी के चार कारण अवश्य रहते हैं ॥151॥

जहाँ असंयम रहता है वहाँ उसके सिवाय प्रमाद, कषाय और योग ये तीन कारण रहते हैं । जहाँ प्रमाद रहता है वहाँ उसके सिवाय योग और कषाय ये दो कारण रहते हैं । जहाँ कषाय रहती है वहाँ उसके सिवाय योग कारण रहता है और जहाँ कषाय का अभाव है वहाँ सिर्फ योग ही बन्ध का कारण रहता है ॥152॥

अपने-अपने गुणस्थान में मिथ्यात्वादि कारणों का नाश होने से वहाँ उनके निमित्त से होनेवाला बन्ध भी नष्ट हो जाता है ॥153॥

पहले सत्ता, बन्ध और उदय नष्ट होते हैं, उनके पश्चात् चौदहवें गुणस्थान तक अपने-अपने काल के अनुसार कर्म नष्ट होते हैं तथा कर्मोंके नाश होने से संसार का नाश हो जाता है ॥154॥

जो पाप रूप है और जन्म-मरण ही जिसका लक्षण है ऐसे संसार के नष्ट हो जाने पर आत्मा के क्षायिक-भाव ही शेष रह जाते हैं । उस

समय यह आत्मा अपने आप में उन्हीं क्षायिक-भावों के साथ बढ़ता रहता है ॥155॥

इस प्रकार जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए तत्त्व को नहीं जाननेवाला यह प्राणी, जिसका अन्त मिलना अत्यन्त कठिन है ऐसे संसाररूपी दुर्गम वन में अन्धे के समान चिरकाल से भटक रहा है ॥156॥

अब मैं असंयम आदि कर्म-बन्ध के समस्त कारणों को छोड़कर शुद्ध श्रद्धान आदि मोक्ष के पाँचों कारणों को प्राप्त होता हूँ - धारण करता हूँ' ॥157॥

इस प्रकार अन्तरंग में हिताहित का यथार्थ स्वरूप जानकर पद्मनाभ ने बाह्य सम्पदाओं की प्रभुता सुवर्णनाभ के लिए दे दी और बहुत से राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। अब वह मोक्ष के कारणभूत चारों आराधनाओं का आचरण करने लगा, सोलह कारण - भावनाओं का चिन्तन करने लगा तथा ग्यारह अंगों का पारगामी बनकर उसने तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध किया। जिसे अज्ञानी जीव नहीं कर सकते ऐसे सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप उसने किये और आयु के अन्त में समाधिमरण-पूर्वक शरीर छोड़ा जिससे वैजयन्त विमान में तैत्तिरीय सागर की आयु का धारक अहमिन्द्र हुआ। उसके शरीर का प्रमाण तथा लेश्यादि की विशेषता पहले कहे अनुसार थी। इस तरह वह दिव्य सुख का उपभोग करता हुआ रहता था ॥158-162॥

तदनन्तर जब उसकी आयु छह माह की बाकी रह गई तब इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक चन्द्रपुर नाम का नगर था। उसमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री तथा आश्चर्यकारी वैभवको धारण करनेवाला महासेन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी महादेवीका नाम लक्ष्मणा था। लक्ष्मणाने अपने घर के आंगन में देवों के द्वारा बरसाई हुई रत्नों की धारा प्राप्त की थी। श्री ह्री आदि देवियाँ सदा उसे घेरे रहती थीं। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदिके सुखों का समुचित उपभोग करनेवाली रानी ने चैत्रकृष्ण पंचमी के दिन पिछली रात्रिमें सोलह स्वप्न देखकर संतोष लाभ किया। सूर्योदयके समय उसने उठकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण धारण किये तथा प्रसन्नमुख होकर सिंहासन पर बैठे हुए पति से अपने सब स्वप्न निवेदन किये ॥163-167॥

राजा महासेनने भी अवधिज्ञान से उन स्वप्नों का फल जानकर रानी के लिए पृथक्-पृथक् बतलाया जिन्हें सुनकर वह बहुत ही हर्षित हुई ॥168॥

श्री ह्री धृति आदि देवियाँ उसकी कान्ति, लज्जा, धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य-सम्पत्तिको सदा बढ़ाती रहती थीं ॥169॥

इस प्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो जानेपर उसने पौषकृष्ण एकादशी के दिन शक्रयोग में देव पूजित, अचिन्त्य प्रभाके धारक और तीन ज्ञान से सम्पन्न उस अहमिन्द्र पुत्र को उत्पन्न किया ॥170॥

उसी समय इन्द्र ने आकर महामेरूकी शिखर पर विद्यमान सिंहासन पर उक्त जिन-बालक को विराजमान किया, क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक किया, सब प्रकार के आभूषणों से विभूषित किया, तीन लोक के राज्यकी कण्ठी बाँधी और फिर प्रसन्नता से हजार नेत्र बनाकर उन्हें देखा। उनके उत्पन्न होते ही यह कुवलय अर्थात् पृथ्वी-मण्डल का समूह अथवा नील-कमलों का समूह अत्यन्त विकसित हो गया था इसलिए इन्द्र ने व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए उनका 'चन्द्रप्रभ' यह सार्थक नाम रक्खा ॥171-173॥

इन्द्र ने इन त्रिलोकीनाथ के आगे आन्नद नाम का नाटक किया। तदनन्तर उन्हें लाकर उनके माता - पिता के लिए सौंप दिया ॥174॥

'तुम भोगोपभोगकी योग्य वस्तुओं के द्वारा भगवान् की सेवा करो' इस प्रकार कुवेर के लिए संदेश देकर इन्द्र अपने स्थान पर चला गया ॥175॥

'यद्यपि विद्वान् लोग स्त्री-पर्याय को निन्द्य बतलाते हैं तथापि लोगों का कल्याण करनेवाले जगत्पति भगवान् को धारण करने से यह लक्ष्मणा बड़ी ही पुण्यवती है, बड़ी ही पवित्र है,' इस प्रकार देव लोग उसकी स्तुति कर महान् फल को प्राप्त हुए थे तथा 'इस प्रकार की स्त्री-पर्याय श्रेष्ठ है' ऐसा देवियों ने भी स्वीकृत किया था ॥176-177॥

भगवान् सुपार्श्वनाथ के मोक्ष जाने के बाद जब नौ सौ करोड़ सागर का अन्तर बीत चुका तब भगवान् चन्द्रप्रभ उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तर में सम्मिलित थी ॥178॥

दश लाख पूर्व की उनकी आयु थी, एक सौ पचास धनुष ऊँचा शरीर था, द्वितीया के चन्द्रमा की तरह वे बढ़ रहे थे तथा समस्त संसार उनकी स्तुति करता था ॥179॥

'हे स्वामिन् ! आप इधर आइये' इस प्रकार कुतूहलवश कोई देवी उन्हें बुलाती थी। वे उसके फैलाये हुए हाथों पर कमलों के समान

अपनी हथेलियाँ रख देते थे । उस समय कारण के बिना ही प्रकट हुई मन्द मुस्कान से उनका मुखकमल बहुत ही सुन्दर दिखता था । वे कभी मणिजटित पृथिवी पर लड़खड़ाते हुए पैर रखते थे ॥180-181॥

इस प्रकार उस अवस्था के योग्य भोलीभाली शुद्ध चेष्टाओं से बाल्यकाल को बिताकर वे सुखाभिलाषी मनुष्यों के द्वारा चाहने योग्य कौमार अवस्था को प्राप्त हुए ॥182॥

उस समय वहाँ के लोगों में कौतुकवश इस प्रकार की बातचीत होती थी कि हम ऐसा समझते हैं कि विधाता ने इनका शरीर अमृत से ही बनाया है ॥183॥

उनकी द्रव्य लेश्या अर्थात् शरीर की कान्ति पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति को जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों बाह्य वस्तुओं को देखने के लिए अधिक होने से भाव लेश्या ही बाहर निकल आई हो ॥ भावार्थ- उनका शरीर शुक्ल था और भाव भी शुक्ल - उज्ज्वल थे ॥184॥ उनके यश और लेश्या से ज्योतिषी देवों की कान्ति छिप गई थी इसलिए 'भोगभूमि लौट आई है' यह समझ कर लोग संतुष्ट होने लगे थे ॥ 185॥

(ये बाल्य अवस्था से ही अमृत का भोजन करते हैं अतः इनके शरीर की कान्ति मनुष्यों से भिन्न है तथा अन्य सब की कान्ति को पराजित करती है ।) उनके शरीर की कान्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानो सूर्य और चन्द्रमा की मिली हुई कान्ति हो । इसीलिए तो उनके समीप निरन्तर कमल और कुमुद दोनों ही खिले रहते थे ॥186॥

कुन्द के फूलों की हँसी उड़ानेवाले उनके गुण चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल थे । इसीलिए तो वे भव्य जीवों के मनरूपी नीलकमलों के समूह को विकसित करते रहते थे ॥187॥

लक्ष्मी इन्हीं के साथ उत्पन्न हुई थी इसलिए वह इन्हीं की बहिन थी । 'लक्ष्मी चन्द्रमा की बहिन है' यह जो लोक में प्रसिद्धि है वह अज्ञानी लोगों ने मिथ्या कल्पना कर ली है ॥188॥

जिस प्रकार चन्द्रमा का उदय होने पर यह लोक हर्षित हो उठता है, सुशोभित होने लगता है और निराकुल होकर बढ़ने लगता है उसी प्रकार सब प्रकार के संताप को हरने वाले चन्द्रप्रभ भगवान् का जन्म होने पर यह सारा संसार हर्षित हो रहा है, सुशोभित हो रहा है और निराकुल होकर बढ़ रहा है ॥189॥

'कारण के अनुकूल ही कार्य होता है' यदि यह लोकोक्ति सत्य है तो लोगों को मानना पड़ता है कि इनकी लक्ष्मी और कीर्ति इन्हीं के गुणों से निर्मल हुई थीं । भावार्थ- उनके गुण निर्मल थे अतः उनसे जो लक्ष्मी और कीर्ति उत्पन्न हुई थी वह भी निर्मल ही थी ॥190॥

जो बहुत भारी विभूति से सम्पन्न हैं, जो स्नान आदि मांगलिक कार्यों से सजे रहते हैं और अलंकारों से सुशोभित हैं ऐसे अतिशय कुशल भगवान् कभी मनोहर बीणा बजाते थे, कभी मृदंग आदि बाजों के साथ गाना गाते थे, कभी कुबेर के द्वारा लाये हुए आभूषण तथा वस्त्र आदि देखते थे, कभी वादी-प्रतिवादियों के द्वारा उपस्थापित पक्ष आदि की परीक्षा करते थे और कभी कुतूहलवश अपना दर्शन करने के लिए आये हुए भव्य जीवों को दर्शन देते थे इस प्रकार अपना समय व्यतीत करते थे ॥191-193॥

जब भगवान् कौमार अवस्था में ही थे तभी धर्म आदि गुणों की वृद्धि हो गई थी और पाप आदि का क्षय हो गया था, फिर संयम धारण करने पर तो कहना ही क्या है ? ॥194॥

इस प्रकार दो लाख पचास हजार पूर्व व्यतीत होने पर उन्हें राज्याभिषेक प्राप्त हुआ था और उससे वे बहुत ही हर्षित तथा सुन्दर जान पड़ते थे ॥195॥

जो अपनी हथेली-प्रमाण मण्डल की राहु से रक्षा नहीं कर सकता ऐसे सूर्य का तेज किस काम का ? तेज तो इन भगवान् चन्द्रप्रभ का था जो कि तीन लोक की रक्षा करते थे ॥196॥

जिनके जन्म के पहले ही इन्द्र आदि देव किंकरता स्वीकृत कर लेते हैं ऐसे अन्य ऐश्वर्य आदिसे घिरे हुए इन चन्द्रप्रभ भगवान् को किसकी उपमा दी जावे ? ॥197॥

वे स्त्रियों के कपोल -तलमें अथवा हाथी-दाँत के टुकड़े में कामदेव से मुसकाता हुआ अपना मुख देखकर सुखी होते थे ॥198॥

जिस प्रकार कोई दानी पुरुष दान देकर सुखी होता है उसी प्रकार श्रृंगार चेष्टाओं को करने वाले भगवान्, अपनी ओर देखनेवाली उत्सुक स्त्रियों के लिए अपने मुखका रस समर्पण करनेसे सुखी होते थे ॥199॥

मुख में कमल की आशंका होनेसे जो पास हीमें मँडरा रहे हैं ऐसे भ्रमरोंको छोड़कर स्त्री का मुख-कमल देखनेमें उन्हें और कुछ बाधक नहीं था ॥200॥

चंचल सतृष्ण, योग्य अयोग्य का विचार नहीं करनेवाले और मलिन मधुप - भ्रमर भी (पक्षमें मद्यपायी लोग भी) जब प्रवेश पा सकते हैं तब संसार में ऐसा कार्य ही कौन है जो नहीं किया जा सकता हो ॥201॥

इस प्रकार साम्राज्य - सम्पदा का उपभोग करते हुए जब उनका छह लाख पचास हजार पूर्व तथा चौबीस पूर्वांग का लम्बा समय सुख पूर्वक क्षणभर के समान बीत गया तब वे एक दिन आभूषण धारण करने के घर में दर्पणमें अपना मुख-कमल देख रहे थे ॥202-203॥ वहाँ उन्होंने मुख पर स्थित किसी वस्तु को वैराग्य का कारण निश्चित किया और इस प्रकार विचार करने लगे । 'देखो यह शरीर नश्वर है तथा इससे जो प्रीति की जाती है वह भी ईति के समान दुःखदायी है' ॥204॥

वह सुख ही क्या है जो अपनी आत्मासे उत्पन्न न हो, वह लक्ष्मी ही क्या है जो चंचल हो, वह यौवन ही क्या है जो नष्ट हो जानेवाला हो, और वह आयु ही क्या है जो अवधि से सहित हो - सान्त हो ॥205॥

जिसके आगे वियोग होनेवाला है ऐसा बन्धुजनों के साथ समागम किस काम का ? मैं वही हूँ, पदार्थ वही हैं, इन्द्रियाँ भी वही हैं, प्रीति और अनुभूति भी वही है, तथा प्रवृत्ति भी वही है किन्तु इस संसार की भूमि में यह सब बार - बार बदलता रहता है ॥206-207॥

इस संसार में अब तक क्या हुआ है और आगे क्या होनेवाला है यह मैं जानता हूँ, फिर भी बार बार मोह को प्राप्त हो रहा हूँ यह आश्चर्य है ॥208॥

मैं आज तक अनित्य पदार्थों को नित्य समझता रहा, दुःख को सुख स्मरण करता रहा, अपवित्र पदार्थों को पवित्र मानता रहा और परको आत्मा जानता रहा ॥209॥

इस प्रकार अज्ञान से आकान्त हुआ यह जीव, जिसका अन्त अत्यन्त कठिन है ऐसे संसाररूपी सागर में चार प्रकार के विशाल दुःख तथा भयंकर रोगों के द्वारा चिरकाल से पीड़ित हो रहा है ॥210॥

इस प्रकार काल-लब्धि को पाकर संसार का मार्ग छोड़ने की इच्छा से वे बड़े लम्बे पुण्य-कर्म के द्वारा खिन्न हुए के समान व्याकुल हो गये थे ॥211॥

आगे होनेवाले केवलज्ञानादि गुणों से मुझे समृद्ध होना चाहिए । ऐसा स्मरण करते हुए वे दूतीके समान सद्बुद्धिके साथ समागमको प्राप्त हुए थे ॥212॥

मोक्ष प्राप्त करानेवाली उनकी सद्बुद्धि अपने आप दीक्षा-लक्ष्मी को प्राप्त हो गई थी । इस प्रकार जिन्होंने आत्म-तत्त्व को समझ लिया है ऐसे भगवान् चन्द्रप्रभ के समीप लौकान्तिक देव आये और यथायोग्य स्तुति कर ब्रह्मस्वर्ग को वापिस चले गये । तदनन्तर महाराज चन्द्रप्रभ भी वरचन्द्र नामक पुत्र का राज्याभिषेक कर देवों के द्वाराकी हुई दीक्षा-कल्याण की पूजाको प्राप्त हुए और देवों के द्वारा उठाई हुई विमला नाम की पालकी में सवार होकर सर्वर्तुक नामक वन में गये । वहाँ उन्होंने दो दिनके उपवास का नियम लेकर पौष कृष्ण एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा कर ली । दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया । दूसरे दिन वे चर्या के लिए नलिन नामक नगर में गये । वहाँ गौर वर्णवाले सोमदत्त राजा ने उन्हें नवधा-भक्ति पूर्वक उत्तर आहार देकर दान से संतुष्ट हुए देवों के द्वारा प्रकटित रत्नवृष्टि आदि पंचाश्वर्य प्राप्त किये । भगवान् अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों को धारण करते थे, ईर्या आदि पाँच समितियों का पालन करते थे, मन वचन काय की निरर्थक प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों का त्याग करते थे ॥213-219॥

उन्होंने कषायरूपी शत्रु का निग्रह कर दिया था, उनकी विशुद्धता निरन्तर बढ़ती रहती थी, वे तीन गुप्तियों से युक्त थे, शील सहित थे, गुणी थे, अन्तरंग और बहिरंग दोनों तपोंको धारण करते थे, वस्तु वृत्ति और वचन के भेद से निरन्तर पदार्थ का चिन्तन करते थे, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों में स्थित रहते थे, समस्त परिषह सहन करते थे, 'यह शरीरादि पदार्थ अनित्य हैं, अशुचि हैं और दुःख रूप हैं' ऐसा बार-बार स्मरण रखते थे तथा समस्त पदार्थों में माध्यस्थ्य भाव रखकर परमयोगको प्राप्त हुए थे ॥220-222॥

इस प्रकार जिन-कल्प मुद्रा के द्वारा तीन माह बिताकर वे दीक्षावन में नागवृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर स्थित हुए । वह फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के सांयकाल का समय था और उस दिन अनुराधा नक्षत्र का उदय था । सम्यग्दर्शन को घातनेवाली प्रकृतियों का तो उन्होंने पहलेही क्षय कर दिया अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीन परिणामोंके संयोग से क्षपक श्रेणी को प्राप्त हुए । वहाँ

उनके द्रव्य तथा भाव दोनों ही रूप से चौथा सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र प्रकट हो गया ॥223-225॥

वहाँ उन्होंने प्रथम शुक्लध्यान के प्रभाव से मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर दिया जिससे उनका सम्यग्दर्शन अवगाढ सम्यग्दर्शन हो गया । उस समय चार ज्ञानों से देदीप्यमान चन्द्रप्रभ भगवान् अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥226॥

बारहवें गुणस्थान के अन्त में उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से मोहातिरिक्त तीन घातिया कर्मों का क्षय कर दिया । उपयोग जीव का ही खास गुण है क्योंकि वह जीव के सिवाय अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म जीव के उपयोग गुण का घात करते हैं इसलिए घातिया कहलाते हैं । उन भगवान् के घातिया कर्मों का नाश हुआ था और अघातिया कर्मों में से भी कितनी ही प्रकृतियों का नाश हुआ था । इस प्रकार वे परमावगाढ सम्यग्दर्शन, अन्तिम यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान, दर्शन तथा ज्ञानादि पाँच लब्धियाँ पाकर शरीर सहित सयोगकेवली जिनेन्द्र हो गये ॥227-229॥

उस समय वे सर्वज्ञ थे, समस्त लोक के स्वामी थे, सबका हित करनेवाले थे, सबके एक मात्र रक्षक थे, सर्वदर्शी थे, समस्त इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय थे और समस्त पदार्थों का उपदेश देने वाले थे ॥230॥

चौत्तीस अतिशयों के द्वारा उनके विशेष वैभव का उदय प्रकट हो रहा था और आठ प्रातिहार्यों के द्वारा तीर्थंकर नाम-कर्म का उदय व्यक्त हो रहा था ॥231॥

वे देवों के देव थे, उनके चरण - कमलों को समस्त इन्द्र अपने मुकुटों पर धारण करते थे, अपनी प्रभा से उन्होंने समस्त संसार को आनन्दित किया था, तथा वे समस्त लोक के आभूषण थे ॥232॥

गति, जीव, समास, गुणस्थान, नय, प्रमाण आदिके विस्तार का ज्ञान करानेवाले श्रीमान् चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र आकाश में स्थित थे ॥233॥

सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ उनका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा था कि सिंह जाति ने क्रूरता - प्रधान शूर - वीरता के द्वारा पहले जिस पाप का संचय किया था उसे हरने के लिए मानो उन्होंने भगवान् का सिंहासन उठा रक्खा था ॥234॥

समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती हुई उनके शरीर की प्रभा ऐसी जान पड़ती थी मानो देदीप्यमान केवलज्ञान की कान्ति ही तदाकार हो गई हो ॥235॥

हंसों के कंधों के समान सफेद देवों के चामरों से जिनकी प्रभा की दीर्घता प्रकट हो रही है ऐसे भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो गंगानदी की लहरें ही उनकी सेवा कर रही हों ॥236॥

जिस प्रकार सूर्य का एक ही प्रकाश देखनेवालों के लिए समस्त पदार्थों का प्रकाश कर देता है उसी प्रकार भगवान् की एक ही दिव्य-ध्वनि सुननेवालों के लिए समस्त पदार्थों का प्रकाश कर देती थी ॥237॥

भगवान् का छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग जुदा - जुदा होकर यह कह रहा हो कि मोक्ष की प्राप्ति हम तीनों से ही हो सकती है अन्य से नहीं ॥238॥

लाल-लाल अशोक वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भगवान् के आश्रय से ही मैं अशोक - शोक-रहित हुआ हूँ अतः उनके प्रति अपने पत्रों और फूलों के द्वारा अनुराग ही प्रकट कर रहा हो ॥239॥

आकाश से पड़ती हुई फूलों की वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भगवान् की सेवा करने के लिए भक्ति से भरी हुई ताराओं की पंक्ति ही आ रही हो ॥240॥

समुद्र की गर्जना को जीतनेवाले देवों के नगाड़े ठीक इस तरह शब्द कर रहे थे मानों वे दिशाओं को यह सुना रहे हों कि भगवान् ने मोहरूपी शत्रु को जीत लिया है ॥241॥

उनकी प्रभा के मध्य में प्रसन्नता से भरा हुआ मुख-मण्डल ऐसा सुशोभित होता था मानो आकाश-गंगा में कमल ही खिल रहा हो अथवा चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब ही हो ॥242॥

जिस प्रकार तारागणों से सेवित शरद्-ऋतु का चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार बारह सभाओं से सेवित भगवान् गन्धकुटी के मध्य में सुशोभित हो रहे थे ॥243॥

भगवान् सुविधिनाथ चरित

कथा :

जिन्होंने विशाल तथा निर्मल मोक्षमार्ग में अनेक शिष्योंको लगाया और स्वयं लगे एवं जो सुविधि रूप हैं - उत्तम मोक्षमार्ग की विधि रूप हैं अथवा उत्तम पुण्य से सहित हैं वे सुविधिनाथ भगवान् हम सबके लिए सुविधि - मोक्षमार्ग की विधि अथवा उत्तम पुण्य प्रदान करें ॥1॥

पुष्करार्धद्वीप के पूर्व दिग्भागमें जो मेरू पर्वत है उसके पूर्व विदेह-क्षेत्र में सीतानदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का एक देश है । उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में महापद्म नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा ने अपने भुजदण्डों से शत्रुओं के समूह खण्डित कर दिये थे, वह अत्यन्त पराक्रमी था, वह किसी पुराने मार्ग को अपनी वृत्ति के द्वारा नया कर देता था और फिर आगे होनेवाले लोगों के लिए वही नया मार्ग पुराना हो जाता था ॥2-4॥

जिस प्रकार कोई गोपाल अपनी गाय का अच्छी तरह भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता है और गाय द्रवीभूत होकर बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे दूध देती हुई सदा संतुष्ट रखती है उसी प्रकार वह राजा अपनी पृथिवी का भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता था और वह पृथिवी भी द्रवीभूत हो बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने में उत्पन्न होनेवाले रत्न आदि श्रेष्ठ पदार्थों के द्वारा उस राजा को संतुष्ट रखती थी ॥5॥ वह बुद्धिमान् सब लोगों को अपने गुणों के द्वारा अपनेमें अनुरक्त बनाता था और सब लोग भी सब प्रकारसे उस बुद्धिमान् को प्रसन्न रखते थे ॥6॥

उसने मंत्री पुरोहित आदि जिन कार्यकर्ताओं को नियुक्त किया था तथा उन्हें बढ़ाया था वे सब अपने-अपने उपकारों से उस राजा को सदा बढ़ाते रहते थे ॥7॥

जिस प्रकार मुनियों में अनेक गुण-वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस सदाचारी और शास्त्र-ज्ञान से सुशोभित राजा में अनेक गुण-वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे तथा जिस प्रकार संस्कार किये हुए मणि सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उस राजा में अनेक गुण सुशोभित हो रहे थे ॥8॥ वह राजा यथायोग्य रीतिसे विभाग कर अपने आश्रित परिवार के साथ अखण्ड रूप से चिरकाल तक अपनी राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करता रहा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष लक्ष्मी को सर्वसाधारण के उपभोग के योग्य समझते हैं ॥9॥

नीति के जाननेवाले राजा को इन्द्र और यम के समान कहते हैं परन्तु वह पुण्यात्मा इन्द्र के ही समान था क्योंकि उसकी सब प्रजा गुणवती थी अतः उसके राज्य में कोई दण्ड देने के योग्य नहीं था ॥10॥

उसके सुख की परम्परा निरन्तर बनी रहती थी और उसके भोगोपभोग के योग्य पदार्थ भी सदा उपस्थित रहते थे अतः विशाल पुण्य का धारी वह राजा अपने सुख के विरह को कभी जानता ही नहीं था ॥11॥

इस प्रकार अपने पुण्य के माहात्म्य से जिसके महोत्सव निरन्तर बढ़ते रहते हैं ऐसे राजा महापद्मने किसी दिन अपने वनपाल से सुना कि मनोहर नामक उद्यानमें महान् ऐश्वर्य के धारक भूतहित नाम के जिनराज स्थित हैं । वह उनकी वन्दना के लिए बड़े वैभव से गया और समस्त जीवों के स्वामी जिनराज की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर उसने पूजा की, वन्दना की तथा हाथ जोड़कर अपने योग्य स्थान पर बैठकर उनसे धर्मोपदेश सुना । उपदेश सुनने से उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और वह इस प्रकार विचार करने लगा ॥12-14॥

अनादि कालीन मिथ्यात्व के उदय से दूषित हुआ यह आत्मा, अपने ही आत्मा में अपने ही आत्मा के द्वारा दुःख उत्पन्न कर पागल की तरह अथवा मतवाले की तरह अन्धा हो रहा है तथा किसी भूताविष्ट के समान अविचारी हो रहा है । जो जो कार्य आत्मा के लिए अहितकारी हैं मोहोदय से यह प्राणी चिरकाल से उन्हीं का आचरण करता चला आ रहा है । संसाररूपी अटवी में भटक-भटक कर यह मोक्ष के मार्ग से भ्रष्ट हो गया है । इस प्रकार चिन्तन कर वह संसार से भयभीत हो गया तथा मोक्ष-मार्ग को प्राप्त करने की इच्छा से धनद नामक पुत्र के लिए अपना ऐश्वर्य प्रदान कर संसार से डरनेवाले अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गया ॥15-18॥

क्रम-क्रम से वह ग्यारह अंगरूपी समुद्र का पारगामी हो गया, सोलह कारण भावनाओं के चिन्तन में तत्पर रहने लगा और तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध कर अन्त में उसने समाधिमरण धारण किया ॥19॥

समाधिमरण के प्रभाव से वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ । वहाँ बीस सागर की उसकी आयु थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल-लेश्या थी, दश-दश माह में श्वास लेता था, बीस हजार वर्ष बाद आहार लेता था, मानसिक प्रवीचार करता था, धूम्रप्रभा पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था, विक्रिया बल और तेज की सीमा भी उसके अवधिज्ञान की सीमा के बराबर थी तथा अणिमा महिमा आदि आठ उत्कृष्ट गुणों से उसका ऐश्वर्य बढ़ा हुआ था ॥20-22॥

वहाँ का दीर्घ सुख भोगकर जब वह यहाँ आने के लिए उद्यत हुआ तब इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की काकन्दी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री सुग्रीव नाम का क्षत्रिय राजा राज्य करता था । सुन्दर कान्ति को धारण करनेवाली जयरामा उसकी पट्टरानी थी ॥23-24॥ उस रानी ने देवों के द्वारा अतिशय श्रेष्ठ स्त्रवृष्टि आदि सम्मान को पाकर फाल्गुनकृष्ण नवमीके दिन प्रभात काल के समय मूल नक्षत्र में जब कि उसने नेत्र कुछ - कुछ बाकी बची हुई निद्रासे मलिन हो रहे थे, सोलह स्वप्न देखे । स्वप्न देखकर उसने अपने पतिसे उनका फल जाना और जानकर बहुत ही हर्षित हुई ॥25-26॥

मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदाके दिन जैत्रयोग में उस महादेवीने वह उत्तम पुत्र उत्पन्न किया । उसी समय इन्द्रों ने देवों के साथ आकर उनका क्षीरसागरके जलसे अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये और कुन्द के फूलके समान कान्ति से सुशोभित शरीर की दीप्तिसे विराजित उन भगवान् का पुष्पदन्त नाम रक्खा ॥27-28॥

श्री चन्द्रप्रभ भगवान् के बाद जब नब्बे करोड़ सागरका अन्तर बीत चुका था तब श्री पुष्पदन्त भगवान् हुए थे । उनकी आयु भी इसी अन्तरमें शामिल थी ॥29॥

दो लाख पूर्व की उनकी आयु थी, सौ धनुष ऊँचा शरीर था और पचास लाख पूर्व तक उन्होंने कुमार - अवस्थाके सुख प्राप्त किये थे ॥ 30॥

अथानन्तर अच्युतेन्द्रादि देव जिसे पूज्य समझते हैं ऐसा साम्राज्य पाकर उन पुष्पदन्त भगवान् ने इष्ट पदार्थों के संयोगसे युक्त सुख का अनुभव किया । उस समय बड़े - बड़े पूज्य पुरुष उनकी स्तुति किया करते थे ॥31॥

सब स्त्रियों से, इन्द्रियों से और इस राज्य से जो भगवान् सुविधिनाथ को जो सुख मिलता था और भगवान् सुविधिनाथ से उन स्त्रियों जो सुख मिलता था उन दोनों में विद्वान् लोग किसको बड़ा अथवा बहुत कहें ? ॥32॥

भगवान् पुण्यवान् रहें किन्तु मैं उन स्त्रियोंको भी बहुत पुण्यात्मा समझता हूँ क्योंकि मोक्षका सुख जिनके समीप है ऐसे भगवान् को भी वे प्रसन्न करती थीं - क्रीड़ा कराती थीं ॥33॥

वे भगवान् स्वर्गके श्रेष्ठ सुख - रूपी समुद्रमें मग्न रहकर पृथिवी पर आये थे अर्थात् स्वर्गके सुखोंसे उन्हें संतोष नहीं हुआ था इसलिए पृथिवी पर आये थे । इससे कहना पड़ता है कि यथार्थ भोग्य वस्तुएँ वहीं थी जो कि भगवान् को अभिलाषा उत्पन्न कराती थीं- अच्छी लगती थीं ॥34॥

जो भगवान् अनन्त बार अहमिन्द्र पद पाकर भी उससे संतुष्ट नहीं हुए वे यदि मनुष्य-लोक के इस सुख से संतुष्ट हुए तो कहना चाहिए कि सब सुखोंमें यही सुख प्रधान था ॥35॥

इस प्रकार प्रेम - पूर्वक राज्य करते हुए जब उनके राज्य - काल के पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांग बीत गये तब वे एक दिन दिशाओं का अवलोकन कर रहे थे । उसी समय उल्कापात देखकर उनके मन में इस प्रकार विचार उत्पन्न हुआ कि यह उल्का नहीं है किन्तु मेरे अनादिकालीन महामोह रूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाली दीपिका है ॥36-37॥

इस प्रकार उस उल्काके निमित्तसे उन्हें निर्मल आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया । वे स्वयंबुद्ध भगवान् इस निमित्तसे प्रतिबुद्ध होकर तत्त्वका इस प्रकार विचार करने लगे कि आज मैंने स्पष्ट देख लिया कि यह संसार विडम्बना रूप है । कर्मरूपी इन्द्रजालिया ही इसे उल्टा कर दिखलाया है ॥38-39॥

काम, शोक, भय, उन्माद, स्वप्न और चोरी आदिसे उपद्रुत हुए प्राणी सामने रक्खे हुए असत् पदार्थ को सत् समझने लगते हैं ॥40॥

इस संसार में न तो कोई वस्तु स्थिर है, न शुभ है, न कुछ सुख देनेवाली है और न कोई पदार्थ मेरा है, मेरा तो मेरा आत्मा ही है, यह सारा संसार मुझसे जुदा है और मैं इससे जुदा हूँ, इन दो शब्दोंके द्वारा ही जो कुछ कहा जाता है वही सत्य है, फिर भी आश्चर्य है कि मोहोदयसे शरीरादि पदार्थोंमें इस जीव की आत्मीय बुद्धि हो रही है ॥41-42॥

शरीरादिक ही मैं हूँ, मेरा सब सुख शुभ है, नित्य है इस प्रकार अन्य पदार्थोंमें जो मेरी पिपर्यय-बुद्धि हो रही है उसी से मैं अनेक दुःख देनेवाले जरा, मरण और मृत्यु रूपी बड़े - बड़े मकरोसे भयंकर इस संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण कर रहा हूँ । ऐसा विचार कर वे राज्य-लक्ष्मी को छोड़नेकी इच्छा करने लगे ॥43-44॥

लौकान्तिक देवों ने उनकी पूजा की । उन्होंने सुमति नामक पुत्र के लिए राज्य का भार सौंप दिया, इन्द्रों ने दीक्षा-कल्याणक कर उन्हें घेर

लिया ॥45॥

वे उसी समय सूर्यप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर पुष्पकवन में गये और मार्गशीर्षके शुक्लपक्ष की प्रतिपदाके दिन सायंकाल के समय बेलाका नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये । दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया । वे दूसरे दिन आहारके लिए शैलपुर नामक नगर में प्रविष्ट हुए । वहाँ सुवर्ण के समान कान्तिवाले पुष्पमित्र राजा ने उन्हें भोजन कराकर पंचाश्वर्य प्राप्त किये ॥46-48॥

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था में तपस्या करते हुए उनके चार वर्ष वीत गये । तदनन्तर कार्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन सायंकाल के समय मूल - नक्षत्र में दो दिनका उपवास लेकर नागवृक्ष के नीचे स्थित हुए और उसी दीक्षावन में घातिया कर्मरूपी पाप-कर्मों को नष्ट कर अनन्तचतुष्टय को प्राप्त हो गये ॥49-50॥

चतुर्णिकाय देवों के इन्द्रों ने उनके अचिन्त्य वैभवकी रचना की - समवसरण बनाया और वे समस्त पदार्थों का निरूपण करनेवाली दिव्यध्वनिसे सुशोभित हुए ॥51॥

वे सात ऋद्धियोंको धारण करनेवाले विदर्भ आदि अट्ठासी गणधरोंसे सहित थे, पन्द्रह सौ श्रुतकेवलियोंके स्वामी थे; एक लाख पचपन हजार पाँच सौ शिक्षकोंके रक्षक थे, आठ हजार चार सौ अवधि - ज्ञानियों से सेवित थे, सात हजार केवलज्ञानियों और तेरह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारकों से वेष्टित थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानियों और छह हजार छह सौ वादियोंके द्वारा उनके मंगलमय चरणों की पूजा होती थी, इस प्रकारवे सब मिलाकर दो लाख मुनियों के स्वामी थे, घोषार्याको आदि लेकर तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाओं से सहित थे, दो लाख श्रावकों से युक्त थे, पाँच लाख श्राविकाओं से पूजित थे, असंख्यात देवों और संख्यात तिर्यचो से सम्पन्न थे । इस तरह बारह सभाओं से पूजित भगवान् पुष्पदन्त आर्य देशों में बिहार कर सम्मेदशिखर पर पहुँचे और योग निरोध कर भाद्रशुक्ल अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हो गये । देव आये और उनका निर्वाण-कल्याणक कर स्वर्ग चले गये ॥52-59॥

जिन्होंने स्वयं चलकर मोक्ष का कठिन मार्ग दूसरों के लिए सरल तथा शुद्ध कर दिया है, जिन्होंने चित्त में उपशम भाव को धारण करनेवाले भक्तों के लिए स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग प्राप्त करने की उत्तम विधि बतलाई है, जो मोक्ष-लक्ष्मी के स्वामी हैं, जिनके दाँत खिले हुए पुष्प के समान हैं, जो स्वयं देदीप्यमान हैं और जिनका मुख दाँतों की कान्ति से सुशोभित है ऐसे भगवान् पुष्पदन्त को हम नमस्कार करते हैं ॥ 60॥

हे देव ! आपका शरीर शान्त है, वचन कानों को हरनेवाले हैं, चरित्र सब का उपकार करनेवाला है और आप स्वयं संसाररूपी विशाल रेगिस्तान के बीच में 'सघन' - छायादार वृक्ष के समान हैं अतः हम सब आपका ही आश्रय लेते हैं ॥61॥

जो पहले महापद्म नामक राजा हुए, फिर स्वर्ग में चौदहवें कल्प के इन्द्र हुए और तदनन्तर भरत क्षेत्र में महाराज सुविधि नामक नौवें तीर्थकर हुए ऐसे सुविधिनाथ अथवा पुष्पदन्त हम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥62॥

भगवान् शीतलनाथ चरित

पर्व - 56

कथा :

जिनका कहा हुआ समीचीन धर्म, कर्मरूपी सूर्यकी किरणों से संतप्त प्राणियोंके लिए चन्द्रमा के समान शीतल है - शान्ति उत्पन्न करनेवाला है वे शीतलनाथ भगवान् हम सबके लिए शीतल हों - शान्ति उत्पन्न करनेवाले हों ॥1॥

पुष्करवर द्वीप के पूर्वार्ध भाग में जो मेरु पर्वत है उसकी पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्र में सीतानदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है । उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नाम का राजा राज्य करता था । राजा पद्मगुल्म साम, दान, दण्ड और भेद इन चार उपायों का ज्ञाता था, सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग और विनिपातप्रतीकार इन पाँच अंगोंसे निर्णीत संधि और विग्रह-युद्ध के रहस्य को जानने वाला था । उसका राज्य-रूपी वृक्ष बुद्धि-रूपी जलके सिंचनसे खूब वृद्धि को प्राप्त हो रहा था, तथा स्वामी, मंत्री, किला, खजाना, मित्र, देश और सेना इन सात प्रकृतिरूपी शाखाओं से विस्तार को प्राप्त होकर धर्म, अर्थ और कामरूपी तीन फलों को निरन्तर फलता रहता था ॥2-4॥

वह प्रताप - रूपी बड़वानल की चंचल ज्वालाओं के समूह से अत्यन्त देदीप्यमान था तथा उसने अपने चन्द्रहास - खंगकी धाराजल के समुद्र में समस्त शत्रु राजा रूप - पर्वतोंको डुबा दिया था ॥5॥

उस गुणवान् राजा ने दैव, बुद्धि और उद्यम के द्वारा स्वयं लक्ष्मी का उपार्जन कर उसे सर्वसाधारणके द्वारा उपभोग करने योग्य बना दिया था । साथ ही वह स्वयं भी उसका उपभोग करता था ॥6॥

न्यायोपार्जित धनके द्वारा याचकों के समूह को संतुष्ट करने वाला तथा समस्त ऋतुओं के सुख भोगनेवाला राजा पद्मगुल्म जब इस धरा-चक्र का - पृथ्वी-मण्डल का पालन करता था तब उसके समागम की उत्सुकता से ही मानो वसन्त ऋतु आ गई थी । कोकिलाओं और भ्रमरोंके मनोहर शब्द ही उसके मनोहर शब्द थे, वृक्षोंके लहलहाते हुए पल्लव ही उसके ओठ थे, सुगन्धि से एकत्रित हुए मत्त भ्रमरों से सहित पुष्प ही उसके नेत्र थे, कुहरा से रहित निर्मल चाँदनी ही उसका हास्य था, स्वच्छ आकाश ही उसका वस्त्र था, सम्पूर्ण चन्द्रमा का मण्डल ही उसका मुख था, मौलिश्री की सुगन्धि से सुवासित मलय समीर ही उसका श्वासोच्छ्वास था और कनेरके फूल ही उसके शरीर की पीत कान्ति थी ॥7-10॥

कामदेव यद्यपि शरीररहित था और उसके पास सिर्फ पाँच ही वाण थे, तो भी वह राजा पद्मगुल्म को इस प्रकार निष्ठुरतासे पीड़ा पहुँचाने लगा जैसे कि अनेक वाणोंसहित हो सो ठीक ही है क्योंकि समय का बल पाकर कौन नहीं बलबान् हो जाता है ? ॥11॥

जिसका मन वसन्त-लक्ष्मी ने अपने अधीन कर लिया है तथा जो अनेक सुख प्राप्त करना चाहता है ऐसा वह राजा प्रीतिको बढ़ाता हुआ उस वसन्तलक्ष्मी के साथ निरन्तर क्रीड़ा करने लगा ॥12॥

परन्तु जिस प्रकार वायु से उड़ाई हुई मेघमाला कहीं जा छिपती है उसी प्रकार कालरूपी वायु से उड़ाई वह वसन्त-ऋतु कहीं जा छिपी-नष्ट हो गई और उसके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुए शोक के द्वारा उसका चित्त बहुतही व्याकुल हो गया ॥13॥

वह विचार करने लगा कि यह काम बड़ा दुष्ट है, यह पापी समस्त संसार को दुःखी करता है, सबके चित्तमें रहता है और विग्रह शरीर रहित होने पर भी विग्रही - शरीरसहित (पक्ष में उपद्रव करने वाला) है ॥14॥

मैं उस कामको आज ही ध्यानरूपी अग्निके द्वारा भस्म करता हूँ । इस प्रकार उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ । वह चन्दन नामक पुत्र के लिए राज्य का भार सौंपकर आनन्द नामक मुनिराज के समीप पहुँचा और समस्त परिग्रह तथा शरीरसे विमुख हो गया ॥15-16॥

शान्त परिणामों को धारण करनेवाले उसने विपाकसूत्र तक सब अंगों का अध्ययन किया, चिरकाल तक तपश्चरण किया, तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध किया, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीन आराधनाओं का साधन किया तथा आयु के अन्त में वह समाधिमरण कर आरण नामक पन्द्रहवें स्वर्ग में विशाल वैभव को धारण करनेवाला इन्द्र हुआ ॥17-18॥

वहाँ उसकी आयु बाईस सागर की थी, तीन हाथ ऊँचा उसका शरीर था, द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ललेश्याएँ थी, ग्यारह माह में श्वास लेता था, बाईस हजार वर्षमें मानसिक आहार लेकर संतुष्ट रहता था, लक्ष्मीमान् था, मानसिक प्रवीचारसे युक्त था, प्राकाम्य आदि आठ गुणोंका धारक था, छठवें नरक के पहले-पहले तक व्याप्त रहनेवाले अवधिज्ञान से देदीप्यमान था, उतनी ही दूर तक उसका बल तथा विक्रिया शक्ति थी और बाह्य-विकारों से रहित विशाल श्रेष्ठ सुखरूपी सागरका पारगामी था, इस प्रकार उसने अपनी असंख्यात वर्ष की आयु को काल की कलाके समान - एक क्षण के समान बिता दिया ॥19-22॥

जब उस इंद्रा की आयु छह माह की बाकी रह गई और वह पृथ्वी पर आने के लिए उद्यत हुआ तब जम्बू-द्वीप के भरत-क्षेत्र सम्बन्धी मलय नामक देश में भद्रपुर नाम का स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा दृढरथ राज्य करता था । कुबेर की आज्ञा से यक्ष जाती के देवों ने छह मास पहले से रत्नों के द्वारा सुनन्दा का घर भर दिया । मानवती सुनन्दा ने भी रात्रि के अन्तिम भाग में सोलह-स्वप्न देखकर अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा । प्रातःकाल राजा से उनका फल ज्ञात किया और उसी समय चैत्र-कृष्ण अष्टमी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र में सद्बृत्तता (सदाचार) आदि गुणों से उपलक्षित वह देव स्वर्ग से च्युत होकर रानी के उदार में उस प्रकार अवतीर्ण हुआ जिस प्रकार कि सद्बृत्तता (गोलाई) आदि गुणों से उपलक्षित जल की बून्द शक्ति के उदार में अवतीर्ण होती है ॥23-27॥

देवों ने आकर बड़े प्रेम से प्रथम कल्याणक की पूजा की । क्रम-क्रम से नव माह व्यतीत होने पर माघ कृष्ण द्वादशी के दिन विश्वयोग में पुत्र जन्म हुआ ॥28॥

उसी समय बहुत भारी उत्सव से भरे देव-लोग आकर उस बालक को सुमेरु पर्वत पर ले गए । वहाँ उन्होंने उसका महाभिषेक किया और

शीतलनाथ नाम रखा ॥29॥

भगवान् पुष्पदन्त के मोक्ष चले जाने के बाद नोऊ करोड़ सागर का अन्तर बीत जाने पर भगवान् शीतलनाथ का जन्म हुआ । उनकी आयु भी इसी में सम्मिलित थी । उनके जन्म लेने के पहले पत्नी के चौथाई भाग का धर्म-कर्म का विच्छेद रहा था । भगवान् के शरीर की कान्ति स्वर्ण के सामान थी और शरीर नब्बे धनुष उंचा था ॥30-31॥

भगवान् श्रेयांसनाथ, विजय बलभद्र, त्रिपृष्ठ नारायण और अश्वग्रीव प्रतिनारायण चरित

पर्व - 57

कथा :

दूसरा आश्रय लेने योग्य नहीं है - इस तरह कल्याणके अभिलाषी मनुष्यों के द्वारा आश्रय करने योग्य भगवान् श्रेयांसनाथ हम सबके कल्याणके लिए हों ॥1॥

पुष्करार्थ द्वीपसम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्रके सुकच्छ देशमें सीता नदी के उत्तर तट पर क्षेमपुर नाम का नगर है । उसमें समस्त शत्रुओं को नम्र करनेवाला तथा प्रजाके अनुराग से प्राप्त अचिन्त्य महिमाका आश्रयभूत नलिनप्रभ नाम का राजा राज्य करता था ॥2-3॥

पृथक्-पृथक् तीन भेदोंके द्वारा जिनका निर्णय किया गया है ऐसी शक्तियों, सिद्धियों और उदयों से जो अभ्युदयको प्राप्त है तथा शान्ति और परिश्रमसे जिसे क्षेम और योग प्राप्त हुए हैं ऐसा यह राजा सदा बढ़ता रहता था ॥4॥

वह राजा न्याय-पूर्वक प्रजा का पालन करता था और स्नेह पूर्ण पृथिवीको मर्यादामें स्थित कर उसका भूभृत्पना सार्थक था ॥5॥

समीचीन मार्ग में चलनेवाले उस श्रेष्ठ राजा में धर्म तो धर्म ही था, किन्तु **अर्थ** तथा काम भी धर्म युक्त थे । अतः वह धर्ममय ही था ॥6॥

इस प्रकार स्वकृत पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त सुखकी खान स्वरूप यह राजा लोकपालके समान इस समस्त पृथिवी का दीर्घकाल तक पालन करता रहा ॥7॥

एक दिन वनपालसे उसे मालूम हुआ कि सहस्राम्रवणमें अनन्त जिनेन्द्रदेवकी पूजाकी, चिरकाल तक स्तुतिकी, नमस्कार किया और फिर अपने योग्य स्थान पर बैठ गया । तदनन्तर धर्मोपदेश सुनकर उसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे इस प्रकार चिन्तन करने लगा कि किसका कहाँ किसके द्वारा किस प्रकार किससे और कितना कल्याण हो सकता है यह न जान कर मैंने खेद - खिन्न होते हुए अनन्त जन्मोंमें भ्रमण किया है । मैंने जो बहुत प्रकार का परिग्रह इकट्ठा कर रक्खा है वह मोह वश ही किया है इसलिए इसके त्यागसे यदि निर्वाण प्राप्त हो सकता है, तब समय बितानेसे क्या लाभ है ? ॥8-11॥

ऐसा विचार कर उसने गुणों से सुशोभित सुपुत्र नामक पुत्र के लिए राज्य देकर बहुत - से राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥12॥ ग्यारह अंगोका अध्ययन किया, तीर्थंकर नाम - कर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त में समाधिमरण कर सोलहवें अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमान में अच्युत नाम का इन्द्र हुआ । वहाँ बाईस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, तीन हाथ ऊँचा शरीर था, और ऊपर जिनका वर्णन आ चुका है ऐसी लेश्या आदिसे सहित था ॥13-14॥

दिव्य भावोंको धारण करनेवाली सुन्दर देवियोंके साथ उसने बहुत समय तक प्रतिदिन उत्तमसे उत्तम सुखों का बड़ी प्रीतिसे उपभोग किया ॥15॥

कल्पातीत-सोलहवें स्वर्ग के आगे के अहमिन्द्र विराग हैं - राग रहित हैं और अन्य देव अल्प सुखवाले हैं इसलिए संसार के सबसे अधिक सुखों से संतुष्ट होकर वह अपनी आयु व्यतीत करता था ॥16॥

वहाँ के सुख भोगकर जब वह यहाँ आने के लिए उद्यत हुआ तब इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सिंहपुर नगर का स्वामी इक्ष्वाकु वंश से प्रसिद्ध विष्णु नाम का राजा राज्य करता था ॥17॥

उसकी वल्लभाका नाम सुनन्दा था । सुनन्दाने गर्भधारणके छह माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि आदि कई तरहकी पूजा प्राप्त की थी ॥18॥

ज्येष्ठकृष्ण षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में प्रातःकाल के समय उसने सोलह स्वप्न तथा अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा ॥19॥

पतिसे उनका फल जानकर वह बहुत ही हर्षको प्राप्त हुई । उसी समय इन्द्रों ने आकर गर्भ-कल्याणकका महोत्सव किया ॥20॥

उत्तम सन्तानको धारण करनेवाली सुनन्दाने पूर्वोक्त विधिसे नौ माह बिता कर फाल्गुनकृष्ण एकादशी के दिन विष्णुयोग में तीन ज्ञानोंके धारक तथा महाभाग्यशाली उस अच्युतेन्द्रको संसार के संतोष के लिए उस प्रकार उत्पन्न किया जिस प्रकार कि मेघमाला उत्तम वृष्टिको

उत्पन्न करती है ॥21-22॥

जिस प्रकार शरद-ऋतुके आनेपर सब जगहके जलाशय शीघ्र ही प्रसन्न - स्वच्छ हो जाते हैं उसी प्रकार उनका जन्म होते ही सब जीवों के मन प्रसन्न हो गये थे - हर्ष से भर गये थे ॥23॥

भगवान् का जन्म होने पर याचक लोग धन पाकर हर्षित हुए थे, धनी लोग दीन मनुष्यों को संतुष्ट करनेसे हर्षित हुए थे और वे दोनों इष्ट भोग पाकर सुखी हुए थे ॥24॥

उस समय सब जीवों को सुख देनेवाली समस्त ऋतुएँ मिलकर अपने - अपने मनोहर भावोंसे प्रकट हुई थीं ॥25॥

बड़ा आश्चर्य था कि उस समय भगवान् का जन्म होने पर रोगी मनुष्य निरोग हो गये थे, शोक वाले शोक शोक-रहित हो गये थे, और पापी जीव धर्मात्मा बन गये थे ॥26॥

जब उस समय साधारण मनुष्यों को इतना संतोष हो रहा था तब माता-पिता के संतोषका प्रमाण कौन बता सकता है ? ॥27॥

शीघ्र ही चारों निकायके देव अपने शरीर तथा आभरणों की प्रभाके समूह से समस्त संसार को तेजोमय करते हुए चारों ओरसे आ गये ॥ 28॥

मनोहर दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्प-वर्षाएँ होने लगीं, देव-नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं और स्वर्गके गवैया मधुर गान गाने लगे ॥29॥

'यह लोक देव लोक है अथवा उससे भी अधिक वैभव को धारण करनेवाला कोई दूसरा ही लोक है' इस प्रकार देवों के शब्द निकल रहे थे ॥30॥

सौधर्मेन्द्र ने स्वयं उत्तम आभूषणादि से भगवान् के माता-पिता को संतुष्ट किया और इन्द्राणी ने माया से माता को संतुष्ट कर जिन-बालक को उठा लिया ॥31॥

सौधर्मेन्द्र जिन-बालक को ऐरावत हाथी के कन्धे पर विराजमान कर देवों की सेना के साथ लीला-पूर्वक महा-तेजस्वी महामेरू पर्वत पर पहुँचा ॥32॥

वहाँ उसने पंचम क्षीरसमुद्र से लाये हुए क्षीर रूप जलके कलशोंके समूह से भगवान् का अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये और बड़े हर्ष के साथ उनका श्रेयांस यह नाम रक्खा ॥33॥

इन्द्र मेरु पर्वत से लौटकर नगर में आया और जिन-बालक को माता की गोद में रख, देवों के साथ उत्सव मनाता हुआ स्वर्ग चला गया ॥ 34॥

जिस प्रकार किरणोंके द्वारा क्रम - क्रम से कान्ति को पुष्ट करनेवाले बाल - चन्द्रमा के अवयव बढ़ते रहते हैं उसी प्रकार गुणों के साथ - साथ उस समय भगवान् के शरीरावयव बढ़ते रहते थे ॥35॥

शीतलनाथ भगवान् के मोक्ष जाने के बाद जब सौ सागर और छयासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष कम एक सागर प्रमाण अन्तराल बीत गया तथा आधे पल्य तक धर्म की परम्परा टूटी रही तब भगवान् श्रेयांसनाथका जन्म हुआ था । उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी । उनकी कुल आयु चौरासी लाख वर्षकी थी । शरीर सुवर्ण के समान कान्तिवाला था, ऊँचाई अस्सी धनुष की थी, तथा स्वयं बल, ओज और तेजके भंडार थे । जब उनकी कुमारावस्थाके इक्कीस लाख वर्ष बीत चुके तब सुख के सागर स्वरूप भगवान् ने देवों के द्वारा पूजनीय राज्य प्राप्त किया । उस समय सब लोग उन्हें नमस्कार करते थे, वे चन्द्रमा के समान सबको संतुष्ट करते थे और अहंकारी मनुष्यों को सूर्य के समान संतापित करते थे ॥36-39॥

उन भगवान् ने महामणि के समान अपने आपको तेजस्वी बनाया था, समुद्र के समान गम्भीर किया था, चन्द्रमा के समान शीतल बनाया था और धर्मके समान चिरकाल तक कल्याणकारी श्रुत-स्वरूप बनाया था ॥40॥

पूर्व जन्म में अच्छी तरह से किए हुए पुण्य-कर्म से उन्हें सर्व प्रकार की संपदाएँ तो स्वयं प्राप्त हो गई थीं अतः उनकी बुद्धि और पौरुष की व्याप्ति सिर्फ धर्म और काम में ही रहती थी । भावार्थ- उन्हें **अर्थ** की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी ॥41॥

देवों के द्वारा किये हुए पुण्यानुबन्धी शुभ विनोदोंमें स्त्रियों के साथ क्रीडा करते हुए उनके दिन व्यतीत हो रहे थे ॥42॥

इस प्रकार बयालीस वर्ष तक उन्होंने राज्य किया । तदनन्तर किसी दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर वे विचार करने लगे कि जिस काल ने इस समस्त संसार को ग्रस्त कर रक्खा है वह काल भी जब क्षण घड़ी घंटा आदिके परिवर्तनसे नष्ट होता जा रहा है तब अन्य किस

पदार्थमें स्थिरता रह सकती है ? यथार्थमें यह समस्त संसार विनश्वर है, जब तक शाश्वत पद - अविनाशी मोक्ष पद नहीं प्राप्त कर लिया जाता है तब तक एक जगह सुख से कैसे रहा जा सकता है ? ॥43-45॥

भगवान् ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उसी समय सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की । उन्होंने श्रेयस्कर पुत्र के लिए राज्य दिया, इन्द्रों के द्वारा दीक्षा-कल्याणक के समय होनेवाला महाभिषेक प्राप्त किया और देवों के द्वारा उठाई जानेके योग्य विमलप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर मनोहर नामक महान् उद्यानकी ओर प्रस्थान किया । वहाँ पहुँच कर उन्होंने दो दिन के लिए आहारका त्याग कर फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन प्रातःकाल के समय श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया । उसी समय उन्हें चौथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया । दूसरे दिन उन्होंने भोजनके लिए सिद्धार्थ नगर में प्रवेश किया ॥46-49॥ वहाँ उनके लिए सुवर्ण के समान कान्तिवाले नन्द राजा ने भक्ति-पूर्वक आहार दिया जिससे उत्तम बुद्धिवाले उस राजा ने श्रेष्ठ पुण्य और पंचाश्रय प्राप्त किये ॥50॥

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्थाके दो वर्ष बीत जाने पर एक दिन महामुनि श्रेयांसनाथ मनोहर नामक उद्यानमें दो दिनके उपवास का नियम लेकर तुम्बुर वृक्ष के नीचे बैठे और वहीं पर उन्हें माघकृष्ण अमावस्याके दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥51-52॥

उसी समय अनेक ऋद्धियों से सहित चार निकाय के देवों ने उनके चतुर्थ कल्याणक की पूजा की ॥53॥

भगवान् कुन्धुनाथ, कुन्धु आदि सतहत्तर गणधरों के समूह से घिरे हुए थे, तेरह सौ पूर्वधारियों से सहित थे, अड़तालीस हजार दो सौ उत्तम शिक्षक मुनियों के द्वारा पूजित थे, छह हजार अवधि - ज्ञानियों से सम्मानित थे, छह हजार पाँचसौ केवलज्ञानी रूपी सूर्यों से सहित थे, ग्यारह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारकों से सुशोभित थे, छह हजार मनःपर्ययज्ञानियों से युक्त थे, और पाँच हजार मुख्य वादियों से सेवित थे । इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी हजार मुनियों से सहित थे । इनके सिवाय एक लाख बीस हजार धारणा आदि आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ उनके साथ थीं, पहले कहे अनुसार असंख्यात देव - देवियाँ और संख्यात तीर्थच सदा उनके साथ रहते थे । इस प्रकार विहार करते और धर्म का उपदेश देते हुए वे सम्मोदशिखर पर जा पहुँचे । वहाँ एक माह तक योग - निरोध कर एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया । श्रावणशुक्ला पौर्णमासी के दिन सायंकाल के समय धनिष्ठा नक्षत्र में विद्यमान कर्मोंकी असंख्यातगुणश्रेणी निर्जरा की और अ इ उ ऋ लृ इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समयमें अन्तिम दो शुक्लध्यानों से समस्त कर्मों को नष्ट कर पंचमी गति में स्थित हो वे भगवान् श्रेयांसनाथ मुक्त होते हुए सिद्ध हो गये ॥54-62॥

इसके बिना हमारा टिमकार-रहित पना व्यर्थ है ऐसा विचार कर देवों ने उसी समय उनका निर्वाण-कल्याणक किया और उत्सव कर सब स्वर्ग चले गये ॥63॥

जिनके ज्ञानने उत्पन्न होते ही समस्त अन्धकार को नष्ट कर सब चराचर विश्वको देख लिया था, और कोई प्रतिपक्षी न होनेसे जो अपने ही स्वरूप में स्थित रहा था ऐसे श्री श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र तुम सबका अकल्याण दूर करें ॥64॥

'हे प्रभो ! आपके वचन, सत्य, सबका हित करने वाले तथा दयामय हैं । इसी प्रकार आपका समस्त चारित्र सुल्लभ जनों के लिए हितकारी है । हे भगवन् ! आपकी ये दोनों वस्तुएँ आपकी परम विशुद्धि को प्रकट करती हैं । हे देव ! इसीलिए इन्द्र आदि देव भक्ति-पूर्वक आपका ही आश्रय लेते हैं । इस प्रकार विद्वान् लोग जिनकी स्तुति किया करते हैं ऐसे श्रेयांसनाथ भगवान् तुम सबके कल्याणके लिए हों' ॥65॥ जो पहले पाप की प्रभा को नष्ट करनेवाले श्रेष्ठतम नलिनप्रभ राजा हुए, तदनन्तर अन्तिम कल्प में संकल्प मात्रसे प्राप्त होनेवाले सुखोंकी खान स्वरूप, समस्त देवों के अधिपति - अच्युतेन्द्र हुए और फिर त्रिलोकपूजित तीर्थंकर होकर कल्याणकारी स्याद्वादका उपदेश देते हुए मोक्षको प्राप्त हुए ऐसे श्रीमान् श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र तुम सबकी लक्ष्मी के लिए हों - तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥66॥

जो जिनसेनके अनुगामी हैं - शिष्य हैं तथा लोकसेन नामक शिष्यके द्वारा जिनके चरण-कमल पूजित हुए हैं और जो इस पुराण के बनानेवाले कवि हैं ऐसे भदन्त गुणभद्राचार्यको नमस्कार हो ॥67॥

जिस प्रकार चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती भरत हुआ उसी प्रकार श्रेयांसनाथ के तीर्थ में तीन खण्ड को पालन करनेवाले नारायणों में उद्यमी प्रथम नारायण हुआ ॥68॥

उसीका चरित्र तीसरे भव से लेकर कहता हूँ । यह उदय तथा अस्त होनेवाले राजाओं का एक अच्छा उदाहरण है ॥69॥

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक मगधनाम का देश है उसमें राजगृह नाम का नगर है जो कि इन्द्रपुरीसे भी उत्तम है ॥70॥

स्वर्ग से आकर उत्पन्न होनेवाले राजाओं का यह घर है इसलिए भोगोपभोगकी सम्पत्तिकी अपेक्षा उसका 'राजगृह' यह नाम सार्थक है ॥ 71॥

किसी समय विश्वभूति राजा उस राजगृह नगर का स्वामी था, उसकी रानी का नाम जैनी था । इन दोनों के एक पुत्र था जो कि सबके लिए आनन्ददायी स्वभाव वाला होने के कारण विश्वनन्दी नाम से प्रसिद्ध था ॥72॥

विश्वभूति के विशाखभूति नाम का छोटा भाई था, उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मणा था और उन दोनों के विशाखनन्दी नाम का पुत्र था ॥73॥

विश्वभूति अपने छोटे भाई को राज्य सौंपकर तप के लिए चला गया और समस्त राजाओं को नम्र बनाता हुआ विशाखभूति प्रजा का पालन करने लगा ॥74॥

उसी राजगृह नगर में नाना गुल्मों, लताओं और वृक्षों से सुशोभित एक नन्दन नाम का बाग था जो कि विश्वनन्दी को प्राणों से अधिक प्यारा था ॥75॥

विशाखभूति के पुत्र ने वनावालों को डांटकर जबार्दास्ती वह वन ले लिया जिससे उन दोनों - विश्वनन्दी और विशाखनन्दी में युद्ध हुआ ॥ 76॥

विशाखनन्दी उस युद्ध को नहीं सह सका अतः भाग खड़ा हुआ । यह देखकर विश्वनन्दी को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह विचार करने लगा कि इस मोह को धिक्कार है ॥77॥

वह सब को छोड़कर सम्भूत गुरु के समीप आया और काका विशाखभूति को अग्रगामी बनाकर अर्थात् उसे साथ लेकर दीक्षित हो गया ॥78॥

वह शील तथा गुणों से सम्पन्न होकर अनशन तप करने लगा तथा विहार करता हुआ एक दिन मथुरा नगरी में प्रविष्ट हुआ ॥79॥

वहाँ एक छोटे बछड़ेवाली गाय ने क्रोध से धक्का दिया जिससे वह गिर पड़ा । दुष्टता के कारण राज्य से बाहर निकाला हुआ मूर्ख विशाखनन्दी अनेक देशों में घूमता हुआ उसी मथुरानगरी में आकर रहने लगा था । वह उस समय एक वेश्या के मकान की छत पर बैठा था । वहाँ से उसने विश्वनन्दी को गिरा हुआ देखकर क्रोध से उसकी हँसी की कि तुम्हारा वह पराक्रम आज कहाँ गया ? ॥80-81॥

विश्वनन्दी को कुछ शल्य थी अतः उसने विशाखनन्दी की हँसी सुनकर निदान किया । तथा प्राणक्षय होने पर महाशुक्र स्वर्ग में जहाँ कि पिता का छोटा भाई उत्पन्न हुआ था, देव हुआ ॥82॥

वहाँ सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी । समस्त आयु भर देवियों और अप्सराओं के समूह के साथ के मनचाहे भोग भोगकर वहाँसे च्युत हुआ और इस पृथिवी तल पर जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र के सुरम्य देशमें पौदनपुर नगर के राजा प्रजापतिकी प्राणप्रिया मृगावती नाम की महादेवी के शुभ स्वप्न देखने के बाद त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ ॥83-85॥

काका का जीव भी वहाँ से - महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर इसी नगरी के राजा की दूसरी पत्नी जयावती के विजय नाम का पुत्र हुआ ॥ 86॥

और विशाखनन्दी चिरकाल तक संसार चक्र में भ्रमण करता हुआ विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी की अलका नगरी के स्वामी मयूरग्रीव राजा के अपने पुण्योदय से शत्रु राजाओं को जीतनेवाला अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ ॥87-88॥

इधर विजय और त्रिपृष्ठ दोनों ही प्रथम बलभद्र तथा नारायण थे, उनका शरीर अस्सी धनुष ऊँचा था और चौरासी लाख वर्षकी उनकी आयु थी ॥89॥

विजय का शरीर शंख के समान सफेद था और त्रिपृष्ठ का शरीर इन्द्रनीलमणि के समान नील था । वे दोनों उद्दण्ड अश्वग्रीव को मारकर तीन खण्डों से शोभित पृथिवी के अधिपति हुए थे ॥90॥

वे दोनों ही सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यन्तर देवों के आधिपत्य को प्राप्त हुए थे ॥91॥

त्रिपृष्ठ के धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, अस्त्र, शक्ति और गदा ये सात रत्न थे जो कि देवों से सुरक्षित थे ॥92॥

बलभद्रके भी गदा, रत्नमाला, मुसल और हल, ये चार रत्न थे जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और तपके समान लक्ष्मी को

बढ़ानेवाले थे ॥93॥

त्रिपृष्ठ की स्वयंप्रभा को आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्र के चित्त को प्रिय लगने वाली आठ हजार स्त्रियाँ थीं ॥94॥

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहको धारण करनेवाला त्रिपृष्ठ नारायण उन स्त्रियों के साथ चिरकाल तक रमण कर सातवीं पृथिवी को प्राप्त हुआ - सप्तम नरक गया । इसी प्रकार अश्वग्रीव प्रतिनारायण भी सप्तम नरक गया ॥95॥

बलभद्रने भाई के दुःख से दुःखी होकर उसी समय सुवर्णकुम्भ नामक योगिराज के पास संयम धारण कर लिया और क्रम-क्रम से अनगार-केवली हुआ ॥96॥

देखो, त्रिपृष्ठ और विजय ने साथ ही साथ राज्य किया, और चिरकाल तक अनुपम सुख भोगे परन्तु नारायण - त्रिपृष्ठ समस्त दुःखों के महान् गृह स्वरूप सातवें नरक में पहुँचा और बलभद्र सुख के स्थानभूत त्रिलोक के अग्रभाग पर जाकर अधिष्ठित हुआ इसलिए प्रतिकूल रहनेवाले इस दुष्ट कर्म को धिक्कार हो । जब तक इस कर्म को नष्ट नहीं कर दिया जावे तब तक इस संसार में सुख का भागी कौन हो सकता है ? ॥97॥

त्रिपृष्ठ, पहले तो विश्वनन्दी नाम का राजा हुआ फिर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नाम का अर्धचक्री - नारायण हुआ और फिर पापों का संचय कर सातवें नरक गया ॥98॥

बलभद्र, पहले विशाखभूति नाम का राजा था फिर मुनि होकर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँसे चयकर विजय नाम का बलभद्र हुआ और फिर संसार को नष्ट कर परमात्मा - अवस्था को प्राप्त हुआ ॥99॥

प्रतिनारायण पहले विशाखनन्दी हुआ, फिर प्रताप रहित हो मरकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा, फिर अश्वग्रीव नाम का विद्याधर हुआ जो कि त्रिपृष्ठ नारायण का शत्रु होकर अधोगति-नरक गति को प्राप्त हुआ ॥100॥

भगवान् वासुपूज्य, त्रिपृष्ठ नारायण, अचल बलभद्र और तारक प्रतिनारायण चरित

पर्व - 58

कथा :

जो वासु अर्थात् इन्द्रके पूज्य हैं अथवा महाराज वसुपूज्य के पुत्र हैं और सज्जन लोग जिनकी पूजा करते हैं ऐसे वासुपूज्य भगवान् अपने ज्ञान से हम सबको पवित्र करें ॥1॥

पुष्करार्थ द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का एक देश है । उसके अतिशय प्रसिद्ध रत्नपुर नगर में पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था ॥2॥

उस राजा की गुणमयी कीर्ति सबके वचनों में रहती थी, पुण्यमयी मूर्ति सबके नेत्रों में रहती थी, और धर्ममयी वृत्ति सबके चित्तमें रहती थी ॥3॥

उसके वचनों में शांति थी, चित्तमें दया थी, शरीर में तेज था, बुद्धिमें नीति थी, दानमें धन था, जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति थी और शत्रुओंमें प्रताप था अर्थात् अपने प्रताप से शत्रुओं को नष्ट करता था ॥4॥

जिस प्रकार न्यायमार्ग से चलनेवाले मुनि में समितियाँ बढ़ती हैं उसी प्रकार न्यायमार्ग से चलनेवाले उस राजा के पृथिवी का पालन करते समय प्रजा खूब बढ़ रही थी ॥5॥

उसके गुण ही धन था तथा उसकी लक्ष्मी भी गुणों से प्रेम करनेवाली थी इसलिए वह उस लक्ष्मी के साथ बिना किसी प्रतिबन्ध के विशाल सुख प्राप्त करता रहता था ॥6॥

किसी एक दिन मनोहर नाम के पर्वत पर युगन्धर जिनराज विराजमान थे । पद्मोत्तर राजा ने वहाँ जाकर भक्तिपूर्वक अनेक स्तोत्रोंसे उनकी उपासना की ॥7॥

विनयपूर्वक धर्म सुना और अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन किया । अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से उसे संसार, शरीर और भोगोंसे तीन प्रकार का वैराग्य उत्पन्न हो गया । वैराग्य होने पर वह इस प्रकार पुनः चिन्तन करने लगा ॥8॥

कि यह लक्ष्मी माया रूप है, सुख दुःखरूप है, जीवन मरण पर्यन्त है, संयोग-वियोग होने तक है और यह दुष्ट शरीर रोगों से सहित है ॥9॥

अतः इन सबमें क्या प्रेम करना है ? अब तो मैं उपस्थित हुई इस काललब्धि का अवलम्बन लेकर अत्यन्त भयानक इस संसार रूपी पंच

परावर्तनों से बाहर निकलता हूँ ॥10॥

ऐसा विचार कर उसने राज्य का भार धनमित्र नामक पुत्र के लिए सौपा और स्वयं आत्म-शुद्धि के लिए अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ले ली ॥11॥

निर्मल बुद्धि के धारक पद्मोत्तर मुनि ने ग्यारह अंगोंका अध्ययन किया, दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं रूप सम्पत्तिके प्रभाव से तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध किया और अन्त में संन्यास धारण किया ॥12॥

जिससे महाशुक्र विमान में महाशुक्र नाम का इन्द्र हुआ । सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी और चार हाथ ऊँचा शरीर था ॥13॥

पद्मलेश्या थी, आठ माह में एक बार श्वास लेता था, सदा संतुष्ट-चित्त रहता था और सोलह हजार वर्ष बीतने पर एक बार मानसिक आहार लेता था ॥14॥

सदा शब्द से ही प्रवीचार करता था अर्थात् देवांगनाओं के मधुर शब्द सुनने मात्र से उसकी काम बाधा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथिवी तक उसके अवधिज्ञान का विषय था, और चतुर्थ पृथिवी तक ही उसकी विक्रिया बल और तेजकी अवधि थी ॥15॥

वहाँ देवियों के मधुर वचन, गीत, बाजे आदिसे वह सदा प्रसन्न रहता था । अन्त में काल द्रव्य की पर्यायों से प्रेरित होकर जब वह यहाँ आनेवाला हुआ ॥16॥

तब इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के चम्पा नगर में वासुपूज्य नाम का अंगदेश का राजा रहता था । वह इक्ष्वाकुवंशी तथा काश्यपगोत्री था । उसकी प्रिय स्त्री का नाम जयावती था, जयावतीने रत्नवृष्टि आदि सम्मान प्राप्त किया था । तदनन्तर उसने आषाढ़कृष्ण षष्ठी के दिन चौबीसवें शतभिषा नक्षत्र में सोलह स्वप्न देखे और पति से उनका फल जानकर बहुत ही सन्तोष प्राप्त किया । क्रम-क्रम से आठ माह बीत जानेपर जब नौवाँ फाल्गुन माह आया तब उसने कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन वारूण योग में सब प्राणियों का हित करनेवाले उस इन्द्ररूप पुत्र को सुख से उत्पन्न किया ॥17-20॥

औधर्म आदि देवों ने उसे सुमेरु पर्वत पर ले जाकर घड़ों द्वारा क्षीर-सागर से लाए हुए जल के द्वारा उसका अभिषेक किया, आभूषण पहनाए, वासुपूज्य नाम रक्खा, घर वापस लाए और अनेक महोत्सव कर अपने आपने निवास-स्थानों की ओर गमन किया ॥21-22॥

श्री श्रेयामनाथ तीर्थंकरके तीर्थसे जब चौवन सागर प्रमाण अन्तर बीत चुका था और अन्तिम पल्यके तृतीय भाग में जब धर्म की सन्ततिका विच्छेद हो गया था तब वासुपूज्य भगवान् का जन्म हुआ था । इनकी आयु भी इसी अन्तरमें सम्मिलित थी, वे सत्तर धनुष ऊँचे थे, बहत्तर लाख वर्षकी उनकी आयु थी और कुंकुमके समान उनके शरीर की कान्ति थी ॥23-24॥

जिस प्रकार मंडकोंके द्वारा आस्वादन करने योग्य अर्थात् सजल क्षेत्र अठारह प्रकार के इष्ट धान्योंके बीजोंकी वृद्धिका कारण होता है उसी प्रकार यह राजा गुणों की वृद्धिका कारण था ॥25॥

जिस प्रकार संसार का हित करनेवाले सब प्रकार के धान्य, सभा नाम की इच्छित वर्षाको पाकर श्रेष्ठ फल देनेवाले होते हैं उसी प्रकार समस्त गुण इस राजा की बुद्धि को पाकर श्रेष्ठ फल देनेवाले हो गये थे ॥26॥

सात दिन तक मेघों का बरसना त्रय कहलाता है, अस्सी दिन तक बरसना कणशीकर कहलाता है और बीच-बीच में आतप (धूप) प्रकट करनेवाले मेघों का साठ दिन तक बरसना समावृष्टि कहलाती है ॥27॥

गुण, अन्य हरिहरादिक में जाकर अप्रधान हो गये थे परन्तु इन वासुपूज्य भगवान् में वही गुण मुख्यता को प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि विशिष्ट आश्रय किसकी विशेषताको नहीं करते ? ॥28॥

चूँकि सब पदार्थ गुणमय हैं - गुणों से तन्मय हैं अतः गुण का नाश होनेसे गुणी पदार्थका भी नाश हो जावेगा यह विचार कर ही बुद्धिमान् वासुपूज्य भगवान् समस्त गुणोंका अच्छी तरह पालन करते थे ॥29॥

जब कुमारकाल के अठारह लाख वर्ष बीत गये तब संसार से विरक्त होकर बुद्धिमान् भगवान् अपने मन में पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का इस प्रकार विचार करने लगे ॥30॥

यह निर्बुद्धि प्राणी विषयों में आसक्त होकर अपनी आत्मा को अपने ही द्वारा बाँध लेता है तथा चार प्रकार के बन्ध से चार प्रकार का दुःख भोगता हुआ इस अनादि संसार-वन में भ्रमण कर रहा है । अब मैं कालादि लब्धियों से उत्तम गुणको प्रकट करनेवाले सन्मार्ग को प्राप्त हुआ हूँ अतः मुझे मोक्ष रूप सद्गति ही प्राप्त करना चाहिए ॥31-32॥

शरीर भला ही पवित्र हो, स्थायी हो, दर्शनीय (सुन्दर) हो, नीरोग हो, आयु चिरकाल तक बाधासे रहित हो, और सुख के साधन निरन्तर मिलते रहें परन्तु यह निश्चित है कि इन सबका वियोग अवश्यंभावी है, यह इन्द्रियजन्य सुख रागरूप है, रागी जीव कर्मों को बाँधता है, बन्ध संसार का कारण है, संसार चतुर्गति रूप है और चारों गतियाँ दुःख तथा सुख को देनेवाली हैं अतः मुझे इस संसार से क्या प्रयोजन है ? यह तो बुद्धिमानों के द्वारा छोड़ने योग्य ही है ॥33-35॥

इधर भगवान् ऐसा चिंतन कर रहे थे उधर लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति करना प्रारम्भ कर दी । देवों ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक किया, आभूषण पहिनाए तथा अनेक उत्सव किये ॥36॥

महाराज वासुपूज्य देवों के द्वारा उठाई गई पालकी पर सवार होकर मनोहरोद्यान नामक वन में गये और वहाँ दो दिनके उपवासका नियम लेकर फाल्गुनकृष्ण चतुर्दशी के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक नाम का चारित्र ग्रहण कर साथ ही साथ मनःपर्ययज्ञान के धारक भी हो गये ॥37-38॥

उनके साथ परमार्थ को जाननेवाले छह सौ छिहत्तर राजाओं ने भी बड़े हर्ष से दीक्षा प्राप्त की थी ॥39॥

दूसरे दिन उन्होंने आहार के लिए महानगर में प्रवेश किया । वहाँ सुवर्ण के समान कान्तिवाले सुन्दर नाम के राजा ने उन्हें आहार दिया ॥ 40॥

और पंचाश्वर्य प्राप्त किये । तदनन्तर छद्मस्थ अवस्थाका एक वर्ष बीत जानेपर किसी दिन वासुपूज्य स्वामी अपने दीक्षा वन में आये ॥ 41॥

वहाँ उन्होंने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघशुक्ल द्वितीया के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चार घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया । अब वे जिनराज हो गये ॥42॥

सौधर्म आदि इन्द्रों ने उसी समय आकर उनकी पूजा की । चूँकि भगवान् का वह दीक्षा-कल्याणक नाम-कर्म के उदय से हुआ था अतः उसका विस्तार के साथ वर्णन नहीं किया जा सकता ॥43॥

वे धर्म को आदि लेकर छयासठ गणधरों के समूह से वन्दित थे, बारह सौ पूर्वधारियों से घिरे रहते थे, उनतालीस हजार दो सौ शिक्षक उनके चरणों की स्तुति करते थे, पाँच हजार चार सौ अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, छह हजार केवलज्ञानी उनके साथ थे, दश हजार विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनि उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, छह हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके चरण - कमलों का आदर करते थे और चार हजार दो सौ वादी उनकी उत्तम प्रसिद्धिको बढ़ा रहे थे । इस प्रकार सब मिलकर बहत्तर हजार मुनियों से वे सुशोभित थे, एक लाख छह हजार सेना आदि आर्यिकाओं को धारण करते थे, दो लाख श्रावकों से सहित थे, चार लाख श्राविकाओं से युक्त थे, असंख्यात देव-देवियों से स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यचों से स्तुत थे ॥44-49॥

भगवान् ने इन सबके साथ समस्त आर्यक्षेत्रों में विहार कर उन्हें धर्मवृष्टि से संतृप्त किया और क्रम - क्रम से चम्पा नगरी में आकर एक हजार वर्ष तक रहे । जब आयु में एक मास शेष रह गया तब योग-निरोधकर रजत मालिका नामक नदी के किनारे की भूमि पर वर्तमान, मन्दरगिरि की शिखर को सुशोभित करनेवाले मनोहरोद्यान में पर्यकासन से स्थित हुए तथा भाद्रपदशुक्ल चतुर्दशी के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चौरानवे मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए ॥50-53॥

सेवा करने में अत्यन्त निपुण देवों ने निर्वाण-कल्याणक की पूजा के बाद बड़े उत्सव से भगवान् की वन्दना की ॥54॥

जब कि विजय की इच्छा रखनेवाले राजा को, अच्छी तरह प्रयोग में लाये हुए सन्धि-विग्रह आदि छह गुणों से ही सिद्धि (विजय) मिल जाती है तब मोक्षाभिलाषी भगवान् को चौरासी लाख गुणों से सिद्धि (मुक्ति) क्यों नहीं मिलती ? अवश्य मिलती ॥55॥

पदार्थ कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, कथंचित् सत्-असत् उभयरूप है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् सत् अवक्तव्य है, कथंचित् असत् अवक्तव्य है, और कथंचित् सदसदवक्तव्य है, इस प्रकार हे भगवन, आपने प्रत्येक पदार्थ के प्रति सप्तभंगीका निरूपण किया है और इसीलिए आप सत्यवादी रूप से प्रसिद्ध हैं फिर हे वासुपूज्य देव ! आप पूज्य क्यों न हों ? अवश्य हों ॥56॥

पृथिवीतलका कल्याण करनेवाली है परन्तु प्रतिबन्ध के रहते हुए कैसे हो सकती है ? इसीलिए आपने अन्तरंग-बहिरंग दोनों परिग्रहों के त्यागका उपदेश दिया है । हे वासुपूज्य जिनेन्द्र ! आप इसी परिग्रह-त्याग की वासनासे पूजित हैं ॥57॥

जो पहले जन्म में पद्मोत्तर राजा हुए, फिर महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र हुए, वह इन्द्र जिनके कि चरण, देवरूपी भ्रमरों के लिए कमल के समान

थे और फिर त्रिजगत्पूज्य जिनेन्द्र हुए, वह जिनेन्द्र, जिन्होंने कि बाल-ब्रह्मचारी रह कर ही राज्य किया था, वे बारहवें तीर्थकर तुम सबके लिए अतुल्य सुख प्रदान करें ॥58॥

अथानन्तर - श्री वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ में द्विपृष्ठ नाम का राजा हुआ जो तीन खण्डका स्वामी था और दूसरा अर्धचक्री (नारायण) था ॥59॥

यहाँ उसका तीन जन्म सम्बन्धी चरित्र कहता हूँ जिसके सुनने से भव्य - जीवों को संसार से बहुत भारी भय उत्पन्न होगा ॥60॥

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक कनकपुर नाम का नगर है । उसके राजाका नाम सुषेण था । सुषेणके एक गुणमंजरी नाम की नृत्यकारिणी थी ॥61॥

वह नृत्यकारिणी रूपवती थी, सौभाग्यवती थी, गीत नृत्य तथा बाजे बजाने आदि कलाओंमें प्रसिद्ध थी, और दूसरी सरस्वतीके समान जान पड़ती थी, इसीलिए सब राजा उसे चाहते थे ॥62॥

उसी भरतक्षेत्र में एक मलय नाम का मनोहर देश था, उसके विन्ध्य - पुर नगर में विन्ध्यशक्ति नाम का राजा रहता था ॥63॥

जिस प्रकार मधुरताके रससे अनुरक्त हुआ भ्रमर आम्रमंजरीके देखनेमें आसक्त होता है उसी प्रकार वह राजा गुणमंजरीके देखनेमें आसक्त था ॥64॥

उसने नृत्यकारिणीको प्राप्त करने की इच्छा से सुषेण राजाका सन्मान कर उसके पास रत्न आदि की भेंट लेकर चित्तको हरण करनेवाला एक दूत भेजा ॥65॥

उस दूतने भी शीघ्र जाकर सुषेण महाराज के दर्शन किये, यथायोग्य भेंट दी और निम्न प्रकार समाचार कहा ॥66॥

उसने कहा कि आपके घर में जो अत्यन्त प्रसिद्ध नर्तकीरूपी महारत्न है, उसे आपका भाई विन्ध्यशक्ति देखना चाहता है ॥67॥

हे राजन् ! इसी प्रयोजनको लेकर मैं यहाँ भेजा गया हूँ । आप भी उस नृत्यकारिणीको भेज दीजिए । मैं उसे वापिस लाकर आपको सौंप दूँगा ॥68॥

दूतके ऐसे वचन सुन कर सुषेण क्रोधसे अत्यन्त काँपने लगा और कहने लगा कि जा, जा, नहीं सुनने योग्य तथा अहंकार से भरे हुए इन वचनों से क्या लाभ है ? इस प्रकार सुषेण राजा ने खोटे शब्दों द्वारा दूतकी बहुत भारी भर्त्सना की । दूतने वापिस आकर यह सब समाचार राजा विन्ध्यशक्तिसे कह दिए ॥69-70॥

दूतके वचन सुनने से वह भी बहुत भारी क्रोधरूपी ग्रहसे आविष्ट हो गया - अत्यन्त कुपित हो गया और कहने लगा कि रहने दो, क्या दोष है ? तदनन्तर मंत्रियोंके साथ उसने कुछ गुप्त विचार किया ॥71॥

कूट युद्ध करने में चतुर, श्रेष्ठ योद्धाओं के आगे चलनेवाला और शूरवीर वह राजा अपनी सेना लेकर शीघ्र ही चला ॥72॥

विन्ध्यशक्तिने युद्धमें राजा सुषेण को पराजित किया और उसकी कीर्तिके समान नृत्यकारिणीको जबरदस्ती छीन लिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य के चले जाने पर कौन किसकी क्या वस्तु नहीं हर लेता ? ॥73॥

जिस प्रकार दाँतका टूट जाना हाथीकी महिमाको छिपा लेता है, और दाढ़ का टूट जाना सिंह की महिमाको तिरोहित कर देता है उसी प्रकार मान - भंग राजाकी महिमाको छिपा देता है ॥74॥

उस मान - भंगसे राजा सुषेण का दिल टूट गया अतः जिस प्रकार पीठ टूट जानेसे सर्प एक पद भी नहीं चल पाता है उसी प्रकार वह भी अपने स्थानसे एक पद भी नहीं चल सका ॥75॥

किसी एक दिन उसने विरक्त होकर धर्मके स्वरूपको जाननेवाले गृह - त्यागी सुव्रत जिनेन्द्रसे धर्मोपदेश सुना और निर्मल चित्तसे इस प्रकार विचार किया कि वह हमारे किसी पाप का ही उदय था जिससे विन्ध्यशक्तिने मुझे हरा दिया । ऐसा विचार कर उसने पाप - रूपी शत्रु को नष्ट करने की इच्छा की ॥76-77॥

और उन्हीं जिनेन्द्रसे दीक्षा ले ली । बहुत दिन तक तपरूपी अग्निके संतापसे उसका शरीर कृश हो गया था । अन्त में शत्रुपर क्रोध रखता हुआ वह निदान बन्ध सहित संन्यास धारण कर प्राणत स्वर्ग के अनुपम नामक विमान में बीस सागर की आयुवाला तथा आठ ऋद्धियों से हर्षित देव हुआ ॥78-79॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके महापुर नगर में श्रीमान् वायुरथ नाम का राजा रहता था । चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग कर उसने

सुव्रत नामक जिनेन्द्र के पास धर्म का उपदेश सुना, तत्त्वज्ञानी वह पहलेसे ही था अतः विरक्त होकर घनरथ नामक पुत्रको राज्य देकर तपके लिए चला गया ॥80- 81॥

समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर तथा उत्कृष्ट तप कर वह उसी प्राणत स्वर्गके अनुत्तर नामक विमान में इन्द्र हुआ ॥82॥

वहाँसे चय कर इसी भरतक्षेत्रकी द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्मके उनकी रानी सुभद्राके अचलस्तोक नाम का पुत्र हुआ ॥83॥

तथा सुषेण का जीव भी वहाँसे चय कर उसी ब्रह्म राजाकी दूसरी रानी उषाके द्विपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ । उस द्विपृष्ठका शरीर सत्तर धनुष ऊँचा था और आयु बहत्तर लाख वर्षकी थी । इस प्रकार इक्ष्वाकु वंशका अग्रेसर वह द्विपृष्ठ, राजाओं के उत्कृष्ट भोगों का उपभोग करता था ॥84- 85॥

कुन्द पुष्प तथा इन्द्रनीलमणिके समान कान्तिवाले वे बलभद्र और नारायण जब परस्पर में मिलते थे तब गंगा और यमुनाके प्रवाहके समान जान पड़ते थे ॥86॥

जिस प्रकार समान दो श्रावक गुरुके द्वारा दी हुई सरस्वतीका बिना विभाग किये ही उपभोग करते हैं उसी प्रकार पुण्य के स्वामी वे दोनों भाई बिना विभाग किये ही पृथिवी का उपभोग करते थे ॥87॥

समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले उन दोनों भाइयोंमें अभेद था - किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था सो ठीक ही है क्योंकि उसी अभेदकी प्रसंभा होती है जो कि लक्ष्मी और स्त्री का संयोग होने पर भी बना रहता है ॥88॥

वे दोनों स्थिर थे, बहुत ही ऊँचे थे, तथा सफेद और नील रंगके थे इसलिए ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो कैलास और अंजनगिरि ही एक जगह आ मिले हों ॥89॥

इधर राजा विन्ध्यशक्ति, घटी यन्त्रके समान चिरकाल तक संसार - सागरमें भ्रमण करता रहा । अन्त में जब थोड़ेसे पुण्य के साधन प्राप्त हुए तब इसी भरतक्षेत्रके भोगवर्धन नगर के राजा श्रीधरके सर्व प्रसिद्ध तारक नाम का पुत्र हुआ ॥90-91॥

अपने चक्रके आक्रमण सम्बन्धी भय से जिसने समस्त विद्याधर तथा भूमि - गोचरियोंको अपना दास बना लिया है ऐसा वह तारक आधे भरत क्षेत्र में रहनेवाली देदीप्यमान लक्ष्मी को धारण कर रहा था ॥92॥

अन्य जगहकी बात रहने दीजिए, मैं तो ऐसा मानता हूँ कि - उसके डरसे सूर्यकी प्रभा भी मन्द पड़ गई थी इसलिए लक्ष्मी कमलोंमें भी कभी प्रसन्न नहीं दिखती थी ॥93॥

जिस प्रकार उग्र राहु पूर्णिमा के चन्द्रमा का विरोधी होता है उसी प्रकार उग्र प्रकृति वाला तारक भी प्राचीन राजाओं के मार्गका विरोधी था ॥94॥

जिस प्रकार किसी क्रूर ग्रहके विकारसे मेघमाला के गर्भ गिर जाते हैं उसी प्रकार तारकका नाम लेते ही भय उत्पन्न होनेसे गर्भिणी स्त्रियों के गर्भ गिर जाते थे ॥95॥

हो ॥96॥

जिसने समस्त क्षत्रियोंको संतप्त कर रक्खा है और जो ग्रीष्म ऋतुके सूर्य के समान दुःखसे सहन करने योग्य है ऐसा वह तारक अन्त में पतनके सम्मुख हुआ सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे लोगोंकी लक्ष्मी क्या स्थिर रह सकती है ? ॥97॥

जो अखण्ड तीन खण्डोंका स्वामित्व धारण करता था ऐसा तारक जन्मान्तरसे आये हुए तीव्र विरोधसे प्रेरित होकर द्विपृष्ठनारायण और अचल बलभद्रकी वृद्धि को नहीं सह सका । वह सोचने लगा कि मैंने समस्त राजाओं और किसानोंको कर देनेवाला बना लिया है परन्तु ये दोनों भाई ब्राह्मणके समान कर नहीं देते । इतना ही नहीं, दुष्ट गर्वसे युक्त भी हैं । अपने घर में बढ़ते हुए दुष्ट साँपको कौन सहन करेगा ? ॥98-100॥

ये दोनों ही मेरे द्वारा नष्ट किये जाने योग्य शत्रुओं की श्रेणीमें स्थित हैं तथा अपने स्वभावसे दूषित भी हैं अतः जिस किसी तरह दोष लगाकर इन्हें अवश्य ही नष्ट करूँगा ॥101॥

इस प्रकार अपायका विचार कर उसने दुर्वचन कहनेवाला एक कलह - प्रेमी दूत भेजा और वह दुष्ट दूत भी सहसा उन दोनों भाइयोंके पास जाकर इस प्रकार कहने लगा कि शत्रुओं को मारनेवाले तारक महाराजने आज्ञा दी है कि तुम्हारे घर में जो एक बड़ा भारी प्रसिद्ध गन्धहस्ती है वह हमारे लिए शीघ्र ही भेजो अन्यथा तुम दोनोंके शिर खण्डित कर अपनी विजयी सेना के द्वारा उस हाथीको जबरदस्ती मँगा

लूँगा ॥102-104॥

इस प्रकार उस कलहकारी दूतके द्वारा कहे हुए असभ्य तथा सहन करने के अयोग्य वचन सुनकर पर्वत के समान अचल, उदार तथा धीरोदात्त प्रकृतिके धारक अचल बलभद्र इस तरह कहने लगे ॥105॥

कि हाथी क्या चीज है ? तारक महाराज ही अपनी सेना के साथ शीघ्र आवें । हम उनके लिए वह हाथी तथा अन्य वस्तुएँ देंगे जिससे कि वे स्वस्थता - कुशलता (पक्षमें स्वः स्वर्गे तिष्ठतीति स्वस्थः 'शर्परि खरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः' इति वार्तिकेन सकारस्प लोपः। स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्) मृत्यु को प्राप्त कर सकेंगे ॥106॥

जाकर हवाकी तरह उसकी कोपाग्निको प्रदीप्त कर दिया ॥107॥

यह सुनकर कोपाग्निसे प्रदीप्त हुआ तारक अग्निके समान प्रज्वलित हो गया और कहने लगा कि इस प्रकारवे दोनों भाई मेरी क्रोधाग्निके पतंगे बन रहे हैं ॥108॥

उसने मंत्रियोंके साथ बैठकर किसी कार्यका विचार नहीं किया और अपने आपको सर्वशक्ति-सम्पन्न मान कर मृत्यु प्राप्त करने के लिए प्रस्थान कर दिया ॥109॥

अन्याय करने के सम्मुख हुआ वह मूर्ख षडंग सेनासे समस्त पृथिवीको कँपाता हुआ उदय होने के सम्मुख हुए उन दोनों भाइयोंके पास जा पहुँचा । उसने सब मर्यादाका उलंघन कर दिया था इसलिए प्रलयकाल के समुद्रको भी जीत रहा था । इस प्रकार अतिशय दुष्ट तारकने शीघ्र ही जाकर अपनी सेनारूपी वेला (ज्वारभाटा) के द्वारा अचल और द्विपृष्ठके नगरको घेर लिया ॥110-111॥

जिस प्रकार कोई पर्वत जलकी लहरको अनायास ही रोक देता है उसी प्रकार पर्वत के समान स्थिर रहनेवाले अचलने अपनी सेना के द्वारा उसकी निःसार सेना को अनायास ही रोक दिया था ॥112॥

जिस प्रकार सिंहका बच्चा मत्त हाथी के ऊपर आक्रमण करता है उसी प्रकार उद्धत प्रकृतिवाले द्विपृष्ठने भी एक पराक्रमकी सहायतासे ही बलवान् शत्रु पर आक्रमण कर दिया ॥113॥

तारकने यद्यपि चिरकाल तक युद्ध किया पर तो भी वह द्विपृष्ठको पराजित करने में समर्थ नहीं हो सका । अन्त में उसने यमराज के चक्रके समान अपना चक्र घुमाकर फेंका ॥114॥

वह चक्र द्विपृष्ठकी प्रदक्षिणा देकर उस लक्ष्मीपतिकी दाहिनी भुजा पर स्थिर हो गया और उसने उसी चक्र से तारकको नरक भेज दिया ॥ 115॥

उसी समय द्विपृष्ठ, सात उत्तम रत्नोंका तथा तीन खण्ड पृथिवी का स्वामी हो गया और अचल बलभद्र बन गया तथा चार रत्न उसे प्राप्त हो गये ॥116॥

दोनों भाइयोंने शत्रु राजाओं को जीतकर दिग्विजय किया और श्री वासुपूज्य स्वामीको नमस्कार कर अपने नगर में प्रवेश किया ॥117॥

चिरकाल तक तीन खण्डका राज्य कर अनेक सुख भोगे । आयु के अन्त में मरकर द्विपृष्ठ सातवें नरक गया ॥118॥

संयम धारण कर लिया तथा मोक्ष - लक्ष्मी के साथ समागम प्राप्त किया ॥119॥

और साथ ही साथ उत्तम पद प्राप्त किया परन्तु उनमेंसे एक तो अंकुरके समान फल प्राप्त करने के लिए ऊपरकी ओर (मोक्ष) गया और दूसरा पापसे युक्त होने के कारण फलरहित जड़के समान नीचेकी ओर (नरक) गया ॥120॥

इस प्रकार द्विपृष्ठ तथा अचलका जो भी जीवन - वृत्त घटित हुआ है 'वह सब कर्मोदयसे ही घटित हुआ है ऐसा विचार कर विशाल बुद्धि के धारक आर्य पुरुषोंको पाप छोड़कर उसके विपरीत समस्त सुखों का भंडार जो पुण्य है वही करना चाहिए ॥121॥

राजा द्विपृष्ठ पहले इसी भरतक्षेत्रके कनकपुर नगर में सुषेण नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ, फिर तपश्चरण कर चौदहवें स्वर्ग में देव हुआ, तदनन्तर तीन खण्ड की रक्षा करनेवाला द्विपृष्ठ नाम का अर्धचक्री हुआ और इसके बाद परिग्रहके महान् भार से मरकर सातवें नरक गया ॥122॥

बलभद्र, पहले महापुर नगर में वायुरथ राजा हुआ, फिर उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त कर उसी प्राणत स्वर्गके अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुआ,

तदनन्तर द्वारावती नगरी में अचल नाम का बलभद्र हुआ और अन्त में निर्वाण प्राप्त कर त्रिभुवन के द्वारा पूज्य हुआ ॥123॥

प्रतिनारायण तारक, पहले प्रसिद्ध विन्ध्यनगर में विन्ध्यशक्ति नाम का राजा हुआ, फिर चिरकाल तक संसार - वन में भ्रमण करता रहा ।

कदाचित थोड़ा पुण्यका संचय कर श्री भोगवर्द्धन नगरका राजा तारक हुआ और अन्त में द्विपृष्ठनारायणका शत्रु होकर - उनके हाथसे मारा जाकर महापाप के उदय से अन्तिम पृथिवीमें नारकी उत्पन्न हुआ ॥124॥

भगवान विमलनाथ, धर्म बलभद्र, स्वयंभू नारायण और मधु प्रतिनारायण चरित

पर्व - 59

कथा :

जिनके दर्पणके समान निर्मल ज्ञानमें सारा संसार निर्मल-स्पष्ट दिखाई देता है और जिनके सब प्रकार के मलों का अभाव हो चुका है ऐसे श्री विमलनाथ स्वामी आज हमारे मलों का अभाव करें -हम सबको निर्मल बनावें ॥1॥

पश्चिम धातकीखण्ड द्वीप में मेरूपर्वत से पश्चिमकी ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नाम का एक देश है ॥2॥

उसके महानगर में वह पद्मसेन राजा राज्य करता था जो कि प्रजाके लिए कल्पवृक्ष के समान इच्छित फल देनेवाला था ॥3॥

स्वदेश तथा परदेशके विभागसे कहे हुए नीति-शास्त्र सम्बन्धी **अर्थ**का निश्चय करने में उस राजा का चरित्र उदाहरण रूप था ऐसा शास्त्रके जानकार कहा करते थे ॥4॥

शत्रुओं को नष्ट करनेवाले उस राजा के राज्य करते समय अपनी-अपनी वृत्तिके अनुसार धनका अर्जन तथा उपभोग करना ही प्रजा का व्यापार रह गया था ॥5॥

वहाँ की प्रजा कभी न्यायका उल्लंघन नहीं करती थी, राजा प्रजा का उल्लंघन नहीं करता था, धर्म, **अर्थ**, काम रूप त्रिवर्ग राजाका उल्लंघन नहीं करता था और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरे का उल्लंघन नहीं करता था ॥6॥

किसी एक दिन राजा पद्मसेनने प्रीतिकर वन में स्वर्गगुप्त केवली के समीप धर्म का स्वरूप जाना और उन्हींसे यह भी जाना कि हमारे सिर्फ दो आगामी भव बाकी रह गये हैं ॥7॥

उसी समय उसने ऐसा उत्सव मनाया मानो मैं तीर्थकर ही हो गया हूँ और पद्मनाभ पुत्र के लिए राज्य देकर उत्कृष्ट तप तपना शुरू कर दिया ॥8॥

ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर उनपर दृढ़ प्रत्यय किया, दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध किया, अन्य पुण्य प्रकृतियों का भी यथायोग्य संचय किया और अन्त समयमें चार आराधनाओंकी आराधना कर सहस्रार नामक स्वर्ग में सहस्रार नाम का इन्द्रपद प्राप्त किया । वहाँ अठारह सागर उसकी आयु थी, एक धनुष **अर्थ**ात् चार हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भाव की अपेक्षा जघन्य शुक्ललेश्या थी, वह नौ माह में एक बार श्वास लेता था, अठारह हजार वर्षमें एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था, देवांगनाओं का रूप देखकर ही उसकी काम-व्यथा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथिवी तक उसके अवधिज्ञान का विषय था, वहीं तक उसकी दीप्ति आदि फैल सकती थी, वह अणिमा महिमा आदि गुणों से समुन्नत था, स्नेह रूपी अमृतसे सम्पृक्त रहनेवाले उसके मुख-कमल को देखने से देवांगनाओं का चित्त संतुष्ट हो जाता था । इस प्रकार चिरकाल तक उसने सुखों का अनुभव किया ॥9-13॥

वह इन्द्र जब स्वर्ग लोकसे चयकर इस पृथिवी लोक पर आनेवाला हुआ तब इसी भरत क्षेत्रके काम्पिल्य नगर में भगवान् ऋषभदेवका वंशज कृतवर्मा नाम का राजा राज्य करता था । जय श्यामा उसकी प्रसिद्ध महादेवी थी । इन्द्रादि देवों ने रत्नवृष्टि आदिके द्वारा जयश्यामा की पूजा की ॥14-15॥

उसने ज्येष्ठकृष्ण दशमीके दिन रात्रिके पिछले भाग में उत्तराभाद्रपद नक्षत्रके रहते हुए सोलह स्वप्न देखे, उसी समय अपने मुख-कमलमें प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा, और राजा से इन सबका फल ज्ञात किया ॥16-17॥

उसी समय अपने आसनोंके कम्पनसे जिन्हें गर्भकल्याणक की सूचना हो गई है ऐसे देवों ने स्वर्ग से आकर प्रथम-गर्भकल्याणक किया ॥18॥

जिस प्रकार बढ़ते हुए धनसे किसी दरिद्र मनुष्य के हृदय में हर्षकी वृद्धि होने लगती है उसी प्रकार रानी जयश्यामाके बढ़ते हुए गर्भसे बन्धुजनों के हृदय में हर्षकी वृद्धि होने लगी थी ॥19॥

इस संसार में साधारणसे साधारण पुत्रका जन्म भी हर्षका कारण है तब जिसके जन्म के पूर्व ही इन्द्र लोग नम्रीभूत हो गये हों उस पुत्र के जन्मकी बात ही क्या कहना है ? ॥20॥

माघशुक्ल चतुर्थीके दिन (ख. ग. प्रतिके पाठकी अपेक्षा चतुर्दशी के दिन) अहिर्बुध्न योग में रानी जयश्यामा ने तीन ज्ञान के धारी, तीन जगत् के स्वामी तथा निर्मल प्रभा के धारक भगवान् को जन्म दिया ॥21॥

जन्माभिषेक के बाद सब देवों ने उनका विमलवाहन नाम रक्खा और सब ने स्तुति की ॥22॥

भगवान् वासुपूज्य के तीर्थ के बाद जब तीस सागर वर्ष बीत गए और पल्य के अन्तिम भाग में धर्म का विच्छेद हो गया तब विमलवाहन भगवान् का जन्म हुआ था । उनकी आयु इसी अन्तराल में शामिल थी ॥23॥

उनकी आयु साठ लाख वर्ष की थी, शरीर साठ धनुष ऊँचा था, कान्ति सुवर्ण के समान थी और वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो समस्त पुण्योंकी राशि ही हों ॥24॥

समस्त लोकको पवित्र करनेवाले, अतिशय पुण्यशाली भगवान् विमलवाहनकी आत्मा पन्द्रह लाख प्रमाण कुमारकाल बीतजानेपर राज्याभिषेकसे पवित्र हुई थी ॥25॥

लक्ष्मी उनकी सहचारिणी थी, कीर्ति जन्मान्तरसे साथ आई थी, सरस्वती साथ ही उत्पन्न हुई थी और वीर-लक्ष्मी ने उन्हें स्वयं स्वीकृत किया था ॥26॥

उस राजा में जो सत्यादिगुण बढ़ रहे थे वे बड़े-बड़े मुनियों के द्वारा भी प्रार्थनीय थे इससे बढ़कर उनकी और क्या स्तुति हो सकती थी ॥ 27॥

अत्यन्त विशुद्धताके कारण थोड़े ही दिन बाद जिन्हें मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त होनेवाला है ऐसे विमलवाहन भगवान् के अनन्त सुख का वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥28॥

जब उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब समस्त इन्द्रों ने उनके चरणकमलोंकी पूजा की थी इसीलिए वे देवाधिदेव कहलाये थे ॥29॥

लक्ष्मी के अधिपति भगवान् विमलवाहनका कुन्दपुष्प अथवा चन्द्रमा के समान निर्मल यश दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था और आकाशको काशके पुष्पके समान बना रहा था ॥30॥

इस प्रकार छह ऋतुओं में उत्पन्न हुए भोगों का उपभोग करते हुए भगवान् के तीस लाख वर्ष बीत गये ॥31॥

एक दिन उन्होंने, जिसमें समस्त दिशाएँ, भूमि, वृक्ष और पर्वत बर्फ से ढक रहे थे ऐसी हेमन्त ऋतु में बर्फ की शोभा को तत्क्षण में विलीन होता देखा ॥32॥

जिससे उन्हें उसी समय संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया, उसी समय उन्हें अपने पूर्व जन्म की सब बातें याद आ गई और मान भंगका विचार कर रोगीके समान अत्यन्त खेद-खिन्न हुए ॥33॥

वे सोचने लगे इन तीन सम्यग्ज्ञानों से क्या होने वाला है कि इन सभी की सीमा है-इन सभी का विषय क्षेत्र परिमित है और इस वीर्य से भी क्या लाभ है ? जो कि परमोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त नहीं है ॥34॥

चूंकि प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय है अतः मेरे चारित्र्य का लेश भी नहीं है और बहुत प्रकार का मोह तथा परिग्रह विद्यमान है अतः चारों प्रकार बन्ध भी विद्यमान है ॥35॥

प्रमाद भी अभी मौजूद है और निर्जरा भी बहुत थोड़ी है । अहो ! मोह की बड़ी महिमा है कि अब भी मैं इन्हीं संसार की वस्तुओं में मत्त हो रहा हूँ ॥36॥

मेरा साहस तो देखो कि मैं अब तक सर्प के शरीर अथवा फणा के समान भयंकर इन भोगों को भोग रहा हूँ । यह अब भोगोपभोग मुझे पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुए है ॥37॥

सो जब तक इस पुण्य-कर्म का अन्त नहीं कर देता जब तक मुझे अनन्त सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस प्रकार निर्मल ज्ञान उत्पन्न होने से विमलवाहन भगवान् ने अपने हृदय में विचार किया ॥38॥

उसी समय आये हुए सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने उनका स्तवन किया तथा अन्य देवों ने दीक्षा-कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया ॥39॥

तदनन्तर देवों के द्वारा घिरे हुए भगवान् देवदत्ता नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये और वहाँ दो दिनके उपवास का नियम लेकर दीक्षित हो गये ॥40॥

उन्होंने यह दीक्षा माघशुक्ल चतुर्थीके दिन सायंकाल के समय छब्बीसवें-उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ ली थी और उसी दिन वे चौथा-मनःपर्ययज्ञान प्राप्तकर चार ज्ञान के धारी हो गये थे ॥41॥

दूसरे दिन उन्होंने भोजन के लिए नन्दनपुर नगर में प्रवेश किया । वहाँ सुवर्ण के समान कान्तिवाले राजा कनकप्रभु ने उन्हें आहार दान देकर पंचाश्वर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदान से क्या नहीं प्राप्त होता ? इस प्रकार सामायिक चारित्र धारण करके शुद्ध हृदय से तपस्या करने लगे ॥42-43॥

जब तीन वर्ष बीत गये तब वे महामुनि एक दिन अपने दीक्षावन में दो दिन के उपवासका नियम ले कर जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हुए ॥44॥

फलस्वरूप माघशुक्ल षष्ठी के दिन सायंकाल के समय अतिशय श्रेष्ठ भगवान् विमलवाहन ने अपने दीक्षा-ग्रहण के नक्षत्र में घातिया कर्मों का विनाश कर कवलज्ञान प्राप्त कर लिया । अब वे चर-अचर समस्त पदार्थों को शीघ्र ही जानने लगे । उसी समय अपने मुकुट तथा मुख झुकाये हुए देव लोग आये । उन्होंने देवदुन्दुभि आदि आठ मुख्य प्रातिहार्यों का वैभव प्रकट लिया । उसे पाकर वे गन्ध-कुटी के मध्य में स्थित सिंहासन पर विराजमान हुए ॥45-47॥

वे भगवान् मन्दर आदि पचपन गणधरों से सदा घिरे रहते थे, ग्यारह सौ पूज्य पूर्वधारियों से सहित थे, छत्तीस हजार पाँच सौ तीस शिक्षकों से युक्त थे, चार हजार आठसौ तीनों प्रकार के अवधि-ज्ञानियों से वन्दित थे, पाँच हजार पाँच सौ केवलज्ञानी उनके साथ थे, नौ हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक उनके संघकी वृद्धि करते थे, पाँच हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी उनके समवसरण में थे, वे तीन हजार छह सौ वादियों से सहित थे, इस प्रकार अड़सठ हजार मुनि उनकी स्तुति करते थे । पद्माको आदि लेकर एक लाख तीन हजार आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, वे लाख श्रावकों से सहित थे तथा चार लाख श्राविकाओं से पूजित थे । इनके सिवाय दो गणों अर्थात् असंख्यात देव देवियों और संख्यात तिर्यचों से वे सहित थे । इस तरह धर्मक्षेत्रोंमें उन्होंने निरन्तर विहार किया तथा संसाररूपी आतपसे मुरझाये हुए भव्यरूपी धान्यों को संतुष्ट किया । अन्त में वे सम्मोदशिखर पर जा विराजमान हुए और वहाँपर उन्होंने एक माह का योग निरोध किया ॥ 48-54॥

आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया तथा आषाढ कृष्ण अष्टमी के दिन उत्तराषाढ नक्षत्र में प्रातःकाल के समय शीघ्र ही समुद्घात कर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान धारण किया तत्काल ही सयोग अवस्थासे अयोग अवस्था धारण कर उस प्रकार स्वास्थ्य (स्वरूपावस्थान) अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जिस प्रकार कि कोई रोगी स्वास्थ्य (नीरोग अवस्था) प्राप्त करता है ॥55-56॥

उसी समय से ले कर लोक में आषाढ कृष्ण अष्टमी, कालाष्टमीके नाम से विद्वानोंके द्वारा पूज्य हो गई और इसी निमित्तको पाकर मिथ्या-दृष्टि लोग भी उसकी पूजा करने लगे ॥57॥

उसी समय सौधर्म आदि देवों ने आकर उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया और मुक्त हुए उन भगवान् की अर्थपूर्ण सिद्ध स्तुतियों से वन्दना की ॥58॥

'हिंसा आदि पापों से परिणत हुआ यह जीव निरन्तर मल का संचय करता रहता है और पुण्य के द्वारा भी इसी संसार में निरन्तर विद्यमान रहता है अतः कहीं अपने गुणों को विशुद्ध बनाना चाहिये -पाप पुण्य के विकल्प से रहित बनाना चाहिये । आज मैं निर्मल बुद्धि-शुद्धोपयोग की भावना को प्राप्त कर अपने उन गुणों को शुद्धि प्राप्त कराता हूँ-पुण्य-पाप के विकल्प से दूर हटाकर शुद्ध बनाता हूँ' ऐसा विचार कर ही जो शुक्ल-ध्यान को प्राप्त हुए थे ऐसे विमलवाहन भगवान् अपने सार्थक नाम को धारण करते थे ॥59॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही जिसके दो दाँत हैं, गुण ही जिसका पवित्र शरीर है, चार आराधनाएँ ही जिसके चरण हैं और विशाल धर्म ही जिसकी सँड है ऐसे सन्मार्गरूपी हाथीको पाप-रूपी शत्रु के प्रति प्रेरित कर भगवान् विमलवाहन ने पाप-रूपी शत्रु को नष्ट किया था इसलिए ही लोग उन्हें विमलवाहन (विमल वाहनं यानं यस्य सः विमलवाहनः-निर्मल सवारीसे युक्त) कहते थे ॥60॥

जो पहले शत्रुओं की सेना को नष्ट करने वाले पद्मसेन राजा हुए, फिर देव-समूह से पूजनीय तथा स्पष्ट सुखोंसे युक्त अष्टम स्वर्ग के इन्द्र हुए, और तदनन्तर विशाल निर्मलकीर्ति के धारक एवं समस्त पृथिवीके स्वामी विमलवाहन जिनेन्द्र हुए, वे तेरहवें विमलनाथ तीर्थकर अच्छी तरह आप लोगों के संतोष के लिए हैं ॥61॥

हे भव्य जीवो ! जिन्होंने अपनी अत्यन्त निश्चल समाधि के द्वारा समस्त दोषों को नष्ट कर दिया है, जिनका ज्ञान कम, इन्द्रिय तथा मन से रहित है, जिनका शरीर अत्यन्त निर्मल है और देव भी जिनकी कीर्तिका गान करते हैं ऐसे विमलवाहन भगवान् को निर्मलता प्राप्त करने के लिए तुम सब बड़ी भक्ति से नमस्कार करो ॥62॥

अथानन्तर श्री विमलनाथ भगवान् के तीर्थ में धर्म और स्वयंभू नाम के बलभद्र तथा नारायण हुए इसलिए अब उनका चरित कहा जाता है ॥63॥

इसी भरतक्षेत्रके पश्चिम विदेह क्षेत्र में एक मित्रनन्दी नाम का राजा था, उसने अपने उपभोग करने योग्य समस्त पृथिवी अपने आधीन कर ली थी ॥64॥

प्रजा इसके साथ प्रेम रखती थी इसलिए यह प्रजाकी वृद्धिके लिए था और यह प्रजाकी रक्षा करता था अतः प्रजा इसकी वृद्धिके लिए थी- राजा और प्रजा दोनों ही सदा एक दूसरेकी वृद्धि करते थे सो ठीक ही है क्योंकि परोपकारके भीतर स्वोपकार भी निहित रहता है ॥65॥ उस बुद्धिमान् के लिए शत्रुकी सेना भी स्वसेना के समान थी और जिसकी बुद्धि चक्रके समान फिरा करती थी-चंचल रहती थी उसके लिए कमका उल्लंघन होनेसे स्वसेना भी शत्रु सेना के समान हो जाती थी ॥66॥

यह राजा समस्त प्रजाको संतुष्ट करके ही स्वयं संतुष्ट होता था सो ठीक ही है क्योंकि परोपकार करनेवाले मनुष्यों के दूसरोंको संतुष्ट करनेसे ही अपना संतोष होता है ॥67॥

किसी एक दिन वह बुद्धिमान् सुव्रत नामक जिनेन्द्र के पास पहुँचा और वहाँ धर्म का स्वरूप सुनकर अपने शरीर तथा भोगादिको नश्वर मानने लगा ॥68॥

वह सोचने लगा-बड़े दुःखकी बात है कि ये संसार के प्राणी परिग्रहके समागमसे ही पापोंका संचय करते हुए दुःखी हो रहे हैं फिर भी निष्परिग्रह अवस्था को प्राप्त नहीं होते-सब परिग्रह छोड़कर दिगम्बर नहीं होते । बड़ा आश्चर्य है कि ये सामनेकी बातको भी नहीं जानते ॥ 69॥

इस प्रकार संसार से विरक्त होकर उसने उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया और अन्त समयमें संन्यास धारण कर अनुत्तर विमान में तैत्तिश सागर की आयुवाला अहमिन्द्र हुआ ॥70॥

वहाँ से चयकर द्वारावती नगरी के राजा भद्रकी रानी सुभद्रा के शुभ स्वप्न देखनेके बाद धर्म नाम का पुत्र हुआ ॥71॥

इसी भारतवर्ष के कुणाल देशमें एक श्रावस्ती नाम का नगर था वहाँ पर भोगोंमें तल्लीन हुआ सुकेतु नाम का राजा रहता था ॥72॥

अशुभ कर्म के उदय से वह बहुत कामी था, तथा द्यूत व्यसनमें आसक्त था । यद्यपि हित चाहनेवाले मन्त्रियों और कुटुम्बियोंने उसे बहुत बार रोका पर उसके बदले उनसे प्रेरित हुए के समान वह बार-बार जुआ खेलता रहा और कर्मोदयके विपरीत होनेसे वह अपना देश-धन-बल और रानी सब कुछ हार गया ॥73-74॥

क्रोध से उत्पन्न होनेवाले मद्य, मांस और शिकार इन तीन व्यसनोमें तथा काम से उत्पन्न होने वाले जुआ, चोरी, वेश्या और पर-स्त्रीसेवन इन चार व्यसनो में जुआ खेलनेके समान कोई नीच व्यसन नहीं है ऐसा सब शास्त्रकार कहते हैं ॥75॥

जो सत्य महागुणोंमें कहा गया है जुआ खेलनेमें आसक्त मनुष्य उसे सबसे पहले हारता है । पीछे लज्जा, अभिमान, कुल, सुख, सज्जनता, बन्धुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, यश, माता-पिता, बाल-बच्चे, स्त्रियाँ और स्वयं अपने आपको हारता है-नष्ट करता है । जुआ खेलनेवाला मनुष्य अत्यासक्ति के कारण न स्नान करता है, न भोजन करता है, न सोता है और इन आवश्यक कार्योंका रोध हो जानेसे रोगी हो जाता है । जुआ खेलनेसे धन प्राप्त होता हो सो बात नहीं, वह व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, अनेक दोष उत्पन्न करनेवाले पाप का संचय करता है, निन्द्य कार्य कर बैठता है, सबका शत्रु बन जाता है, दूसरे लोगोंसे याचना करने लगता है और धन के लिए नहीं करने योग्य कर्मोंमें प्रवृत्ति करने लगता है । बन्धुजन उसे छोड़ देते हैं-घरसे निकाल देते हैं, एवं राजाकी ओरसे उसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं । इस प्रकार जुआके दोषोंका नामोल्लेख करने के लिए भी कौन समर्थ है ? ॥76-80॥

राजा सुकेतु ही इसका सबसे अच्छा दृष्टान्त है क्योंकि वह इस जुआके द्वारा अपना राज्य भी हरा बैठा था । इसलिए जो मनुष्य अपने दोनों लोकों का भला चाहता है वह जुआको दूरसे ही छोड़ देवे ॥81॥

इस प्रकार सुकेतु जब अपना सर्वस्व हार चुका तब शोक से व्याकुल होकर सुदर्शनाचार्य के चरण-मूलमें गया । वहाँ उसने जिनागमका

उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली । यद्यपि उसने दीक्षा धारण कर ली थी तथापि उसका आशय निर्मल नहीं हुआ था । उसने शोक से अन्न छोड़ दिया और अत्यन्त कठिन तपश्चरण किया ॥82- 83॥

इस प्रकार दीर्घकाल तक तपश्चरण कर उसने आयु के अन्तिम समयमें निदान किया कि इस तपके द्वारा मेरे कला, गुण, चतुरता और बल प्रकट हो ॥84॥

ऐसा निदान कर वह संन्यास-मरण से मरा तथा लान्तव स्वर्ग में देव हुआ । वहाँ चौदह सागर तक स्वर्गीय सुख का उपभोग करता रहा ॥ 85॥

वहाँ से चयकर इसी भरतक्षेत्रकी द्वारावती नगरी के भद्र राजाकी पृथिवी रानी के स्वयंभू नाम का पुत्र हुआ । यह पुत्र राजा को सब पुत्रों में अधिक प्यारा था ॥86॥

धर्म बलभद्र था और स्वयंभू नारायण था । दोनों में ही परस्पर अधिक प्रीति थी और दोनों ही चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते रहे ॥87॥

सुकेतुकी पर्यायमें जिस बलवान् राजा नेजुआमें सुकेतुका राज्य छीन लिया था वह मर कर रत्नपुर नगर में राजा मधु हुआ था ॥88॥

पूर्व जन्म के वैरका संस्कार होनेसे राजा स्वयंभू मधुका नाम सुनने मात्रसे कुपित हो जाता था ॥89॥

किसी समय किसी राजा ने राजा मधु के लिए भेंट भेजी थी, राजा स्वयंभूने दोनों के दूतोंको मारकर तिरस्कारके साथ वह भेंट स्वयं छीन ली ॥90॥

आचार्य कहते हैं कि प्रेम और द्वेष से उत्पन्न हुआ संस्कार स्थिर हो जाता है इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को कहीं किसी के साथ द्वेष नहीं करना चाहिए ॥91॥

जब मधुने नारद से दूतके मरनेका समाचार सुना तो वह क्रोधित होकर युद्ध करने के लिए बलभद्र और नारायणके सन्मुख चला ॥92॥

इधर युद्ध करने में चतुर तथा कुपित बलभद्र और नारायण युद्ध के लिए पहले से ही तैयार बैठे थे अतः यमराज और अग्नि की समानता रखनेवाले वे दोनों राजा मधु को मारने के लिए सहसा उसके पास पहुँचे ॥93॥

दोनों शूर की सेनाओं में परस्पर का संहार करनेवाला तथा कायर मनुष्यों को भय उत्पन्न करनेवाला चिरकाल तक धमासान युद्ध हुआ ॥ 94॥

अन्त में राजा मधु ने कुपित होकर स्वयंभू को मारनेके उद्देश्य से शीघ्र ही जलता हुआ चक्र घुमा कर फेंका ॥95॥

वह चक्र शीघ्रता के साथ जाकर तथा प्रदक्षिणा देकर स्वयंभू की दाहिनी भुजा के अग्रभाग पर ठहर गया । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाश से उतरकर सूर्य का बिम्ब ही नीचे आ गया हो ॥96॥

उसी समय राजा स्वयंभू ने कुपित होकर वह चक्र शत्रु के प्रति फेंका सो ठीक ही है क्योंकि पुण्योदय से क्या नहीं होता ? ॥97॥

उसी समय स्वयंभू नारायण, आधे भरत-क्षेत्र का राज्य प्राप्त कर इन्द्रके समान अपने बड़े भाईके साथ उसका निर्विघ्न उपयोग करने लगा ॥98॥

राजा मधु ने प्राण छोड़कर बहुत भारी पाप का संचय किया जिससे नरकायु बाँध कर तमस्तम नामक सातवें नरक में गया ॥99॥

और नारायण स्वयंभू भी वैरके संस्कारसे उसे खोजने के लिए ही मानो अपने पापोदयके कारण पीछे से उसी नरक में प्रविष्ट हुआ ॥100॥

स्वयंभू के वियोग से उत्पन्न हुए शोक के द्वारा जिसका हृदय संतप्त हो रहा था ऐसा बलभद्र धर्म भी संसार से विरक्त होकर भगवान् विमलनाथ के समीप पहुँचा ॥101॥

और सामायिक संयम धारण कर संयमियों में अग्रेसर हो गया । उसने निराकुल होकर इतना कठिन तप किया मानों शरीर के साथ विद्वेष ही ठान रक्खा हो ॥102॥

उस समय बलभद्र ठीक सूर्य के समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्गुण अर्थात् गोलाकार होता है उसी प्रकार बलभद्र भी सद्गुण सदाचार से युक्त थे, जिस प्रकार सूर्य तेज की मूर्ति स्वरूप होता है उसी प्रकार बलभद्र भी तेज की मूर्ति स्वरूप थे, जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार बलभद्र ने मुनि होते ही अन्तरंगके अन्धकार को नष्ट कर दिया था, जिस प्रकार सूर्य निर्मल होता है उसी प्रकार बलभद्र भी कर्मफलके नष्ट हो जानेसे निर्मल थे और जिस प्रकार सूर्य बिना किसी रूकावट के ऊपर

आकाश में गमन करता है उसी प्रकार बलभद्र भी बिना किसी रूकावटके ऊपर तीन लोक के अग्रभाग पर जा विराजमान हुए ॥103॥
देखो, मोह वश किये हुए जुआसे मूर्ख स्वयंभू और राजा मधु पाप का संचय कर दुखदायी नरक में पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि धर्म, अर्थ, काम इन तीन का यदि कुमार्ग वृत्ति से सेवन किया जावे तो यह तीनों ही दुःख-परम्परा के कारण हो जाते हैं ॥104॥

कोई उत्तम तपश्चरण करे और क्रोधादि के वशीभूत हो निदान-बंध कर ले तो वह निदान-बन्ध अतिशय पाप से उत्पन्न दुःख का कारण हो जाता है। देखो, सुकेतु यद्यपि मोक्षमार्ग का पथिक था तो भी निदान-बन्ध के कारण कुगति को प्राप्त हुआ। अतः दुष्ट मनुष्य की संगति के समान निदान-बन्ध दूर से ही छोड़ने योग्य है ॥105॥

धर्म, पहले अपनी कान्ति से सूर्य को जीतनेवाला मित्रनन्दी नाम का राजा हुआ, फिर महाव्रत और समितियों से संपन्न होकर अनुत्तर-विमान का स्वामी हुआ, वहाँ से छायाकार पृथ्वी पर द्वारावती नगरी में सुधर्म बलभद्र हुआ और तदनन्तर आत्म-स्वरूप को सिद्धकर मोक्ष-पद को प्राप्त हुआ ॥106॥

स्वयंभू पहले कुणाल देश का मूर्ख राजा सुकेतु हुआ, फिर तपश्चरण कर सुख के स्थान-स्वरूप लान्तव स्वर्ग में देव हुआ, फिर राजा मधु को नष्ट करने के लिए यमराज के समान चक्रपति (नारायण) हुआ और तदनन्तर पापोदयसे नीचे सातवीं पृथिवी में गया ॥107॥

अथानन्तर-इन्हीं विमलवाहन तीर्थकर के तीर्थ में अत्यन्त उन्नत, स्थिर और देवों के द्वारा सेवनीय मेरू और मन्दर नाम के दो गणधर हुए थे इसलिए अब उनका चरित कहते हैं ॥108॥

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर एक गन्धमालिनी नाम का देश है उसके बीतशोक नगर में वैजयन्त राजा राज्य करता था। उसकी सर्वश्री नाम की रानी थी और उन दोनों के संजयन्त तथा जयन्त नाम के दो पुत्र थे, ये दोनों ही पुत्र राजपुत्रों के गुणों से सहित थे ॥109-110॥

किसी दूसरे दिन अशोक वन में स्वयंभू नामक तीर्थकर पधारे। उनके समीप जाकर दोनों भाइयों ने धर्म का स्वरूप सुना और दोनों ही भोगों से विरक्त हो गये ॥111॥

उन्होंने संजयन्त के पुत्र वैजयन्त के लिए जो कि अतिशय बुद्धिमान था राज्य देकर पिता के साथ संयम धारण कर लिया ॥112॥

संयम के सातवें स्थान अर्थात् बाहरवें गुणस्थान में समस्त कषायों का क्षय कर जिन्होंने समरसपना (पूर्ण वीतरागता) प्राप्त कर ली है ऐसे वैजयन्त मुनिराज जिनराज अवस्था को प्राप्त हुए ॥113॥

पिता के केवलज्ञान का उत्सव मनाने के लिए सब देव आये तथा धरणेन्द्र भी आया। धरणेन्द्र के सौन्दर्य और बहुत भारी ऐश्वर्यको देखकर जयन्त मुनि ने धरणेन्द्र होने का निदान किया। उस निदानके प्रवाह से वह दुर्बुद्धि मर कर धरणेन्द्र हुआ सो ठीक ही है क्योंकि बहुत मूल्य से अल्प मूल्य की वस्तु खरीदना दुर्लभ नहीं है ॥114-115॥

किसी एक दिन संजयन्त मुनि, मनोहर नगर के समीपवर्ती भीम नामक वन में प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे ॥116॥

वहीं से विद्युदंष्ट्र नाम का विद्याधर निकला। वह पूर्वभव के वैर के स्मरण से उत्पन्न हुए तीव्र वेग से युक्त क्रोध से आगे बढ़ने के लिए असमर्थ हो गया। वह दुष्ट उन मुनिराज को उठा लाया तथा भरतक्षेत्र के इला नामक पर्वत की दक्षिण दिशा की ओर जहाँ कुसुमवती, हरवती, सुवर्णवती, गजवती और चण्डवेगा इन नदियों का समागम होता है वहाँ उन नदियों के अगाध जल में छोड़ आया ॥117-119॥
इतना ही नहीं उसने भोले-भाले विद्याधरोंको निम्नांकित शब्द कहकर उत्तेजित भी किया। वह कहने लगा कि 'यह कोई बड़े शरीर का धारक, मनुष्यों को खानेवाला पापी राक्षस है, यह हम सबको अलग-अलग देखकर खाने के लिए चुपचाप खड़ा है, इस निर्दय, सर्वभक्षी तथा सर्वद्वेषी दैत्यको हम लोग मिलकर बाण तथा भाले आदि शस्त्रों के समूह से मारें, देखो, यह भूखा है, भूख से इसका पेट झुका जा रहा है, यदि इसकी उपेक्षा की गई तो यह देखते-देखते आज रात्रिको ही स्त्रियों-बच्चों तथा पशुओं को खा जावेगा। इसलिए आप लोग मेरे वचनों पर विश्वास करो, मैं वृथा ही झूठ क्यों बोलूँगा? क्या इसके साथ मेरा द्वेष है?' इस प्रकार उसके द्वारा प्रेरित हुए सब विद्याधर मृत्यु से डर गये और जिस प्रकार किसी विश्वासपात्र मनुष्य को ठग लोग मारने लगते हैं उस प्रकार शस्त्रों का समूह लेकर साधु-शिरोमणि एवं समाधिमें स्थित उन संजयन्त मुनिराजको वे विद्याधर सब ओरसे मारने लगे ॥120-125॥

जयन्त मुनिराज भी इस समस्त उपसर्ग को सह गये, उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ था, वे पर्वत के समान निश्चल खड़े रहे और शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से निर्मल ज्ञान के धारी मोक्ष को प्राप्त हो गये ॥126॥

उसी समय चारों निकाय के इन्द्र उनकी भक्ति से प्रेरित होकर निर्वाण-कल्याणकारी पूजा करने के लिए आये ॥127॥

सब देवों के साथ पूर्वोक्त धरणेन्द्र भी आया था, अपने बड़े भाईका शरीर देखने से उसे अवधिज्ञान प्रकट हो गया जिससे वह बड़ा कुपित हुआ । उसने उन समस्त विद्याधरोंको नागपाशसे बाँध लिया ॥128॥

उन विद्याधरोंमें कोई-कोई बुद्धिमान् भी थे अतः उन्होंने प्रार्थना की कि हे देव ! इस कार्य में हम लोगोंका दोष नहीं है, पापी विद्युदंष्ट्र इन्हें विदेह क्षेत्र से उठा लाया और विद्याधरोंको इसने बतलाया कि इनसे तुम सबको बहुत भय है । ऐसा कहकर इसी दुष्टने हम सब लोगोंसे व्यर्थ ही यह महान् उपसर्ग करवाया है ॥129-130॥

विद्याधरोंकी प्रार्थना सुनकर धरणेन्द्र ने उन पर क्रोध छोड़ दिया और परिवार-सहित विद्युदंष्ट्र को समुद्र में गिराने का उद्यम किया ॥131॥

उसी समय वहाँ एक आदित्याभ नाम का देव आया था जो कि विद्युदंष्ट्र और धरणेन्द्र दोनोंके ही गुण-लाभ का उस प्रकार हेतु हुआ था जिस प्रकार कि किसी धातु और प्रत्ययके बीच में आया हुआ अनुबन्ध गुण-व्याकरण में प्रसिद्ध संज्ञा विशेष का हेतु होता हो ॥132॥

वह कहने लगा कि हे नागराज ! यद्यपि इस विद्युदंष्ट्र ने अपराध किया है तथापि मेरे अनुरोध से इसपर क्षमा कीजिये । आप जैसे महापुरुषों का इस क्षुद्र पशु पर क्रोध कैसा ? ॥133॥

बहुत पहले, आदिनाथ तीर्थंकर के समय आपके वंश में उत्पन्न हुए धरणेन्द्र के द्वारा विद्याधरोंकी विद्याएं देकर इसके वंशकी रचना की गई थी । लोक में यह बात बालक तक जानते हैं कि अन्य वृक्ष की बात जाने दो, विष-वृक्ष को भी स्वयं बढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं है, फिर हे नागराज ! आप क्या यह बात नहीं जानते ? ॥134-135॥

जब आदित्याभ यह कह चुका तब नागराज-धरणेन्द्रने उत्तर दिया कि 'इस दुष्टने मेरे तपस्वी बड़े भाईको अकारण ही मारा है अतः यह मेरे द्वारा अवश्य ही मारा जावेगा । इस विषय में आप मेरी इच्छा को रोक नहीं सकते ।' यह सुनकर बुद्धिमान् देवने कहा कि-'आप वृथा ही वैर धारण कर रहे हैं । इस संसार में क्या यही तुम्हारा भाई है ? और संसार में भ्रमण करता हुआ विद्युदंष्ट्र क्या आज तक तुम्हारा भाई नहीं हुआ । इस संसार में कौन बन्धु है ? और कौन बन्धु नहीं है ? बन्धुता और अबन्धुता दोनों ही परिवर्तनशील हैं-आज जो बन्धु हैं वह कल अबन्धु हो सकता है और आज जो अबन्धु है वह कल बन्धु हो सकता है अतः इस विषय में विद्वानोंको आग्रह क्यों होना चाहिये' ? ॥

136-139॥

पूर्व जन्म में अपराध करने पर तुम्हारे भाई संजयन्त ने विद्युदंष्ट्र के जीव को दण्ड दिया था, आज इसे पूर्वजन्म की वह बात याद आ गई अतः इसने मुनि का अपकार किया है ॥140॥

इस पापीने तुम्हारे बड़े भाई को पिछले चार जन्मोंमें भी महावैरके संस्कार से परलोक भेजा है-मारा है ॥141॥

इसके द्वारा किये हुए उपसर्ग को सहकर ही ये मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ॥142॥

हे भद्र ! इस कल्याण करनेवाले मोक्ष के कारणको जाने दीजिये । आप यह कहिये कि पूर्व जन्म में किये हुए अपकारका क्या प्रतिकार हो सकता है ? ॥143॥

यह सुनकर धरणेन्द्र ने उत्सुक होकर आदित्याभ से कहा कि वह कथा किस प्रकार है ? आप मुझसे कहिये ॥144॥

वह देव कहने लगा कि हे बुद्धिमान् ! इस विद्युदंष्ट्र पर वैर छोड़कर शुद्ध हृदयसे सुनो, मैं वह सब कथा विस्तारसे साफ-साफ कहता हूँ ॥

145॥

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सिंहपुर नगरका स्वामी राजा सिंहसेन था उसकी रामदत्ता नाम की पतिव्रता रानी थी ॥146॥

उस राजाका श्रीभूति नाम का मंत्री था, वह श्रुति स्मृति तथा पुराण आदि शास्त्रोंका जानने वाला था, उत्तम ब्राह्मण था और अपने आपको सत्यघोष कहता था ॥147॥

उसी देशके पद्मखण्डपुर नगर में एक सुदत्त नाम का सेठ रहता था । उसकी सुमित्रा स्त्रीसे मद्रमित्र नाम का पुत्र हुआ उसने पुण्योदय से रत्नद्वीप में जाकर स्वयं बहुत से बड़े-बड़े रत्न कमाये । उन्हें लेकर वह सिंहपुर नगर आया और वहीं स्थायी रूप से रहने की इच्छा करने लगा । उसने श्रीभूति मंत्री से मिलकर सब बात कही और उसकी संमतिसे अपने रत्न उसके हाथमें रखकर अपने भाई-बन्धुओं को लेने के लिए वह पद्मखण्डपुर नगर में गया । जब वहाँ से वापिस आया तब उसने सत्यघोषसे अपने रत्न माँगे परन्तु रत्नों के मोह में पड़कर सत्यघोष बदल गया और कहने लगा कि मैं कुछ नहीं जानता ॥148-151॥

तब भद्रमित्र ने सब नगर में रोना-चिल्लाना शुरू किया और सत्यघोष ने भी अपनी प्रामाणिकता बनाये रखने के लिए लोगों को यह बतलाया कि पापी चोरों ने इसका सब धन लूट लिया है। इसी शोक से इसका चित्त व्याकुल हो गया है और उसी दशा में वह यह सब बक रहा है ॥152-153॥

सदाचार से दूर रहने वाले उस सत्यघोष ने अपनी शुद्धता प्रकट करने के लिए राजा के समक्ष धर्माधिकारियों न्यायाधीशों के द्वारा बतलाई हुई शपथ खाई ॥154॥

भद्रमित्र यद्यपि अनाथ रह गया था तो भी उसने अपना रोना नहीं छोड़ा, वह बार-बार यही कहता था कि इस पापी विजाति ब्राह्मण ने मुझे ठग लिया ॥155॥

हे सत्यघोष ! मैंने तुझे चारों तरह से शुद्ध जाति आदि गुणों से युक्त मंत्रियों के उत्तम गुणों से विभूषित तथा सचमुच ही सत्यघोष समझा था इसलिए ही मैंने अपना रत्नों का पिटारा तेरे हाथ में सौंप दिया था, अब इस तरह तू क्यों बदल रहा है, इस बदलने का कारण क्या है और यह सब करना क्या ठीक है ? महाराज सिंहसेन के प्रसाद से तेरे क्या नहीं हैं ? छत्र और सिंहासन को छोड़कर यह सारा राज्य तेरा ही तो है ॥156-158॥

फिर धर्म, यश और बड़प्पन को व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तू स्मृतियों में कहे हुये न्यासापहार के दोष को नहीं जानता ? ॥159॥ तूने जो निरन्तर अर्थ-शास्त्र का अध्ययन किया है क्या उसका यही फल है कि तू सदा दूसरों को ठगता है और दूसरों के द्वारा स्वयं नहीं ठगाया जाता ॥160॥

अथवा तू पर शब्द का अर्थ विपरीत समझता है-पर का अर्थ दूसरा न लेकर शत्रु लेता है सो हे सत्यघोष ! क्या सचमुच ही मैं तुम्हारा शत्रु हूँ ? ॥161॥

अपने भावी जीवन को नष्ट मत कर, मेरा रत्नों का पिटारा मुझे दे दे ॥162-163॥

मेरे रत्न ऐसे हैं, इतने बड़े हैं और उनकी यह जाति है, यह सब तू जानता है फिर क्यों इस तरह उन्हें छिपाता है ? ॥164॥

इस प्रकार वह भद्रमित्र प्रति दिन प्रातःकाल के समय किसी वृक्षपर चढ़कर बार-बार रोता था सो ठीक ही हैं क्योंकि धीर वीर मनुष्य कठिन कार्य में भी उद्यम नहीं छोड़ते ॥165॥

बार-बार उसका एक-सा रोना सुनकर एक दिन रानी के मन में विचार आया कि चूँकि 'यह सदा एक ही सदृश शब्द कहता है अतः यह उन्मत्त नहीं है, ऐसा समझ पड़ता है' ॥166॥

रानीने यह विचार राजा से प्रकट किये और मंत्री के साथ जुआ खेलकर उसका यज्ञोपवीत तथा उसके नाम की अंगूठी जीत ली ॥167॥ तदनन्तर उसके निपुणमती नाम की धाय के हाथमें दोनों चीजें देकर उसे एकान्तमें समझाया कि 'तू श्रीभूति मंत्री के घर जा और उनकी स्त्रीसे कह कि मुझे मंत्रीने भेजा है, तू मेरे लिए भद्रमित्र का पिटारा दे दे। पहिचानके लिए उन्होंने यह दोनों चीजें भेजी हैं इस प्रकार झूठ-मूठ ही कह कर तू वह रत्नों का पिटारा ले आ', इस तरह सिखला कर रानी रामदत्ता ने धाय भेजकर मंत्री के घर से वह रत्नों का पिटारा बुला लिया ॥168-169॥

राजा ने उस पिटारे में और दूसरे रत्न डालकर भद्रमित्र को स्वयं एकान्त में बुलाया और कहा कि क्या यह पिटारा तुम्हारा है ? ॥170॥

राजा के ऐसा कहने पर भद्रमित्र ने कहा कि हे देव ! यह पिटारा तो हमारा ही है परन्तु इसमें कुछ दूसरे अमूल्य रत्न मिला दिये गये हैं ॥171॥

इनमें ये रत्न मेरे नहीं हैं और ये मेरे हैं इस तरह कहकर सच बोलने वाले, शुद्धबुद्धि के धारक तथा सज्जनों में श्रेष्ठ भद्रमित्र ने अपने ही रत्न ले लिये ॥172॥

यह जानकर राजा बहुत ही संतुष्ट हुए और उन्होंने भद्रमित्र के लिए सत्यघोष नाम के साथ अत्यन्त उत्कृष्ट सेठका पद दे दिया-भद्रमित्र को राजश्रेष्ठी बना दिया और उसका 'सत्यघोष' उपनाम रख दिया ॥173॥

सत्यघोष मंत्री झूठ बोलनेवाला है, पापी है तथा इसने बहुत पाप किये हैं इसलिए इसे दण्डित किया जावे इस प्रकार धर्माधिकारियों के कहे अनुसार राजा ने उसे दण्ड दिये जानेकी अनुमति दे दी ॥174॥

इस प्रकार राजा के द्वारा प्रेरित हुए नगर के रक्षकोंने श्रीभूति मंत्री के लिए तीन दण्ड निश्चित किये -1 इसका सब धन छीन लिया जावे, 2

वज्रमुष्टि पहलवानके मजबूत तीस घूंसे दिये जावें, और 3 कांसे की तीन थालोंमें रखा हुआ नया गोबर खिलाया जावे, इस प्रकार नगर के रक्षकोंने उसे तीन प्रकार के दण्डों से दण्डित किया ॥175-176॥

श्रीभूति राजा के साथ बैर बांधकर आर्त-ध्यान से दूषित होता हुआ मरा और मरकर राजा के भण्डार में अगन्धन नाम का साँप हुआ ॥ 177॥

अन्याय से दूसरे का धन ले लेना चोरी कहलाती है वह दो प्रकार की मानी गई है एक जो स्वभाव से ही होती और दूसरी किसी निमित्त से ॥ 178॥

जो चोरी स्वभाव से होती है वह जन्म से ही लोभ कषाय के निकृष्ट स्पर्द्धकों का उदय होनेसे होती है । जिस मनुष्य के नैसर्गिक चोरी करने की आदत होती है उसके घर में करोड़ों का धन रहने पर भी तथा करोड़ोंका आय-व्यय होने पर भी चोरी के बिना उसे संतोष नहीं होता । जिस प्रकार सबको क्षुधा आदि की बाधा होती है उसी प्रकार उसके चोरी का भाव होता है ॥179-180॥

जब घर में स्त्री-पुत्र आदि का खर्च अधिक होता है और घर में धन का अभाव होता है तब दूसरी तरह की चोरी करनी पड़ती है वह भी लोभ कषाय अथवा किसी अन्य दुष्कर्म के उद्यसे होती है ॥181॥

यह जीव दोनों प्रकार की चोरियों से अशुभ आयु का बन्ध करता है और अपनी दुष्ट चेष्टा से दुर्गति में चिरकाल तक भारी दुःख सहन करता है ॥182॥

चोरी करनेवाले की सज्जनता नष्ट हो जाती है, धनादि के विषय में उसका विश्वास चला जाता है, और मित्र तथा भाई-बन्धुओं के साथ उसे प्राणान्त विपत्ति उठानी पड़ती है ॥183॥

जिस प्रकार दावानल से छुई हुई लता शीघ्र ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार गुणरूपी फूलों से गुंथी हुई कीर्तिरूपी ताजी माला चोरीसे शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥184॥

यह सब जानते हुए भी मूर्ख सत्यघोष (श्रीभूति) ने पहली नैसर्गिक चोरी के द्वारा यह साहस कर डाला ॥185॥

इस चोरी के कारण ही वह मंत्री-पद से शीघ्र ही भ्रष्ट कर दिया गया, उसे पूर्वोक्त कठिन तीन दण्ड भोगने पड़े तथा बड़े भारी पाप से बँधी हुई दुर्गतिमें जाना पड़ा ॥186॥

इस प्रकार अपने हृदय में मंत्री के दुराचार का चिन्तन करते हुए राजा सिंहसेन ने उसका मंत्रीपद धर्मिल नामक ब्राह्मण के लिए दे दिया ॥ 187॥

इस प्रकार समय व्यतीत होने पर किसी दिन असना नाम के वन में विमलकान्तार नाम के पर्वत पर विराजमान वरधर्म नाम के मुनिराज के पास जाकर सेठ भद्रमित्र ने धर्म का स्वरूप सुना और अपना बहुत-सा धन दान में दे दिया । उसकी माता सुमित्रा इसके इतने दान को न सह सकी अतः अत्यन्त क्रुद्ध हुई और अन्त में मरकर उसी असना नाम के वन में व्याघ्री हुई ॥188-190॥

एक दिन भद्रमित्र अपनी इच्छा से असना वन में गया था उसे देखकर दुष्ट अभिप्राय वाली व्याघ्री ने उस अपने ही पुत्रको खा लिया सो ठीक ही है क्योंकि क्रोध से जीवों का क्या भक्ष्य नहीं हो जाता ? ॥191॥

वह भद्रमित्र मरकर स्नेह के कारण रानी रामदत्ता के सिंहचन्द्र नाम का पुत्र हुआ तथा पूर्णचन्द्र उसका छोटा भाई हुआ । ये दोनों ही पुत्र राजा को अत्यन्त प्रिय थे ॥192॥

किसी समय राजा सिंहसेन अपना भाण्डागार देखनेके लिए गये थे वहाँ सत्यघोषके जीव अगन्धन नामक सर्पने उसे स्वकीय क्रोधसे डस लिया ॥193॥

उस गरूड़दण्ड नामक गरूड़ी ने मन्त्र से सब सर्पों को बुलाकर कहा कि तुम लोगों में जो निर्दोष हो वह अग्नि में प्रवेश कर बाहर निकले और शुद्धता प्राप्त करे ॥194॥

अन्यथा प्रवृत्ति करने पर मैं दण्डित करूँगा । इस प्रकार कहने पर अगन्धन को छोड़ बाकी सब सर्प उस अग्नि से क्लेश के बिना ही इस तरह बाहर निकल आये जिस तरह कि मानो किसी जलाशयसे ही बाहर निकल आये हों ॥195॥

परन्तु अगन्धन क्रोध और मान से भरा था अतः उस अग्नि में जल गया और मरकर कालक नामक वन में लोभ सहित चमरी जाति का मृग हुआ ॥196॥

राजा सिंहसेन भी आयु के अन्त में मरकर सल्लकी वन में अशनिघोष नाम का मदोन्मत्त हाथी हुआ ॥197॥

इधर सिंहचन्द्र राजा हुआ और पूर्णचन्द्र युवराज बना । राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते हुए उन दोनोंका बहुत भारी समय जब एक क्षणके समान बीत गया ॥198॥

तब एक दिन राजा सिंहसेनकी मृत्युके समाचार सुनने से दान्तमति और हिरण्यमति नाम की संयम धारण करनेवाली आर्यिकाएँ रानी रामदत्ताके पास आई ॥199॥

रामदत्ताने भी उन दोनोंके समीप संयम धारण कर लिया । इस शोक से राजा सिंहचन्द्र पूर्णचन्द्र नामक मुनिराज के पास गया और धर्मोपदेश सुनकर यह विचार करने लगा कि यदि यह मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है तो फिर इसमें उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है, इसमें उत्पत्ति होनेकी आशा रखना भ्रम मात्र है अथवा नाना योनियोंमें भटकना ही बाकी रह जाता है ॥200-201॥

इस प्रकार विचार कर उसने छोटे भाई पूर्णचन्द्रको राज्यमें नियुक्त किया और स्वयं दीक्षा धारण कर ली । वह प्रमादको छोड़कर विशुद्ध होता हुआ संयमके द्वितीय गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्त विरत नामक सप्तम गुणस्थानको प्राप्त हुआ ॥202॥

तपके प्रभाव से उसे आकाशचारण ऋद्धि तथा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ । किसी समय रामदत्ता सिंहचन्द्र मुनि को देखकर बहुत ही हर्षित हुई ॥203॥

उसने मनोहरवन नाम के उद्यानमें विधि पूर्वक उनकी वन्दना की, तपके निर्विघ्न होनेका समाचार पूछा और अन्त में पुत्रस्नेह के कारण यह पूछा कि पूर्णचन्द्र धर्म को छोड़कर भोगों का आदर कर रहा है वह कभी धर्म को प्राप्त होगा या नहीं ? ॥204-205॥

सिंहचन्द्र मुनि ने उत्तर दिया कि खेद मत करो, वह अवश्य ही तुमसे अथवा तुम्हारे धर्म को ग्रहण करेगा । मैं इसके अन्य भव से सम्बन्ध रखने वाली कथा कहता हूँ सो सुनो ॥206॥

कोशल देशके वृद्ध नामक ग्राममें एक मृगायण नाम का ब्राह्मण रहता था । उसकी स्त्री का नाम मधुरा था ॥207॥

उन दोनोंके वारूणी नाम की पुत्री थी, मृगायण आयु के अन्त में मरकर साकेत नगर के राजा दिव्यबल और उसकी रानी सुमतिके हिरण्यवती नाम की पुत्री हुई । वह सती हिरण्यवती पोदनपुर नगर के राजा पूर्णचन्द्रके लिए दी गई-व्याही गई ॥208-209॥

मृगायण ब्राह्मण स्त्री मधुरा भी मर कर उन दोनों-पूर्णचन्द्र और हिरण्यवतीके तू रामदत्ता नाम की पुत्री हुई थी, सेठ भद्रमित्र तेरे स्नेहसे सिंहचन्द्र नाम का पुत्र हुआ था और वारूणीका जीव यह पूर्णचन्द्र हुआ है । तुम्हारे पिताने भद्रबाहुसे दीक्षा ली थी और उनसे मैंने दीक्षा ली थी इस प्रकार तुम्हारे पिता हम दोनोंके गुरु हुए हैं ॥210-211॥

तेरी माताने दान्तमतीके समीप दीक्षा धारण की थी और फिर हिरण्यवती मातासे तूने दीक्षा धारण की है । आज तुझे सब प्रकारकी शान्ति है । राजा सिंहसेनको साँपने डस लिया था जिससे मर कर वह वन में अशनिघोष नाम का हाथी हुआ । एक दिन वह मदोन्मत्त हाथी वन में घूम रहा था, वहीं मैं था, मुझे देखकर वह मारनेकी इच्छा से दौड़ा, मुझे आकाशचारण ऋद्धि थी अतः मैंने आकाश में स्थित हो पूर्वभवका सम्बन्ध बताकर उसे समझाया । वह ठीक-ठीक सब समझ गया जिससे उस भव्यने शीघ्र ही संयमासंयम-देशव्रत ग्रहण कर लिया ॥112-214॥

अब उसका चित्त बिल्कुल शान्त है, वह सदा विरक्त रहता हुआ शरीर आदि की निःसारताका विचार करता रहता है, लगातार एक-एक माहके उपवास कर सूखे पत्तोंकी पारणा करता है ॥215॥

इस प्रकार महान् धैर्यका धारक वह हाथी चिरकाल तक कठिन तपश्चरण कर अत्यन्त दुर्बल हो गया । एक दिन वह यूपकेसरिणी नाम की नदी के किनारे पानी पीनेके लिए घुसा । उसे देखकर श्रीभूति-सत्यघोषके जीवने जो मरकर चमरी मृग और बादमें कुर्कुट सर्प हुआ था उस हाथी के मस्तक पर चढ़कर उसे डस लिया । उसके विषसे हाथी मर गया, वह चूँकि समाधिमरणसे मरा था अतः सहस्रार स्वर्गके रविप्रिय नामक विमान में श्रीधर नाम का देव हुआ । धर्मिल ब्राह्मण, जिसे कि राजा सिंहसेनने श्रीभूतिके बाद अपना मन्त्री बनाया था आयु के अन्त में मर कर उसी वन में वानर हुआ था । उस वानरकी पूर्वोक्त हाथी के साथ मित्रता थी अतः उसने उस कुर्कुट सर्पको मार डाला जिससे वह मरकर तीसरे नरकमें उत्पन्न हुआ । इधर श्रृगालवान् नाम के व्याधने उस हाथी के दोनों दाँत तोड़े और अत्यन्त चमकीले मोती निकाले तथा धनमित्र नामक सेठके लिए दिये । राजश्रेष्ठी धनमित्रने वे दोनों दाँत तथा मोती राजा पूर्णचन्द्रके लिए दिये ॥216-

221॥

राजा पूर्णचन्द्रने उन दोनों दाँतोंसे अपने पलंगके चार पाये बनवाये और मोतियों से हार बनवाकर पहिना ॥222॥

वह मनुष्य सर्वथा बुद्धिरहित नहीं है अथवा संसार के अभावका विचार नहीं करता है तो संसार के ऐसे स्वभावका विचार करनेवाला कौन मनुष्य है जो विषय-भोगोंमें प्रीति बढ़ाने वाला हो ? ॥223॥

इस तरह सिंहचन्द्र मुनिके समझाने पर रामदत्ताको बोध हुआ, वह पुत्र के स्नेहसे राजा पूर्णचन्द्र के पास गई और उसे सब बातें कहकर समझाया ॥224॥

पूर्णचन्द्रने धर्मके तत्वको समझा और चिरकाल तक राज्य का पालन किया । रामदत्ताने पुत्र के स्नेहसे निदान किया और आयु के अन्त में मरकर महाशुक्र स्वर्गके भास्कर नामक विमान में देव पद प्राप्त किया । तथा पूर्णचन्द्र भी उसी स्वर्गके वैडूर्य नामक विमान में वैडूर्य नाम का देव हुआ ॥225-226॥

निर्मल ज्ञान के धारक सिंहचन्द्र मुनिराज भी अच्छी तरह समाधिमरण कर नौवें ग्रैवेयक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र हुए ॥227॥

रामदत्ताका जीव महाशुक्र स्वर्गसे चयकर इसी दक्षिण श्रेणीके धरणीतिलक नामक नगर के स्वामी अतिवेग विद्याधरके श्रीधरा नाम की पुत्री हुआ । वहाँ इसकी माताका नाम सुलक्षणा था । यह श्रीधरा पुत्री अलकानगरी के अधिपति दर्शक नामक विद्याधरके राजा के लिए दी गई । पूर्णचन्द्रका जीव जो कि महाशुक्र स्वर्गके वैडूर्य विमान में वैडूर्य नामक देव हुआ था वहाँसे चयकर इसी श्रीधराके यशोधरा नाम की वह कन्या हुई जो कि पुष्करपुर नगर के राजा सूर्यावर्तके लिए दी गई थी ॥228-230॥

राजा सिंहसेन अथवा अशनिघोष हाथीका जीव श्रीधर देव उन दोनों-सूर्यावर्त और यशोधराके रश्मिवेग नाम का पुत्र हुआ । किसी समय मुनिचन्द्र नामक मुनि से धर्मोपदेश सुनकर राजा सूर्यावर्त तप के लिए चले गये और श्रीधरा तथा यशोधराने गुणवती आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली ॥231-232॥

किसी समय रश्मिवेग सिद्धकूट पर विद्यमान जिन-मन्दिरके दर्शनके लिए गया था, वहाँ उसने चारण ऋद्धि धारी हरिचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन कर उनसे धर्म का स्वरूप सुना, उन्हींसे सम्यग्दर्शन और संयम प्राप्त कर मुनि हो गया तथा शीघ्र ही आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त कर ली ॥233-234॥

किसी दिन रश्मिवेग मुनि कांचन नाम की गुहामें विराजमान थे, उन्हें देखकर श्रीधरा और यशोधरा आर्यिकाएँ उन्हें नमस्कार कर वहीं बैठ गई ॥235॥

इधर सत्यघोषका जीव जो तीसरे नरकमें नारकी हुआ था वहाँसे निकल कर पाप के उदय से चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा और अन्त में उसी वन में महान् अजगर हुआ ॥236॥

उन श्रीधरा तथा यशोधरा आर्यिकाओं को और सूर्य के समान दीप्तिवाले उन रश्मिवेग मुनिराजको देखकर उस अजगरने क्रोधसे एक ही साथ निगल लिया । समाधिमरण कर आर्यिकाएँ तो कापिष्ठ नामक स्वर्गके रूचक नामक विमान में उत्पन्न हुई और मुनि उसी स्वर्गके अर्कप्रभा नामक विमान में देव उत्पन्न हुए । वह अजगर भी पाप के उदय से पंकप्रभा नामक चतुर्थ पृथिवीमें पहुँचा ॥237-238॥

सिंहचन्द्रका जीव स्वर्गसे चय कर इसी जम्बूद्वीप के चक्रपुर नगर के स्वामी राजा अपराजित और उनकी सुन्दरी नाम की रानी के चक्रायुध नाम का पुत्र हुआ ॥239॥

उसके कुछ समय बाद रश्मिवेगका जीव भी स्वर्गसे च्युत होकर इसी अपराजित राजाकी दूसरी रानी चित्रमाला के वज्रायुध नाम का पुत्र हुआ ॥240॥

श्रीधरा आर्यिका स्वर्गसे चयकर धरणीतिलक नगर के स्वामी अतिवेग राजाकी प्रियकारिणी रानी के समस्त लक्षणों से सम्पूर्ण रत्नमाला नाम की अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्री हुई । यह रत्न माला आगे चलकर वज्रायुधके आनन्द को बढ़ानेवाली उसकी प्राणप्रिया हुई ॥241-242॥ और यशोधरा आर्यिका स्वर्गसे चयकर इन दोनों-वज्रायुध और रत्नमाला के रत्नयुध नाम का पुत्र हुई । इस प्रकारसे सब यहाँ प्रतिदिन अपने-अपने पूर्व पुण्यका फल प्राप्त करने लगे ॥243॥

किसी दिन धीरबुद्धि के धारक राजा अपराजितने पिहितास्त्रव मुनि से धर्मोपदेश सुना और चक्रायुध के लिए राज्य देकर दीक्षा ले ली ॥ 244॥

कुछ समय बाद राजा चक्रायुध भी वज्रायुध पर राज्य का भार रखकर अपने पिता के पास दीक्षित हो गये और उसी जन्ममें मोक्ष चले गये

॥245॥

अब वज्रायुधने भी राज्य का भार रत्नायुधके लिए सौंपकर चक्रायुधके समीप दीक्षा ले ली सो ठीक ही है क्योंकि सत्त्वगुणके धारक क्या नहीं करते ? ॥246॥

रत्नायुध भोगोंमें आसक्त था । अतः धर्म की कथा छोड़कर बड़ी लम्पटताके साथ वह चिरकाल तक राज्यके सुख भोगता रहा । किसी समय मनोरम नाम के महोद्यानमें वज्रदन्त महामुनि लोकानुयोग का वर्णन कर रहे थे उसे सुनकर बड़ी बुद्धिवाले, राजा के मेघविजय नामक हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया जिससे उसने योग धारण कर लिया, मांसादि ग्रास लेना छोड़ दिया और संसार की दुःखमय स्थितिका वह विचार करने लगा ॥247-249॥

यह देख राजा घबड़ा गया, उसने बड़े-बड़े मन्त्रवादियों तथा वैद्योंको बुलाकर स्वयं ही बड़े आदरसे पूछा कि इस हाथीको क्या विकार हो गया है ? ॥250॥

उन्होंने जब वात, पित्त और कफसे उत्पन्न हुआ कोई विकार नहीं देखा तब अनुमानसे विचारकर कहा कि धर्मश्रवण करनेसे इसे जाति-स्मरण हो गया है इसलिए उन्होंने किसी अच्छे बर्तनमें बना तथा घृत आदिसे मिला हुआ शुद्ध आहार उसके सामने रक्खा जिसे उस गजराजने खा लिया ॥251-252॥

यह देख राजा बहुत ही आश्चर्य को प्राप्त हुआ । वह वज्रदन्त नामक अवधिज्ञानी मुनिराज के पास गया और यह सब समाचार कहकर उनसे इसका कारण पूछने लगा ॥253॥

मुनिराजने कहा कि हे राजन् ! मैं सब कारण कहता हूँ तू सुन । इसी भरतक्षेत्र में छत्रपुर नगर का राजा प्रीतिभद्र था । उसकी सुन्दरी नाम की रानीसे प्रीतिकर नामक पुत्र हुआ । राजा के एक चित्रमति नामक मंत्री था और लक्ष्मी के समान उसकी कमला नाम की स्त्री थी ॥ 254-255॥

कमलाके विचित्रमति नाम का पुत्र हुआ । एक दिन राजा और मंत्री दोनोंके पुत्रों ने धर्मरूचि नाम के मुनिराजसे धर्म का उपदेश सुना और उसी समय भोगों से उदास होकर दोनोंने तप धारण कर लिया । महामुनि प्रीतिकरको क्षीरास्त्रव नाम की ऋद्धि उत्पन्न हो गई ॥256-257॥

एक दिन वे दोनों मुनि क्रम-क्रम से विहार करते हुए साकेतपुर पहुंचे । उनमेंसे मंत्रीपुत्र विचित्रमति मुनि उपवासका नियम लेकर नगर के बाहर रह गये और राजपुत्र प्रीतिकरमुनि चर्याके लिए नगर में गये । अपने घर के समीप जाता हुआ देख बुद्धिषेणा नाम की वेश्याने उन्हें बड़ी विनय से प्रणाम किया ॥258-259॥

और मेरा कुल दान देने योग्य नहीं है इसलिए बड़े शोक से अपनी निन्दा करती हुई उसने मुनिराजसे पूछा कि हे मुने, आप यह बताइये कि प्राणियोंको उत्तम कुल तथा रूप आदिकी प्राप्ति किस कारणसे होती है ? 'मद्य मांसादिके त्यागसे होती है' ऐसा कहकर वह मुनि नगरसे वापिस लौट आये । दूसरे विचित्रमति मुनि ने उनसे आदरके साथ पूछा कि आप नगर में बहुत देर तक कैसे ठहरे ? ॥260-262॥

उन्होंने भी वेश्याके साथ जो बात हुई थी वह ज्यों की त्यों निवेदन कर दी । दूसरे दिन मंत्रीपुत्र विचित्रमति मुनि ने भिक्षाके समय वेश्याके घर में प्रवेश किया । वेश्या मुनि को देखकर एकदम उठी तथा नमस्कार कर पहलेके समान बड़े आदरसे धर्म का स्वरूप पूछने लगी ॥ 263-264॥

परन्तु दुर्बुद्धि विचित्रमति मुनि ने उसके साथ काम और राग सम्बन्धी कथाएँ ही कीं । वेश्या उनके अभिप्रायको समझ गई अतः उसने उनका तिरस्कार किया ॥265॥

विचित्रमति वेश्यासे अपमान पाकर बहुत ही क्रुद्ध हुआ । उसने मुनिपना छोड़ दिया और राजाकी नौकरी कर ली । वहाँ पाकशास्त्रके कहे अनुसार बनाये हुए मांससे उसने उस नगर के स्वामी राजा गन्धमित्रको अपने वश कर लिया और इस उपायसे उस बुद्धिषेणाको अपने आधीन कर लिया । अन्त में वह विचित्रमति मरकर तुम्हारा हाथी हुआ है ॥266-267॥

मैं यहाँ त्रिलोकप्रज्ञाप्तिका पाठ कर रहा था उसे सुनकर इसे जाति-स्मरण हुआ है । अब यह संसार से विरक्त है, निकट भव्य है और इसीलिए इसने अशुद्ध भोजन करना छोड़ दिया है ॥268॥

भोगके लिए धर्म का त्याग करना ऐसा है जैसा कि काचके लिए महामणिका और दासीके लिए माताका त्याग करना है इसलिए

विद्वानोंको चाहिये कि वे भोगों का सदा त्याग करें ॥269॥

यह सुनकर राजा कहने लगा कि 'धर्म को दूषित करनेवाले कामको धिक्कार है, वास्तवमें धर्म ही परम मित्र है' ऐसा कहकर वह धर्म में तत्पर हो गया ॥270॥

उसने उसी समय अपना राज्य पुत्र के लिए दे दिया और माताके साथ संयम धारण कर लिया । तपश्चरण कर मरा और आयु के अन्त में सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ ॥271॥

सत्यघोषका जीव जो पंकप्रभा नामक चौथे नरकमें गया था वहाँसे निकलकर चिरकाल तक नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनेक दुःख भोगता रहा ॥272॥

एक बार वह पूर्वकृत पाप के उदय से इसी क्षत्रपुर नगर में दारूण नामक व्याधकी मंगी नामक स्त्री से अतिदारूण नाम का पुत्र हुआ ॥ 273॥

किसी एक दिन प्रियंगुखण्ड नाम के वन में वज्रायुध मुनि प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे उन्हें उस दुष्ट भीलके लड़केने परलोक भेज दिया-मार डाला ॥274॥

तीक्ष्ण बुद्धि के धारक वे मुनि व्याधके द्वारा किया हुआ तीव्र उपसर्ग सहकर धर्मध्यानसे सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए ॥275॥

और अतिदारूण नाम का व्याध मुनिहत्याके पापसे सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ । पूर्व धातकीखण्डके पश्चिम विदेहक्षेत्र में गन्धिल नामक देश है उसके अयोध्या नगर में राजा अर्हदास रहते थे, उनकी सुख देने वाली सुव्रता नाक की स्त्री थी । रत्नमालाका जीव उन दोनोंके वीतभय नाम का पुत्र हुआ । और उसी राजाकी दूसरी रानी जिनदत्ताके रत्नायुधका जीव विभीषण नाम का पुत्र हुआ । वे दोनों ही पुत्र बलभद्र तथा नारायण थे और दीर्घकाल तक विभाग किये बिना ही राजलक्ष्मी का यथायोग्य उपभोग करते रहे ॥276-279॥

अन्त में नारायण तो नरकायुका बंध कर शर्कराप्रभामें गया और बलभद्र अन्तिम समयमें दीक्षा लेकर लान्तव स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ॥280॥

मैं वही आदित्याभ नाम का देव हूँ, मैंने स्नेहवश दूसरे नरकमें जाकर वहाँ रहनेवाले विभीषण को सम्बोधा था ॥281॥

वह प्रतिबोधको प्राप्त हुआ और वहाँसे निकलकर इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्रकी अयोध्या नगरी के राजा श्रीवर्माकी सुसीमा देवीके श्रीधर्मा नाम का पुत्र हुआ । और वयस्क होने पर अनन्त नामक मुनिराजसे संयम ग्रहण कर ब्रह्मस्वर्ग में आठ दिव्य गुणों से विभूषित देव हुआ । वज्रायुधका जीव जो सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था वहाँसे आकर संजयन्त हुआ ॥282-284॥

श्रीधर्माका जीव ब्रह्मस्वर्गसे आकर तू जयन्त हुआ था और निदान बाँधकर मोह-कर्म के उदय से धरणीन्द्र हुआ ॥285॥

सत्यघोषका जीव सातवीं पृथिवीसे निकल कर जघन्य आयु का धारक साँप हुआ और फिर तीसरे नरक गया ॥286॥

वहाँसे निकल कर त्रस स्थावर रूप तिर्यच गतिमें भ्रमण करता रहा । एक बार भूतरमण नामक वनके मध्य में ऐरावती नदी के किनारे गोश्रृंग नामक तापसकी शंखिका नामक स्त्रीके मृगश्रृंग नाम का पुत्र हुआ । वह विरक्त होकर पंचाग्नि तप कर रहा था कि इतनेमें वहाँसे दिव्यतिलक नगरका राजा अंशुमाल नाम का विद्याधर निकला उसे देखकर उस मूर्खने निदान बन्ध किया ॥287-289॥

अन्त में मर कर इसी भरतक्षेत्रके विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी-सम्बन्धी गगनवल्लभ नगर के वज्रदंष्ट्र विद्याधरकी विद्युत्प्रभा रानी के विद्युदंष्ट्र नाम का पुत्र हुआ । इसने पूर्व वैरके संस्कारसे कर्मबंध कर चिरकाल तक दुःख पाये और आगे भी पावेगा ॥290-291॥

इस प्रकार कर्म के वश होकर यह जीव परिवर्तन करता रहता है । पिता पुत्र हो जाता है, पुत्र माता हो जाता है, माता भाई हो जाती है, भाई बहन हो जाता है और बहन नाती हो जाती है सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में बन्धुजनों के सम्बन्धकी स्थिरता ही क्या है ? इस संसार में किसने किसका अपकार नहीं किया और किसने किसका उपकार नहीं किया ? इसलिए वैर बाँधकर पाप का बन्ध मत करो । हे नागराज-हे धरणेन्द्र ! वैर छोड़ो और विद्युदंष्ट्रको भी छोड़ दो ॥292-294॥

इस प्रकार उस देव के वचनरूप अमृतकी वर्षासे धरणेन्द्र बहुत ही संतुष्ट हुआ । वह कहने लगा कि हे देव ! तुम्हारे प्रसादसे आज मैं समीचीन धर्म का श्रद्धान करता हूँ ॥295॥

किन्तु इस विद्युदंष्ट्रने जो यह पाप का आचरण किया है वह विद्याके बलसे ही किया है इसलिए मैं इसकी तथा इसके वंशकी महाविद्याको छीन लेता हूँ' यह कहा ॥296॥

उसके वचन सुनकर वह देव धरणेन्द्रसे फिर कहने लगा कि आपको स्वयं नहीं तो मेरे अनुरोधसे ही ऐसा नहीं करना चाहिये ॥297॥

धरणेन्द्रने भी उस देव के वचन सुनकर कहा कि यदि ऐसा है तो इसके वंशके पुरूषोंको महाविद्याएँ सिद्ध नहीं होंगी परन्तु इस वंशकी स्त्रियाँ संजयन्त स्वामी के समीप महाविद्याओं को सिद्ध कर सकती हैं । यदि इन अपराधियोंको इतना भी दण्ड नहीं दिया जावेगा तो ये दुष्ट अहंकार से खोटी चेष्टाएँ करने लगेंगे तथा आगे होने वाले मुनियों पर भी ऐसा उपद्रव करेंगे ॥298-299॥

इस घटनासे इस पर्वत परके विद्याधर अत्यन्त लज्जित हुए थे इसलिए इसका नाम 'हीमान्' पर्वत है ऐसा कहकर उसने उस पर्वत पर अपने भाई संजयन्त मुनिकी प्रतिमा बनवाई ॥300॥

धर्म और न्यायके अनुसार कहे हुए शान्त वचनों से विद्युदंष्ट्रको कालुष्यरहित किया और उस देवकी पूजा कर अपने स्थान पर चला गया ॥ 301॥

वह देव अपनी आयु के अंतमें उत्तर मथुरा नगरी के अनन्तवीर्य राजा और मेरूमालिनी नाम की रानी के मेरू नाम का पुत्र हुआ ॥302॥

तथा धरणेन्द्र भी उसी राजाकी अमितवती रानी के मन्दर नाम का पुत्र हुआ । ये दोनों ही भाई शुक्र और बृहस्पतिके समान थे ॥303॥

तथा अत्यन्त निकट भव्य थे इसलिए विमलवाहन भगवान् के पास जाकर उन्होंने अपने पूर्वभव के सम्बन्ध सुने एवं दीक्षा लेकर उनके गणधर हो गये ॥304॥

अब यहाँ इनमेंसे प्रत्येकका नाम लेकर उनकी गति और भवोंके समूह का वर्णन करता हूँ -॥305॥

सिंहसेनका जीव अशनिघोष हाथी हुआ, फिर श्रीधर देव, रश्मिवेग, अर्कप्रभदेव, महाराज वज्रायुध, सर्वार्थसिद्धिमें देवेन्द्र और वहाँसे चयकर संजयन्त केवली हुआ । इस प्रकार सिंहसेनने आठ भवमें मोक्षपद पाया ॥306-307॥

मथुराका जीव रामदत्ता, भास्करदेव, श्रीधरा, देव, रत्नमाला, अच्युतदेव, वीतभय और आदित्यप्रभदेव होकर विमलवाहन भगवान् का मेरू नाम का गणधर हुआ और सात ऋद्धियों से युक्त होकर उसी भव से मोक्षको प्राप्त हुआ ॥308-309॥

वारूणीका जीव पूर्णचन्द्र, वैडूर्यदेव, यशोधरा, कापिष्ठ स्वर्ग में बहुत भारी ऋद्धियोंको धारण करने वाला रूचकप्रभ नाम का देव, रत्नायुध देव, विभीषण पाप के कारण दूसरे नरकका नारकी, श्रीधर्मा, ब्रह्मस्वर्ग का देव, जयन्त, धरणेन्द्र और विमलनाथका मन्दर नाम का गणधर हुआ चार ज्ञान का धारी होकर संसारसागरसे पार हो गया ॥310-312॥

श्रीभूति-(सत्यघोष) मंत्रीका जीव सर्प, चमर, कुर्कुट सर्प, तीसरे नरकका दुःखी नारकी, अजगर, चौथे नरकका नारकी, त्रस और स्थावरोंके बहुत भव अति दारूण, सातवें नरकका नारकी, सर्प, नारकी, अनेक योनियोंमें भ्रमण कर मृगशृंग और फिर मरकर पापी विद्युदंष्ट्र विद्याधर हुआ एवं पीछेसे वैररहित-प्रसन्न भी हो गया था ॥313-315॥

भद्रमित्र सेठका जीव सिंहचन्द्र, प्रीतिकरदेव और चक्रायुधका भव धारण कर आठों कर्मों को नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त हुआ था ॥ 316॥

इस प्रकार कहे हुए तीनों ही जीव अपने-अपने कर्मोदयके वश चिरकाल तक उच्च-नीच स्थान पाकर कहीं तो सुख का अनुभव करते रहे और कहीं बिना माँगे हुए तीव्र दुःख भोगते रहे परन्तु अन्त में तीनों ही निष्पाप होकर परमपद को प्राप्त हुए ॥317॥

जिन महानुभाव ने हृदय में समता रस के विद्यमान रहने से दुष्ट विद्याधर के द्वारा किये हुए भयंकर उपसर्ग को 'यह किसी विरले ही भाग्यवान् को प्राप्त होता है' इस प्रकार विचार कर बहुत अच्छा माना और अत्यन्त निर्मल शुक्ल-ध्यान को धारण कर शुद्धता प्राप्त की वे कर्म-मल रहित संजयन्त स्वामी तुम सब की रक्षा करें ॥318॥

जिन्होंने सूर्य और चन्द्रमा को जीतकर उत्कृष्ट तेज प्राप्त किया है, जो मुनियों के समूह के स्वामी हैं, तथा नयों से परिपूर्ण जैनागम के नायक हैं ऐसे मेरू और मंदर नाम के गणधर सदा आपलोगोंसे पूजित रहें-आपलोग सदा उनकी पूजा करते रहें ॥319॥

भगवान अनन्तनाथ, सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण, मधुसूदन प्रतिनारायण चरित

पर्व - 60

कथा :

अथानन्तर जो अनन्त दोषोंको नष्ट करनेवाले हैं तथा अनन्त गुणों की खान-स्वरूप हैं ऐसे श्री अनन्तनाथ भगवान् हम सबके हृदय में रहनेवाले मोहरूपी अन्धकारकी संतानको नष्ट करें ॥1॥

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मेरूसे उत्तरकी ओर विद्यमान किसी देशमें एक अरिष्ट नाम का बड़ा सुन्दर नगर है जो ऐसा जान पड़ता है मानो

समस्त सम्पदाओं के रहनेका एक स्थान ही हो ॥2॥

उस नगरका राजा पद्मरथ था, वह अपने गुणों से पद्मा-लक्ष्मी का स्थान था, उसने चिरकाल तक पृथिवी का पालन किया जिससे प्रजा परम प्रीतिको प्राप्त होती रही ॥3॥

जीवों को सुख देनेवाली उत्तम रूप आदिकी सामग्री पुण्योदय से प्राप्त होती है और राजा पद्मरथके वह पुण्यका उदय बहुत भारी तथा बाधारहित था ॥4॥

इसलिए इन्द्रियों के विषयोंके सान्निध्यसे उत्पन्न होने वाले सुख से वह इन्द्रके समान संतुष्ट होता हुआ अच्छी तरह संसार के सुख का अनुभव करता था ॥5॥

किसी एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप गया । वहाँ उसने विनयके साथ उनकी स्तुति की और निर्मल धर्म का उपदेश सुना ॥6॥

तदनन्तर वह चिन्तन करने लगा कि 'जीवोंका शरीर के साथ और इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ जो संयोग होता है वह अनित्य है क्योंकि इस संसार में सभी जीवों के आत्मा और शरीर तथा इन्द्रियाँ और उनके विषय इनमेंसे एकका अभाव होता ही रहता है ॥7॥

यदि अन्य मतावलम्बी लोगोंका आशय मोहित हो तो भले ही हो मैंने तो मोहरूपी शत्रु के माहात्म्य को नष्ट करनेवाले अर्हन्त भगवान् के चरण-कमलों का आश्रय प्राप्त किया है । मैं इन विषयोंमें अपनी बुद्धि स्थिर कैसे कर सकता हूँ-इन विषयोंको नित्य किस प्रकार मान सकता हूँ' इस प्रकार इसकी बुद्धि मोहरूपी महागाँठको खोलकर उद्यम करने लगी ॥8-9॥

तदनन्तर जिस प्रकार चारों ओर लगी हुई वनाग्नि की ज्वालाओं से भयभीत हुआ हरिण अपने बहुत पुराने रहने के स्थान को छोड़ने का उद्यम करता है उसी प्रकार वह राजा भी चिरकाल से रहने के स्थान-स्वरूप संसाररूपी स्थली को छोड़ने का उद्यम करने लगा ॥10॥

उसने धनरथ नामक पुत्र के लिए राज्य देकर संयम धारण कर लिया और ग्यारह अंगरूपी सागर का पारगामी होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया ॥11॥

अन्त में सल्लेखना धारण कर शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमान में इन्द्रपद प्राप्त किया ॥12॥

वहाँ उसकी आयु बाईस सागर थी, शरीर साढ़े तीन हाथका था, शुक्ललेश्या थी, वह ग्यारह माह में एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था, मानसिक प्रवीचारसे सुखी रहता था, तमःप्रभा नामक छठवीं पृथिवी तक उसका अवधिज्ञान था और वहीं तक उसका बल, विक्रिया और तेज था । इस प्रकार चिरकाल तक सुख भोगकर वह इस मध्यम लोक में आनेके लिए समुम्ब हुआ ॥ 13-15॥

उस समय इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्रकी अयोध्यानगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री महाराज सिंहसेन राज्य करते थे ॥16॥

उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था । देवों ने उसके घर के आगे छह-माह तक रत्नों की श्रेष्ठ धारा बरसाई ॥17॥

कार्तिक कृष्णा प्रतिपदाके दिन प्रातःकाल के समय रेवती नक्षत्र में उसने सोलह स्वप्न देखने के बाद मुँह में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा ॥ 18॥

अवधिज्ञानी राजा से उन स्वप्नों का फल जाना । उसी समय वह अच्युतेन्द्र उसके गर्भ में आकर स्थित हुआ जिससे वह बहुत भारी सन्तोषको प्राप्त हुई ॥19॥

तदनन्तर देवों ने गर्भ-कल्याणक का अभिषेक कर वस्त्र, माला और बड़े-बड़े आभूषणोंसे महाराज सिंहसेन और रानी जयश्यामा की पूजा की ॥20॥

जयश्यामा का गर्भ सुख से बढ़ने लगा । नव माह व्यतीत होने पर उसने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषायोग में पुण्यवान् पुत्र उत्पन्न किया ॥21॥

उसी समय इन्द्रों ने आकर उस पुत्रका मेरु पर्वत पर अभिषेक किया और बड़े हर्ष से अनन्तजित् यह सार्थक नाम रखा ॥22॥

श्रीविमलनाथ भगवान् के बाद नौ सागर और और पौन पत्य बीत जाने पर तथा अन्तिम समय धर्म का विच्छेद हो जाने पर भगवान् अनन्त जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी ॥23॥

उनकी आयु तीन लाख वर्ष की थी, शरीर पचास धनुष ऊँचा था, देदीप्यमान सुवर्ण के समान रंग था और वे सब लक्षणों से सहित थे ॥ 24॥

मनुष्य, विद्याधर और देवों के द्वारा पूजनीय भगवान् अनन्तनाथ ने सात लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर राज्याभिषेक प्राप्त किया था ॥25॥

और जब राज्य करते हुए उन्हें पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब किसी एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो गया ॥26॥ वे सोचने लगे कि यह दुष्कर्मरूपी वेल अज्ञानरूपी बीजसे उत्पन्न हुई है, असंयमरूपी पृथिवीके द्वारा धारण की हुई है, प्रमादरूपी जलसे सीची गई है, कषाय ही इसकी स्कन्धयष्टि है-बड़ी मोटी शाखा है, योगके आलम्बनसे बड़ी हुई है, तिर्यच गतिके द्वारा फैली हुई है, वृद्धावस्थारूपी फूलोंसे ढकी हुई है, अनेक रोग ही इसके पत्ते हैं, और दुःखरूपी दुष्ट फलोंसे झुक रही है । मैं इस दुष्ट कर्मरूपी वेल को शुक्ल ध्यानरूपी तलवारके द्वारा आत्म-कल्याणके लिए जड़-मूलसे काटना चाहता हूँ ॥27-29॥

ऐसा विचार करते ही स्तुति करते हुए लौकान्तिक देव आ पहुँचे । उन्होंने उनकी पूजा की, विजयी भगवान् ने अपने अनन्तविजय पुत्र के लिए राज्य दिया, देवों ने तृतीय-दीक्षा-कल्याणक की पूजा की, भगवान् सागरदत्त नामक पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये और वहाँ वेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये ॥30-32॥ जिन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ है और जो सामायिक संयमसे सहित हैं ऐसे अनन्तनाथ दूसरे दिन चर्याके लिए साकेतपुरमें गये ॥33॥ वहाँ सुवर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने उन्हें आहार देकर स्वर्ग तथा मोक्षकी सूचना देनेवाले पंचाश्रय प्राप्त किये ॥34॥ इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ के दो वर्ष बीत गये तब पूर्वोक्त सहेतुक वन में अश्वत्थ-पीपल वृक्ष के नीचे चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र में उन्होंने केवलज्ञान उत्पन्न किया । उसी समय देवों ने चतुर्थ कल्याणक की पूजा की ॥ 35-36॥

पूर्वधारियोंके द्वारा वन्दनीय थे, तीन हजार दो सौ वाद करनेवाले मुनियों के स्वामी थे, उनतालीस हजार पाँच सौ शिक्षक उनके साथ रहते थे, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, वे पाँच हजार केवलज्ञानियों से सहित थे, आठ हजार विक्रियाऋद्धि के धारकों से विभूषित थे, पाँच हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, इस प्रकार सब मिलाकर छयासठ हजार मुनि उनकी पूजा करते थे । सर्वश्रीको आदि लेकर एक लाख आठ हजार आर्यिकाओं का समूह उनके साथ था, दोलाख श्रावक उनकी पूजा करते थे और चार लाख श्राविकाएँ उनकी स्तुति करती थीं । वे असंख्यात देव देवियों के द्वारा स्तुत थे और संख्यात तिर्यचोंसे सेवित थे । इस तरह बारह सभाओंमें विद्यमान भव्य समूह के अग्रणी थे ॥37-42॥

पदार्थ कथंचित् सद्वृत्त है और कथंचिद् असद्वृत्त है इस प्रकार विधि और निषेध पक्ष के सद्भाव को प्रकट करते हुए भगवान् अनन्तजित् ने प्रसिद्ध देशों में विहार कर भव्य जीवों को सन्मार्ग में लगाया ॥43॥

अन्त में सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होंने विहार करना छोड़ दिया और एक माह का निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया । तथा चैत्र कृष्ण अमावास्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में चतुर्थ शुल्क-ध्यान के द्वारा परमपद प्राप्त किया ॥44-45॥

उसी समय देवों के समूहने आकर बड़े आदरसे विधिपूर्वक अन्तिम संस्कार किया और यह सब क्रिया कर वे सब ओर अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥46॥

जिन्होंने मिथ्यानयरूपी सघन अन्धकारसे भरे हुए समस्त लोक को सम्यक. नयरूपी किरणों से शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया है, जो मिथ्या शास्त्ररूपी उल्लुओंसे द्वेष करनेवाले हैं, जिनकी उत्कृष्ट दीप्ति अत्यन्त प्रकाशमान है और जो भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करनेवाले हैं ऐसे श्री अनन्तजित् भगवानरूपी सूर्य तुम सबके पापको जलावें ॥47॥

जो पहले पद्मरथ नाम के प्रसिद्ध राजा हुए, फिर तपके प्रभाव से निःशंक बुद्धि के धारक अच्युतेन्द्र हुए और फिर वहाँसे चयकर मरणको जीतनेवाले अनन्तजित् नामक जिनेन्द्र हुए वे अनन्त भवोंमें होनेवाले मरणसे तुम सबकी रक्षा करें ॥ 48॥

अथानन्तर-इन्हीं अनन्तनाथ के समयमें सुप्रभ बलभद्र और पुरुषोत्तम नामक नारायण हुए हैं इसलिए इन दोनोंके तीन भवोंका उत्कृष्ट चरित्र कहता हूँ ॥49॥

इसी भरत क्षेत्रके पोदनपुर नगर में राजा वसुषेण रहते थे उनकी महारानीका नाम नन्दा था जो अतिशय प्रशंसनीय थी ॥50॥

उस राजा के यद्यपि पाँच सौ स्त्रियाँ थीं तो भी वह नन्दा के ऊपर ही विशेष प्रेम करता था सो ठीक ही है क्योंकि वसन्त-ऋतु में अनेक फूल होने पर भी भ्रमर आम्रमंजरी पर ही अधिक उत्सुक रहता है ॥51॥

मलय देश का राजा चण्डशासन, राजा वसुषेण मित्र था इसलिए वह किसी समय उसके दर्शन करने के लिए पोदनपुर आया ॥52॥

पाप के उदय से प्रेरित हुआ चण्डशासन नन्दा को देखने से उसपर मोहित हो गया अतः वह दुर्बुद्धि किसी उपाय से उसे हरकर अपने देश ले गया ॥53॥

राजा वसुषेण असमर्थ था अतः उस पराभव से बहुत दुःखी हुआ, चिन्ता रूपी यमराज उसके प्राण खींच रहा था परन्तु उसे शास्त्रज्ञान का बल था अतः वह शान्त होकर श्रेय नामक गणधरके पास जाकर दीक्षित हो गया । उस महाबलवान् ने सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तपकर यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्या का कुछ फल हो तो मैं अन्य जन्ममें ऐसा राजा होऊँ कि जिसकी आज्ञाका कोई भी उल्लंघन न कर सके ॥54-56॥

तदनन्तर संन्यास-मरणकर वह सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग गया । वहाँ अठारह सागर की उसकी आयु थी ॥57॥

अथानन्तर-जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र में एक सम्पत्ति-सम्पन्न नन्दन नाम का नगर है । उसमें महाबल नाम का राजा राज्य करता था । वह प्रजा की रक्षा करता हुआ सुखों का उपभोग करता था, अत्यन्त धर्मात्मा था, श्रीमान् था, उसकी कीर्ति दिशाओं के अन्त तक फैली थी, और वह याचकोंकी पीड़ा दूर करनेवाला था-बहुत दानी था ॥58-59॥

एक दिन उसे शरीरादि वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का बोध हो गया जिससे वह उनसे विरक्त मोक्ष प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो गया ॥ 60॥

उसने अपने पुत्र के लिए राज्य दिया और प्रजापाल नामक अर्हन्तके समीप संयम धारण कर सिंह निष्क्रीडित नाम का तप किया ॥61॥ अन्त में संन्यास धारण कर अठारह सागर की स्थितिवाले सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न हुआ । वहाँ चिरकाल तक भोग भोगता रहा । जब अन्तिम समय आया तब शान्तचित्त होकर मरा ॥62॥

और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रकी द्वारवती नगर के स्वामी राजा सोमप्रभकी रानी जयवन्तीके सुप्रभ नाम का सुन्दर पुत्र हुआ ॥ 63॥

वह सुप्रभ दूसरे विजयार्थ के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयार्थ महायति बहुत लम्बा है उसी प्रकार सुप्रभ भी महायति-उत्तम भविष्यसे सहित था, जिस प्रकार विजयार्थ समुतुंग-ऊँचा है उसी प्रकार सुप्रभ भी समुतुंग उदार प्रकृति का था, जिस प्रकार विजयार्थ देव और विद्याधरों का आश्रय-आधार-रहनेका स्थान है उसी प्रकार सुप्रभ भी देव और विद्याधरोंका आश्रय-रक्षक था और जिस प्रकार विजयार्थ श्वेतिमा-शुक्लवर्ण को धारण करता है उसी प्रकार सुप्रभ भी श्वेतिमा शुक्लवर्ण अथवा कीर्ति सम्बन्धी शुक्लताको धारण करता था ॥64॥

यही नहीं, वह सुप्रभ चन्द्रमा को भी पराजित करता था क्योंकि चन्द्रमा कलंक-सहित है परन्तु सुप्रभ कलंक-रहित था, चन्द्रमा केवल रात्रि के समय ही कान्त (सुन्दर) दिखता है परन्तु सुप्रभ रात्रिदिन सदा ही सुन्दर दिखता था, चन्द्रमा सबके चित्त को हरण नहीं करता-चकवा आदिको प्रिय नहीं लगता परन्तु सुप्रभ सब के चित्तको हरण करता था-सर्वप्रिय था, और चन्द्रमा पद्मानन्दविधायी नहीं है -कमलों को विकसित नहीं करता परन्तु सुप्रभ पद्मानन्दविधायी था-लक्ष्मी को आनन्दित करनेवाला था ॥65॥

उसी राजा की सीता नाम की रानी के वसुषेण का जीव पुरुषोत्तम नाम का पुत्र हुआ जो कि अनेक गुणों से मनुष्यों को आनन्दित करने वाला था ॥66॥

वह पुरुषोत्तम सुमेरू पर्वत के समान सुन्दर था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरूपर्वत समस्त तेजस्वियों-सूर्य चन्द्रमा आदि देवों के द्वारा सेव्यमान है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी समस्त तेजस्वियों-प्रतापी मनुष्यों के द्वारा सेव्यमान था, जिस प्रकार सुमेरू पर्वत की महोन्नति-भारी ऊँचाईका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता उसी प्रकार पुरुषोत्तमकी महोन्नति-भारी श्रेष्ठता अथवा उदारताका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता और जिस प्रकार सुमेरू पर्वत महारत्नों-बड़े-बड़े रत्नों से सुशोभित है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी महारत्नों-बहुमूल्य रत्नों अथवा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुशोभित था ॥67॥

वे बलभद्र और नारायण क्रमशः शुल्क और कृष्ण कान्ति के धारक थे, तथा समस्त लोक -व्यवहारके प्रवर्तक थे अतः शुक्लपक्ष और

कृष्णपक्षके समान सुशोभित होते थे ॥68॥

उन दोनों का पचास धनुष ऊँचा शरीर था, तीस लाख वर्ष की दोनों की आयु थी और एक समान दोनों को सुख था अतः साथ ही साथ सुखोपभोग करते हुए उन्होंने बहुत-सा समय बिता दिया ॥69॥

अथानन्तर-पहले जिस चण्डशासन का वर्णन कर आये हैं वह अनेक भवों में घूमकर काशी देश की वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन नाम का राजा हुआ। वह सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी था, उसने समस्त शत्रुओं के समूह को दण्डित कर दिया था तथा उसका बल और पराक्रम बहुत ही प्रसिद्ध था ॥70-71॥

नारद से उस असहिष्णु ने उन बलभद्र और नारायण का वैभव सुनकर उसके पास खबर भेजी कि तुम मेरे लिए हाथी तथा रत्न आदि कर स्वरूप भेजो ॥72॥

वायु से ही क्षुभित हो उठा हो, वह प्रलय काल के यमराज के समान दुष्प्रेक्ष्य हो गया और अत्यन्त क्रोध करने लगा ॥73॥

बलभद्र सुप्रभ भी दिशाओंमें अपने नेत्रोंकी लाल-लाल कान्ति को इस प्रकार बिखेरने लगा मानो क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालाओं के समूहको ही बिखेर रहा हो ॥74॥

वह कहने लगा -मैं नहीं जानता कि कर क्या कहलाता है ? क्या हाथ को कर कहते हैं ? जिससे कि खाय जाता है। अच्छा तो मैं जिसमें तलवार चमक रही है ऐसा कर (हाथ) दूँगा वह सिर से उसे स्वीकार करे ॥75॥

वह आवे और कर ले जावे इसमें क्या हानि है ? इस प्रकार तेज प्रकट करनेवाले दोनों भाइयों ने कटुक शब्दों के द्वारा नारद को उच्च स्वरसे उत्तर दिया ॥76॥

तदनन्तर यह समाचार सुनकर मधुसूदन बहुत ही कुपित हुआ और उन दोनों भाइयों को मारने के लिए चला तथा वे दोनों भाई भी क्रोध से उसे मारने के लिए चले ॥77॥

दोनों सेनाओं का ऐसा संग्राम हुआ मानो सब का संहार ही करना चाहता हो। शत्रु-मधुसूदन ने पुरुषोत्तम के ऊपर चक्र चलाया परन्तु वह चक्र पुरुषोत्तम का कुछ नहीं बिगाड़ सका। अन्त में पुरुषोत्तमने उसी चक्र से मधुसूदन को मार डाला ॥78॥

दोनों भाई चौथे बलभद्र और नारायण हुए तथा तीन खण्ड के आधिपत्य का इस प्रकार अनुभव करने लगे जिस प्रकार कि सूर्य और चन्द्रमा ज्योतिर्लोक के आधिपत्य का अनुभव करते हैं ॥79॥

आयु के अन्त में पुरुषोत्तम नारायण छठवें नरक गया और सुप्रभ बलभद्र उसके वियोग से उत्पन्न शोकरूपी अग्नि से बहुत ही संतप्त हुआ ॥80॥

सोमप्रभ जिनेन्द्रने उसे समझाया जिससे प्रसन्नचित्त होकर उसने दीक्षा ले ली और अन्त में क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ होकर उस बुद्धिमान् ने मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥81॥

पुरुषोत्तम पहले पोदनपुर नगर में वसुषेण नाम का राजा हुआ, फिर तप कर शुल्क-लेश्या का धारक देव हुआ, फिर वहाँ से चयकर अर्ध-भरत-क्षेत्र का स्वामी, तथा शत्रुओं का नष्ट करनेवाला पुरुषोत्तम नाम का नारायण हुआ एवं उसके बाद अधोलोक में सातवीं पृथिवी में उत्पन्न हुआ ॥82॥

मलयदेश का अधिपति पापी राजा चण्डाशासन चिरकाल तक भ्रमण करता हुआ मधुसूदन हुआ और तदनन्तर संसाररूपी सागर के अधोभाग में निमग्न हुआ ॥83॥

सुप्रभ पहले नन्दन नामक नगर में महाबल नाम का राजा था फिर महान् तप कर बाहरवें स्वर्ग में देव हुआ, तदनन्तर सुप्रभ नाम का बलभद्र हुआ और समस्त परिग्रह छोड़कर उसी भव से परमपद को प्राप्त हुआ ॥84॥

देखो, सुप्रभ और पुरुषोत्तम एक ही साथ साम्राज्य के श्रेष्ठ सुखों का उपभोग करते थे परन्तु उनमें से पहला सुप्रभ तो मोक्ष गया और दूसरा-पुरुषोत्तम नरक गया, यह सब अपनी वृत्ति-प्रवृत्ति की विचित्रता है ॥85॥

भगवान् धर्मनाथ, मधवा चक्रवर्ती, सनत्कुमार चक्रवर्ती चरित

पर्व - 61

कथा :

जिन धर्मनाथ भगवान् से अत्यन्त निर्मल उत्तम क्षमा आदि दश धर्म उत्पन्न हुए वे धर्मनाथ भगवान् हम लोगोंका अधर्म दूर कर हमारे लिए सुख प्रदान करें ॥1॥

पूर्व घातकीखण्ड द्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है । उसमें सुसीमा नाम का महानगर है ॥2॥ वहाँ राजा दशरथ राज्य करता था, वह बुद्धि, बल और भाग्य तीनों से सहित था । चूँकि उसने समस्त शत्रु अपने वश कर लिये थे इसलिए युद्ध आदिके उद्योगसे रहित होकर वह शान्तिसे रहता था ॥3॥

प्रजाकी रक्षा करने में सदा उसकी इच्छा रहती थी और वह बन्धुओं तथा मित्रोंके साथ निश्चिन्ततापूर्वक धर्म-प्रधान सुखों का उपभोग करता था ॥4॥

एक बार वैशाख शुक्ल पूर्णिमा के दिन सबलोग उत्सव मना रहे थे उसी समय चन्द्र ग्रहण पड़ा उसे देखकर राजा दशरथका मन भोगों से एकदम उदास हो गया ॥5॥

यह चन्द्रमा सुन्दर है, कुवलयों-नीलकमलों (पक्षमें-महीमण्डल) को आनन्दित करनेवाला है और कलाओंसे परिपूर्ण है । जब इसकी भी ऐसी अवस्था हुई है तब अन्य पुरुष की क्या अवस्था होगी ॥6॥

ऐसा मानकर उसने महारथ नामक पुत्र के लिए राज्यभार सौंपा और स्वयं परिग्रहरहित होनेसे भारहीन होकर संयम धारणा कर लिया ॥7॥

उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन कर सोलह कारण-भावनाओं का चिन्तन किया, तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृतिका बन्ध किया और आयु के अन्त में समाधिमरण कर अपनी बुद्धि को निर्मल बनाया ॥8॥

अब वह सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ, तैंतीस सागर उसकी स्थिति थी, एक हाथ ऊँचा उसका शरीर था, चार सौ निन्यानवे दिन अथवा साढ़े सोलह माह में एक बार कुछ श्वास लेता था ॥9॥

लोक नाड़ी के अन्त तक उसके निर्मल अवधिज्ञान का विषय था, उतनी ही दूर तक फलने वाली विक्रिया तेज तथा बलरूप सम्पत्तिसे सहित था ॥10॥

तीस हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार लेता था, द्रव्य और भाव सम्बन्धी दोनों शुल्क-लेश्याओं से युक्त था ॥11॥

इस प्रकार वह सर्वार्थसिद्धि में प्रवीचार रहित उत्तम सुख का अनुभव करता था । वह पुण्यशाली जब वहाँसे चयकर मनुष्य लोक में जन्म लेने के लिए तत्पर हुआ ॥12॥

तब इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक रत्नपुर नाम का नगर था उसमें कुरूवंशी काश्यपगोत्री महातेजस्वी और महालक्ष्मीसम्पन्न महाराज भानु राज्य करते थे उनकी महादेवीका नाम सुप्रभा था, देवों ने रत्नवृष्टि आदि सम्पदाओं के द्वारा उसका सम्मान बढ़ाया था । रानी सुप्रभाने वैशाख शुक्ल त्रयोदशीके दिन रेवती नक्षत्र में प्रातःकाल के समय सोलह स्वप्न देखे ॥13-15॥

जागकर उसने अपने अवधिज्ञानी पति से उन स्वप्नों का फल मालूम किया और ऐसा हर्षका अनुभव किया मानो पुत्र ही उत्पन्न हो गया हो ॥16॥

उसी समय अन्तिम अनुत्तरविमान से (सर्वार्थसिद्धि) चयकर वह अहमिन्द्र रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ । इन्द्रों ने आकर गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया ॥17॥

नव माह बीत जाने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन गुरुयोग में उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्रों के धारक पुत्र को उत्पन्न किया ॥18॥

उसी समय इन्द्रों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर बहुत भारी सुवर्ण-कलशों में भरे हुए क्षीरसागरके जलसे उनका अभिषेक कर आभूषण पहिनाये तथा हर्ष से धर्मनाथ नाम रक्खा ॥19॥

जब अनन्तनाथ भगवान् के बाद चार सागर प्रमाण काल बीत चुका और अन्तिम प्रलय का आधा भाग जब धर्म-रहित हो गया तब धर्मनाथ भगवान् का जन्म हुआ था, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी । उनकी आयु दशलाख वर्ष की थी, शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थी, शरीर की ऊँचाई एक सौ अस्सी हाथ थी । जब उनके कुमारकाल के अढ़ाईलाख वर्ष बीत गये तब उन्हें राज्य का अभ्युदय प्राप्त हुआ था ॥20-23॥

वे अत्यन्त ऊँचे थे, अत्यन्त शुद्ध थे, दर्शनीय थे, उत्तम आश्रय देने वाले थे, और सबका पोषण करनेवाले थे अतः शरद्भक्तुके मेघके

समान थे ॥24॥

अथवा किसी उत्तम हाथी के समान थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम हाथी भद्र जातिका होता है उसी प्रकार वे भी भद्र प्रकृति थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार बहु दान-बहुत मदसे युक्त होता है उसी प्रकार वे भी बहु दान-बहुत दानसे युक्त थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुलक्षण-अच्छे-अच्छे लक्षणों से सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुलक्षण-अच्छे सामुद्रिक चिह्नों से सहित थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार महान् होता है उसी प्रकार वे भी महान्-श्रेष्ठ थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुकर-उत्तम सूँड़ से सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुकर-उत्तम हाथों से सहित थे, और उत्तम हाथी जिस प्रकार सुरेभ-उत्तम शब्द से सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुरेभ-उत्तम मधुर शब्दों से सहित थे ॥25॥

वे दुर्जनों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह करते थे सो द्वेष अथवा इच्छा के वश नहीं करते थे किन्तु गुण और दोषकी अपेक्षा करते थे अतः निग्रह करते हुए भी वे प्रजाके पूज्य थे ॥26॥

उनकी समस्त संसार में फैलने वाली कीर्ति यदि लता नहीं थी तो वह कवियों के प्रवचनरूपी जल के सेक से आज भी क्यों बढ़ रही है ॥ 27॥

सुख से संभोग करने के योग्य तथा अपने गुणों से अनुरक्त पृथिवी उनके लिए उत्तम नायिकाके समान इच्छानुसार फल देने वाली थी ॥ 28॥

जब अन्य भव्य जीव इन धर्मनाथ भगवान् के प्रभाव से अपने कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर निर्मल सुख प्राप्त करेंगे तब इनके सुख का वर्णन कैसे किया जा सकता है ? ॥29॥

जब पाँच लाख वर्ष प्रमाण राज्यकाल बीत गया तब किसी एक दिन उत्कापात देखने से इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया । विरक्त होकर वे इस प्रकार चिन्तन करने लगे - 'मेरा यह शरीर कैसे, कहाँ और किससे उत्पन्न हुआ है ? किमात्मक है, किसका पात्र है और आगे चलकर क्या होगा -- ऐसा विचार न कर मुझ मूर्खने इसके साथ चिरकाल तक संगति की । पाप का संचय कर उसके उदय से मैं आज तक दुःख भोगता रहा । कर्म से प्रेरित हुए मुझ दुर्मतिने दुःखको ही सुख मानकर कभी शाश्वत-स्थायी सुख प्राप्त नहीं किया । मैं व्यर्थ ही अनेक भवों में भ्रमण कर थक गया । ये ज्ञान दर्शन आदि मेरे गुण हैं यह मैंने कल्पना भी नहीं की किन्तु इसके विरुद्ध बुद्धि के विपरीत होने से रागादिको अपना गुण मानता रहा । स्नेह तथा मोहरूपी ग्रहों से ग्रसा हुआ यह प्राणी बार-बार परिवारके लोगों तथा धनका पोषण करता हुआ पाप उपार्जन करता है और पाप के संचय से अनेक दुर्गतियों में भटकता है' । इस प्रकार भगवान् को स्वयं बुद्धि जानकर लौकान्तिक देव आये और बड़ी भक्ति के साथ इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे देव ! आज आप कृतार्थ-कृतकृत्य हुए ॥30-36॥

उन्होंने सुधर्म नाम के ज्येष्ठ पुत्र के लिए राज्य दिया, दीक्षा-कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव प्राप्त किया, नागदत्ता नाम की पालकी में सवार होकर ज्येष्ठ देवों के साथ शालवन के उद्यान में जाकर दो दिन के उपवास का नियम लिया और माघशुक्ला त्रयोदशी के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में एकहजार राजाओं के साथ मोक्ष प्राप्त करानेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥37-39॥

दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया । वे दूसरे दिन आहार लेने के लिए पताकाओं से सजी हुई पाटलिपुत्र नाम की नगरी में गये ॥40॥

वहाँ सुवर्ण के समान कान्तिवाले धन्यषेण राजा ने उन उत्तम पात्र के लिए दान देकर पंचाश्रय प्राप्त किये ॥41॥

तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीत जाने पर उन्होंने उसी पुरातन वन में सप्तच्छद वृक्ष के नीचे दो दिनके उपवास का नियम लेकर योग धारण किया और पौषशुक्ल पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में कवलज्ञान प्राप्त किया । देवों ने चतुर्थ कल्याणक की उत्तम पूजा की ॥42-43॥

वे अरिष्टसेनको आदि लेकर तैंतालीस गणधरोंके स्वामी थे, नौ सौ ग्यारह पूर्वधारियों से आवृत थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षकों से सहित थे, तीन हजार छह सौ तीन प्रकार के अवधिज्ञानियों से युक्त थे, चार हजार पाँच सौ केवलज्ञानी उनके साथ थे, सात हजार विकिरात्रुद्धि के धारक उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, चार हजार पाँच सौ मनःपर्ययज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, दो हजार आठ सौ वादियोंके समूह उनकी वन्दना करते थे, इस तरह सब मिलाकर चौंसठ हजार मुनि उनके साथ रहते थे, सुव्रताको आदि लेकर बासठ हजार चार सौ आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, वे दो लाख श्रावकों से सहित थे, चार लाख श्राविकाओंसे आवृत थे, असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यचोंसे सेवित थे ॥44-49॥

इस प्रकार बारह सभाओंकी सम्पत्तिसे सहित तथा धर्म की ध्वजासे सुशोभित भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया ॥50॥

अन्त में विहार बन्द कर वे पर्वतराज सम्मेद-शिखर पर पहुँचे और एक माहका योग निरोध कर आठ सौ नौ मुनियों के साथ ध्यानारूढ़ हुए । तथा ज्येष्ठ-शुल्का चतुर्थी के दिन रात्रिके अन्त भाग में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक शुल्क-ध्यान को पूर्ण कर पुष्य नक्षत्र में मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त हुए ॥51-52॥

उसी समय सब ओर से देवों ने आकर निर्वाण कल्याणक का उत्सव किया तथा वन्दना की ॥53॥

जो पहले भव में शत्रुओं को जीतनेवाले दशरथ राजा हुए, फिर अहमिन्द्रता को प्राप्त हुए तथा जिनके द्वारा कहे हुए दश धर्म पापों के साथ युद्ध करने में दश रथों के समान आचरण करते हैं वे धर्मनाथ भगवान् तुम सबकी रक्षा करें ॥54॥

जिन्होंने समस्त घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जिनका केवलज्ञान अत्यन्त निश्चल है, जिन्होंने श्रेष्ठ धर्म का प्रतिपादन किया है, जो तीनों शरीरोंके नष्ट हो जानेसे अत्यन्त निर्मल है, जो स्वयं अनन्त सुख से सम्पन्न है और जिन्होंने समस्त आत्माओं को शान्त कर दिया है ऐसे धर्मनाथ जिनेन्द्र तुम सबके लिए अनन्त सुख प्रदान करें ॥55॥

अथानन्तर इन्हीं धर्मनाथ भगवान् के तीर्थ में श्रीमान् सुदर्शन नाम का बलभद्र तथा सभा में सबसे बलवान् पुरुषसिंह नाम का नारायण हुआ ॥56॥

अतः यहाँ उनका तीन भव का चरित कहता हूँ । इसी राजगृह नगर में राजा सुमित्र राज्य करता था, वह बड़ा अभिमानी था, बड़ा मल्ल था, उसने बहुत मल्लोंको जीत लिया था इसलिए परीक्षक लोग उनकी पूजा किया करते थे-उसे पूज्य मानते थे, वह सदा दूसरोंको तृणके समान तुच्छ मानता था, और दुष्ट हाथी के समान मदोन्मत्त था ॥57-58॥

किसी समय मदसे उद्धत तथा मल्ल-युद्ध को जानने वाला राजसिंह नाम का राजा उसका गर्व शान्त करने के लिए राजगृह नगरी में आया ॥59॥

उसने बहुत देर तक युद्ध करने के बाद रंगभूमि में स्थित राजा सुमित्र को हरा दिया जिससे वह दाँत उखाड़े हुए हाथी के समान बहुत दुःखी हुआ ॥60॥

मान भंग होनेसे उसका हृदय एकदम टूट गया, वह राज्य का भार धारण करने में समर्थ नहीं रहा अतः उसने राज्य पर पुत्रको नियुक्त कर दिया सो ठीक ही है; क्योंकि मान ही मानियोंके प्राण हैं ॥61॥

निर्वेद भरा हुआ राजा सुमित्र कृष्णाचार्य के पास पहुँचा और उनके द्वारा कहे हुए धर्मोपदेशको सुनकर दीक्षित हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्यों को यही योग्य है ॥62॥

यद्यपि उसने क्रम-क्रम से । सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप किये तो भी उसके हृदय में अपने पराजयका संलेश बना रहा अतः अन्त में उसने ऐसा विचार किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्याका फल अन्य जन्ममें प्राप्त हो तो मुझे ऐसा महान् बल और पराक्रम प्राप्त होवे जिससे मैं शत्रुओं को जीत सकूँ ॥63-64॥

ऐसा निदान कर वह संन्याससे मरा और माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की स्थिति वाला देव हुआ । वह वहाँ भोगों को भोगता हुआ चिरकाल तक सुख से स्थित रहा ॥65॥

तदनन्तर इसी जम्बूद्वीप में मेरूपर्वत के पूर्व की ओर वीतशोकापुरी नाम की नगरी है उसमें ऐश्वर्य शाली नरवृषभ नाम का राजा राज्य करता था । उसने बाह्याभ्यन्तर प्रकृतिके कोपसे रहित राज्य भोगा, बहुत भारी सुख भोगे और अन्त में विरक्त होकर समस्त राज्य त्याग दिया और दमवर मुनिराज के पास दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली ॥66-67॥

अपनी विशाल आयु कठिन तप से बिताकर वह सहस्रार स्वर्ग में अठारह सागर की स्थितिवाला देव हुआ ॥68॥

प्राणप्रिय देवांगनाओं को निरन्तर देखने से उसने अपने टिपकार रहित नेत्रोंका फल प्राप्त किया और आयु के अन्त में शान्तचित्त होकर इसी जम्बूद्वीप के खगपुर नगर के इक्ष्वाकुवंशी राजा सिंहसेनकी विजया रानीसे सुदर्शन नाम का पुत्र हुआ ॥69- 70॥

इसी राजा की अम्बिका नाम की दूसरी रानी के सुमित्रा का जीव नारायण हुआ । वे दोनों भाई पैतालीस धनुष ऊँचे थे और दश लाख वर्ष की आयु के धारक थे ॥71॥

एक दूसरेके अनुकूल बुद्धि, रूप और बलसे सहित उन दोनों भाइयोंने समस्त शत्रुओं पर आक्रमण कर आत्मीय लोगों को अपने गुणों से

अनुरक्त बनाया था ॥72॥

यद्यपि उन दोनों की लक्ष्मी अविभक्त थी-परस्पर बाँटी नहीं गई थी तो भी उनके लिए कोई दोष उत्पन्न नहीं करती थी सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त शुद्ध है उनके लिए सभी वस्तुएँ शुद्धता के लिए ही होती हैं ॥73॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्रके कुरूजांगल देशमें एक हस्तिनापुर नाम का नगर है उसमें मधुक्रीड़ नाम का राजा राज्य करता था । वह सुमित्रको जीतनेवाले राजसिंहका जीव था । उसने समस्त शत्रुओं के समूहको जीत लिया था, वह तेज से बढ़ते हुए बलभद्र और नारायणको नहीं सह सका इसलिए उस बलवान् ने कर-स्वरूप अनेकों श्रेष्ठ रत्न माँगनेके लिए दण्डगर्भ नाम का प्रधानमंत्री भेजा ॥74-76॥

जिस प्रकार हाथी के कण्ठ का शब्द सुनकर सिंह क्रुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्य के समान तेजके धारक दोनों भाई प्रधानमंत्रीके शब्द सुनकर क्रुद्ध हो उठे ॥77॥

और कहने लगे कि वह मूर्ख खेलनेके लिए साँपों भरा हुआ कर माँगता है सो यदि वह पास आया तो उसके लिए वह कर अवश्य दिया जावेगा ॥78॥

इस प्रकार क्रोधसे वे दोनों भाई कठोर शब्द कहने लगे और उस मंत्रीने शीघ्र ही जाकर राजा मधुक्रीड़को इसकी खबर दी ॥79॥

राजा मधुक्रीड़ भी उनके दुर्वचन सुनकर क्रोधसे लाल शरीर हो गया और उनके साथ युद्ध करने के लिए बहुत बड़ी सेना लेकर चला ॥80॥ युद्ध करने में चतुर नारायण भी उसके सामने आया, उसपर आक्रमण किया, चिरकाल तक उसके साथ युद्ध किया और अन्त में उसीके चलाये हुए चक्र से शीघ्र ही उसका शिर काट डाला ॥81॥

दोनों भाई तीन खण्ड के अधीश्वर बनकर राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करते रहे । उनमें नारायण, आयु का अन्त होने पर सातवें नरक गया ॥ 82॥

उसके शोक से बलभद्र ने धर्मनाथ तीर्थकर की शरणमे जाकर दीक्षा ले ली और पापोंके समूहको नष्ट कर परम पद प्राप्त किया ॥83॥ देखो, दोनों ही भाई शत्रुसेना को नष्ट करने वाले थे, अभिमानी थे, शूर वीर थे, पुण्य के फलका उपभोग करनेवाले थे, और तीन खण्डके स्वामी थे फिर भी इस तरह दुष्ट कर्म के द्वारा अलग-अलग कर दिये गये । मोहके उदय से पाप का फल नारायणको ही प्राप्त हुआ इसलिए पापोंकी अधीनताको धिक्कार है ॥84॥

पुरूषसिंह नारायण, पहले प्रसिद्ध राजगृह नगर में सुमित्र नाम का राजा था, फिर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर इस खगपुर नगर में पुरूषसिंह नाम का नारायण हुआ और उसके पश्चात् भयंकर सातवें नरकमें नारकी हुआ ॥85॥

मधुक्रीड़ प्रतिनारायण पहले मदोन्मत्त हाथियोंको वश करने वाला राजसिंह नाम का राजा था, फिर मार्गभ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसाररूपी वन में भ्रमण करता रहा, तदनन्तर धर्ममार्गका अवलम्बन कर हस्तिनापुर नगर में मधुक्रीड़ हुआ और उसके पश्चात् दुर्गतिको प्राप्त हुआ ॥86॥

सुदर्शन बलभद्र, पहले प्रसिद्ध वीतशोक नगर में नरवृषभ नामक राजा था, फिर चिरकाल तक घोर तपश्चरण कर सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ, फिर वहाँसे चय कर खगपुर नगर में शत्रुओं का पक्ष नष्ट करने वाला बलभद्र हुआ और फिर क्षमा का घर होता हुआ मरणरहित होकर क्षायिक सुख को प्राप्त हुआ ॥87॥

इन्हीं धर्मनाथ तीर्थकर के तीर्थ में तीसरे मघवा चक्रवर्ती हुए इसलिए तीसरे भव से लेकर उनका पुराण कहता हूँ ॥88॥

श्रीवासुपूज्य तीर्थकर के तीर्थ में नरपति नाम का एक बड़ा राजा था वह भाग्योदयसे प्राप्त हुए भोगों को भोग कर विरक्त हुआ और उत्कृष्ण तपश्चरण कर मरा । अन्त में पुण्योदय से मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ ॥89-90॥

सत्ताईस सागर तक मनोहर दिव्य भोगों को भोगकर वह वहाँ से च्युत हुआ और धर्मनाथ तीर्थकर के अन्तराल में कोशल नामक मनोहर देश की अयोध्यापुरीके स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा सुमित्र की भद्रारानी से मघवान् नाम का पुण्यात्मा पुत्र हुआ । यही आगे चलकर भरत क्षेत्रका स्वामी चक्रवती होगा । उसने पाँच लाख वर्षकी कल्याणकारी उत्कृष्ट आयु प्राप्त की थी । साढ़े चालीस धनुष ऊँचा उसका शरीर था, सुवर्ण के समान शरीर की कान्ति थी । वह प्रतापी छह खण्डोंसे सुशोभित पृथिवी का पालनकर चौदह महारत्नों से विभूषित एवं नौ निधियों का नायक था । वह मनुष्य, विद्याधर और इन्द्रोंको अपने चरण युगलमें झुकाता था । चक्रवर्तियोंकी विभूतिके प्रमाण में कही हुई-

छयानबे हजार देवियोंके साथ इच्छानुसार दश प्रकार के भोगों को भोगता हुआ वह अपने मनोरथ पूर्ण करता था । किसी एक दिन मनोहर नामक उद्यान में अकस्मात् अभयघोष नामक केवली पधारे । उस बुद्धिमान ने उनके दर्शन कर तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, वन्दना की, धर्म का स्वरूप सुना, उनके समीप तत्त्वोंके सद्भावका ज्ञान प्राप्त किया, विषयों से अत्यन्त विरक्त होकर प्रियमित्र नामक पुत्र के लिए साम्राज्य पदकी विभूति प्रदान की और बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्यागकर संयम धारण कर लिया ॥91-99॥

वह शुद्ध सम्यग्दर्शन तथा निर्दोष चरित्रका धारक था, शास्त्रज्ञान रूपी सम्पत्तिसे सहित था, उसके द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का विघात कर दिया था ॥100॥

अब वे नौ केवललब्धियोंके स्वामी हो गये तथा धर्मनाथ तीर्थ करके समान धर्म का उपदेश देकर अनेक भव्य जीवों को अतिशय श्रेष्ठ मोक्ष पदवी प्राप्त कराने लगे ॥101॥

अन्त में शुक्लध्यान के तृतीय और चतुर्थ भेदके द्वारा उन्होंने अघाति चतुष्कका क्षय कर दिया और पुण्य-पाप कर्मोंसे विनिमुक्त होकर अविनाशी मोक्ष प्राप्त किया ॥102॥

तीसरा चक्रवर्ती मधवा पहले वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ में नरपति नाम का राजा था, फिर उत्तम शान्तिसे युक्त श्रेष्ठ चारित्रिके प्रभाव से बड़ी ऋद्धिका धारक अहमिन्द्र हुआ, फिर समस्त पुण्य से युक्त मधवा नाम का तीसरा चक्रवर्ती हुआ और तत्पश्चात् मोक्ष के श्रेष्ठ सुख को प्राप्त हुआ ॥103॥

अथानन्तर-मधवा चक्रवर्ती के बाद ही अयोध्या नगरी के अधिपति, सूर्य वंशके शिरोमणि राजा अनन्तवीर्यकी सहदेवी रानी के सोलहवें स्वर्गसे आकर सनत्कुमार नाम का पुत्र हुआ । वह चक्रवर्ती की लक्ष्मी का प्रिय वल्लभ था ॥104-105॥

उसकी आयु तीन लाख वर्षकी थी, और शरीर की ऊँचाई पूर्व चक्रवर्ती के शरीर की ऊँचाईके समान साढ़े व्यालीस धनुष थी । सुवर्ण के समान कान्तिवाले उस चक्रवर्ती ने समस्त पृथिवीको अपने अधीन कर लिया था ॥106॥

दश प्रकार के भोगके समागमसे उसकी समस्त इन्द्रियाँ सन्तृप्त हुई थीं । वह याचकके संकल्प को पूर्ण करनेवाला मानो बड़ा भारी कल्पवृक्ष ही था ॥107॥

हिमवान् पर्वत से लेकर दक्षिण समुद्र तककी पृथिवीके बीच जितने राजा थे उन सबके ऊपर आधिपत्यको विस्तृत करता हुआ वह बहुत भारी लक्ष्मी का उपभोग करता था ॥108॥

इस प्रकार इधर इनका समय सुख से व्यतीत हो रहा था उधर सौधर्म इन्द्र की सभा में देवों ने सौधर्मन्द्रसे पूछा कि क्या कोई इस लोक में सनत्कुमार इन्द्रके रूपको जीतनेवाला है ? सौधर्मन्द्रने उत्तर दिया कि हाँ, सनत्कुमार चक्रवर्ती सर्वांग सुन्दर है । उसके समान रूपवाला पुरुष कभी किसी ने स्वप्न में भी नहीं देखा है । सौधर्मन्द्रके वचन सुनकर दो देवोंको कौतुहल उत्पन्न हुआ और वे उसका रूप देखनेकी इच्छा से पृथिवीपर आये । जब उन्होंने सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखा तब 'सौधर्मन्द्रका कहना ठीक है' ऐसा कहकर वे बहुत ही हर्षित हुए ॥109-112॥

उन देवों ने सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपने आनेका कारण बतलाकर कहा कि हे बुद्धिमन् ! चक्रवर्तिन् ! चित्तको सावधानकर सूनिये-यदि इस संसार में आपके लिये रोग, बढ़ापा, दुःख तथा मरणकी सम्भावना न हो तो आप अपने सौन्दर्यसे तीर्थंकरको भी जीत सकते हैं ॥ 113-114॥

ऐसा कहकर वे दोनों देव शीघ्र ही अपने स्थानपर चले गये । राजा सनत्कुमार उन देवों के वचनों से ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ मानो काललब्धिने ही आकर उसे प्रतिबुद्ध कर दिया हो ॥115॥

वह चिन्तन करने लगा कि मनुष्यों के रूप, यौवन, सौन्दर्य, सम्पत्ति और सुख आदि बिजलीरूप लताके विस्तारसे पहले ही नष्ट हो जानेवाले हैं ॥116॥

मैं इन नश्वर सम्पत्तियोंको छोड़कर पापोंका जीतने वाला बनूँगा और शीघ्र ही इस शरीर को छोड़कर अशरीर अवस्था को प्राप्त होऊँगा ॥ 117॥

ऐसा विचारकर उन्होंने देवकुमार नामक पुत्र के लिए राज्य देकर शिवगुप्त जिनेन्द्र के समीप अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ले ली ॥118॥ वे अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों से पूज्य थे, ईर्या आदि पाँच समितियोंका पालन करते थे, छह आवश्यकों से उन्होंने अपने आपको वश

कर लिया था, इन्द्रियों की सन्ततिको रोक लिया था, वस्त्रका त्यागकर रखा था, वे पृथिवीपर शयन करते थे, कभी दातौन नहीं करते थे; खड़े - खड़े एक बार भोजन करते थे । इस प्रकार अट्टाईस मूलगुणों से अत्यन्त शोभायमान थे ॥119-120॥

तीन कालमें योगधारण करना, वीरासन आदि आसन लगाना तथा एक करवटसे सोना आदि शास्त्रोंमें कहे हुए उत्तरगुणोंका निरन्तर यथायोग्य आचरण करते थे ॥121॥

वे पृथिवीके समान क्षमाके धारक थे, पानीके समान आश्रित मनुष्यों के सन्तापको दूर करते थे, पर्वत के समान अकम्प थे, परमाणुके समान निःसंग थे, आकाशके समान निर्लेप थे, समुद्र के समान गम्भीर थे, चन्द्रमा के समान सबको आह्लादित करते थे, सूर्य के समान देदीप्यमान थे, तपाये हुए सुवर्ण के समान भीतर-बाहर शुद्ध थे, दर्पणके समान समदर्शी थे, कछुवेके समान संकोची थे, साँपके समान कहीं अपना स्थिर निवास नहीं बनाते थे, हाथी के समान चुपचाप गमन करते थे, शृगालके समान सामने देखते थे, उत्तम सिंह के समान शूरवीर थे और हरिणके समान सदा विनिद्र-जागरूक रहते थे । उन्होंने सब परिषद् जीत लिये थे, सब उपसर्ग सह लिये थे और विक्रिया आदि अनेक ऋद्धियां प्राप्त कर ली थीं ॥122-126॥

उन्होंने क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर दो शुक्लध्यानोके द्वारा घातिया कर्मों को नष्टकर केवलज्ञान उत्पन्न किया था ॥127॥

तदनन्तर अनेक देशोंमें विहारकर अनेक भव्य जीवों को समीचीन धर्म का उपदेश दिया और कुमार्ग में चलनेवाले मनुष्यों के लिए दुर्गम मोक्षका समीचीन मार्ग सबको बतलाया ॥128॥

जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्तकी रह गई तब तीनों योगोंका निरोध कर उन्होंने समस्त कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होनेवाला अविनाशी मोक्षपद प्राप्त किया ॥129॥

जिन्होंने अपने जिनेन्द्र के समान शरीरसे सनत्कुमार इन्द्रको जीत लिया, जिन्होंने अपने पराक्रमके बलसे दिशाओं के समूह पर आक्रमण किया और धर्मचक्र द्वारा पापोंका समूह नष्ट किया वे श्रीसनत्कुमार भगवान् तुम सबके लिए शीघ्र ही लक्ष्मी प्रदान करें ॥130॥

अपराजित बलभद्र तथा अनन्तवीर्य नारायण चरित

पर्व - 62

कथा :

संसार को नष्ट करनेवाले जिन शान्तिनाथ भगवान् का ज्ञान, पर्याय सहित समस्त द्रव्योंको जानकर आगे जानने योग्य द्रव्य न रहने से विश्रान्त हो गया वे शान्तिनाथ भगवान् तुम सबकी शान्ति के लिए हों ॥1॥

पदार्थ के यथार्थ-स्वरूप को देखनेवाला विद्वान् पहले वक्ता, श्रोता तथा कथा के भेदों का वर्णन कर पीछे गम्भीर अर्थ से भरी हुई धर्म-कथा कहे ॥2॥

विद्वान् होना, श्रेष्ठ चारित्र्य धारण करना, दयालु होना, बुद्धिमान् होना, बोलने में चतुर होना, दूसरों के इशारे को समझ लेना, प्रश्नों के उपद्रव को सहन करना, मुख अच्छा होना, लोक-व्यवहार का ज्ञाता होना, प्रसिद्धि तथा पूजा से युक्त होना और थोड़ा बोलना, इत्यादि धर्मोपदेश देने वाले के गुण हैं ॥3-4॥

यदि वक्ता तत्त्वों का जानकार होकर भी चारित्र्य से रहित होगा तो यह कहे अनुसार स्वयं आचरण क्यों नहीं करता ऐसा सोचकर साधारण मनुष्य उसकी बात को ग्रहण नहीं करेंगे ॥5॥

यदि वक्ता सम्यक् चारित्र्य से युक्त होकर भी शास्त्र का ज्ञाता नहीं होगा तो वह थोड़े से शास्त्र ज्ञान से उद्धत हुए मनुष्यों के हास्य-युक्त वचनों से समीचीन मोक्ष-मार्ग की हँसी करावेगा ॥6॥

जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन जीव का अबाधित स्वरूप है उसी प्रकार विद्वत्ता और सच्चरित्रता वक्ता का मुख्य लक्षण है ॥7॥

'यह योग्य है ? अथवा अयोग्य है ?' इस प्रकार कही हुई बात का अच्छी तरह विचार कर सकता हो, अवसर पर अयोग्य बात के दोष कह सकता हो, उत्तम बात को भक्ति से ग्रहण करता हो, उपदेश-श्रवण के पहले ग्रहण किये हुए असार उपदेश में जो विशेष आदर अथवा हठ नहीं करता हो, भूल हो जाने पर जो हँसी नहीं करता हो, गुरू-भक्त हो, क्षमावान् हो, संसार से डरनेवाला हो, कहे हुए वचनों को धारण करने में तत्पर हो, तोता, मिट्टी अथवा हंस के गुणों से सहित हो वह श्रोता कहलाता है ॥8-10॥

जिसमें जीव अजीव आदि पदार्थों का अच्छी तरह निरूपण किया जाता हो, हितेच्छु मनुष्यों को शरीर, संसार और भोगों से वैराग्य प्राप्त

कराया जाता हो, दान पूजा तप और शील की विशेषताएँ विशेषता के साथ बतलाई जाती हों, जीवों के लिए बन्ध, मोक्ष तथा उनके कारण और फलों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता हो, जिसमें सत् और असत् की कल्पना युक्ति से की जाती हो, जहाँ माता के समान हित करनेवाली दया का खूब वर्णन हो और जिसके सुनने से प्राणी सर्व परिग्रह का त्याग कर मोक्ष प्राप्त करते हों वह तत्त्व-धर्म-कथा कहलाती है इसका दूसरा नाम धर्मकथा भी है ॥11-14॥

इस प्रसार वक्ता, श्रोता और धर्मकथा के पृथक्-पृथक् लक्षण कहे । अब इसके आगे शान्तिनाथ भगवान् का विस्तृत चरित्र कहता हूँ ॥ 15॥

अथानन्तर-जो समस्त द्वीपों का स्वामी है और लवण-समुद्र का नीला जल ही जिसके बड़े शोभायमान वस्त्र हैं ऐसे जम्बू-द्वीपरूपी महाराज के मुख की शोभा को धारण करनेवाला, छह-खण्डों से सुशोभित, लवण-समुद्र तथा हिमवान्-पर्वत के मध्य में स्थित भरत नाम का एक अभीष्ट क्षेत्र है ॥16-17॥

वहाँ भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले भोगों को आदि लेकर चक्रवर्ती दश प्रकार के भोग, तीर्थकरों का ऐश्वर्य और अघातिया कर्मों के भय से प्रकट होनेवाली सिद्धि-मुक्ति भी प्राप्त होती है इसलिए विद्वान लोग उसे स्वर्ग-लोक से भी श्रेष्ठ कहते हैं । उस क्षेत्र में ऐरावत क्षेत्र के समान वृद्धि और हास के द्वारा परिवर्तन होता रहता है ॥18-19॥

उसके ठीक बीच में भरत-क्षेत्र का आधा विभाग करनेवाला, पूर्व से पश्चिम तक लम्बा तथा ऊँचा विजयार्थ पर्वत सुशोभित होता है जो कि उज्ज्वल यश के समूह के समान जान पड़ता है ॥20॥

अथवा चाँदी का बना हुआ वह विजयार्थ पर्वत ऐसा जान पड़ता है कि स्वर्ग-लोक को जीतने से जिसे संतोष उत्पन्न हुआ है ऐसी पृथिवी रूपी स्त्री का इकट्ठा हुआ मानो हास्य ही हो ॥21॥

हमारे ऊपर पड़ी हुई वृष्टि सदा सफल होती है और तुम लोगों के ऊपर पड़ी हुई वृष्टि कभी सफल नहीं होती इस प्रकार वह पर्वत अपने तेज से सुमेरु पर्वतों की मानो हँसी ही करता रहता है ॥22॥

ये नदियाँ चंचल स्वभाववाली हैं, कुटिल हैं, जल से (पक्ष में जड़-मूर्खों से) आढ्य-सहित हैं, और जलधि-समुद्र (पक्ष में जडधि-मूर्ख) को प्रिय हैं इसलिए घृणा से ही मानो उसने गंगा-सिन्धु इन दो नदियों को अपने गुहारूपी मुख से वमन कर दिया था ॥23॥

वह पर्वत चक्रवर्ती को अनुकरण करता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने आश्रय में रहने वाले देव और विद्याधरों के द्वारा सदा सेवनीय होता है और समस्त इन्द्रिय-सुखों का स्थान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अपने-अपने आश्रय में रहने वाले देव और विद्याधरों से सदा सेवित था और समस्त इन्द्रिय-सुखों का स्थान था ॥24॥

उस विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल नाम की नगरी है जो अपनी पताकाओं से आकाश को मानो बलाकाओं से सहित ही करती रहती है ॥25॥

वह मेघों को चूमने वाले रत्नमय कोट से घिरी हुई है इसलिए ऐसी जान पड़ती है मानो रत्न की वेदिका से घिरी हुई जम्बूद्वीप की भूमि ही हो ॥26॥

वहाँ धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ हर्ष से बढ़ रहे थे और दरिद्र शब्द कहीं बाहर से भी नहीं दिखाई देता था-सदा छुपा रहता था ॥ 27॥

जिस प्रकार अन्य मतावलम्बियों के लिए दुर्गम-कठिन प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोग इन चार उपायों के द्वारा पदार्थों की परीक्षा सुशोभित होती है उसी प्रकार शत्रुओं के लिए दुर्गम-दुःख से प्रवेश करने के योग्य चार गोपुरों से वह नगरी सुशोभित हो रही थी ॥28॥

जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् की विद्या में अचारित्र-असंयम का उपदेश देनेवाले वचन नहीं हैं उसी प्रकार उस नगरी में शीलरूपी आभूषण से रहित कुलवती स्त्रियाँ नहीं थीं ॥29॥

ज्वलनजटी विद्याधर उस नगरी का राजा था, जो अत्यन्त कुशल था और जिस प्रकार मणियों का आकर-खान समुद्र है उसी प्रकार वह गुणी मनुष्यों आकर था ॥30॥

जिस प्रकार सूर्य के प्रताप से नये पत्ते मुरझा जाते हैं उसी प्रकार उसके प्रताप से शत्रु मुरझा जाते थे-कान्ति हीन हो जाते थे और जिस प्रकार वर्षा से लताएँ बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार उसकी नीति से प्रजा सफल होकर बढ़ रही थी ॥31॥

जिस प्रकार यथा-समय यथा-स्थान बोये हुए धान उत्तम फल देते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा यथा-समय यथा स्थान-प्रयोग किये हुए साम आदि उपाय बहुत फल देते थे ॥32॥

जिस प्रकार आगे की संख्या पिछली संख्याओं से बड़ी होती है उसी प्रकार वह राजा पिछले समस्त राजाओं को अपने गुणों और स्थानों से जीतकर बड़ा हुआ था ॥33॥

उसकी समस्त सिद्धियाँ देव और पुरुषार्थ दोनोंके आधीन थीं, वह मंत्री आदि मूल प्रकृति तथा प्रजा आदि बाह्य प्रकृति के क्रोध से रहित होकर स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र का विचार करता था, उत्साह शक्ति, मन्त्र शक्ति और प्रभुत्व शक्ति इन तीन शक्तियों तथा इनसे निष्पन्न होने वाली तीन सिद्धियों की अनुकूलता से उसे सदा योग और क्षेम का समागम होता रहता था, साथ ही वह सन्धि विग्रह यान आदि छह गुणों की अनुकूलता रखता था इसलिए उसका राज्य निरन्तर बढ़ता ही रहता था ॥34-35॥

उसी विजयार्थ पर द्युतिलक नाम का दूसरा नगर था । राजा चन्द्राभ उसमें राज्य करता था, उसकी रानी का नाम सुभद्रा था । उन दोनों के वायुवेगा नाम की पुत्री थी । उसने अपनी वेग विद्या के द्वारा समस्त वेगशाली विद्याधर राजाओं को जीत लिया था । उसकी कान्ति चमकती हुई बिजली के प्रकाश को जीतने वाली थी ॥36-37॥

जिस प्रकार भाग्यशाली पुरुषार्थी मनुष्य की बुद्धि उसकी त्रिवर्ग सिद्धि का कारण होती है उसी प्रकार समस्त गुणों से विभूषित वह वायुवेगा राजा ज्वलनजटी की त्रिवर्गसिद्धि का कारण हुई थी ॥38॥

प्रतिपदा के चन्द्रमा की रेखा के समान वह सब मनुष्यों के द्वारा स्तुत्य थी । तथा अनुराग से भरी हुई द्वितीय भूमि के समान वह अपने ही पुरुषार्थ से राजा ज्वलन के भोगने योग्य हुई थी ॥39॥

वायुवेगा के प्रेम की प्रेरणा से ज्वलनजटी ने अनेक ऋद्धियों से युक्त राज-लक्ष्मी को उसका परिकर (दासी) बना दिया था सो ठीक ही है क्योंकि अलभ्य वस्तु के विषय में मनुष्य क्या नहीं करता है ? ॥40॥

बड़े कुल में उत्पन्न होने से तथा अनुराग से युक्त होने के कारण उस पतिव्रता के एक-पतिव्रत था और प्रेम की अधिकता से उस राजा के एक-पत्नीव्रत था ऐसा लोग कहते हैं ॥41॥

जिस प्रकार इन्द्राणी में इन्द्र की लोकोत्तर प्रीति होती है उसी प्रकार उसमें ज्वलनजटी की लोकोत्तर प्रीति थी फिर उसके रूपादि गुणों का पृथक् पृथक् क्या वर्णन किया जावे ॥42॥

जिस प्रकार दया और सम्यग्ज्ञान के मोक्ष होता है उसी प्रकार उन दोनों के अपनी कीर्ति की प्रभा से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला अर्ककीर्ति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥43॥

जिस प्रकार नीति और पराक्रम के लक्ष्मी होती है उसी प्रकार उन दोनों के सब का मन हरनेवाली स्वयंप्रभा नाम की पुत्री भी उत्पन्न हुई जो अर्ककीर्ति के साथ इस प्रकार बढ़ने लगी जिस प्रकार कि चन्द्रमा के साथ उसकी प्रभा बढ़ती है ॥44॥

वह मुख से कमल को, नेत्रों से उत्पल को, आभा से मणिमय दर्पण को और कान्ति से चन्द्रमा को जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भौंहरूप पताका ही फहरा रही हो ॥45॥

लता में फूल के समान ज्यों ही उसके शरीर में यौवन उत्पन्न हुआ त्यों ही उसने कामी विद्याधरों में काम-ज्वर उत्पन्न कर दिया ॥46॥

कुछ कुछ पीले और सफेद कपोलों की कान्ति से सुशोभित मुख-मण्डल पर उसके नेत्र बड़े चंचल हो रहे थे जिनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कमर को पतली देख उसके टूट जाने के भय से ही नेत्रों को चंचल कर रही हो ॥47॥

उस दुबली-पतली स्वयम्प्रभा की इन्द्रनील मणि के समान कान्तिवाली पतली रोमावली ऐसी जान पड़ती थी मानो उछलकर ऊँचे स्थूल और निविड़ स्तनों पर चढ़ना ही चाहती हो ॥48॥

यद्यपि कामदेव ने उसका स्पर्श नहीं किया था तथापि प्राप्त हुए यौवन से ही वह कामदेव के विकार को प्रकट करती हुई-सी मनुष्यों के दृष्टिगोचर हो रही थी ॥49॥

अथानन्तर किसी एक दिन जगन्नन्दन और नाभिनन्दन नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज मनोहर नामक उद्यान में आकर विराजमान हुए । उनके आगमन की खबर देनेवाले वनपाल से यह समाचार जानकर राजा चतुरंग सेना, पुत्र तथा अन्तःपुर के साथ उनके समीप गया । वहाँ वन्दना कर उसने श्रेष्ठ धर्म का स्वरूप सुना, बड़े आदर से सम्यग्दर्शन तथा दान शील आदि व्रत ग्रहण किये, तदनन्तर भक्ति-पूर्वक

उन चारण-ऋद्धिधारी मुनियों को प्रणाम कर वह नगर में वापिस आ गया ॥50-52॥

स्वयंप्रभा ने भी वहाँ समीचीन धर्म ग्रहण किया । एक दिन उसने पर्व के समय उपवास किया जिससे उसका शरीर कुछ म्लान हो गया । उसने अर्हन्त भगवान् की पूजा की तथा उनके चरण-कमलों के संपर्क से पवित्र पापहारिणी विचित्र माला विनय से झुककर दोनों हाथों से पिता के लिए दी ॥53-54॥

राजा ने भक्ति-पूर्वक वह माला ले ली और उपवास से थकी हुई स्वयंप्रभा की ओर देख, 'जाओ पारण करो' यह कर उसे विदा किया ॥ 55॥

पुत्री के चले जाने पर राजा मन ही मन विचार करने लगा कि जो यौवन से परिपूर्ण समस्त अंगों से सुन्दर है ऐसी यह पुत्री किसके लिए देनी चाहिये ॥56॥

उसने उसी समय मन्त्रिवर्ग को बुलाकर प्रकृत बात कही, उसे सुनकर सुश्रुत नाम का मंत्री परीक्षा कर तथा अपने मन में निश्चय कर बोला ॥57॥

नीलान्जना है, उन दोनों के अश्वग्रीव, नीलरथ, नीलकण्ठ, सुकण्ठ और वज्रकण्ठ नाम के पाँच पुत्र हैं । इनमें अश्वग्रीव सबसे बड़ा है ॥ 58-59॥

अश्वग्रीव की स्त्री का नाम कनकचित्रा है उन दोनोंके रत्नग्रीव, रत्नांगद, रत्नचूड तथा रत्नरथ आदि पाँच सौ पुत्र हैं । शास्त्रज्ञान का सागर हरिश्मश्रु इसका मंत्री है तथा शतबिन्दू निमित्तज्ञानी है-पुरोहित है जो कि अष्टांग निमित्तज्ञान में अतिशय निपुण है ॥60-61॥

इस प्रकार अश्वग्रीव सम्पूर्ण राज्य का अधिपति है और दोनों श्रेणियों का स्वामी है अतः इसके लिए ही कन्या देनी चाहिये ॥62॥

इसके बाद सुश्रुत मंत्री के द्वारा कही हुई बात का विचार करता हुआ बहुश्रुत मंत्री राजा से अपने हृदय की बात कहने लगा । वह बोला कि सुश्रुत मंत्री ने जो कुछ कहा है वह यद्यपि ठीक है तो भी निम्नांकित बात विचारणीय है । कुलीनता, आरोग्य, अवस्था, शील, श्रुत, शरीर, लक्ष्मी, पक्ष और परिवार, वर के ये नौ गुण कहे गये हैं । अश्वग्रीव में यद्यपि ये सभी गुण विद्यमान हैं किन्तु उसकी अवस्था अधिक है, अतः कोई दूसरा वर जिसकी अवस्था कन्या के समान हो और गुण अश्वग्रीव के समान हों, खोजना चाहिये ॥63-65॥

गगनवल्लभपुर का राजा चित्ररथ प्रसिद्ध है, मेघपुर में श्रेष्ठ राजा पद्मरथ रहता है, चित्रपुरका स्वामी अरिन्जय है । त्रिपुरनगर में विद्याधरों का राजा ललितांगद रहता है, अश्वपुर का राजा कनकरथ विद्या में अत्यन्त कुशल है, और महारत्नपुर का राजा धनन्जय समस्त विद्याधरों का स्वामी है । इनमें से किसी एक के लिए कन्या देनी चाहिये यह निश्चय है ॥66-68॥

बहुश्रुत के वचन हृदय में धारण कर तथा विचार कर स्मृतिरूपी नेत्र को धारण करनेवाला श्रुत नाम का तीसरा मन्त्री निम्नांकित मनोहर वचन कहने लगा ॥69॥

यदि कुल, आरोग्य, वय और रूप आदि से सहित वर के लिए कन्या देना चाहते हों तो मैं कुछ कहता हूँ उसे थोड़ा सुनिये ॥70॥

इसी विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी में सुरेन्द्रकान्तार नाम का नगर है उसके राजा का नाम मेघवाहन है । उसके मेघमालिनी नाम की वल्लभा है । उन दोनों के विद्युत्प्रभ नाम का पुत्र और ज्योतिर्माला नाम की निर्मल पुत्री है । खगेन्द्र मेघवाहन इन दोनों पुत्र-पुत्रियों से ऐसा समृद्धिमान सम्पन्न हो रहा था जैसा कि कोई पुण्य-कर्म और सुबुद्धिसे होता है । अर्थात् पुत्र पुण्य के समान था और पुत्री बुद्धि के समान थी ॥71-72॥

किसी एक दिन मेघवाहन स्तुति करने के लिए सिद्धकूट गया था । वहाँ वरधर्म नाम के अवधिज्ञानी चारणऋद्धिधारी मुनि की वन्दना कर उसने पहले तो धर्म का स्वरूप सुना और बाद में अपने पुत्र के पूर्व भव पूछे । मुनि ने कहा कि हे विद्याधर ! चित्त लगाकर सुनो, मैं कहता हूँ ॥73-74॥

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्सकावती नाम का देश है उसमें प्रभाकरी नाम की नगरी है वहाँ सुन्दर आकार वाला नन्दन नाम का राजा राज्य करता था ॥75॥

जयसेना स्त्री के उदर से उत्पन्न हुआ विजयभद्र नाम का इसका पुत्र था । उस विजयभद्र ने किसी दिन मनोहर नामक उद्यान में फला हुआ आम का वृक्ष देखा फिर कुछ दिन बाद उसी वृक्ष को फल-रहित देखा । यह देख उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया और पिहितास्त्रव गुरु से चार हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥76-77॥

आयु के अन्त में माहेन्द्र स्वर्ग के चक्रक नामक विमान में सात सागर की आयु वाला देव हुआ । वहाँ चिरकाल तक दिव्य-भोगों का उपभोग करता रहा ॥78॥

वहाँ से च्युत होकर यह तुम्हारा पुत्र हुआ है और इसी भव से निर्वाण को प्राप्त होगा । श्रुतसागर मन्त्री कहने लगा कि मैं भी स्तुति करने के लिए सिद्धकूट जिनालय में वरधर्म नामक चारण मुनि के पास गया था वहीं यह सब मैंने सुना है ॥79॥

इस प्रकार विद्युत्प्रभ वरके योग्य समस्त गुणों से सहित है उसे ही यह कन्या दी जावे और उसकी पुण्यशालिनी बहिन ज्योतिर्माला को हमलोग अर्ककीर्ति के लिए स्वीकृत करें ॥80॥

इस प्रकार श्रुतसागर के वचन सुनकर विद्वानों में अत्यन्त श्रेष्ठ सुमति नाम का मन्त्री बोला कि इस कन्या को पृथक्-पृथक् अनेक विद्याधर राजा चाहते हैं इसलिए विद्युत्प्रभ को कन्या नहीं देनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से बहुत राजाओं के साथ वैर हो जाने की सम्भावना है मेरी समझ से तो स्वयंवर करना ठीक होगा । ऐसा कहकर वह चुप हो गया ॥81-82॥

सब लोगों ने यही बात स्वीकृत कर ली, इसलिए विद्याधर राजा ने सब मन्त्रियों को विदा कर दिया और संभिन्नश्रोतृ नामक निमित्तज्ञानी से पूछा कि स्वयंप्रभा का हृदयवल्लभ कौन होगा ? पुराणों के अर्थ को जाननेवाले निमित्तज्ञानी ने राजा के लिए निम्नप्रकार उत्तर दिया ॥ 83-84॥

इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में एक पुष्कलावती नाम का देश है उसकी पुण्डरीकिणी नगरी के समीप ही मधुक नाम के वन में पुरुरवा नाम का भीलों का राजा रहता था । किसी एक दिन मार्ग भूल जाने से इधर-उधर घूमते हुए सागरसेन मुनिराज के दर्शन कर उसने मार्ग में ही पुण्य का संचय किया तथा मद्य मांस मधु का त्याग कर दिया । इस पुण्य के प्रभाव से वह सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और वहाँ से च्युत होकर तुम्हारी अनन्तसेना नाम की स्त्री के मरीचि नाम का पुत्र हुआ है । यह मिथ्या मार्ग के उपदेश देने में तत्पर है इसलिए चिरकाल तक इस संसाररूपी चक्र में भ्रमण कर सुरम्यदेश के पोदनपुर नगर के स्वामी प्रजापति महाराज की मृगावती रानी से त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र होगा ॥85-90॥

उन्हीं प्रजापति महाराज की दूसरी रानी भद्रा के एक विजय नाम का पुत्र होगा जो कि त्रिपृष्ठ का बड़ा भाई होगा । ये दोनों भाई श्रेयान्सनाथ तीर्थकर के तीर्थ में अश्वग्रीव नामक शत्रु को मार कर तीन खण्ड के स्वामी होंगे और पहले बलभद्र नारायण कहलावेंगे । त्रिपृष्ठ संसार में भ्रमण कर अन्तिम तीर्थकर होगा ॥91-92॥

आपका भी जन्म राजा कच्छ के पुत्र नमि के वंश में हुआ है अतः बाहुबली स्वामी के वंश में उत्पन्न होनेवाले उस त्रिपृष्ठ के साथ आपका सम्बन्ध है ही ॥93॥

इसलिए तीन खण्ड की लक्ष्मी और सुख के स्वामी त्रिपृष्ठ के लिए यह कन्या देनी चाहिये, यह कल्याण करने वाली कन्या उसका मन हरण करनेवाली हो ॥94॥

त्रिपृष्ठ को कन्या देने से आप भी समस्त विद्याधरों के स्वामी हो जावेंगे इसलिए भगवान् आदिनाथ के द्वारा कही हुई इस बात का निश्चय कर आपको यह अवश्य ही करना चाहिये ॥95॥

इस प्रकार निमित्तज्ञानी के वचनों को हृदय में धारण करण कर रथनूपुर नगर के राजा ने बड़े हर्ष से उस निमित्तज्ञानी की पूजा की ॥96॥ और उसी समय उत्तम लेख और भेंट के साथ इन्दु नाम का एक दूत प्रजापति महाराज के पास भेजा ॥97॥

'यह त्रिपृष्ठ स्वयंप्रभा का पति होगा' यह बात प्रजापति महाराज ने जयगुप्त नामक निमित्तज्ञानी से पहले ही जान ली थी इसलिये उसने आकाश से उतरते हुए विद्याधरराज के दूत का, पुष्पकरण्डक नाम के वन में बड़े उत्सव से स्वागत-सत्कार किया ॥98-99॥

महाराज उस दूत के साथ अपने राजभवन में प्रविष्ट होकर जब सभागृह में राजसिंहासन पर विराजामान हुए तब मन्त्री ने दूत के द्वारा लाई हुई भेंट समर्पित की । राजा ने उस भेंट को बड़े प्रेम से देखकर अपना अनुराग प्रकट किया और दूत को सन्तुष्ट करते हुए कहा कि हम तो इस भेंट से ही सन्तुष्ट हो गये ॥100-101॥

तदनन्तर दूत ने सन्देश सुनाया कि यह श्रीमान् त्रिपृष्ठ समस्त कुमारों में श्रेष्ठ है अतः इसे लक्ष्मी के समान स्वयंप्रभा नाम की इस कन्या से आज सुशोभित किया जावे । इस यथार्थ सन्देश को सुनकर प्रजापति महाराज हर्ष दुगुना हो गया । वे मस्तक पर भुजा रखते हुए बोले कि जब विद्याधरों के राजा स्वयं ही अपने जमाई का यह तथा अन्य महोत्सव करने के लिए चिन्तित हैं तब हमलोग क्या चीज है ? ॥

102-104॥

इस प्रकार उस समय आये हुए दूत को महाराज प्रजापति ने कार्य की सिद्धि से प्रसन्न किया, उसका सम्मान किया और बदले की भेंट देकर शीघ्र ही विदा कर दिया ॥105॥

वह दूत भी शीघ्र ही जाकर रथनूपुरनगर के राजा के पास पहुँचा और प्रणाम कर उसने कल्याणकारी कार्य सिद्ध होने की खबर दी ॥ 106॥

समय उस नगर में जगह-जगह तोरण बांधे गये थे, चन्दन का छिड़काव किया था, सब जगह उत्सुकता ही उत्सुकता दिखाई दे रही थी, और पताकाओं की पंक्ति रूप चंचल भुजाओं से वह ऐसा जान पड़ता था मानो बुला ही रहा हो । महाराज प्रजापति ने अपनी सम्पत्ति के अनुसार उसकी अगवानी की । इस प्रकार उसने बड़े हर्ष से नगर में प्रवेश किया ॥107-109॥

प्रवेश करने के बाद महाराज प्रजापति ने उसे स्वयं ही योग्य स्थान पर ठहराया और पाहुने के योग्य उसका सत्कार किया । इस सत्कार से उसका हृदय तथा मुख दोनों ही प्रसन्न हो गये ॥110॥

विवाह के योग्य सामग्री से उसने समस्त पृथिवी तल को सन्तुष्ट किया और दूसरी प्रभा के समान अपनी स्वयंप्रभा नाम की पुत्री त्रिपृष्ठ के लिए देकर सिद्ध करने के लिए सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नाम की दो विद्याएँ दीं । इस तरह वे सब मिलकर सुखरूपी समुद्र में गोता लगाने लगे ॥111-112॥

इधर अश्वग्रीव प्रतिनारायण के नगर में विनाश को सूचित करनेवाले तीन प्रकार के उत्पात बहुत शीघ्र साथ ही साथ होने लगे ॥113॥

जिस प्रकार तीसरे काल के अन्त में पत्न्य का आठवाँ भाग बाकी रहने पर नई नई बातों को देखकर भोगभूमि के लोग भयभीत होते हैं उसी प्रकार उन अभूतपूर्व उत्पातों को देखकर वहाँ के मनुष्य सहसा भयभीत होने लगे ॥114॥

अश्वग्रीव भी घबड़ा गया । उसने सलाह कर एकान्त में शतबिन्दु नामक निमित्तज्ञानी से 'यह क्या है ?' इन शब्दों द्वारा उनका फल पूछा ॥ 115॥

शतबिन्दु ने कहा कि जिसने सिन्धु देश में पराक्रमी सिंह मारा है, जिसने तुम्हारे प्रति भेजी हुई भेंट जबर्दस्ती छीन ली और रथनूपूर नगर के राजा ज्वलनजटी ने जिसके लिए आपके योग्य स्त्रीरत्न दे दिया है उससे आपको क्षोभ होगा ॥116-117॥

ये सब उत्पात उसी के सूचक हैं । तुम इसका प्रतिकार करो । इस प्रकार निमित्तज्ञानी के द्वारा कही बात को हृदय में रखकर अश्वग्रीव अपने मन्त्रियों से कहने लगा कि आत्मज्ञानी मनुष्य शत्रु और रोग को उत्पन्न होते ही नष्ट कर देते हैं परन्तु हमने व्यर्थ ही अहंकारी रहकर यह बात भुला दी ॥118-119॥

अब भी यह दुष्ट आप लोगों के द्वारा विष के अंकुर के समान शीघ्र ही छेदन कर देने के योग्य है ॥120॥

उन मन्त्रियों ने भी गुप्त रूप से भेजे हुए दूतों के द्वारा उन सबकी खोज लगा ली और निमित्तज्ञानी ने जिन सिंहवध आदि की बातें कहीं थीं उन सबका पता चला कर निश्चय कर लिया कि इस पृथिवी पर प्रजापति का पुत्र त्रिपृष्ठ ही बड़ा अहंकारी है । वह अपने पराक्रम से सब राजाओं पर आक्रमण कर उन्हें जीतना चाहता है ॥121-122॥

वह हम लोगों के विषय में कैसा है ? अनुकूल प्रतिकूल कैसे विचार रखता है इस प्रकार सरल चित्त-निष्कपट दूत भेजकर उसकी परीक्षा करनी चाहिये - मन्त्रियों ने ऐसा पृथक्-पृथक् राजा से कहा ॥123॥

उसी समय उसने उक्त बात सुनकर चिन्तागति और मनोगति नाम के दो विद्वान् दूत त्रिपृष्ठ के पास भेजे ॥124॥

उन दूतों ने जाकर पहले अपने आने की राजा के लिए सूचना दी, फिर राजा के दर्शन किये, अनन्तर विनय से नम्रीभूत होकर यथा योग्य भेंट दी ॥125॥

फिर कहने लगे कि राजा अश्वग्रीव ने आज तुम्हें आज्ञा दी है कि मैं रथावर्त नाम के पर्वत पर जाता हूँ आप भी आइये ॥126॥

हम दोनों तुम्हें लेने के लिए आये हैं । आप को उसकी आज्ञा मस्तक पर रखकर आना चाहिये । ऐसा उन दोनों ने जोर से कहा । यह सुनकर त्रिपृष्ठ बहुत क्रुद्ध हुआ और कहने लगा कि अश्वग्रीव (घोड़े जैसी गर्दनवाले) खरग्रीव, (गधे जैसी गर्दन वाले) क्रौन्चग्रीव (क्रौन्च पक्षी जैसी गर्दन वाले) और कमेलक ग्रीव (ऊँट जैसी गर्दनवाले) ये सब मैंने देखे हैं । हमारे लिए वह अपूर्व आदमी नहीं जिससे कि देखा जावे ॥127-128॥

जब वह त्रिपृष्ठ कह चुका तब दूतों ने फिर से कहा कि वह अश्वग्रीव सब विद्याधरों का स्वामी है, सबके द्वारा पूजनीय है और आपका पक्ष करता है इसलिए उसका अपमान करना उचित नहीं है ॥129॥

यह सुनकर त्रिपृष्ठ ने कहा कि वह खग अर्थात् पक्षियों का ईश है-स्वामी है इसलिए पक्ष अर्थात् पंखों से चले इसके लिए मनाई नहीं है परन्तु मैं उसे देखने के लिए नहीं जाऊंगा ॥130॥

यह सुनकर दूतों ने फिर कहा कि अहंकार से ऐसा नहीं कहना चाहिये । चक्रवर्ती के देखे बिना शरीर में भी स्थिति नहीं हो सकती फिर भूमि पर स्थिर रहने के लिए कौन समर्थ है ? ॥131॥

दूतों के वचन सुनकर त्रिपृष्ठ ने फिर कहा कि तुम्हारा राजा चक्र फिराना जानता है सो क्या वह घट आदि को बनाने वाला (कुम्भकार) कर्ता कारक है, उसका क्या देखना है ? यह सुनकर दूतों को क्रोध आ गया । वे कुपित होकर बोले कि यह कन्या-रत्न जो कि चक्रवर्ती के भोगने योग्य है क्या अब तुम्हें हजम हो जावेगा ? और चक्रवर्ती के कुपित होने पर रथनूपुर का राजा ज्वलनजटी तथा प्रजापति अपना नाम भी क्या सुरक्षित रख सकेगा । इतना कह वे दूत वहाँ से शीघ्र ही निकल कर अश्वग्रीव के पास पहुँचे और नमस्कार कर त्रिपृष्ठ के वैभव का समाचार कहने लगे ॥132-135॥

अश्वग्रीव यह सब सुनने के लिए असमर्थ हो गया, उसकी आंखें रूखी हो गई और उसी समय उसने युद्ध प्रारम्भ की सूचना देने वाली भेरी बजवा दी ॥136॥

उस भेरी का शब्द दिग्गजों का मद नष्ट कर दिशाओं के अन्त तक व्याप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि चक्रवर्ती के कुपित होने पर ऐसे कौन महापुरुष हैं जो भयभीत नहीं होते हों ॥137॥

वह अश्वग्रीव चतुरंग सेना के साथ रथावर्त पर्वत पर जा पहुँचा, वहाँ उल्काएँ गिरने लगीं, पृथिवी हिलने लगी और दिशाओं में दाह दोष होने लगे ॥138॥

जिनका ओज चारों ओर फैल रहा है और जिन्होंने अपने प्रतापरूपी अग्नि के द्वारा शत्रुरूपी इन्धन की राशि भस्म कर दी है ऐसे प्रजापति के दोनों पुत्रों को जब इस बात का पता चला तो इसके संमुख आये ॥139॥

वहाँ दोनों सेनाओं में महान् संग्राम हुआ । दोनों सेनाओं का समान क्षय हो रहा था इसलिए यमराज सचमुच ही समवर्तिता-मध्यस्थता को प्राप्त हुआ था ॥140॥

चिरकाल तक युद्ध करने के बाद त्रिपृष्ठ ने सोचा कि सैनिकों का व्यर्थ ही क्षय क्यों किया जाता है । ऐसा सोचकर वह युद्ध के लिए अश्वग्रीव के सामने आया ॥141॥

जन्मान्तर से बँधे हुए भारी बैर के कारण अश्वग्रीव बहुत क्रुद्ध था अतः उसने बाण-वर्षा के द्वारा शत्रु को आच्छादित कर लिया ॥142॥

जब वे दोनों द्वन्द्व-युद्ध से एक दूसरे को जीतने के लिए समर्थ न हो सके तब महाविद्याओं के बल से उद्धत हुए दोनों मायायुद्ध करने के लिए तैयार हो गये ॥143॥

अश्वग्रीव ने चिरकाल तक युद्ध कर शत्रु के सन्मुख चक्र फेंका और नारायण त्रिपृष्ठ ने वही चक्र लेकर क्रोध से उसकी गर्दन छेद डाली ॥144॥

शत्रुओं के नष्ट करने वाले त्रिपृष्ठ और विजय आधे भरत क्षेत्र का आधिपत्य पाकर सूर्य और चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहे थे ॥145॥ भूमिगोचरी राजाओं, विद्याधर राजाओं और मागधादि देवों के द्वारा जिनका अभिषेक किया गया था ऐसे त्रिपृष्ठ नारायण पृथिवी में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए ॥146॥

प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ ने हर्षित होकर स्वयंप्रभा के पिता के लिए दोनों श्रेणियों का अधिपत्य प्रदान किया सो ठीक ही है क्योंकि श्रीमानों के आश्रय से क्या नहीं होता है ? ॥147॥

असि, शंख, धनुष, चक्र, शक्ति, दण्ड और गदा ये सात नारायण के रत्न थे । देवों के समूह इनकी रक्षा करते थे ॥148॥

रत्नमाला, देदीप्यमान हल, मुसल और गदा ये चार मोक्ष प्राप्त करने वाले बलभद्र के महारत्न थे ॥149॥

नारायण की स्वयंप्रभा को आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्र की कुलरूप तथा गुणों से युक्त आठ हजार रानियाँ थीं ॥150॥

ज्वलनजटी विद्याधर ने कुमार अर्ककीर्ति के लिए ज्योतिर्माला नाम की कन्या बड़ी विभूति के साथ प्राजापत्य विवाह से स्वीकृत की ॥

151 ॥

अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला के अमिततेज नाम का पुत्र तथा सुतारा नाम की पुत्री हुई । ये दोनों भाई-बहिन ऐसे सुन्दर थे मानों शुक्लपक्ष के पडिवा के चन्द्रमा की रेखाएँ ही हों ॥152॥

इधर त्रिपृष्ठ नारायण के स्वयंप्रभा रानी से पहिले श्रीविजय नाम का पुत्र हुआ, फिर विजयभद्र पुत्र हुआ फिर, ज्योतिप्रभा नाम की पुत्री हुई ॥153॥

महान् अभ्युदय को प्राप्त हुए प्रजापति महाराज को कदाचित् वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे पिहितास्त्रव गुरू के पास जाकर उन्होंने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया और श्रीजिनेन्द्र भगवान् का वह रूप धारण कर लिया जिससे सुख स्वरूप परमात्मा का स्वभाव प्राप्त होता है ॥154-155॥

छह बाह्य और छह आभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार के तपश्चरण में निरन्तर उद्योग करने वाले प्रजापति मुनि ने चिरकाल तक तपस्या की और आयु के अन्त में चित्त को स्थिर कर क्रम से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, सकषायता तथा सयोगकेवली अवस्था का त्याग कर परमोत्कृष्ट अवस्था-मोक्ष पद प्राप्त किया ॥156-157॥

विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी ने भी जब यह समाचार सुना तब उन्होंने अर्ककीर्ति के लिए राज्य देकर जगन्नन्दन मुनि के समीप दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली ॥158॥

याचना नहीं करना, बिना दिये कुछ ग्रहण नहीं करना, सरलता रखना, त्याग करना, किसी चीज की इच्छा नहीं रखना, क्रोधादि का त्याग करना, ज्ञानाभ्यास करना और ध्यान करना-इन सब गुणों को वे प्राप्त हुए थे ॥159॥

वे समस्त पापों का त्याग कर निर्द्वन्द्व हुए । निराकार होकर भी साकार हुए तथा उत्तम निर्वाण पद को प्राप्त हुए ॥160॥

इधर विजय बलभद्र का अनुगामी त्रिपृष्ठ कठिन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता हुआ तीन खण्ड की अखण्ड पृथिवी के भोगों का इच्छानुसार उपभोग करता रहा ॥161॥

किसी एक दिन त्रिपृष्ठ ने स्वयंवर की विधि से अपनी कन्या ज्योतिःप्रभा के द्वारा जामाता अमिततेज के गले में वरमाला ड़लवाई ॥162॥

अनुराग से भरी सुतारा भी इसी स्वयंवर की विधि से श्रीविजय के वक्षःस्थल पर निवास करने वाली हुई ॥163॥

इस प्रकार परस्पर में जिन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियों के सम्बन्ध किये हैं ऐसे ये समस्त परिवार के लोग स्वच्छन्द जल से भरे हुए प्रफुल्लित सरोवर की शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥164॥

आयु के अन्त में अर्ध-चक्रवर्ती त्रिपृष्ठ तो सातवें नरक गया और विजय बलभद्र श्रीविजय नामक पुत्र के लिए राज्य देकर तथा विजयभद्र को युवराज बनाकर पापरूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए उद्यत हुए । यद्यपि उनका चित्त नारायण के शोक से व्याप्त था तथापि निकट समय में मोक्षगामी होने से उन्होंने सुवर्णकुम्भ नामक मुनिराज के पास जाकर सात हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥ 165-167॥

घातिया कर्म नष्ट कर केवलज्ञान उत्पन्न किया और देवों के द्वारा पूज्य अनगार-केवली हुए ॥168॥

यह सुनकर अर्ककीर्ति ने अमित-तेज को राज्यपर बैठाया और स्वयं विपुलमति नामक चारणमुनि से तप धारण कर लिया ॥169॥

कुछ समय बाद उसने अष्ट-कर्मों को नष्ट कर अभिवांछित अष्टम पृथिवी प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में जिन्होंने आशा का त्याग कर दिया है उन्हें कौन-सी वस्तु अप्राप्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥170॥

इधर अमिततेज और श्रीविजय दोनों में अखण्ड प्रेम था, दोनों का काल बिना किसी आकुलताके सुख से व्यतीत हो रहा था ॥171॥

किसी दिन कोई एक पुरुष श्रीविजय राजा के पास आया और आशीर्वाद देता हुआ बोला कि हे राजन् ! मेरी बात पर चित्त लगाइये ॥ 172॥

आज से सातवें दिन पोदनपुर के राजा के मस्तक पर महावज्र गिरेगा, अतः शीघ्र ही इसके प्रतीकार का विचार कीजिये ॥173॥

यह सुनकर युवराज कुपित हुआ, उसकी आँखें क्रोध से लाल हो गई । वह उस निमित्तज्ञानी से बोला कि यदि तू सर्वज्ञ है तो बता कि उस समय तेरे मस्तक पर क्या पड़ेगा ? ॥174॥

निमित्तज्ञानी ने भी कहा कि उस समय मेरे मस्तक पर अभिषेक के साथ रत्नवृष्टि पड़ेगी ॥175॥

उसके अभिमानपूर्ण वचन सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ । उसने कहा कि हे भद्र ! तुम इस आसन पर बैठो, मैं कुछ कहता हूँ ॥176॥
कहो तो सही, आप का गोत्र क्या है ? गुरु कौन है, क्या-क्या शास्त्र आपने पढ़े हैं, क्या-क्या निमित्त आप जानते हैं, आपका क्या नाम है ? और आपका यह आदेश किस कारण हो रहा है ? यह सब राजा ने पूछा ॥177॥

निमित्तज्ञानी कहने लगा कि कुण्डलपुर नगर में सिंहरथ नाम का एक बड़ा राजा है । उसके पुरोहित का नाम सुरगुरु है और उसका एक शिष्य बहुत ही विद्वान् है ॥178॥

किसी एक दिन बलभद्र के साथ दीक्षा लेकर मैंने उसके शिष्य के साथ अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन किया है और उपदेश के साथ उनका श्रवण भी किया है ॥179॥

अष्टांग निमित्त कौन हैं और उनके लक्षण क्या हैं ? यदि यह आप जानना चाहते हैं तो हे आयुष्मन् विजय ! तुम सुनो, मैं तुम्हारे प्रश्न के अनुसार सब कहता हूँ ॥180॥

आगम के जानकार आचार्यों ने अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न इनके भेद से आठ तरह के निमित्त कहे हैं ॥ 181॥

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये पाँच प्रकार के ज्योतिषी आकाशमे रहते हैं अथवा आकाशके साथ सदा उनका साहचर्य रहता है इसलिए इन्हें अन्तरिक्ष-आकाश कहते हैं । इनके उदय अस्त आदि के द्वारा जो जय-पराजय, हानि, वृद्धि, शोक, जीवन, लाभ, अलाभ तथा अन्य बातों का यथार्थ निरूपण होता है उसे अन्तरिक्ष-निमित्त कहते हैं ॥182-183॥

पृथिवी के जुदे-जुदे स्थान आदि के भेद से किसी की हानि वृद्धि आदि का बतलाना तथा पृथिवी के भीतर रखे हुए रत्न आदि का कहना सो भौम-निमित्त है ॥184॥

अंग-उपांग के स्पर्श करने अथवा देखने से जो प्राणियों के तीन काल में उत्पन्न होने वाले शुभ-अशुभ का निरूपण होता है वह अंग-निमित्त कहलाता है ॥185॥

मृदंग आदि अचेतन और हाथी आदि चेतन पदार्थों के सुस्वर तथा दुःस्वर के द्वारा इष्ट-अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति की सूचना देने वाला ज्ञान स्वर-निमित्त ज्ञान है ॥186॥

शिर मुख आदि में उत्पन्न हुए तिल आदि चिह्न अथवा घाव आदि से किसी का लाभ अलाभ आदि बतलाना सो व्यञ्जन निमित्त है ॥187॥
शरीर में पाये जानेवाले श्रीवृक्ष तथा स्वस्तिक आदि एक सौ आठ लक्षणों के द्वारा भोग ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति का कथन करना लक्षण-निमित्त ज्ञान है ॥188॥

वस्त्र तथा शस्त्र आदि में मूषक आदि जो छेद कर देते हैं वे देव, मानुष और राक्षस के भेद से तीन प्रकार के होते हैं उनसे जो फल कहा जाता है उसे छिन्न-निमित्त कहते हैं ॥189॥

शुभ-अशुभ के भेद से स्वप्न दो प्रकार के कहे गये हैं उनके देखने से मनुष्यों की वृद्धि तथा हानि आदि का यथार्थ कथन करना स्वप्न-निमित्त कहलाता है ॥190॥

यह कहकर वह निमित्तज्ञानी कहने लगा कि क्षुधा प्यास आदि बाईस परिषहों से मैं पीडित हुआ, उन्हें सह नहीं सका इसलिए मुनिपद छोड़कर पछिनीखेट नाम के नगर में आ गया ॥191॥

वहाँ सोमशर्मा नाम के मेरे मामा रहते थे । उनके हिरण्यलोमा नाम की स्त्री से उत्पन्न चन्द्रमा के समान मुख वाली एक चन्द्रानना नाम की पुत्री थी । वह उन्होंने मुझे दी ॥192॥

मैं धन कमाना छोड़कर निरन्तर निमित्त-शास्त्र के अध्ययनमें लगा रहता था अतः धीरे-धीरे चन्द्रानना के पिता के द्वारा दिया हुआ धन समाप्त हो गया । मुझे निर्धन देख वह बहुत विरक्त अथवा खिन्न हुई ॥193॥

मैंने कुछ कौड़ियां इकट्ठी कर रखी थीं । सारे दिन भोजन के समय 'वह तुम्हारा दिया हुआ धन है' ऐसा कह कर उसने क्रोधवश वे सब कौड़ियां हमारे पात्र में डाल दीं ॥194॥

उनमें से एक अच्छी कौड़ी स्फटिक-मणि के बने हुए सुन्दर थाल में जा गिरी, उस पर जलाई हुई अग्नि के फुलिंगे पड़ रहे थे (?) उसी

समय मेरी स्त्री मेरे हाथ धुलाने के लिए जल की धारा छोड़ रही थी उसे देख कर मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे संतोष पूर्वक अवश्य ही धन का लाभ होगा । आपके लिए यह आदेश इस समय अमोघजिह्न नामक मुनिराज ने किया है । इस प्रकार निमित्तज्ञानी ने कहा । उसके युक्तिपूर्ण वचन सुन कर राजा चिन्ता से व्यग्र हो गया । उसने निमित्तज्ञानी को तो विदा किया और मन्त्रियों से इस प्रकार कहा-कि इस निमित्तज्ञानीकी बात पर विश्वास करो और इसका शीघ्र ही प्रतिकार करो क्योंकि मूल का नाश उपस्थित होने पर विलम्ब कौन करता है ?

॥195-198॥

यह सुनकर सुमति मन्त्री बोला कि आपकी रक्षा करने के लिए आपको लोहे की सन्दूक के भीतर रखकर समुद्र के जल के भीतर बैठाये देते हैं ॥199॥

यह सुनकर सुबुद्धि नाम का मंत्री बोला कि नहीं, वहाँ तो मगरमच्छ आदि का भय रहेगा इसलिए विजयार्थ पर्वत की गुफा में रख देते हैं ॥ 200॥

सुबुद्धि की बात पूरी होते ही बुद्धिमान् तथा प्राचीन वृत्तान्त को जानने वाला बुद्धिसागर नाम का मन्त्री यह प्रसिद्ध कथानक कहने लगा ॥ 201॥

इस भरत क्षेत्र के सिंहपुर नगर में मिथ्या-शास्त्रों के सुनने से अत्यन्त घमण्डी सोम नाम का परिव्राजक रहता था । उसने जिनदास के साथ वाद-विवाद किया परन्तु वह हार गया ॥202॥

आयु के अन्त में मर कर उसी नगर में एक बड़ा भारी भैंसा हुआ । उस पर एक वैश्य चिरकाल तक नमक का बहुत भारी बोझ लादता रहा ॥203॥

जब वह बोझ ढोनेमें असमर्थ हो गया तब उसके पालकों ने उसकी उपेक्षा कर दी-खाना-पीना देना भी बन्द कर दिया । कारण वश उसे जाति-स्मरण हो गया और वह नगर भर के साथ वैर करने लगा । अन्त में मर कर वहीं के श्मशान में पापी राक्षस हुआ । उस नगर के कुम्भ और भीम नाम के दो अधिपति थे । कुम्भ के रसोइया का नाम रसायनपाक था, राजा कुम्भ मांसभोजी था, एक दिन मांस नहीं था इसलिए रसोइया ने कुम्भ को मरे हुए बच्चे का मांस खिला दिया ॥204-206॥

वह पापी उसके स्वाद से लुभा गया इसलिए उसी समय से उसने मनुष्य का मांस खाना शुरू कर दिया, वह वास्तवमें नरक गति प्राप्त करने का उत्सुक था ॥207॥

राजा प्रजा का रक्षक है इसलिए जब तक प्रजा की रक्षा करने में समर्थ है तभी तक राजा रहता है परन्तु यह तो मनुष्यों को खाने लगा है अतः त्याज्य है ऐसा विचार कर मन्त्रियों ने उस राजा को छोड़ दिया ॥208॥

उसका रसोइया उसे नर-मांस देकर जीवित रखता था परन्तु किसी समय उस दुष्ट ने अपने रसोइया को ही मारकर विद्या सिद्ध कर ली और उस राक्षस को वश कर लिया ॥209॥

अब वह राजा प्रतिदिन चारों ओर घूमता हुआ प्रजा को खाने लगा जिससे समस्त नगरवासी भयभीत हो उस नगर को छोड़कर बहुत भारी भय के साथ कारकट नामक नगर में जा पहुँचे परन्तु अत्यन्त पापी कुम्भ राजा उस नगर में भी आकर प्रजा को खाने लगा ॥210-211॥ उसी समय से लोग उस नगर को कुम्भकारकटपुर कहने लगे । मनुष्यों ने देखा कि यह नरभक्षी है इसलिए डर कर उन्होंने उसकी व्यवस्था बना दी कि तुम प्रतिदिन एक गाड़ी भात और एक मनुष्य को खाया करो । उसी नगर में एक चण्डकौशिक नाम का ब्राह्मण रहता था ।

सोमश्री उसकी स्त्री थी, चिरकाल तक भूतों की उपासना करने के बाद उन दोनों ने मौण्डकौशिक नाम का पुत्र प्राप्त किया ॥212-214॥ किसी एक दिन कुम्भ के आहार के लिए मौण्डकौशिक की बारी आई । लोग उसे गाड़ी पर डालकर ले जा रहे थे कि कुछ भूत उसे ले भागे, कुम्भ ने हाथ में दण्ड लेकर उन भूतों का पीछा किया, भूत उसके आक्रमण से डर गये, इसलिए उन्होंने मुण्डकौशिक को भय से एक बिल में डाल दिया परन्तु एक अजगर ने वहाँ उस ब्राह्मण को निगल लिया ॥215-216॥

इसलिए महाराज को विजयार्थ की गुहा में रखना ठीक नहीं है । बुद्धिसागर के ये हितकारी वचन सुनकर सूक्ष्म बुद्धि का धारी मतिसागर मंत्री कहने लगा कि निमित्तज्ञानी के ये हितकारी वचन सुनकर सूक्ष्म-बुद्धि का धारी मतिसागर मंत्री कहने लगा कि निमित्तज्ञानी ने यह तो कहा नहीं है कि महाराज के ऊपर ही वज्र गिरेगा । उसका तो कहना है कि जो पोदनपुर का राजा होगा उस पर वज्र गिरेगा इसलिए किसी दूसरे मनुष्य को पोदनपुर का राजा बना देना चाहिये ॥217-218॥

उसकी यह बात सबने मान ली और कहा कि आपका कहना ठीक है । अनन्तर सब मन्त्रियों ने मिलकर राजा के सिंहासन पर एक यक्ष का प्रतिबिम्ब रख दिया और 'तुम्हीं पोदनपुरके राजा हो' यह कहकर उसकी पूजा की । इधर राजा ने राज्य के भोग उपभोग सब छोड़ दिये, पूजा दान आदि सत्कार्य प्रारम्भ कर दिये और अपने स्वभाव वाली मण्डली को साथ लेकर जिन चैत्यालय में शान्ति कर्म करता हुआ बैठा गया ॥219-221॥

सातवें दिन उस यक्ष की मूर्ति पर बड़ा भारी शब्द करता हुआ भयंकर वज्र अकस्मात् बड़ी कठोरता से आ पड़ा ॥222॥

उस उपद्रव के शान्त होने पर नगरवासियों ने बड़े हर्ष से बढ़ते हुए नगाड़ों के शब्दों से बहुत भारी उत्सव किया ॥223॥

राजा ने बड़े हर्ष के साथ उस निमित्तज्ञानी को बुलाकर उसका सत्कार किया और पद्मिनी खेट के साथ-साथ उसे सौ गाँव दिये ॥224॥

श्रेष्ठ मंत्रियों ने तीन लोक के स्वामी अरहन्त भगवान् की विधि-पूर्वक भक्ति के साथ शान्ति-पूजा की, महाभिषेक किया और राजा को सिंहासन पर बैठा कर सुवर्णमय कलशों से उनका राज्याभिषेक किया तथा उत्तम राज्य में प्रतिष्ठित किया ॥225-226॥

इसके बाद उसका काल बहुत भारी सुख से बीतने लगा । किसी एक दिन उसने अपनी माता से आकाशगामिनी विद्या लेकर सिद्ध की और सुतारा के साथ रमण करने की इच्छा से ज्योतिर्वन की ओर गमन किया । वह वहाँ अपनी इच्छानुसार लीला-पूर्वक विहार करता हुआ रानी के साथ बैठा था, यहाँ चमरचंचपुर का राजा इन्द्राशनि, रानी आसुरी का लक्ष्मी सम्पन्न अशनिघोष नाम का विद्याधर पुत्र भ्रामरी विद्या को सिद्ध कर अपने नगर को लौट रहा था । बीच में सुतारा को देख कर उस पर उसकी इच्छा हुई और उसे हरण करने का उद्यम करने लगा ॥227-230॥

उसने एक कृत्रिम हरिण के छल से राजा को सुतारा के पास से अलग कर दिया और वह दुष्ट श्रीविजया का रूप बनाकर सुतारा के पास लौट कर वापिस आया ॥231॥

कहने लगा कि हे प्रिये ! वह मृग तो वायु के समान वेग से चला गया । मैं उसे पकड़ने के लिए असमर्थ रहा अतः लौट आया हूँ, अब सूर्य अस्त हो रहा है इसलिए हम दोनों अपने नगर की ओर चलें ॥232॥

इतना कहकर उस धूर्त विद्याधर ने सुतारा को विमान पर बैठाया और वहाँ से चल दिया । बीच में उसने अपना रूप दिखाया जिसे देख कर 'यह कौन है' ऐसा कहती हुई सुतारा बहुत ही विह्वल हुई । इधर उसी अशनिघोष विद्याधर के द्वारा प्रेरित हुई वैताली विद्या सुतारा का रूप रखकर बैठ गई ॥233-234॥

जब श्रीविजय वापिस लौटकर आया तब उसने कहा कि मुझे कुक्कुट साँप ने डस लिया है । इतना कह कर उसने बड़े संभ्रम से ऐसी चेष्टा बनाई जैसे मर रही हो । उसे देख राजा ने जाना कि इसका विष मणि, मन्त्र तथा औषधि आदि से दूर नहीं हो सकता । अन्त में निराश होकर स्नेह से भरा पोदनाधिपति उस कृत्रिम सुतारा के साथ मरने के लिए उत्सुक हो गया । उसने एक चिता बनाई, सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न अग्नि के द्वारा उसका इन्धन प्रज्वलित किया और शोक से व्याकुल हो उस कपटी सुतारा के साथ चिता पर आरूढ़ हो गया ॥ 235-237॥

उसी समय वहाँ से कोई दो विद्याधर जा रहे थे उनमें एक महा तेजस्वी था उसने विद्याविच्छेदिनी नाम की विद्या का स्मरण कर उस भयभीत वैताली को बायें पैर से ठोकर लगाई जिससे उसने अपना असली रूप दिखा दिया । अब वह श्रीविजय के सामने खड़ी रहने के लिए भी समर्थ न हो सकी अतः अदृश्यता को प्राप्त हो गई ॥238-239॥

यह देख राजा श्रीविजय बहुत भारी आश्चर्य को प्राप्त हुए । उन्होंने कहा कि यह क्या है ? उत्तर में विद्याधर उसकी कथा इस प्रकार कहने लगा ॥240॥

इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र के विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी में एक ज्योतिःप्रभ नाम का नगर है। मैं वहाँ का राजा संभिन्न हूँ, यह सर्वकल्याणी नाम की मेरी स्त्री है और यह दीपशिख नाम का मेरा पुत्र है। मैं अपने स्वामी रथनूपुर नगर के राजा अमिततेज के साथ शिखरनल नाम से प्रसिद्ध विशाल उद्यान में विहार करने के लिए गया था । वहाँ से लौटते समय मैंने मार्ग में सुना कि एक स्त्री अपने विमान पर बैठी हुई रो रही है और कह रही है कि 'मेरे स्वामी श्रीविजय कहाँ हैं ? हे रथनूपुर के नाथ ! कहाँ हो ? मेरी रक्षा करो ।' इस प्रकार उसके करुण शब्द सुनकर मैं वहाँ गया और बोला कि तू कौन है ? तथा किसे हरण कर ले जा रहा है ? मेरी बात सुन कर वह बोला कि मैं चमरचंच नगर का राजा अशनिघोष नाम का विद्याधर हूँ। इसे जबर्दस्ती लिए जा रहा हूँ, यदि आप में शक्ति है तो आओ और

इसे छुड़ाओ ॥241-246॥

यह सुनकर मैंने निश्चय किया कि यह तो मेरे स्वामी अमिततेज की छोटी बहिन को ले जा रहा है। मैं साधारण मनुष्य की तरह कैसे चला जाऊँ ? इसे अभी मारता हूँ। ऐसा निश्चय कर मैं उसके साथ युद्ध करने के लिए तत्पर हुआ ही था कि उस स्त्री ने मुझे रोककर कहा कि आग्रह वश वृथा युद्ध मत करो, पोदनपुर के राजा ज्योतिर्वन में मेरे वियोग के कारण शोकाग्नि से पीड़ित हो रहे हैं तुम वहाँ जाकर उनसे मेरी दशा कह दो। इस प्रकार हे राजन्, मैं तुम्हारी स्त्री के द्वारा भेजा हुआ यहाँ आया हूँ। यह तुम्हारे बैरी की आज्ञा-कारिणी वैताली देवी है। ऐसा उस हितकारी विद्याधर ने बड़े आदर से कहा। इस प्रकार संभिन्न विद्याधर के द्वारा कही हुई बात को पोदनपुर के राजा ने बड़े आदर से सुना और कहा कि आपने यह बहुत अच्छा किया। आप मेरे सन्मित्र हैं अतः इस समय आप शीघ्र ही जाकर यह समाचार मेरी माता तथा छोटे भाई आदि से कह दीजिये। ऐसा कहने पर उस विद्याधर ने अपने दीपशिख नामक पुत्र को शीघ्र ही पोदनपुर की ओर भेज दिया ॥247-252॥

उधर पोदनपुर में भी बहुत उत्पातों का विस्तार हो रहा था, उसे देखकर अमोघजिह्व और जयगुप्त नाम के निमित्तज्ञानी बड़े संयम से कह रहे थे कि स्वामी को कुछ भय उत्पन्न हुआ था परन्तु अब वह दूर हो गया है, उनका कुशल समाचार लेकर आज ही कोई मनुष्य आवेगा। इसलिए आप लोग स्वस्थ रहें, भय को प्राप्त न हों। इस प्रकार वे दोनों ही विद्याधर, स्वयंप्रभा आदि को धीरज बँधा रहे थे ॥253-255॥ उसी समय दीपशिख नाम का बुद्धिमान् विद्याधर आकाश से पृथिवी-तल पर आया और विधि-पूर्वक स्वयंप्रभा तथा उसके पुत्र को प्रणाम कर कहने लगा कि महाराज श्रीविजय की सब प्रकार की कुशलता है, आप लोग भय छोड़िये, इस प्रकार सब समाचार ज्यों के त्यों कह दिये ॥256-257॥

उस बात को सुनने से, जिस प्रकार दावानल से लता म्लान हो जाती है, अथवा बुझने वाले दीपक की शिखा जिस प्रकार प्रभाहीन हो जाती है, अथवा वर्षा ऋतु के मेघ का शब्द सुनने वाली कलहंसी जिस प्रकार शोक युक्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी स्याद्धादी विद्वान् के द्वारा विध्वस्त हुई दुःश्रुति (मिथ्याशास्त्र) व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार स्वयंप्रभा भी म्लान शरीर, प्रभारहित, शोकयुक्त तथा अत्यन्त आकुल हो गई थी ॥258-259॥

वह उस विद्याधर को तथा पुत्र को साथ लेकर उस वन के बीच पहुँच गई ॥260॥

पोदनाधिपति ने छोटे भाई के साथ आती हुई माता को दूर से ही देखा और सामने जाकर उसके चरणों में नमस्कार किया ॥261॥

पुत्र को देखकर स्वयंप्रभा के नेत्र हर्षाश्रुओं से व्याप्त हो गये। वह कहने लगी कि 'हे पुत्र ! उठ, मैंने अपने पुण्योदय से तेरे दर्शन पा लिये, तू चिरंजीव रह' इस प्रकार कहकर उसने श्रीविजय को अपनी दोनों भुजाओं से उठा लिया, उसका स्पर्श किया और बहुत भारी संतोष का अनुभव किया। अथानन्तर - जब श्रीविजय सुख से बैठ गये तब उसने सुतारा के हरण आदि का समाचार पूछा ॥262-263॥

श्री विजय ने कहा कि यह संभिन्न नामक विद्याधर अमिततेज का सेवक है। हे माता ! आज इसने मेरा जो उपकार किया है वह तुझने भी नहीं किया ॥264॥

ऐसा कहकर उसने जो-जो बात हुई थी वह सब कह सुनाई। तदनन्तर स्वयंप्रभा ने छोटे पुत्र को तो नगर की रक्षा के लिए वापिस लौटा दिया और बड़े पुत्र को साथ लेकर वह आकाशमार्ग से रथनूपुर नगर को चली। अपने देश में घूमने वाले गुप्तचरों के कहने से अमिततेज को इस बात का पता चल गया जिससे उसने बड़े वैभव के साथ उसकी अगवानी की तथा संतुष्ट होकर जिसमें बड़ी ऊँची पताकाएँ फहरा रही हैं और तोरण बाँधे गये हैं ऐसे अपने नगर में उसका प्रवेश कराया ॥265-267॥

उस विद्याधरों के स्वामी अमिततेज ने उनका पाहुने के समान सम्पूर्ण स्वागत सत्कार किया और उनके आने का कारण जानकर इन्द्राशनि के पुत्र अशनिघोष के पास मरीचि नाम का दूत भेजा। उसने दूत से असह्य वचन कहे। दूत ने वापिस आकर वे सब वचन अमिततेज से कहे। उन्हें सुनकर अमिततेज ने मन्त्रियों के साथ सलाह कर मद से उद्धत हुए उस अशनिघोष को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उच्च अभिप्राय वाले अपने बहनोई को उसने शत्रुओं का विध्वंस करने के लिए वंश-परम्परागत युद्धवीर्य, प्रहरणावरण और बन्धमोचन नाम की तीन विद्याएँ बड़े आदर से दीं ॥268-271॥

तथा रश्मिवेग सुवेग आदि पाँच सौ पुत्रों के साथ-साथ पोदनपुर के राजा श्रीविजय से अहंकारी शत्रु पर जाने के लिए कहा ॥272॥

और स्वयं सहस्त्ररश्मि नामक अपने बड़े पुत्र के साथ समस्त विद्याओं को छेदने वाली महाज्वाला नाम की विद्या को सिद्ध करने के लिए

विद्याएँ सिद्ध करने की जगह हीमन्त पर्वत पर श्री सन्जयन्त मुनि की विशाल प्रतिमा के समीप गया ॥273-274॥

इधर जब अशनिघोष ने सुना कि श्रीविजय युद्ध के लिए रश्मिवेग आदि के साथ आ रहा है तब उसने क्रोध से सुघोष, शतघोष, सहस्रघोष आदि अपने पुत्र भेजे । उसके वे समस्त पुत्र तथा अन्य लोग पन्द्रह दिन तक युद्ध कर अन्त में पराजित हुए । जिसकी समस्त घोषणाएँ अपने नाश को सूचित करने वाली हैं ऐसे अशनिघोष ने जब यह समाचार सुना तब वह क्रोध से सन्तप्त होकर स्वयं ही युद्ध करने के लिए गया ॥275-277॥

इधर युद्ध में श्रीविजय ने अशनिघोष के दो टुकड़े करने के लिए प्रहार किया उधर भ्रामरी विद्या से उसने दो रूप बना लिये। श्रीविजय ने नष्ट करने के लिए उन दोनों के दो-दो टुकड़े किये तो उधर अशनिघोष ने चार रूप बना लिये । इस प्रकार वह सारी सेना अशनिघोष की माया से भर गई ॥278-279॥

इतने में ही रथनूपुर का राजा अमिततेज विद्या सिद्ध कर आ गया और आते ही उसने महाज्वाला नाम की विद्या को आदेश दिया।

अशनिघोष उस विद्या को सह नहीं सका ॥280॥

इसलिए पन्द्रह दिन तक युद्ध कर भागा और भय से नाभेयसीम नाम के पर्वत पर गजध्वज के समीपवर्ती विजय तीर्थकर के समवसरण में जा घुसा । अमिततेज तथा श्रीविजय आदि भी क्रोधित हो उसका पीछा करते-करते उसी समवसरण में जा पहुँचे। वहाँ मानस्तम्भ देखकर उन सबकी चित्त-वृत्तियाँ शान्त हो गई । सबने जगत्पति जिनेन्द्र भगवान् की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, उन्हें प्रणाम किया और बैररूपी विष को उगलकर वे सब वहाँ साथ-साथ बैठ गये ॥281-283॥

उसी समय शीलवती आसुरीदेवी मुरझाई हुई लता के समान सुतारा को शीघ्र ही लाई और श्रीविजय तथा अमिततेज को समर्पित कर बोली कि आप दोनों हमारे पुत्र का अपराध क्षमा कर देने के योग्य हैं ॥284-285॥

तिर्यन्वों का जो जन्मजात बैर छूट नहीं सकता वह भी जब जिनेन्द्र भगवान् के समीप आकर छूट जाता है तब मनुष्यों की तो बात ही क्या कहना है ? ॥286॥

जब जिनेन्द्र भगवान् के स्मरण से अनादि काल के बँधे हुए कर्म छूट जाते हैं तब उनके समीप बैर छूट जावें इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥ 287॥

जो बड़े दुःख से निवारण किया जाता है ऐसा यमराज भी जब जिनेन्द्र भगवान् के स्मरण मात्र से अनायास ही रोक दिया जाता है तब दूसरा ऐसा कौन शत्रु है जो रोका न जा सके ? ॥288॥

इसलिए बुद्धिमानों को यमराज का प्रतिकार करने के लिए तीनों लोकों के नाथ अर्हन्त भगवान् का ही स्मरण करना चाहिये । वही इस लोक तथा परलोक में हित के करने वाले हैं ॥289॥

अथानन्तर विद्याधरों के स्वामी अमिततेज ने हाथ जोड़कर बड़ी भक्ति से भगवान् को नमस्कार किया और तत्त्वार्थ को जानने की इच्छा से सद्धर्म का स्वरूप पूछा ॥290॥

जिसमें कषायरूपी मगरमच्छ तैर रहे हैं और जो अनेक दुःखरूपी लहरों से भरा हुआ है ऐसे संसाररूपी विकराल सागर का पार कौन पा सकता है ? यह बात जिनेन्द्र भगवान् से ही पूछी जा सकती है किसी दूसरे से नहीं क्योंकि उन्होंने ही संसाररूपी सागर को पार कर पाया है। हे भगवन् ! एक आप ही जगत् के बन्धु हैं अतः हम सब शिष्यों को आप सद्धर्म का स्वरूप बतलाइये ॥291-292॥

रत्नत्रय रूपी महाधन को धारण करने वाले पुरुष आपकी दिव्यध्वनि रूपी बड़ी भारी नाव के द्वारा ही इस संसार - रूपी समुद्र से निकल कर सुख देने वाले अपने स्थान को प्राप्त करते हैं ॥293॥

ऐसा विद्याधरों के राजा ने भगवान् से पूछा । तदनन्तर भगवान् दिव्यध्वनि के द्वारा कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार पूर्व वृष्टि के द्वारा चातक पक्षी संतोषको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भव्य जीव दिव्यध्वनि के द्वारा संतोष को प्राप्त होते हैं ॥294॥

हे विद्याधर भव्य ! सुन, इस संसार के कारण कर्म हैं और कर्म के कारण मिथ्यात्व असंयम आदि हैं ॥295॥

मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो परिणाम ज्ञान को भी विपरीत कर देता है उसे मिथ्यात्व जानो। यह मिथ्यात्व बन्ध का कारण है ॥ 296॥

अज्ञान, संशय, एकान्त, विपरीत और विनयके भेदसे ज्ञानी पुरुष उस मिथ्यात्व को पांच प्रकार का मानते हैं ॥297॥

पाप और धर्मके नाम से दूर रहने वाले जीवों के मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो परिणाम होता है वह अज्ञान मिथ्यात्व है ॥298॥

आप्त तथा आगम आदिके नाना होने के कारण जिसके उदय से तत्त्वके स्वरूपमें दोलाय मानता-चञ्चलता बनी रहती है उसे हे श्रेष्ठ विद्वान् ! तुम संशय मिथ्यात्व जानो ॥299॥

द्रव्य पर्यायरूप पदार्थमें अथवा मोक्ष का साधन जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है उसमें किसी एक का ही एकान्त रूप से निश्चय करना एकान्त मिथ्यादर्शन है ॥300॥

आत्मा में जिसका उदय रहते हुए ज्ञान ज्ञायक और ज्ञेयके यथार्थ स्वरूप का विपरीत निर्णय होता है उसे विपरीत मिथ्यादर्शन जानो ॥ 301॥

मन, वचन और कायके द्वारा जहाँ सब देवों को प्रणाम किया जाता है और समस्त पदार्थों को मोक्ष का उपाय माना जाता है उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं ॥302॥

व्रतरहित पुरुष की जो मन वचन कायकी क्रिया है उसे असंयम कहते हैं । इस विषयके जानकार मनुष्योंने प्राणी-असंयम और इन्द्रिय असंयमके भेदसे असंयमके दो भेद कहे हैं ॥303॥

जब तक जीवों के अप्रत्याख्यानवरण चारित्र मोह का उदय रहता है तब तक अर्थात् चतुर्थगुण स्थान तक असंयम बन्ध का कारण माना गया है ॥304॥

छठवें गुणस्थानोंमें व्रतोंमें संशय उत्पन्न करनेवाली जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं । यह प्रमाद छठवें गुणस्थान तक बन्ध का कारण होता है ॥305॥

प्रमाद के पन्द्रह भेद कहे गये हैं। ये संज्वलन कषाय का उदय होने से होते हैं तथा सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि इन तीन चारित्रों से युक्त जीव के प्रायश्चित्तके कारण बनते हैं ॥306॥

सातवें से लेकर दशवें तक चार गुणस्थानोंमें संज्वलन क्रोध मान माया लोभके उदय से जो परिणाम होते हैं उन्हें कषाय कहते हैं । इन चार गुणस्थानों यह कषाय ही बन्ध का कारण है ॥307॥

जिनेन्द्र भगवान् ने इस कषायके सोलह भेद कहे हैं । यह कषाय उपशान्तमोह गुणस्थान के इसी ओर स्थितिबन्ध तथा अनुभाग बन्ध का कारण माना गया है ॥308॥

आत्मा के प्रदेशोंमें जो संचार होता है उसे योग कहते हैं । यह योग ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन तीन गुणस्थानोंमें सातावेदनीके बन्ध का कारण माना गया है । इन गुणस्थानोंमें यह एक ही बन्ध का कारण है ॥309॥

मनोयोग चार प्रकार का है, वचन योग चार प्रकार का है और काय-योग सात प्रकार का है । ये सभी योग यथायोग्य जहाँ जितने संभव हो उतने प्रकृति और प्रदेश बन्धके कारण हैं। हे आर्य ! जिनका अभी वर्णन किया है ऐसे इन मिथ्यात्व आदि पाँचके द्वारा यह जीव अपने अपने योग्य स्थानोंमें एक सौ बीस कर्मप्रकृतियों से सदा बँधता रहता है ॥310-311॥

इन्हीं प्रकृतियोंके कारण यह जीव गति आदि पर्यायोंमें बार बार घूमता रहता है, प्रथम गुणस्थान में इस जीव के सभी जीव समान होते हैं, वहाँ यह जीव तीन अज्ञान और तीन अदर्शनोंसे सहित होता है, उसके औदयिक, क्षायापशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं, संयम का अभाव होता है कोई जीव भव्य रहता है और कोई अभव्य होता है। इस प्रकार संसार चक्रके भँवर रूपी गढ़डेमें पड़ा हुआ यह जीव जन्म जरा मरण रोग सुख दुःख आदि विविध भेदोंको प्राप्त करता हुआ अनादि काल से इस संसार में निवास कर रहा है। इनमें से कोई जीव कालादि लब्धियों का निमित्त पाकर अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंसे मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम करता है तथा संसार की परिपाटी का विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है । तदनन्तर अप्रत्याख्यानवरण कषायके क्षयोपशमसे श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करता है। कभी प्रत्याख्यानवरण कषायके क्षयोपशमसे महाव्रत प्राप्त करता है । कभी अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ तथा मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है । कभी मोहकर्मरूपी शत्रु के उच्छेदसे उत्पन्नहुए क्षायिक चारित्रसे अलंकृत होता है । तदनन्तर द्वितीय शुक्लध्यान का धारक होकर तीन घातिया कर्मों का क्षय करता है, उस समय नव केवललब्धियों की प्राप्तिसे अर्हन्त होकर सबके द्वारा पूज्य हो जाता है। कुछ समय बाद तृतीय शुक्ल ध्यान के द्वारा समस्त योगों को रोक देता है और समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्ल ध्यान के प्रभाव

से समस्त कर्मबन्धको नष्ट कर देता है। इस प्रकार हे भव्य ! तेरे समान भव्य प्राणी क्रम-क्रम से प्राप्त हुए तीन प्रकार के सन्मार्गके द्वारा संसार-समुद्र से पार होकर सदा सुख से बढ़ता रहता है ॥312-320॥

इस प्रकार समस्त विद्याधरोंका स्वामी अमिततेज, श्रीजिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कही हुई जन्मसे लेकर निर्वाण पर्यन्त की प्रक्रिया को सुनकर ऐसा संतुष्ट हुआ मानो उसने अमृत का ही पान किया हो ॥321॥

ऊपर कही हुई कालादि चार लब्धियों की प्राप्तिसे उस समय उसने सम्यग्दर्शनसे शुद्ध होकर अपने आपको श्रावकोंके व्रतसे विभूषित किया ॥322॥

उसने भगवान् से पूछा कि हे भगवन् ! मैं अपने चित्तमें स्थित एक दूसरी बात आपसे पूछना चाहता हूँ। बात यह है कि इस अशनिघोष ने मेरा प्रभाव जानते हुए भी मेरी छोटी बहिन सुतारा का हरण किया है सो किस कारण से किया है ? उत्तरमें जिनेन्द्र भगवान् भी उसका कारण इस प्रकार कहने लगे ॥323-324॥

जम्बूद्वीप के मगध देशमें एक अचल नाम का ग्राम है। उसमें धरणीजट नाम का ब्राह्मण रहता था ॥325॥

उसकी स्त्री का नाम अग्रिला था और उन दोनों के इन्द्रभूति तथा अग्निभूति नाम के दो पुत्र थे। इनके सिवाय एक कपिल नाम दासीपुत्र भी था। जब वह ब्राह्मण अपने पुत्रों को वेद पढ़ाता था तब कपिल को अलग रखता था परन्तु कपिल इतना सूक्ष्मबुद्धि था कि उसने अपने आप ही शब्द तथा अर्थ-दोनों रूप से वेदोंको जान लिया था। जब ब्राह्मण को इस बात का पता चला तब उसने कुपित होकर 'तूने यह अयोग्य किया' यह कहकर उस दासी-पुत्र को उसी समय घर सके निकाल दिया। कपिल भी दुःखी होता हुआ वहाँसे रत्नपुर नामक नगर में चला गया ॥326-328॥

रत्नपुर में एक सत्यक नामक ब्राह्मण रहता था। उसने कपिल को अध्ययनसे सम्पन्न तथा योग्य देख जम्बू नामक स्त्रीसे उत्पन्न हुई अपनी कन्या समर्पित कर दी ॥329॥

इस प्रकार राजपूज्य एवं समस्त शास्त्रोंके सारपूर्ण अर्थके ज्ञाता कपिलने जिसको कोई खण्डन न कर सके ऐसी व्याख्या करते हुए रत्नपुर नगर में कुछ वर्ष व्यतीत किये ॥330॥

कपिल विद्वान् अवश्य था परन्तु उसका आचरण ब्राह्मण कुलके योग्य नहीं था अतः उसकी स्त्री सत्यभामा उसके दुश्चरित का विचार कर सदा संशय करती रहती थी कि यह किसका पुत्र है ? ॥331॥

इधर धरिणीजट दरिद्र हो गया। उसने परम्परासे कपिलके प्रभाव की सब बातें जान लीं इसलिए वह अपनी दरिद्रता दूर करने के लिए कपिलके पास गया। उसे आया देख कपिल मन ही मन बहुत कुपित हुआ परन्तु बाह्यमें उसने उठकर अभिवादन-प्रणाम किया। उच्च आसन पर बैठाया और कहा कि कहिये मेरी माता तथा भाइयों की कुशलता तो है न ? मेरे सौभाग्यसे आप यहाँ पधारे यह अच्छा किया इस प्रकार पूजकर स्नान वस्त्र आसन आदिसे उसे संतुष्ट किया और कहीं हमारी जाति का भेद खुल न जावे इस भय से उसने उसके मनको अच्छी तरह ग्रहण कर लिया ॥332-334॥

दरिद्रता से पीड़ित हुआ पापी ब्राह्मण भी कपिलको अपना पुत्र कहकर उसके साथ पुत्र जैसा व्यवहार करने लगा सो ठीक है क्योंकि स्वार्थी मनुष्यों की मर्यादा का पालन नहीं होता ॥335-336॥

इस प्रकार अपने समाचारों को छिपाते हुए उनपिता-पुत्र के कितने हीदिन निकल गये। एक दिन कपिलके परोक्षमें सत्यभामाने ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर पूछा कि आप सत्य कहिये। क्या यह आपका ही पुत्र है ? इसके दुश्चरित्रसे मुझे विश्वास नहीं होता कि यह आपका ही पुत्र है। धरिणीजट हृदय में तो कपिलके साथ द्वेष रखता ही था और इधर सत्यभामाके दिये हुए सुवर्ण तथा धनको साथ लेकर घर जाना चाहता था इसलिए सब वृत्तान्त सच-सच कहकर घर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट मनुष्यों के लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं हैं ॥337-339॥

अथानन्तर उस नगर का राजा श्रीषेण था। उसके सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नाम की दो रानियां थीं। उन दोनोंको इन्द्र और चन्द्रमाके समान सुन्दर मनुष्योंमें उत्तम इन्द्रसेन और उपेन्द्र सेन नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों ही पुत्र अत्यन्त मन्त्र थे अतः माता - पिता उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे ॥340-341॥

उस समय अन्याय की घोषणा करने वाला वह वनावटी ब्राह्मण कपिल राजा के पास ही बैठा था, शोकके कारण उसने अपना हाथ अपने

मस्तक पर लगा रक्खा था, उसे देखकर और उसका सब हाल जानकर श्रीषेण राजा ने विचार किया कि पापी विजातीय मनुष्यों का संग्रह करने योग्य कुछ भी कार्य नहीं है। इसीलिए राजा लोग ऐसे कुलीन मनुष्यों का संग्रह करते हैं जो आदि मध्य और अन्त में भी विकार को प्राप्त नहीं होते ॥343-345॥

जो स्वयं अनुरक्त हुआ पुरुष विरक्त स्त्रीमें अनुराग की इच्छा करता है वह इन्द्रनील मणिमें लाल तेजकी इच्छा करता है ॥346॥

इत्यादि विचार करते हुए राजा ने उस दुराचारीको शीघ्र ही अपने देशसे निकाल दिया सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुष मर्यादा की हानि को सहन नहीं करते ॥347॥

किसी एक दिन राजा ने घर पर आये हुए आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनियोंको पडिगाह कर स्वयं आहार दान दिया, पंचाश्रय प्राप्त किये और दश प्रकार के कल्पवृक्षोंके भोग प्रदान करनेवाली उत्तरकुरूकी आयु बांधी। राजा की दोनों रानियोंने तथा उत्तम कार्य करनेवाली सत्यभामाने भी दानकी अनुमोदनासे उसी उत्तरकुरूकी आयु का बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि साधुओं के समागम से क्या नहीं होता ? ॥348-350॥

अथानन्तर कौशाम्बी नगरी में राजा महाबल राज्य करते थे, उनकी श्रीमती नाम की रानी थी और उन दोनोंके श्रीकान्ता नाम की पुत्री थी। वह श्रीकान्ता मानो सुन्दरता की सीमा ही थी ॥351॥

राजा महाबलने वह श्रीकान्ता विवाहकी विधिपूर्वक इन्द्रसेनके लिए दी थी। श्रीकान्ताके साथ अनन्तमति नाम की एक साधारण स्त्री भी गई थी। उसके साथ उपेन्द्रसेन का स्नेहपूर्ण समागम हो गया और इस निमित्तको लेकर बगीचामें रहनेवाले दोनों भाइयोंमें युद्ध होनेकी तैयारी हो गई। जब राजा ने यह समाचार सुना तब वे उन्हें रोकनेके लिए गये परन्तु वे दोनों ही कामी तथा क्रोधी थे अतः राजा उन्हें रोकनेमें असमर्थ रहे। राजा को दोनों ही पुत्र अत्यन्त प्रिय थे। साथ ही उनके परिणाम अत्यन्त आर्द्र - कोमल थे अतः वे पुत्रों का दुःख सहनमें समर्थ नहीं हो सके। फल यह हुआ कि वे विष - पुष्प सूँघ कर मर गये ॥352-355॥

वही विष - पुष्प सूँघकर राजाकी दोनों स्त्रियाँ तथा सत्यभामा भी प्राणरहित हो गईं सो ठीक ही है क्योंकि कर्मोंकी प्रेरणा विचित्र होती है ॥356॥

धातकीखण्डके पूर्वार्ध भाग में जो उत्तरकुरू नाम का प्रदेश है उसमें राजा तथा सिंह नन्दिता दोनों दम्पती हुए और अनिन्दिता नाम की रानी आर्य तथा सत्यभामा उसकी स्त्री हुई। इस प्रकार वे सब वहाँ भोगभूमिके भोग भोगते हुए सुख से रहने लगे ॥357-358॥

अथानन्तर कोई एक विद्याधर युद्ध करनेवाले दोनों भाइयोंके बीच प्रवेश कर कहने लगा कि तुम दोनों व्यर्थ ही क्यों युद्ध करते हो ? यह तो तम्हारी छोटी बहिन है। उसके वचन सुनकर दोनों कुमारों ने आश्चर्यके साथ पूछा कि यह कैसे ? उत्तरमें पुष्कलावती नाम का देश है। उसमें विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर आदित्याभ नाम का नगर है। उसमें सुकुण्डली नाम का विद्याधर राज्य करता है। सुकुण्डलीकी स्त्री का नाम मित्रसेना है। मैं उन दोनों का मणिकुण्डल नाम का पुत्र हूँ। मैं किसी समय पुण्डरीकिणी नगरी गया था, वहाँ अमितप्रभ जिनेन्द्रसे सनातनधर्म का स्वरूप सुनकर मैंने अपने पूर्वभव पूछे। उत्तरमें वे कहने लगे ॥361-363॥

कि तीसरे पुष्करवर द्वीप में पश्चिम मेरूपर्वत से पश्चिमकी ओर सरिद् नाम का एक देश है। उसके मध्य में वीतशोक नाम का नगर है। उसके राजा का नाम चक्रध्वज था, चक्रध्वजकी स्त्री का नाम कनकमालिका था। उन दोनोंके कनकलता और पद्मसलता नाम की दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई ॥364-365॥

उसी राजाकी एक विद्यन्मति नाम की दूसरी रानी थी उसके पद्मावती नाम की पुत्री थी। इस प्रकार इन सबका समय सुख से बीत रहा था। किसी दिन काललब्धिके निमित्तसे रानी कनकमाला और उसकी दोनों पुत्रियोंने अमितसेना नाम की गणिनीके वचनरूपी रसायन का पान किया जिससे वे तीनों ही मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुए। इधर पद्मावती ने देखा कि एक वेश्या दो कामियों को प्रसन्न कर रही है उसे देख पद्मावती ने भी वैसे ही होने की इच्छा की। मरकर वह स्वर्ग में अप्सरा हुई ॥366-368॥

तदनन्तर कनकमाला का जीव, वहाँसे चयकर मणिकुण्डली नाम का राजा हुआ है और दोनों पुत्रियोंके जीव रत्नपुर नगर में राजपुत्र हुए हैं। जिस अप्सरा का उल्लेख ऊपर आ चुका है वह स्वर्गसे चय कर अनन्तमति हुई है। इसी अनन्तमतिको लेकर आज तुम दोनों राजपुत्रों का युद्ध हो रहा है ॥369-370॥

इस प्रकार जिनेन्द्र देव की कही हुई वाणी सुनकर, अन्याय करने वाले और धर्म को न जानने वाले तुम लोगों को रोकने के लिए मैं यहाँ

आया हूँ ॥371॥

इस प्रकार विद्याधरके वचनों से दोनों का कलह दूर हो गया, दोनों को आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया, दोनों को शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो गया, दोनों ने सुधर्मगुरूके पास दीक्षा ले ली, दोनों ही मोक्षमार्ग के अन्त तक पहुँचे, दोनों ही क्षायिक अनन्तज्ञानादि गुणों के धारक हुए और दोनों ही अन्त में निर्वाणको प्राप्त हुए ॥372-373॥

तथा अनन्तमतिने भी हृदय में श्रावक के सम्पूर्ण व्रत धारण किये और अन्त में स्वर्गलोक प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके अनुग्रहसे कौन सी वस्तु नहीं मिलती? ॥374॥

राजा श्रीषेण का जीव भोगभूमिसे चलकर सौधर्म स्वर्गके श्रीप्रभ विमान में श्रीप्रभ नाम का देव हुआ, रानी सिंहनन्दिता का जीव उसी स्वर्गके श्रीनिलय विमान में विद्युत्प्रभा नाम की देवी हुई ॥375॥

सत्यभामा ब्राह्मणी और अनिन्दिता नाम की रानी के जीव क्रमशः विमलप्रभ विमान में शुक्लप्रभा नाम की देवी और विमलप्रभ नाम के देव हुए ॥376॥

राजा श्रीषेण का जीव पांच पल्य प्रमाण आयु के अन्त में वहाँसे चय कर इस तरह की लक्ष्मी से सम्पन्न तू अर्ककीर्ति का पुत्र हुआ है ॥ 377॥

सिंहनन्दिता तुम्हारी ज्योतिःप्रभा नाम की स्त्री हुई है, देवी अनिन्दिता का जीव श्रीविजय हुआ है, सत्यभामा सुतारा हुई है और पहले का दुष्ट कपिल चिरकाल तक दुर्गतियोंमें भ्रमण कर संभूतरमण नाम के वन में ऐरावती नदी के किनारे तापसियोंके आश्रममें कौशिक नामक तापसकी चपलवेगा स्त्रीसे मृगशृंग नाम का पुत्र हुआ है ॥378-380॥

वहाँ पर उस दुष्टने बहुत समय तक खोटे तापसियोंके व्रत पालन किये । किसी एक दिन चपलवेग विद्याधरकी लक्ष्मी देखकर उस मूर्खने मनमें, विद्वान् जिसकी निन्दा करते हैं ऐसा निदान बन्ध किया । उसीके फलसे यह अशनिघोष हुआ है और पूर्व स्नेहके कारण ही इसने सुतारा का हरण किया है ॥381-382॥

तेरा जीव आगे होने वाले नौवें भवमें सज्जनोंको शान्ति देनेवाला पाँचवाँ चक्रवर्ती और शान्तिनाथ नाम का सोलहवाँ तीर्थकर होगा ॥ 383॥

इस प्रकार जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमाकी फैली हुई वचनरूपी चाँदनी की प्रभाके सम्बन्धसे विद्याधरोंके इन्द्र अमिततेज का हृदयरूपी कुमुदोंसे भरा सरोवर खिल उठा ॥384॥

उसी समय अशनिघोष, उसकी माता स्वयम्प्रभा, सुतारा तथा अन्य कितने ही लोगोंने विरक्त होकर श्रेष्ठ संयम धारण किया ॥385॥ चक्रवर्ती के पुत्र को आदि लेकर बाकीके सब लोग जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति कर तथा तीन प्रदक्षिणाएँ देकर अमिततेजके साथ यथायोग्य स्थान पर चले गये ॥386॥

इधर अर्ककीर्तिका पुत्र अमिततेज समस्त पर्वोंमें उपवास करता था, यदि कदाचित् ग्रहण किये हुए व्रतकी मर्यादा का भंग होता था तो उसके योग्य प्रायश्चित्त लेता था, सदा महापूजा करता था, आदरसे पात्रदानादि करता था, धर्म-कथा सुनता था, भव्यों को धर्मोपदेश देता था, निःशक्तित आदि गुणों का विस्तार करता था, दर्शनमोह को नष्ट करता था, सूर्य के समान अपरिमित तेज का धारक था और चन्द्रमा के समान सुख से देखने योग्य था ॥387-389॥

वह संयमीके समान शान्त था, पिताकी तरह प्रजा का पालन करता था और दोनों लोकों के हित करने वाले धार्मिक कार्योंकी निरन्तर प्रवृत्ति रखता था ॥390॥

प्रज्ञप्ति, कामरूपिणी, अग्निस्तम्भिनी, उदकस्तम्भिनी, विश्वप्रवेशिनी, अप्रतिघातगामिनी, आकाशगामिनी, उत्पादिनी, वशीकरणी, दशमी, आवेशिनी, माननीयप्रस्थापिनी, प्रमोहनी, प्रहरणी, संक्रामणी, आवर्तनी, संग्रहणी, भंजनी, विपाटिनी, प्रावर्तकी, प्रमोदिनी, प्रहापणी, प्रभावती, प्रलापिनी, निक्षेपणी, शर्वरी, चांडाली, मातंगी, गौरी, षडङ्गिका, श्रीमत्कन्या, शतसंकुला, कुभाण्डी, विरलवेगिका, रोहिणी, मनोवेगा, महावेगा, चण्डवेगा, चपलवेगा, लघुकरी, पर्णलघु, वेगावती, शीतदा, उष्णदा, वेताली, महाज्वाला, सर्वविद्याछेदिनी, युद्धवीर्या, बन्धमोचनी, प्रहारावरणी, भ्रामरी, अभोगिनी इत्यादि कुल और जाति में उत्पन्न हुई अनेक विद्याएँ सिद्ध कीं । उन सब विद्याओं का पारगामी होकर वह योगीके समान सुशोभित हो रहा ॥391-400॥

दोनों श्रेणियों का अधिपति होनेसे वह सब विद्याधरों का राजा था और इस प्रकार विद्याधरों का चक्रवर्तीपना पाकर वह चिरकाल तक भोग भोगता रहा ॥401॥

किसी एक दिन विद्याधरोंके अधिपति अमिततेजने दमवर नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि को विधिपूर्वक आहार दान देकर पश्चात्स्वर्ग प्राप्त किये ॥402॥

किसी एक दिन अमिततेज तथा श्रीविजयने मस्तक झुकाकर अमरगुरु और देवगुरु नामक दो श्रेष्ठ मुनियोंको नमस्कार किया, धर्म का यथार्थ स्वरूप देखा, उनके वचनामृत का पान किया और ऐसा संतोष प्राप्त किया मानो अजर-अमरपना ही प्राप्त कर लिया हो ॥ 403-404॥

तदनन्तर श्रीविजयने अपने तथा पिता के पूर्वभवों का सम्बन्ध पूछा जिससे समस्त पापोंको नष्ट करनेवाले पहले भगवान् अमरगुरु कहने लगे ॥405॥

उन्होंने विश्वनन्दीके भव से लेकर समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । उसे सुनकर अमिततेजने भोगों का निदान बन्ध किया ॥406॥

अमिततेज तथा श्रीविजय दोनोंने कुछ काल तक विद्याधरों तथा भूमि-गोचरियोंके सुखामृत का पान किया । तदनन्तर दोनों ने विपुलमति और विमलमति नाम के मुनियों के पास 'अपनी आयु एक मास मात्र की रह गई है' ऐसा सुनकर अर्कतेज तथा श्रीदत्त नाम के पुत्रों के लिए राज्य दे दिया, बड़े आदर से आष्टाह्नि क पूजा की तथा नन्दन नामक मुनिराज के समीप चन्दन वन में सब परिग्रह का त्याग कर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया । अन्त में समाधिमरण कर शुद्ध बुद्धि का धारक विद्याधरों का राजा अमिततेज तेरहवें स्वर्गके नन्द्यावर्त विमान में रविचूल नाम का देव हुआ और श्रीविजय भी इसी स्वर्गके स्वस्तिक विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ । वहाँ दोनोंकी आयु बीस सागर की थी । आयु समाप्त होने पर वहाँसे च्युत हुए ॥407-411॥

उनमेंसे रविचूल नाम का देव नन्द्यावर्त विमानसे च्युत होकर जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी के राजा स्तिमितसागर और उनकी रानी वसुन्धराके अपराजित नाम का पुत्र हुआ । मणिचूल देव भी स्वस्तिक विमानसे च्युत होकर उसी राजा की अनुमति नाम की रानीसे अनन्तवीर्य नाम का लक्ष्मी सम्पन्न पुत्र हुआ ॥412-414॥

वे दोनों ही भाई जम्बूद्वीप के चन्द्रमाओं के समान सुशोभित होते थे क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा कान्ति से युक्त होता है उसी प्रकार वे भी उत्तम कान्ति से युक्त थे, जिस प्रकार चन्द्रमा कुवलय-नील कमलों को आह्लादित करता है उसी प्रकार वे भी कुवलय-पृथिवी-मण्डल को आह्लादित करते थे, जिस प्रकार चन्द्रमा तृष्ण-तृषा और आताप को दूर करता है। उसी प्रकार वे भी तृष्णा रूपी आताप दुःख को दूर करते थे और जिस प्रकार चन्द्रमा कलाधर-सोलह कलाओं का धारक होता है उसी प्रकार वे भी अनेक कलाओं-अनेक चतुराइयोंके धारक थे ॥ 415॥

अथवा वे दोनों भाई बालसूर्यसे समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार बालसूर्य पद्मानन्दकर-कमलों को आनन्दित करनेवाला होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी पद्मानन्दकर-लक्ष्मी को आनन्दित करने वाले थे, जिस प्रकार बालसूर्य भास्वद्विपु-देदीप्यमान शरीर का धारक होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी देदीप्यमान शरीर के धारक थे, जिस प्रकार बालसूर्य ध्वस्ततामस-अन्धकार को नष्ट करने वाला होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी ध्वस्ततामस-अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले थे, जिस प्रकार बालसूर्य नित्योदय होते हैं- उनका उद्गमन निरन्तर होता रहता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी नित्योदय थे-उनका ऐश्वर्य निरन्तर विद्यमान रहता था और जिस प्रकार बालसूर्य जगन्नेत्र-जगच्चक्षु नाम को धारण करने वाले हैं उसी प्रकार वे दोनों भाई भी जगन्नेत्र-जगत् के लिए नेत्रके समान थे ॥416॥

वे दोनों भाई कलावान् थे परन्तु कभी किसी को ठगते नहीं थे, प्रताप सहित थे परन्तु किसी को दाह नहीं पहुँचाते थे, दोनों करों-दोनों प्रकार के टैक्सों से (आयात और निर्यात करों से) रहित होने पर भी सत्कार उत्तम कार्य करने वाले अथवा उत्तम हाथों से सहित थे इस प्रकार वे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥417॥

रूप की अपेक्षा उन्हें कामदेव की उपमा नहीं दी जा सकती थी क्योंकि वह अशरीरता को प्राप्त हो चुका था तथा नीति की अपेक्षा परस्पर एक दूसरे को जीतने वाले गुरु तथा शुक्र उनके समान नहीं थे । भावार्थ – लोक में सुन्दरताके लिए कामदेवकी उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके लिए कामदेव की उपमा संभव नहीं थी क्योंकि वे दोनों शरीरसे सहित थे और कामदेव शरीर से रहित था । इसी प्रकार लोक में नीतिविज्ञताके लिए गुरु – बृहस्पति और शुक्र – शुक्राचार्य की उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके लिए उनकी उपमा

लागू नहीं होती थी क्योंकि गुरु और शुक्र परस्पर एक दूसरे को जीतने वाले थे परन्तु वे दोनों परस्पर में एक दूसरेको नहीं जीत सकते थे ॥ 418 ॥

सूर्य के द्वारा रची हुई छाया कभी घटती है तो कभी बढ़ती है परन्तु उन दोनों भाइयोंके द्वारा की हुई छाया बढ़ते हुए वृक्ष की छायाके समान निरन्तर बढ़ती ही रहती है ॥419॥

वे न कभी युद्ध करते थे और न कभी शत्रुओं पर चढ़ाई ही करते थे फिर भी शत्रु राजा उन दोनों के साथ सदा सन्धि करने के लिए उत्सुक बने रहते थे ॥420॥

इस तरह जिन्हें राज्य-लक्ष्मी अपने कटाक्षों का विषय बना रही है ऐसे वे दोनों भाई नवीन अवस्था को पाकर शुक्लपक्ष की अष्टमी के चन्द्रमा के समान बढ़ते ही रहते थे ॥421॥

‘अब मेरे दोनों योग्य पुत्रों की अवस्था राज्य का उपभोग करने के योग्य हो गई, ऐसा विचार कर किसी एक दिन इनके पिताने भोगोंमें प्रीति करना छोड़ दिया ॥422॥

उसी समय इच्छा रहित राजा ने देव तुल्य दोनों भाइयों को बुलाकर उनका अभिषेक किया तथा एकको राज्य देकर दूसरे को युवराज बना दिया ॥423॥

तथा स्वयं, स्वयंप्रभ नामक जिनेन्द्र के चरणोंके समीप जाकर संयम धारण कर लिया । धरणेन्द्र की ऋद्धि देखकर उसने निदान बन्ध किया । उससे दूषित होकर बालतप करता रहा । वह सांसारिक सुख प्राप्त करने का इच्छुक था । आयु के अन्त में विशुद्ध परिणामोंमें मरा और धरणेन्द्र अवस्था को प्राप्त हुआ ॥424-425॥

इधर जिस प्रकार उत्तम भूमिमें बीज तथा उससे उत्पन्न हुए अंकुर जलके सिंचनसे वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे दोनों भाई राज्य तथा युवराज का पद पाकर नीति रूप जल के सिंचनसे वृद्धि को प्राप्त हुए ॥426॥

जिस प्रकार सूर्य की तेजस्वी किरणें प्रकट होकर सबसे पहले समस्त पर्वतोंके मस्तकों-शिखरों पर अपना स्थान जमाती हैं उसी प्रकार उन दोनों भाइयों की प्रकट हुई प्रतापपूर्ण नीति की किरणोंने आक्रमण कर सर्व-प्रथम समस्त राजाओं के मस्तकों पर अपना स्थान जमाया था ॥427॥

जिनका पुण्य प्रकट हो रहा है ऐसे दोनों भाइयोंकी राजलक्ष्मियाँ नई थीं और स्वयं भी दोनों तरूण थे इसलिए सदृश समागमके कारण उनमें जो प्रीति उत्पन्न हुई थी उसने उनकी भोगासक्ति को ठीक ही बढ़ा दिया था ॥428॥

उनके बर्बरी और चिलातिका नाम की दो नृत्यकारिणी थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानों नृत्य-विद्या ने ही अपनी सामर्थ्य से दो रूप धारण कर लिये हों ॥429॥

किसी एक दिन दोनों राजा बड़े हर्षके साथ उन नृत्यकारिणियों का नृत्य देखते हुए सुख से बैठे थे कि उसी समय नारदजी आ गये ॥430॥

दोनों भाई नृत्य देखनेमें आसक्त थे अतः नारदजी का आदर नहीं कर सके । वे क्रूर तो पहलेसे ही थे इस प्रकरणसे उनका अभिप्राय और भी खराब हो गया । वे उन दोनों भाइयोंके समीप आते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्य और चन्द्रमा के समीप राहु आ रहा हो । अत्यन्त जलती हुई क्रोधाग्नि की शिखाओंसे उनका मन संतप्त हो गया । जिस प्रकार जेठके महीने में दोपहर के समय सूर्य जलने लगता है उसी प्रकार उस समय नारदजी जल रहे थे-अत्यन्त कुपित हो रहे थे । कलहप्रेमी नारदजी उसी समय सभा के ‘ बीचसे बाहर निकल आये और क्रोधजन्य वेगसे शीघ्र ही शिवमन्दिर नगर जा पहुँचे ॥431-433॥

वहाँ सभाके बीच में राजा दमितारि अपने आसन पर बैठा था और ऐसा जान पड़ता था मानो अस्ताचल की शिखर पर स्थित पतनोन्मुख सूर्य ही हो ॥434॥

उसने नारदजी को आता हुआ देख लिया अतः शीघ्र ही उठकर उनका पडिगाहन किया, प्रणाम किया और ऊँचे सिंहासन पर बैठाया ॥ 435 ॥

जब नारदजी आशीर्वाद देकर बैठ गये तब उसने पूछा कि आप क्या उद्देश्य लेकर हमारे यहाँ पधारे हैं ? क्या मुझे सम्पत्ति देनेके लिए पधारे हैं अथवा कोई बड़ा भारी पद प्रदान करने के लिए आपका समागम हुआ है ? यह सुनकर नारदजी का मुखकमल खिल उठा । वे राजा को हर्ष उत्पन्न करते हुए प्रीति बढ़ाने वाले वचन कहने लगे ॥436-437॥

उन्होंने कहा कि हे राजन् ! मैं तुम्हारे लिए सारभूत वस्तुएँ खोजने के लिए निरन्तर घूमता रहता हूँ । मैंने आज दो नृत्यकारिणी देखी हैं जो आपके ही देखने योग्य हैं ॥438॥

वे इस समय ठीक स्थानोंमें स्थित नहीं हैं । मैं ऐसी अनिष्ट बात सहनेके लिए समर्थ नहीं हूँ इसीलिए आपके पास आया हूँ, क्या कभी चूड़ामणिकी स्थिति चरणोंके बीच सहन की जा सकती है ? ॥439॥

इस समय जिनसे कोई लड़ने वाला नहीं है, जो नवीन लक्ष्मी के मदसे उद्धत हो रहे हैं और जो झूठमूठके ही विजिगीषु बने हुए हैं ऐसे प्रभाकरी नगरी के स्वामी राजा अपराजित तथा अनन्तवीर्य हैं । वे सप्त-व्यसनोंमें आसक्त होकर प्रभादी हो रहे हैं इसलिए सरलता से नष्ट किये जा सकते हैं । वे सप्त-व्यसनोंमें आसक्त होकर प्रभादी हो रहे हैं इसलिए सरलता से नष्ट किये जा सकते हैं । संसार का सारभूत वह नृत्यकारिणियों का जोड़ा उन्हींके घर में अवस्थित है । उसे आप सुख से ग्रहण कर सकते हैं, दूत भेजनेसे वह आज ही लीलामात्रमें तुम्हारे पास आ जावेगा इसलिए अत्यन्त दुर्लभ वस्तु जब हाथके समीप ही विद्यमान है तब समय बिताना अच्छा नहीं ॥440-442॥

इस प्रकार यमराज के समान पापी नारदने जिसे प्रेरणा दी है तथा जिसका मरण अत्यन्त निकट है ऐसा दमितारि नारदकी बातमें आ गया ॥443॥

नृत्यकारिणी की बात सुनते ही उसका चित्त मुग्ध हो गया । उसने उसी समय वत्सकावती देश के पराक्रमी राजा अपराजित और अनन्तवीर्यके पास प्रकृत अर्थ को निवेदन करने वाला दूत भेंटके साथ भेजा । वह दूत भी राजा की आज्ञा से बीच में दिन नहीं बिताता हुआ-शीघ्र ही प्रभाकरीपुरी पहुँचा । उस समय दोनों ही भाई प्रोषधोपवास का व्रत लेकर जिन मंदिरमें बैठे हुए थे । उन्हें देखकर बुद्धिमान् दूतने मन्त्रीके मुखसे अपने आने का समाचार भेजा और अपने साथ लाई हुई भेंट दोनों भाइयोंके लिए यथायोग्य समर्पण की ॥ 444-447॥

वह कहने लगा कि दिव्य लोहेके पिण्डके समान देदीप्यमान राजा दमितारिकी प्रतापरूपी अग्नि निरन्तर जलती रहती है, वह अपराधी तथा झूठमूठ के अभिमानी मनुष्यों को शीघ्र ही जला डालती है ॥448॥

उसका नाम लेते ही स्वभावसे बैरी मनुष्यों का हृदय फट जाता है । वे भय से इतने विह्वल हो जाते हैं कि विनम्र होकर शीघ्र ही बैर तथा अस्त्र दोनों ही छोड़ देते हैं ॥449॥

उसका चित्त बड़ा निर्मल है, वह अपने वंशके सब लोगों के साथ विभाग कर राज्य का उपभोग करता है इसलिए परिवारमें उत्पन्न हुए शत्रु उसके हैं ही नहीं ॥450॥

जब तिरस्कार को न चाहने वाले लोग उसकी आज्ञाको माला के समान अपने मस्तक पर धारण करते हैं तब उस राजा के कृत्रिम शत्रु तो हो ही कैसे सकते हैं ? ॥451॥

वह अपने चरणपीठके समीप नम्रीभूत हुए समस्त विद्याधरोंके मुकुटके अग्रभाग में मणियोंकी किरणों से इन्द्रधनुष बनाया करता है ॥ 452॥

शत्रुओं को जीतनेसे उत्पन्न हुआ उसका यश कुन्द पुष्प तथा चन्द्रमा के समान शोभायमान है, उसके ऐसे मनोहर यश को कन्याएँ दिग्गजोंके दाँतोंके समीप निरन्तर गाती रहती हैं ॥453॥

जिस प्रकार महावतों के द्वारा बड़े-बड़े दुर्जय हाथी वश कर लिये जाते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा भी बड़े-बड़े दुर्जय राजा वश कर लिये गये थे इसलिए उसका 'दमितारि' वह नाम सार्थक प्रसिद्धि को धारण करता है ॥454॥

यद्यपि उसकी प्रतापरूपी अग्निने समस्त शत्रुरूपी इन्धनको जला डाला है तो भी अग्निकुमार देव के समान भयंकर दिखनेवाले उसकी प्रताप रूपी अग्नि निरन्तर जलती रहती है ॥455॥

उसी श्रीमान् दमितारि राजा ने दोनों नृत्यकारिणियाँ माँगनेके लिए मुझे आपके पास भेजा है सो प्रीति बढ़ानेके लिए आपको अवश्य देना चाहिए ॥456॥

आपकी नृत्यकारिणियाँ पृथिवीमें प्रसिद्ध हैं अतः उसीके योग्य हैं । नृत्यकारिणियोंके देनेसे वह तुम दोनों पर प्रसन्न होगा और अच्छा फल प्रदान करेगा । इस प्रकार उस दूतने कहा । राजा ने उसे सुनकर दूत को तो विश्राम करने के लिए भेजा और मन्त्रियोंको बुलाकर पूछा कि इस परिस्थितिमें क्या करना चाहिए ? ॥457-458॥

उनके पुण्य कर्म के उदय से तीसरे भवकी विद्या देवताएँ शीघ्र ही आ पहुँचीं और अपना स्वरूप

दिखाकर स्वयं ही कहने लगीं कि हम लोग आपके द्वारा अपने इष्ट कार्य में लगानेके योग्य हैं। आप लोग अस्थान में व्यर्थ ही व्याकुल न हों – ऐसा उन्होंने बड़े आदरसे कहा ॥459-460॥

देवताओं की बात सुन दोनों भाइयोंने अपना राज्य का भार अपने मन्त्रियों पर रखकर नर्तकियों का वेष धारण किया और दूतसे कहा कि चलो चलें, राजा ने हम दोनों को भेजा है। इस प्रकार दूतके साथ वार्तालाप कर वे दोनों शिवमन्दिर नगर पहुँचे और किसी गूढ़ अर्थ की आलोचना करते हुए राजभवन में प्रविष्ट हुए ॥461-462॥

वहाँ उन्होंने विद्याधरों के राजा दमितारिके यथायोग्य दर्शन किये। राजा दमितारिने संतुष्ट होकर उनके साथ शान्तिपूर्ण शब्दोंमें संभाषण किया, उनका आदर-सत्कार किया, दूसरे दिन मनको हरण करने वाले अंगहार, करण, रस और भावोंसे परिपूर्ण उनका नृत्य देखकर बहुत ही हर्ष तथा संतोष का अनुभव किया ॥463-464॥

एक दिन उसने उन दोनोंसे कहा कि ‘हे सुन्दरियो ! आप अपनी सुन्दर नृत्यकला हमारी पुत्री को सिखला दीजिये’ यह कहकर उसने अपनी कनकश्री नाम की पुत्री उन दोनों के लिए सौंप दी ॥465॥

वे दोनों उस राजपुत्री को लेकर यथायोग्य नृत्य कराने लगे। एक दिन उन्होंने भावी चक्रवर्ती के गुणों से गुम्फित निम्न प्रकार का गीत गाया ॥466॥

‘जिसने अपने कुल बल आदि गुणों के द्वारा पृथिवी पर समस्त राजाओं को जीत लिया है, जो अपनी शरीर की सम्पत्तिसे कामदेव को भी लज्जित करता है, संसार में अत्यन्त श्रेष्ठ है, और जो सुन्दर स्त्रियों के विलास तथा मनोहर चितवनों का घर है, ऐसा अनन्तवीर्य इस नाम से प्रसिद्ध पृथिवी का स्वामी तुम सबकी रक्षा करें’ ॥467॥

उस गीत के सुनते ही जिसके शरीर में कामदेवने प्रवेश किया है ऐसी राजपुत्रीने उन दोनोंसे पूछा कि ‘जिसकी स्तुति की जा रही है वह कौन है ?’ यह कहिये ॥468॥

उत्तरमें उन्होंने कहा कि ‘वह प्रभाकरीपुरीका अधिपति है, राजा स्तिमितसागरसे उत्पन्न हुआ है, महामणिके समान राजाओं के मस्तक पर स्थित चूड़ामणिके समान जान पड़ता है, स्त्रीरूपी कल्पलताके चढ़नेके लिए मानो कल्पवृक्ष ही है, और स्त्रीरूपी भ्रमरीके उपयोग करने के योग्य मुखकमलसे सुशोभित है’ ॥469-470॥

इस प्रकार उन दोनोंके द्वारा अत्यन्तवीर्यके रूप तथा लावण्य आदि का वर्णन सुनकर जिसकी प्रीति दूनी हो गई है ऐसी विद्याधर की पुत्री कनकश्री बोली ‘क्या वह देखने को मिल सकता है ?’। उत्तरमें उन्होंने कहा कि ‘हे कन्ये ! तुझे अच्छी तरह मिल सकता है’। ऐसा कहकर उन्होंने अनन्तवीर्य का साक्षात् रूप दिखा दिया ॥471-472॥

उसे देखकर कनकश्री कामज्वरसे विह्वल हो गई और उसे लेकर वे दोनों नृत्यकारिणी आकाशमार्ग से चली गई ॥473॥

विद्याधरोंके स्वामी दमितारिने यह बात अन्तःपुरके अधिकारियोंके कहनेसे सुनी और उन दोनों को वापिस लानेके लिए अपने योद्धा भेजे ॥474॥

बलवान् बलभद्रने योद्धाओं का आगमन देख, कन्या सहित छोटे भाईको दूर रक्खा और स्वयं लौटकर युद्ध किया ॥475॥

जब बलभद्रने चिरकाल तक युद्ध कर उन योद्धाओं को यमराज के पास भेज दिया तब दमितारिने कुपित होकर युद्ध करने में समर्थ दूसरे योद्धाओं को आज्ञा दी ॥476॥

वे योद्धा भी, जिस प्रकार समुद्र में पहाड़ डूब जाते हैं उसी प्रकार बलभद्र की खड्गधाराके विशाल पानीमें डूब गये। यह सुनकर दमितारिको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥477॥

उसमें मन्त्रियों को बुलाकर कहा कि ‘यह प्रभाव नृत्यकारिणियों का नहीं हो सकता, ठीक बात क्या है ? आप लोग कहें ? मन्त्रियों ने सब बात ठीक – ठीक जानकर राजा से कहीं ॥478॥

उस समय जिस प्रकार इन्धन पाकर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, अथवा सिंह का क्रोध भडक उठता है उसी प्रकार राजा दमितारि भी कुपित हो स्वयं युद्ध करने के लिए अपनी सेना साथ लेकर चला ॥479॥

परन्तु विद्या और पराक्रम से युक्त एक बलभद्रने ही उन सबको मार गिराया सिर्फ दमितारिको ही बाकी छोड़ा ॥480॥

इधर जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी के ऊपर सिंह आ टूटता है उसी प्रकार बड़े भाईको मारनेके लिए आते हुए यमराज के समान दमितारिको देखकर अनन्तवीर्य उस पर टूट पड़ा ॥481॥

अधिक पराक्रमी अनन्तवीर्यने उसके साथ अनेक प्रकार का युद्ध किया, तथा विद्या और बलके मदसे उद्धत उस दमितारिको मद रहित कर निश्चेष्ट बना दिया था ॥482॥

अबकी वार विद्याधरोंके राजा दमितारिने चक्र लेकर राजा अनन्तवीर्यके सामने फेंका परन्तु वह चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके दाहिने कन्धेके समीप ठहर गया ॥483॥

जिस प्रकार योगिराज धर्मचक्रके द्वारा मृत्युको नष्ट करते हैं उसी प्रकार पराक्रमी भावी नारायण ने उसी चक्रके द्वारा दमितारिको नष्ट कर दिया - मार डाला ॥484॥

इस तरह युद्ध समाप्त कर दोनों भाई आकाश में जा रहे थे कि पूज्य पुरुषों का कहीं उल्लंघन न हो जावे इस भय से ही मानों उनका विमान सहसा रूक गया ॥485॥

यह विमान किसी ने कील दिया है अथवा किसी अन्य कारणसे आगे नहीं जा रहा है ऐसा सोचकर वे दोनों भाई चारों ओर देखने लगे । देखते ही उन्हें समवसरण दिखाई दिया ॥486॥

‘ये मानस्तम्भ हैं, ये सरोवर हैं, ये चार वन हैं और ये गन्धकुटी के बीच में कोई जिनराज विराजमान हैं’ ऐसा कहते हुए अनन्तवीर्य और उनके भाई बलदेव वहाँ उतरे । उतरते ही उन्हें मालूम हुआ कि ये जिनराज, शिवमन्दिर नगर के स्वामी हैं, राजा कनकपुंख और रानी जयदेवीके पुत्र हैं, दमितारिके पिता हैं और कीर्तिधर इनका नाम है । इन्होंने विरक्त होकर शान्तिकर मुनिराज के समीप पारमेश्वरी दीक्षा धारण की थी । एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर जब इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब इन्द्र आदि देवों ने बड़ी भक्ति से इनकी पूजा की थी । ऐसा कह कर उन दोनों भाइयोंने जिनराज की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, बार बार नमस्कार किया, धर्मकथाएँ सुनीं और अपने पापोंको नष्ट कर दोनों ही भाई वहाँ पर बैठ गये ॥487-491॥

कनकश्री भी उनके साथ गई थी । उसने अपने पितामह को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और घातिया कर्मों को नष्ट करनेवाले उक्त जिनराजसे अपने भवान्तर पूछे ॥492॥

ऐसा पूछने पर परोपकार करना ही जिनकी समस्त चेष्टाओं का फल है ऐसे जिनेन्द्रदेव अपने वचनामृत रूप जलसे कनकश्री को संतुष्ट करने के लिए इस प्रकार कहने लगे ॥493॥

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्रकी भूमि पर एक शंख नाम का नगर था । उसमें देविल नाम का वैश्य रहता था । उसकी बन्धुश्री नाम की स्त्रीसे तू श्रीदत्ता नाम की बड़ी और सती पुत्री हुई थी । तेरी और भी छोटी बहिनें थीं जो कुष्ठी, लँगड़ी, टोंटी, बहरी, कुबड़ी, कानी और खंजी थीं । तू इन सबका पालन स्वयं करती थी । तूने किसी समय सर्वशैल नामक पर्वत पर स्थित सर्वयश मुनिराजकी बन्दना की, शान्ति प्राप्त की, अहिंसा व्रत लिया, और परिणाम निर्मल कर धर्मचक्र नाम का उपवास किया ॥494-497॥

किसी दूसरे दिन तूने सुव्रता नाम की आर्यिकाके लिए विधिपूर्वक आहार दिया, उन आर्यिकाने पहले उपवास किया था इसलिए आहार लेने के बाद उन्हें वमन हो गया और सम्यग्दर्शन न होनेसे तूने उन आर्यिकासे घृणा की । तूने जो अहिंसा व्रत तथा उपवास धारण किया था उसके पुण्य से तू आयु के अन्त में मर कर सौधर्म स्वर्ग में सामानिक जाति की देवी हुई और वहाँसे चय कर राजा दमितारि की मन्दरमालिनी नाम की रानीसे कनकश्री नाम की पुत्री हुई है । तूने आर्यिकासे जो घृणा की थी उसका फल यह हुआ कि ये लोग तेरे बलवान् पिताको मारकर तुझे जबर्दस्ती ले आये तथा तूने दुःख उठाया । यही कारण है कि बुद्धिमान् लोग कभी साधुओंमें घृणा नहीं करते हैं ॥498-501॥

यह सुनकर विद्याधर की पुत्री शोक से बहुत ही पीड़ित हुई । अनन्तर जिनेन्द्र देव की वन्दना कर नारायण और बलभद्रके साथ प्रभाकरीपुरीको चली गई ॥ इधर सुघोष और विद्युदंष्ट्र कनकश्री के भाई थे । वे बलसे उद्धत थे और शिवमन्दिरनगर में ही नारायण तथा बलभद्रके द्वारा भेजे हुए अनन्तसेन के साथ युद्ध कर रहे थे । यह देखकर बलभद्र तथा नारायणा को बहुत क्रोध आया, उन्होंने उन दोनोंको बाँध लिया । यह सुनकर कनकश्री उनके दुःखको सहन नहीं कर सकी और जिस प्रकार बढ़ते हुए तेजवाले तरूण सूर्य से युक्त चन्द्रमा की रेखा कान्तिहीन तथा क्षीण हो जाती है उसी प्रकार वह भी पक्षबल के बिना कान्तिहीन तथा क्षीण हो गई ॥502-505॥

शोकरूपी दावानल से मुरझाकर वह वनलता के समान दुःखी हो गई। उसने काम-भोग की सब इच्छा छोड़ दी, वह केवल भाइयों का दुःख दूर करना चाहती थी। उसने दोनों भाइयों को समझाया तथा बलभद्र और नारायण को प्रार्थना कर उन्हें बन्धन से छुड़ाया। स्वयंप्रभनामक तीर्थकर से धर्म रूपी रसायन का पान किया और सुप्रभ नाम की गणिनीके समीप दीक्षा धारण कर ली। अन्त में आयु समाप्त होने पर सौधर्मस्वर्ग में देव पद प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि कर्म का उदय बड़ा विचित्र है ॥506-508॥

जिन्होंने विद्याके बल से बड़े-बड़े उपाय किये हैं, जो बहुत पुण्यवान् हैं, विद्वान् लोग जिनकी स्तुति करते हैं, जो अच्छे कार्य ही प्रारम्भ करते हैं, परस्पर मिले रहते हैं, बड़े-बड़े शत्रुओं को मारकर जिनकी आत्माएं शान्त हैं और नीतिके अनुसार ही जो पराक्रम दिखाते हैं ऐसे उन दोनों भाइयों ने कृतकृत्य हो कर बहुत भारी उत्सवोंसे युक्त नगरी में एक साथ प्रवेश किया ॥509॥

अलंध्य शान्तिको धारणकरने वाले अपराजित ने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्याधरों को जीत कर विद्याधरों के स्वामी का पद तथा बलभद्र का पद प्राप्त किया और इस तरह केवल नाम से ही नहीं किन्तु भाव से भी अपना अपराजित नाम चिरकाल तक प्रकट किया ॥510॥

शत्रुओं की शक्ति को दमन करनेवाले दमितारि को जिसने युद्ध में उसी के चक्र से मारकर उससे तीन खण्ड का राज्य प्राप्त किया, जो अपने वीर्य से सूर्य को जीतता था तथा शूरवीरों में अत्यन्त शूर था ऐसा अनन्तवीर्य पृथिवीमें सर्व श्रेष्ठ था ॥511॥

वन्दी जन उस अनन्तवीर्य नारायण की उस समय इस प्रकार स्तुति करते थे कि तू निरन्तर आलोचना की हुई मन्त्रशक्तिके अनुसार चलता है, देदीप्यमान प्रतापान्नि की ज्वालाओं से तूने शत्रुओं के वंश रूपी बांसो के वन को भस्म कर डाला है, तू सब नारायणों में श्रेष्ठ नारायण है; जो शत्रु तुझे कुपित करता है वह क्षणभर में यमराज की जलती हुई ज्वालाओंसे आलीढ व्याप्त हुआ दिखाई देता है ॥512॥

जिसके शत्रु रूपी बादलों का उपरोध नष्ट हो गया है, जो सदा अपने बड़े भाई के बतलाये हुए मार्ग पर चलता है, काल-लब्धि से जिसे विशुद्धता प्राप्त हुई है, जिसने अपनी दीप्ति से समस्त दिग्मण्डल को व्याप्त कर लिया है और जिसका तेज अत्यन्त उग्र है ऐसा वह नारायण अपनी नगरी में उस प्रकार निवास करता था जिस प्रकार कि सूर्य शरद्ऋतु में निवास करता है ॥513॥

शान्तिनाथ तीर्थकर और चक्रवर्ती चरित

पर्व - 63

कथा :

जिस पर चमर दुर रहे हैं ऐसा सिंहासन पर बैठा हुआ अर्द्धचक्री-नारायण अनन्तवीर्य इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो छह खण्डोंसे सुशोभित पूर्ण चक्रवर्ती ही हो ॥1॥

इसी प्रकार अपराजित भी अपने योग्य रत्न आदि का स्वामी हुआ था और बलभद्र का पद प्राप्तकर प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता रहता था ॥2॥

जिनका स्नेह दूसरे भवोंसे सम्बद्ध होने के कारण निरन्तर बढ़ता रहता है और जो स्वच्छन्द रीति से अखण्ड श्रेष्ठ सुख का अनुभव करते हैं ऐसे उन दोनों भाइयों का काल क्रम से व्यतीत हो रहा था ॥3॥

कि बलभद्र की विजया रानीसे सुमति नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। वह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की रेखाओंसे उत्पन्न चांदनीके समान सबको प्रसन्न करती थी ॥4॥

वह कन्या प्रतिदिन अपनी वृद्धि करती थी और आह्लादकारी गुणों के द्वारा माता-पिता के भी कुवलयेप्सित-पृथिवीमण्डलमें इष्ट अथवा कुमुदोंको इष्ट प्रेमको बढ़ाती थी ॥5॥

किसी एक दिन राजा अपराजितने दमवरनामक चारणऋद्धिधारी मुनि को आहार दान दे कर पन्चाश्रय प्राप्त किये। उसी समय उन्होंने अपनी पुत्री को देखा और विचार किया कि अब यह न केवल रूप से ही विभूषित है किन्तु यौवन से भी विभूषित हो गई है। इस समय यह कन्या कालदेवता का आश्रय पाकर वर की प्रार्थना कर रही है अर्थात् विवाहके योग्य हो गई है ॥6- 7॥

ऐसा विचार कर उन दोनों भाइयोंने स्वयंवर की घोषणा सबको सुनवाई और स्वयंशाला बनवा कर उसमें अच्छे-अच्छे मनुष्यों का प्रवेश कराया ॥8॥

पुत्री को रथ पर बैठा कर स्वयंवरशालामें भेजा और आप दोनों भाई भी वहीं बैठ गये। कुछ समय बाद एक देवी विमान में बैठ कर आकाशमार्गसे आई और सुमति कन्यासे कहने लगी ॥9॥

क्यों याद है हम दोनों कन्याएं स्वर्ग में रहा करती थीं। उस समय हम दोनोंके बीच यह प्रतिज्ञा हुई थी कि जो पृथिवी पर पहले अवतार लेगी उसे दूसरी कन्या समझावेगी। मैं दोनोंके भवों का सम्बन्ध कहती हूँ सो तुम चित्त स्थिर कर सुनो ॥10-11॥

पुष्कर द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके नन्दनपुर नामक नगर में वय और पराक्रम से सुशोभित एक अमितविक्रम नाम का राजा राज्य करता था। उसकी आनन्दमती नाम की रानीसे हम दोनों धनश्री तथा अनन्तश्री नाम की दो पुत्रियां उत्पन्न हुई थीं। किसी एक दिन हम दोनोंने सिद्धकूटमें विराजमान नन्दन नाम के मुनिराजसे धर्म का सवरूप सुना, व्रत ग्रहण किये तथा सम्यग्ज्ञानके साथ-साथ अनेक उपवास किये। किसी दिन त्रिपुरनगर का स्वामी वज्रांगद विद्याधर अपनी वज्रमालिनी स्त्रीके साथ मनोहर नामक वन में जा रहा था कि वह हम दोनोंको देखकर आसक्त हो गया। इधर वह हम दोनों को पकड़कर शीघ्र ही जाना चाहता था कि उधरसे उसका अभिप्राय जानने वाली वज्रमालिनी आ धमकी। उसे दूरसे ही आती देख वज्रांगद डर गया अतः वह हम दोनों को वंश-वन में छोड़कर अपने नगर की ओर चला गया ॥12-17॥

हम दोनोंने उसी वन में संन्यासमरण किया। जिससे शुद्ध बुद्धि को धारण करने वाली मैं तो व्रत और उपवासके पुण्य से सौधर्मन्द्र की नवमिका नाम की देवी हुई और तू कुबेरकी रति नाम की देवी हुई। एक बार हम दोनों परस्पर मिलकर नन्दीश्वर द्वीप में महामह यज्ञ देखनेके लिए गई थीं वहाँसे लौटकर मेरूपर्वत के निकटवर्ती जन्तुरहित वन में विराजमान घृतिषेण नामक चारणमुनिराज के पास पहुँची थीं और उनसे हम दोनोंने यह प्रश्न किया था कि हे भगवन् ! हम दोनोंकी मुक्ति कब होगी ? हम लोगों का प्रश्न सुननेके बाद मुनिराजने उत्तर दिया था कि इस जन्ममें तुम दोनों की अवश्य ही मुक्ति होगी। हे बुद्धिमती सुमते ! मैं इस कारण ही तुम्हें समझाने के लिए स्वर्गलोकसे यहाँ आई हूँ ॥18-22॥

इस प्रकार उस देवीने कहा। उसे सुन कर सुमति अपना नाम सार्थक करती हुई पितासे छुट्टी पाकर सुव्रता नाम की आर्यिकाके पास सात सौ कन्याओं के साथ दीक्षित हो कर उसने बड़ा कठिन तप किया और आयु के अन्त में मर कर आनत नामक तेरहवें स्वर्गके अनुदिश विमान में देव हुई ॥23-24॥

इधर अनन्तवीर्य नारायण, अनेक प्रकार के सुखोंके साथ तीन खण्ड का राज्य करता रहा और अन्त में पापोदयसे रत्नप्रभा नाम की पहिली पृथिवीमें गया ॥25॥

उसके शोक से बलभद्र अपराजित, पहले तो बहुत दुःखी हुए फिर जब अनन्तसेन नामक पुत्र के लिए राज्य देकर यशोधर मुनिराजसे संयम धारण कर लिया। वे तीसरा अवधिज्ञान प्राप्तकर अत्यन्त शान्त हो गये और तीस दिन का संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए ॥ 26-27॥

अपराजित और अनन्तवीर्य का जीव मरकर धरणेन्द्र हुआ था। उसने नरकमें जाकर अनन्तवीर्य को समझाया जिससे प्रतिबुद्ध हो कर उसने सम्यग्दर्शन रूपी रत्न प्राप्त कर लिया। संख्यात वर्षकी आयु पूरी कर पाप का उदय कम होने के कारण वह वहाँसे च्युत हुआ और जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणीमें प्रसिद्ध गगनवल्लभ नगर के राजा मेघवाहन विद्याधरकी मेघमालिनी नाम की रानीसे मेघनाद नाम का विद्याधर पुत्र हुआ। वह दोनों श्रेणियों का आधिपत्य पाकर चिरकाल तक भोगों को भोगता रहा ॥28-30॥ किसी समय यह मेघनाद मेरु पर्वत के नन्दन वन में प्रज्ञप्ति नाम की विद्या सिद्ध कर रहा था, वहाँ अपराजितके जीव अच्युतेन्द्रने उसे समझाया ॥31॥

जिससे उसे आत्मज्ञान हो गया। उसने सुरामरगुरु नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली तथा उत्तम गुप्तियों और समितियोंको लेकर चिर कालतक उनका आचरण करता रहा ॥32॥

किसी एक दिन यही मुनिराज नन्दन नामक पर्वत पर प्रतिभा योग धारण कर विराजमान थे। अश्वग्रीव का छोटा भाई सुकण्ठ संसार रूपी समुद्रमें चिरकाल तक भ्रमणकर असुर अवस्था को प्राप्त हुआ था। वह वहाँसे निकला और इन श्रेष्ठ मुनिराजको देखकर क्रोधके वश अनेक प्रकार के उपसर्ग करता रहा ॥33-34॥

परन्तु वह दुष्ट उन दृढ़प्रतिज्ञ मुनिराज को ग्रहण किये हुए व्रत से रंच मात्र भी विचलित करने में जब समर्थ नहीं हो सका तब लज्जारूपी परदा के द्वारा ही मानो अन्तर्धानको प्राप्त हो गया- छिप गया ॥35॥

वे मुनिराज संन्यासमरणकर आयु के अन्त में अच्युतस्वर्गके प्रतीन्द्र हुए और इन्द्रके साथ उत्तम प्रीति रखकर प्रवीचार सुख का अनुभव

करने लगे ॥36॥

अपराजित का जीव जो इन्द्र हुआ था वह पहले च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्वविदेहक्षेत्रके रत्नसंचय नामक नगर में राजा क्षेमंकर की कनकचित्रा नाम की रानीसे मेघ की बिजलीसे प्रकाशके समान पुण्यात्मा श्रीमान् तथा बुद्धिमान् वज्रायुध नाम का पुत्र हुआ । जब यह उत्पन्न हुआ था तब आधान प्रीति सुप्रीति धृति-मोह प्रियोद्भव आदि क्रियाएं की गई थीं ॥37-39॥

उसके जन्मसे उसकी माताके ही समान सबकी बहुत भारी संतोष हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य का प्रकाश क्या केवल पूर्व दिशामें ही होता है ? भावार्थ-जिस प्रकार सूर्य पूर्व दिशासे उत्पन्न होता है परन्तु उसका प्रकाश सब दिशाओंमें फैल जाता है उसी प्रकार पुत्रकी उत्पत्ति यद्यपि रानी कनकचित्राके ही हुई थी परन्तु उससे हर्ष सभीको हुआ था ॥40॥

रूप आदि सम्पदाके साथ उसका शरीर बढ़ने लगा और जिस प्रकार स्वाभाविक आभूषणोंसे देव सुशोभित होता है उसी प्रकार स्वाभाविक गुणों से वह सुशोभित होने लगा ॥41॥

जिस प्रकार सूर्य के महाभ्युदयको सूचित करनेवाली उषा की लालिमा सूर्योदयके पहले ही प्रकट हो जाती है उसी प्रकार उस पुत्र के महाभ्युदय को सूचित करनेवाला मनुष्यों का अनुराग उसके जन्म के पहले ही प्रकट हो गया था ॥42॥

सब लोगों के कानों को आश्वासन देनेवाला और काशके फूलके समान फैला हुआ उसका उज्ज्वल यश समस्त दिशाओंमें फैल गया था ॥ 43॥

जिस प्रकार चन्द्रमा शुल्कपक्ष को पाकर कान्ति तथा चन्द्रिका से सुशोभित हो रहा है उसी प्रकार वह वज्रायुध भी नूतन-तरुण अवस्था पाकर राज्यलक्ष्मी तथा लक्ष्मी मती नामक स्त्री से सुशोभित हो रहा था ॥44॥

जिस प्रकार प्रातःकाल के समय पूर्व दिशासे देदीप्यमान सूर्य का उदय होता है उसी प्रकार उन दोनों-वज्रायुध और लक्ष्मीमती के अनन्तवीर्य अथवा प्रतीन्द्र का जीव सहस्रायुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥45॥

सहस्रायुध के श्रीषेणा स्त्री से कनकशान्त नाम का पुत्र हुआ । इस प्रकार राजा क्षेमंकर पुत्र पौत्र आदि परिवार से परिवृत होकर राज्य करते थे । किसी एक दिन वे सिंहासन पर विराजमान थे, उनपर चमर ढोले जा रहे थे ॥46-47॥

ठीक उसी समय देवों की सभा में ऐशान स्वर्गके इन्द्र ने वज्रायुध की इस प्रकार स्तुति की-इस समय वज्रायुध महासम्यग्दर्शन की अधिकतासे अत्यन्त पुण्यवान् है ॥48॥

विचित्रचूल नाम का देव इस स्तुति को नहीं सह सका अतः परीक्षा करने के लिए वज्रायुध की ओर चला सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट मनुष्य दूसरेकी स्तुतिको सहन नहीं कर सकता ॥49॥

उसने रूप बदल कर राजा के यथायोग्य दर्शन किये और शास्त्रार्थ करने की खुजलीसे सौत्रान्तिक मतका आश्रय ले इस प्रकार कहा ॥50॥ हे राजन् ! आप जीव आदि पदार्थों के विचार करने में विद्वान् हैं इसलिए कहिये कि पर्याय पर्यायी से भिन्न है कि अभिन्न ? ॥51॥

यदि पर्यायी से भिन्न है तो शून्यता की प्राप्ति होती है क्योंकि दोनों का अलग-अलग कोई आधार नहीं है और यह पर्यायी है यह इसका पर्याय है इस प्रकार का व्यवहार भी नहीं बन सकता अतः यह पक्ष संगत नहीं बैठता ॥52॥

यदि पर्यायी और पर्यायको एक माना जावे तो यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि परस्पर एकपना और अनेकपना दोनोंके मिलनेसे संकर दोष आता है ॥53॥

'यदि द्रव्य एक है और पर्यायें बहुत हैं 'ऐसा आपका मत है तो 'दोनों एक स्वरूप भी हैं' इस प्रतिज्ञाका भंग हो जायेगा ॥54॥

यदि द्रव्य और पर्याय दोनों को नित्य मानेंगे तो फिर नित्य होने के कारण पुण्य पापरूप कर्मों का उदय नहीं हो सकेगा, कर्मों के उदयके बिना बन्धके कारण राग द्वेष आदि परिणाम नहीं हो सकेंगे, उनके अभावमें कर्मों का बन्ध नहीं हो सकेगा और जब बन्ध नहीं होगा तब मोक्ष के अभावको कौन रोक सकेगा ? ॥55॥

यदि कुछ उपाय न देख पर्याय-पर्यायी को क्षणिक मानना स्वीकृत करते हैं तो आपके गृहीत पक्ष का त्याग और हमारे पक्ष की सिद्धि हो जावेगी ॥56॥

इसलिए हे भद्र ! आपका मत नीच बौद्धों के द्वारा कल्पित है तथा कल्पना मात्र है इसमें आप व्यर्थ ही परिश्रम न करें ॥57॥

इस प्रकार उसका कहा सुनकर विद्वान् वज्रायुध कहने लगा कि 'हे सौगत ! चित्त को ऊंचा रखकर तथा माध्यस्थ्य भाव को प्राप्त होकर

सुन ॥58॥

अपने द्वारा किया हुआ कर्म और उसके फल को भोगना आदि व्यवहार से विरोध रखने वाले क्षणिकैकान्तरूपी मिथ्यामतको लेकर तूने जो दोष बतलाया है वह जिनेन्द्र भगवान् के मुखरूपी चन्द्रमा से निकले हुए स्याद्वाद रूपी अमृत का पान करने वाले जैनियों को कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकता । क्योंकि धर्म और धर्मीमें-गुण और गुणीमें संज्ञा-नाम तथा बुद्धि आदि चिह्नों का भेद होनेसे भिन्नता है और 'गुण गुणी कभी अलग नहीं हो सकते' इस एकत्व नयका अवलम्बन लेने से दोनों में अभिन्नता है- एकता है । भावार्थ- द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा गुण और गुणी, अथवा पर्याय और पर्यायी में अभेद है-एकता है परन्तु व्यवहार नयकी अपेक्षा दोनों में भेद है । अनेकता है ॥59-61॥ भूत भविष्यत् वर्तमान रूप तीनों कालोंमें रहनेवाले स्कन्धोंमें परस्पर कारण-कार्य भाव रहता है अर्थात् भूत काल के स्कन्धोंसे वर्तमान काल के स्कन्धों की उत्पत्ति है इसलिए भूत काल के स्कन्ध कारण हुए और वर्तमान काल के स्कन्ध कार्य हुए । इसी प्रकार वर्तमान काल के स्कन्धों से भविष्यत् काल सम्बन्धी स्कन्धों की उत्पत्ति होती है अतः वर्तमान काल सम्बन्धी स्कन्ध कारण हुए और भविष्यत् कालसम्बन्धी स्कन्ध कार्य हुए । इस प्रकार कार्य कारण भाव होने से इनमें एक अखण्ड सन्तान मानी जाती है । स्कन्धों में यद्यपि क्षणिकता है तो भी सन्तान की अपेक्षा किये हुए कर्म का सद्भाव रहता है । जब उसका सद्भाव रहता है तब उसके फल का उपभोग भी हमारे मत में सिद्ध हो जाता है' । ऐसा यदि आपका मत है तो इस परिहारसे आपको अपने पक्ष की रक्षा करना एरण्ड के वृक्ष से मत्तहाथी के बांधने के समान है । भावार्थ- जिस प्रकार एरण्ड के वृक्ष से मत्त हाथी नहीं बांधा जा सकता उसी प्रकार इस परिहार से आपके पक्ष की रक्षा नहीं हो सकती ॥62-64॥

हम पूछते हैं कि जो संतान स्कन्धों से उत्पन्न हुई है वह संतान संतानी से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो हम उसे संतानी से पृथक् क्यों नहीं देखते हैं ? चूंकि वह हमें पृथक् नहीं दिखाई देती है इसलिए संतानी से भिन्न नहीं है ॥65॥

यदि आप अपनी कल्पित संतान को संतानी से अभिन्न मानने हैं तो फिर उसकी शून्यता को बुद्ध भी नहीं रोक सकते; क्योंकि संतानी क्षणिक है अतः उससे अभिन्न रहनेवाली संतान भी क्षणिक ही और जिससे क्षणिकवाद समाप्त हो जावेगा । इस प्रकार आपका यह सन्तानवाद संसार के दुःखों की सन्तति मालूम होती है ॥66-68॥

इस प्रकार उस देवने जब विचार किया कि हमारे वचन वज्रायुधके वचनरूपी वज्र से खण्ड-खण्ड हो गये हैं तब उसका समस्त मान दूर हो गया । उसी समय कालादि लब्धियोंकी अनुकूलता से उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया । उसने राजा की पूजा की, अपने आने का वृत्तान्त कहा और फिर वह स्वर्ग चला गया ॥69- 70॥

अथानन्तर क्षेमंकर महाराज योग और क्षेम का समन्वय करते हुए चिरकाल तक पृथिवी का पालन करते रहे । तदनन्तर किसी दिन उन्होंने मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे युक्त होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥71॥

वज्रायुधकुमार का राज्याभिषेक किया, लौकान्तिक देवों के द्वारा स्तुति प्राप्त की और घरसे निकल कर दीक्षा धारण कर ली ॥72॥

उन्होंने निरन्तर शास्त्र का अभ्यास करते हुए चिरकाल तक अनेक प्रकार का तपश्चरण किया । वे तपश्चरण करते समय किसी प्रकार का आवरण नहीं रखते थे, किसी स्थान पर नियमित निवास नहीं करते थे, कभी प्रमाद नहीं करते थे, कभी शास्त्रविहित क्रम का उल्लंघन नहीं करते थे, कोई परिग्रह पास नहीं रखते थे, लम्बे-लम्बे उपवास रखकर आहार का त्याग कर देते थे, किसी प्रकार का आभूषण नहीं पहिनते थे, कभी कषाय नहीं करते थे, कोई प्रकार का आरम्भ नहीं रखते थे, कोई पाप नहीं करते थे, और गृहीत प्रतिज्ञाओं को कभी खण्डित नहीं करते थे, उन्होंने निर्वाण प्राप्त करने के लिए अपना चित्त ममतारहित, अहंकाररहित, शठतारहित, जितेन्द्रिय, क्रोधरहित, चञ्चलतारहित, और निर्मल बना लिया था ॥73- 75॥

क्रम-क्रम से उन्होंने केवलज्ञान भी प्राप्त कर लिया, इन्द्र आदि देवता उनके ज्ञान-कल्याणके उत्सवमें आये और दिव्यध्वनिके द्वारा उन्होंने अपनी बारहों सभाओं को संतुष्ट कर दिया ॥76॥

इधर राजा वज्रायुध उत्तम पुण्य से फली हुई पृथिवी का पालन करने लगे । धीरे-धीरे कामके उन्मादको बढ़ाने वाला चैत का महीना आया । कोयलों का मनोहर आलाप और भ्रमरों का मधुर शब्द कामदेव के मंत्रके समान विरहिणी स्त्रियों के प्राण हरण करने लगा । समस्त प्रकार के फूल उत्पन्न करने वाले उस चैत्रके महीने में फूलोंसे लदे हुए वन ऐसे जान पड़ते थे मानो त्रिजगद्विजयी कामदेव के लिए अपना सर्वस्व ही दे रहे हों ॥77- 79॥

उस समय उसने सुदर्शना रानी के मुख से तथा धारिणी आदि अपनी स्त्रियोंकी उत्सुकतासे यह जान लिया कि इस समय इनकी अपने देवरमण नामक वन में क्रीड़ा करने की इच्छा है इसलिए वह उस वन में जाकर सुदर्शन नामक सरोवरमें अपनी रानियोंके साथ जलक्रीड़ा करने लगा ॥80-81॥

उसी समय किसी दुष्ट विद्याधर ने आकर उस सरोवर को शीघ्र ही एक शिलासे ढक दिया और राजा को नागपाशसे बाँध लिया । राजा वज्रायुध ने भी अपने हाथ की हथेलीसे उस शिला पर ऐसा आघात किया कि उसके सौ टुकड़े हो गये । दुष्ट विद्याधर उसी समय भाग गया। यह विद्याधर और कोई नहीं था-पूर्वभव का शत्रु विद्युदंष्ट्र था। वज्रायुध अपनी रानियों के साथ अपने नगर में वापिस आ गया। इस प्रकार पुण्योदय से राजा का काल सुख से बीत रहा था। कुछ समय बाद नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रकट हुए ॥82-85॥

वह चक्रवर्ती की विभूति पाकर एक दिन सिंहासन पर बैठा हुआ था कि उस समय भयभीत हुआ एक विद्याधर उसकी शरण में आया ॥ 86॥

उसके पीछे ही एक विद्याधरी हाथ में तलवार लिये क्रोधाग्नि की शिखा के समान सभाभूमि को प्रकाशित करती हुई आई ॥87॥

उस विद्याधरी के पीछे ही हाथमें गदा लिये एक वृद्ध विद्याधर आकर कहने लगा कि हे महाराज ! यह विद्याधर दुष्ट नीच है, आप दुष्ट मनुष्यों के निग्रह करने और सत्पुरुषोंके पालन करने में निरन्तर जागृत रहते हैं इसलिए आपको इस अन्याय करनेवाले का निग्रह अवश्य करना चाहिये ॥88-89॥

इसने कौन-सा अन्याय किया है यदि आपको यह जानने की इच्छा है तो हे देव ! मैं कहता हूँ, आप चित्त को अच्छी तरह स्थिर कर सुनें ॥ 90॥

जम्बूद्वीप के सुकच्छ देशमें जो विजयार्थ पर्वत है उसकी उत्तरश्रेणीमें एक शुक्रप्रभ नाम का नगर है । वहाँ विद्याधरोंके राजा इन्द्रदत्त राज्य करते थे । उनकी रानी का नाम यशोधरा था । मैं उन दोनों का पुत्र हूँ, वायुवेग मेरा नाम है और सब विद्याधर मुझे मानते हैं ॥91- 92॥

उसी देश में किन्नरगीत नाम का एक नगर है । उसके राजा का नाम चित्रचूल है । चित्रचूल की पुत्री सुकान्ता मेरी स्त्री है ॥93॥

मेरे तथा सुकान्ता के यह शान्तिमती नाम की सती पुत्री उत्पन्न हुई है । यह विद्या सिद्ध करने के लिए मुनिसागर नामक पर्वत पर गई थी ॥ 94॥

उसी समय यह पापी इसकी विद्या सिद्ध करने में विघ्न करने के लिए उपस्थित हुआ था परन्तु पुण्यकर्म के उदय से इसकी विद्या सिद्ध हो गई ॥95॥

उसी समय वहाँ आया था परन्तु वहाँ अपनी पुत्री को न देख शीघ्र ही उसी मार्गसे इनके पीछे आया हूँ । इस प्रकार उस वृद्ध विद्याधर ने कहा । यह सब सुनकर अवधिज्ञानरूपी नेत्र को धारण करनेवाले राजा वज्रायुध कहने लगे । कि 'इसकी विद्या में विघ्न होने का जो बड़ा भारी कारण है उसे मैं जानता हूँ' ऐसा कहकर वे स्पष्ट रूप से उसकी कथा कहने लगे ॥96-98॥

उन्होंने कहा कि इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में एक गान्धार नाम का देश है उसके विन्ध्यपुर नगर में गुणों से सुशोभित राजा विन्ध्यसेन राज्य करता था । उसकी सुलक्षणा रानी से नलिनकेतु नाम का पुत्र हुआ था । उसी नगर में एक धनमित्र नाम का वणिक् रहता था ।

उसकी श्रीदत्ता स्त्रीसे सुदत्त नाम का पुत्र हुआ था । सुदत्त की स्त्री का नाम प्रीतिकरा था । एक दिन प्रीतिकरा किसी वन में विहार कर रही थी । उसी समय राजपुत्र नलिनकेतु ने उसे देखा और देखते ही कामाग्नि से ऐसा संतप्त हुआ कि उसकी दाह सहन करने में असमर्थ हो गया । उस दुर्बुद्धि ने न्यायवृत्ति का उल्लंघन कर बलपूर्वक प्रीतिकरा का हरण कर लिया ॥99-102॥

सुदत्त इस घटना से बहुत ही विरक्त हुआ । उसने सुव्रत नामक जिनेन्द्र के समीप दीक्षा ले ली और चिर काल तक घोर तपश्चरण कर आयु के अन्त में संन्यासमरण किया जिससे ऐशान स्वर्ग में एक सागर की आयु वाला देव हुआ । वह पुण्यात्मा चिरकाल तक भोग भोग कर वहाँ से च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी सुकच्छ देशके विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी पर कान्चनतिलक नामक नगर में राजा महेन्द्रविक्रम और नीलवेगा नाम की रानी के अजितसेन नाम का प्यारा पुत्र हुआ । यह विद्या और पराक्रम से दुर्जेय है ॥103-106॥

इधर नलिनकेतु को उल्कापात देखने से आत्मज्ञान हो गया । उसने विरक्त हो कर अपने पिछले दुश्चरित्र की निन्दा की, सीमंकर मुनिके पास जाकर दीक्षा ली, बुद्धि को निर्मल बनाया, क्रम क्रम से केवलज्ञान उत्पन्न किया और अन्त में अष्टम भूमि-मोक्ष स्थान प्राप्त कर लिया ॥107-108॥

प्रीतिकरा भी विरक्त होकर सुव्रता आर्थिकाके पास गई और घर तथा परिग्रह का त्याग कर चान्द्रायण नामक श्रेष्ठ तप करने लगी । अन्त में संन्यासमरण कर ऐशान स्वर्ग में देवी हुई । वहाँ दिव्य भोगों के द्वारा अपनी आयु पूरी कर वहाँ से च्युत हुई और अब तुम्हारी पुत्री हुई है । पूर्व पर्याय के सम्बन्ध से ही इस विद्याधर ने इसकी विद्यामें विघ्न किया था । इस प्रकार राजा वज्रायुध के द्वारा कही हुई सब बात सुनकर शान्तिमती संसार से विरक्त हो गई । उसने क्षेमंकर नामक तीर्थंकर से धर्म श्रवण किया और शीघ्र ही सुलक्षणा नाम की आर्थिका के पास जा कर संयम धारण कर लिया । अन्त में संन्यास मरण कर वह ऐशान स्वर्ग में देव हुई । वह अपने शरीर की पूजा के लिए आई थी उसी समय पवनवेग और अजितसेन मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हुआ सो उनकी पूजा कर वह अपने स्थान पर चली गई ॥109-114॥ इस प्रकार जिनका शरीर राज्यलक्ष्मी से आलिंगित हो रहा है ऐसे चक्रवर्ती वज्रायुध दश प्रकार के भोगों के आधीन होकर जब छोड़ो खण्ड पृथिवी का पालन करते थे ॥115॥

तब विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी के शिवमन्दिर नगर में राजा मेघवाहन राज्य करते थे उनकी स्त्री का नाम विमला था । उन दोनोंके कनकमाला नाम की पुत्री हुई थी । उसके जन्मकाल में अनेक उत्सव मनाये गये थे । तरूणी होने पर वह राजा कनकशान्ति को कामसुख प्रदान करने वाली हुई थी अर्थात् उसके साथ विवाही गई थी ॥116-117॥

इसके सिवाय वस्त्वोकसार नगर के स्वामी समुद्रसेन विद्याधरकी जयसेना रानी के उदरसे उत्पन्न हुई वसन्तसेना भी कनकशान्ति की छोटी स्त्री थी । जिसप्रकार दृष्टि और चर्या-सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे निर्वृति-निर्वाण-मोक्ष प्राप्त होता है उसी प्रकार उन दोनों स्त्रियों से राजा कनकशान्ति निर्वृति-सुख-प्राप्त कर रहा था ॥118-119॥

किसी समय राजा कनकशान्ति कोयलों के प्रथम आलाप से बुलाये हुए के समान कौतुक वश अपनी स्त्रियों के साथ वनविहारके लिए गया था ॥120॥

जिस प्रकार कन्दमूल फल ढूँढनेवाले को पुण्योदय से खजाना मिल जाए उसी प्रकार उस कुमार को वन में विमलप्रभ नाम के मुनिराज दीख पड़े ॥121॥

उसने उनकी तीन प्रदक्षिणाएं दीं, वन्दना की, उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और अपने मन की धूलि उड़ाकर बुद्धि को शुद्ध किया ॥122॥ उसी समय दीक्षा-लक्ष्मी ने उसे अपने वश कर लिया अर्थात् उसने दीक्षा धारण कर ली इसलिए कहना पड़ता है कि बसन्तलक्ष्मी मानो तपोलक्ष्मी की दूती ही थी । भावार्थ-जिसप्रकार दूती, पुरुष स्त्री के साथ समागम करा देती है उसी प्रकार वसन्तलक्ष्मी ने राजा कनकशान्ति का तपोलक्ष्मी के साथ समागम करा दिया था ॥123॥

इसीके साथ इसकी दोनों स्त्रियों ने भी विमलमती आर्थिका के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि कुलीन स्त्रियों को ऐसा करना उचित ही है ॥124॥

किसी समय कनकशान्ति मुनिराज सिद्धाचल पर प्रतिमायोगसे विराजमान थे वहीं पर उनकी स्त्री वसन्तसेना का भाई चित्रचूल नाम का विद्याधर आया । पूर्वजन्म के बंधे हुए बैरके कारण उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गई । वह उपसर्ग प्रारम्भ करना ही चाहता था कि विद्याधरोंके अधिपति ने ललकार कर उसे भगा दिया ॥125-126॥

किसी एक दिन रत्नपुरके राजा रत्नसेन ने मुनिराज कनकशान्तिके लिए आहार देकर पञ्चाश्वर्य प्राप्त किये ॥127॥

किसी दूसरे दिन वही मुनिराज सुरनिपात नाम के वन में प्रतिमायोग धारणकर विराजमान थे । वह चित्रचूल नाम का विद्याधर फिरसे उपसर्ग करने के लिए तत्पर हुआ ॥128॥

परन्तु उन मुनिराज ने उस पर रंगमात्र भी क्रोध नहीं किया बल्कि घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमानों को किसी पर क्रोध करना उचित नहीं है ॥129॥

केवलज्ञान का उत्सव मनाने के लिए देवों का आगमन हुआ । उसे देख वह पापी विद्याधर डरकर उन्हीं केवली भगवान् की शरण में पहुंचा सो ठीक ही है क्योंकि नीच मनुष्यों की प्रवृत्ति ऐसी ही होती है ॥130॥

अथानन्तर नाती के केवलज्ञान का उत्सव देखने से वज्रायुध महाराज को भी आत्मज्ञान हो गया जिससे उन्होंने सहस्रायुध के लिए राज्य दे दिया और क्षेमंकर तीर्थंकर के पास पहुंचकर दीक्षा धारण कर ली । दीक्षा लेने के बाद ही उन्होंने सिद्धिगिरि नामक पर्वत पर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया ॥131-132॥

उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुतसे बमीठे तैयार हो गये सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष चरणोंमें लगे शत्रुओं को भी बढ़ाते हैं ॥133॥
उनके शरीर के चारों ओर सघन रूप से जमी हुई लताएं भी मानो उनके परिणामों की कोमलता प्राप्त करने के लिए ही उन मुनिराज के पास तक जा पहुँची थीं ॥134॥

अश्वग्रीव के रत्नकण्ठ और रत्नायुध नाम के जो दो पुत्र थे वे चिरकाल तक संसार में भ्रमण कर अतिबल और महाबल नाम के असुर हुए । वे दोनों ही असुर उन मुनिराज का विघात करने की इच्छा से उनके सम्मुख गये परन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नाम की देवियों ने देख लिया अतः डांटकर भगा दिया तथा दिव्य गन्ध आदिके द्वारा बड़ी भक्ति से उनकी पूजा की । पूजा के बाद वे देवियां स्वर्ग चली गईं । देखो कहाँ दो स्त्रियाँ और कहाँ दो असुर फिर भी उन स्त्रियों ने असुरों को भगा दिया सो ठीक है क्योंकि पुण्य के रहते हुए कौन सा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ? ॥135-137॥

इधर वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध को भी किसी कारण से वैराग्य हो गया, उन्होंने अपना राज्य शतबलीके लिए दे दिया, सब प्रकार की इच्छाएं छोड़ दीं और पिहितास्त्रव नाम के मुनिराजसे उत्तम संयम प्राप्त कर लिया । जब एक वर्ष का योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता-वज्रायुध मुनिराज के समीप जा पहुँचे ॥138-139॥

पिता पुत्र दोनों ने चिरकाल तक दुःसह तपस्या की, अन्त में वे वैभार पर्वत के अग्रभागपर पहुँचे । वहाँ उन्होंने शरीर में भी अपना आग्रह छोड़ दिया अर्थात् शरीरसे स्नेहरहित हो कर संन्यासमरण किया और ऊर्ध्वग्रीवेयक के नीचेके सौमनस नामक विमान में बड़ी ऋद्धि के धारक अहमिन्द्र हुए, वहाँ उनकी सागर की उनकी आयु थी ॥140-141॥

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है । उसकी पुण्डरीकिणी नाम की नगरी में राजा घनरथ राज्य करते थे । उनकी मनोहरा नाम की सुन्दर रानी थी । वज्रायुध का जीव ग्रीवेयकसे च्युत होकर उन्हीं दोनों के मेघरथ नाम का पुत्र हुआ । उसके जन्म के पहले गर्भाधान आदि क्रियाएं हुई थीं ॥142-143॥

उन्हीं राजा घनरथ की दूसरी रानी मनोरमा थी । दूसरा अहमिन्द्र (सहस्रायुध का जीव) उसीके गर्भसे दृढरथ नाम का पुत्र हुआ । ये दोनों ही पुत्र चन्द्र और सूर्य के समान जान पड़ते थे ॥144॥

उन दोनों में पराक्रम, बुद्धि, विनय, प्रभाव, क्षमा, सत्य, त्याग आदि अनेक स्थायी गुण प्रकट हुए थे ॥145॥

दोनों ही पुत्र पूर्ण युवा हो गये और ऐश्वर्य प्राप्त गजराज के समान सुशोभित होने लगे । उन्हें देख राजा का ध्यान उनके विवाह की ओर गया ॥146॥

उन्होंने बड़े पुत्र का विवाह प्रियमित्रा और मनोरमाके साथ किया था तथा सुमति को छोटे पुत्र की हृदय वल्लभा बनाया था ॥147॥

कुमार मेघरथ की प्रियमित्रा स्त्री से नन्दिवर्धन नाम का पुत्र हुआ और दृढरथ की सुमति नाम की स्त्रीसे वरसेन नाम का पुत्र हुआ ॥148॥

इस प्रकार पुत्र पौत्र आदि सुख के समस्त साधनों से युक्त राजा घनरथ सिंहासन पर बैठकर इन्द्र की लीला धारण करता था ॥149॥

उसी समय प्रियमित्रा की सुषेणा नाम की दासी घनतुण्ड नाम का मुर्गा लाकर दिखलाती हुई बोली कि यदि दूसरोंके मुर्गे इसे जीत लें तो मैं एक हजार दीनार दूँगी । यह सुनकर छोटी स्त्री की कान्चना नाम की दासी एक वज्रातुण्ड नाम का मुर्गा ले आई । दोनों का युद्ध होने लगा, वह युद्ध दोनों मुर्गोंके लिए दुःख का कारण था तथा देखने वालों के लिए भी हिंसानन्द आदि रौद्रध्यान करने वाला था अतः धर्मात्माओं के देखने योग्य नहीं है ॥150-153॥

ऐसा विचार कर बहुत से भव्य जीवों को शान्ति प्राप्त कराने तथा अपने पुत्र का माहात्म्य प्रकाशित करने की बुद्धिसे राजा घनरथ उन दोनों क्रोधी मुर्गों का युद्ध देखते हुए मेघरथसे पूछने लगे कि इनमें यह बल कहाँसे आया ? ॥154-155॥

इस प्रकार घनरथ के पूछने पर विशुद्ध अवधिज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाला मेघरथ, उन दोनों मुर्गोंके वैसे युद्ध का कारण कहने लगा ॥156॥

उसने इस प्रकार कहना शुरू किया कि इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में एक रत्नपुर नाम का नगर है उसमें भद्र और धन्य नाम के दो सगे भाई थे । दोनों ही गाड़ी चलाने का कार्य करते थे । एक दिन वे दोनों ही पापी श्रीनदी के किनारे बैलके निमित्तसे लड़ पड़े और परस्पर एक दूसरे को मार कर मर गये । अपने पूर्व जन्म के पाप से मर कर वे दोनों कान्चन नदी के किनारे श्वेतकर्ण और ताम्रकर्ण नाम के जंगली हाथी हुए । वहाँ पर भी वे दोनों पूर्व भवके बँधे हुए क्रोधसे लड़कर मर गये ॥157-159॥

मर कर अयोध्या नगर में रहनेवाले नन्दिमित्र नामक गोपाल की भैंसोंके झुण्डमें दो उत्तम भैंसे हुए ॥160॥

दोनों ही अहंकारी थे अतः परस्पर में बहुत ही कुपित हुए और चिरकाल तक युद्धकर सींगोंके अग्रभाग की चोटसे दोनोंके प्राण निकल गये ॥161॥

अब की बार वे दोनों उसी अयोध्या नगर में शक्तीवरसेन और शब्दवरसेन नामक राजपुत्रों के मेढा हुए । उनके मस्तक वज्रके समान मजबूत थे । मेढे भी परस्पर में लड़े और मर कर ये मुर्गे हुए हैं । अपनी अपनी विद्याओं से युक्त हुए दो विद्याधर छिप कर इन्हें लड़ा रहे हैं ॥ 162-163॥

उन विद्याधरों के लड़ाने का कारण क्या है ? और वे कौन हैं ? हे राजन्, यदि यह आप जानना चाहते हैं तो सुनें । इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी पर एक कनकपुर नाम का नगर है । उसमें गरूड़वेग नाम का राजा राज्य करता था । धृतिषेणा उसकी स्त्री का नाम था । उन दोनोंके दिवितिलक और चन्द्रतिलक नाम के दो पुत्र थे । एक दिन ये दोनों ही पुत्र सिद्धकूट पर विराजमान चारणयुगलके पास पहुँचे ॥164-166॥

और स्तुति कर बड़ी विनय के साथ अपने पूर्वभवके सम्बन्ध पूछने लगे । उनमें जो बड़े मुनि थे वे इस प्रकार विस्तारसे कहने लगे ॥167॥ धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व भाग में जो ऐरावत क्षेत्र है उसकी भूमि पर एक तिलक नाम का नगर है । उसके स्वामी का नाम अभयघोष था और उनकी स्त्री का नाम सुवर्णतिलक था । उन दोनोंके विजय और जयन्त नाम के दो पुत्र थे । वे दोनों ही पुत्र नीति और पराक्रम से सम्पन्न थे । इसी क्षेत्रके विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें स्थित मन्दारनगर के राजा शंख और उनकी रानी जयदेवीके पृथिवीतिलका नाम की पुत्री थी ॥168-170॥

वह राजा अभयघोष की प्राणवल्लभा हुई थी । राजा अभयघोष उसमें आसक्त होनेसे एक वर्ष तक उसीके यहाँ रहे आये ॥171॥ एक दिन चन्चत्कान्तितिलका नाम की दासी आकर राजा से कहने लगी कि रानी सुवर्णतिलका आपके साथ वन में विहार करना चाहती हैं ॥172॥

चेटी के वचन सुनकर राजा वहाँ जाना चाहता था परन्तु पृथिवीतिलका राजा से मनोहर वचन बोली और कहने लगी कि वह यहीं दिखलाये देती हूँ ॥173॥

ऐसा कह कर उसने उस समयमें होने वाली वन की सब वस्तुएँ दिखला दीं और इस कारण वह राजा को रोकनेमें समर्थ हो सकी । रानी सुवर्णतिलका इस मानभंगसे बहुत दुःखी हुई । अन्त में उस सती ने सुमति नामक आर्यिकाके पास दीक्षा ले ली सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्यजीवों का मानहित सिद्धि का कारण हो जाता है । 174-175॥

अभयघोष राजा ने किसी दिन दमवर नामक मुनिराज के लिए भक्ति-पूर्वक दान देकर पन्चाश्रय प्राप्त किये ॥176॥

वह एक दिन अपने दोनों पुत्रों के साथ अनन्त नामक गुरुके समीप गया था वहाँ उसे आत्मज्ञान हो गया जिससे उसने कठिन महाव्रत धारण कर लिये ॥177॥

तीर्थकर नामकके बन्धमें कारणभूत सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया और आयु के अन्त में समाधिमरण कर अपने दोनों पुत्रों के साथ अच्युतस्वर्ग में देव हुआ ॥178॥

बाईस सागर की आयु पाकर वे तीनों वहाँ मनोवान्छित भोग भोगते रहे । आयु के अन्त में वहाँसे च्युत होकर दोनों ही विजय और जयन्त राजकुमार के जीव तुम दोनों उत्पन्न हुए हो ॥179॥

वह सब अच्छी तरह सुनकर वे दोनों ही फिर पूछने लगे-कि हे भगवन् ! हमारे पिता कहाँ हैं ? ऐसा पूछे जाने पर वे पिता की कथा इस प्रकार कहने लगे - ॥180॥

उन्होंने कहा कि तुम्हारे पिता का जीव अच्युतस्वर्ग से च्युत होकर हेमांगद राजाकी मेघमालिनी नाम की रानी के घनरथ नाम का पुत्र हुआ है वह श्रीमान् इस समय रानियों तथा पुत्रों के साथ पुण्डरीकिणी नगरी में मुर्गों का युद्ध देखता हुआ बैठा है ॥181-182॥

उन मुनिराज से ये सब बातें सुनकर ये दोनों ही विद्याधर आपके प्रेम से यहाँ आये हैं । इस तरह मेघरथ से सब समाचार सुनकर उन विद्याधरोंने अपना स्वरूप प्रकट किया, राजा घनरथ और कुमार मेघरथ की पूजा की तथा गोवर्धन मुनिराज के समीप जाकर दीक्षा प्राप्त कर ली ॥183-184॥

उन दोनों मुर्गों ने भी अपना पूर्वभव का सम्बन्ध जानकर परस्पर का बँधा हुआ बैर छोड़ दिया और अन्त में साहस के साथ संन्यास धारण कर लिया । और भूतरमण तथा देवरमण नामक वन में ताम्रचूल और कनकचूल नाम के भूतजातीय व्यन्तर हुए ॥185-186॥

उसी समय वे दोनों देव पुण्डरीकिणी नगरी में आये और बड़े प्रेम से मेघरथ की पूजा कर अपने पूर्व जन्म का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से कहने लगे ॥187॥

अन्त में उन्होंने कहा कि आप मानुषोत्तर पर्वत के भीतर विद्यमान समस्त संसार को देख लीजिये । हम लोगों के द्वारा आप का कमसे कम यही उपकार हो जावे ॥188॥

देवों के ऐसा कहने पर कुमार ने जब तथास्तु कहकर उनकी बात स्वीकृत कर ली तब देवों ने कुमार को उसके आप्तजनों के साथ अनेक ऋद्धियों से युक्त विमान पर बैठाया और मेघमाला से विभूषित आकाश में ले जाकर यथा-क्रम से चलते चलते, सुन्दर देश दिखलाये ॥ 189-190॥

वे बतलाते जाते थे कि यह पहला भरतक्षेत्र है, यह उसके आगे हैमवत क्षेत्र है, यह हरिवर्ष क्षेत्र है यह विदेह क्षेत्र है, यह पाँचवाँ रम्यक क्षेत्र है, यह हैरण्यवत क्षेत्र है और यह ऐरावत क्षेत्र है । इस प्रकार हे स्वामिन् ! सात कुलाचलोंसे विभाजित ये सात क्षेत्र हैं ॥191-192॥
हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, महामेरू, नील, रूक्मी और शिखरी ये सात प्रसिद्ध कुलाचल हैं ॥193॥

ये पद्मआदि सरोवरोंसे निकलने वाली, समुद्र की ओर जानेवाली, अनेक नदियों से युक्त, मनोहर चौदह महानदियाँ हैं, ॥194॥

गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये उनके नाम हैं ॥195-196॥

देखो, कमलों से सुशोभित ये सोलह हृद-सरोवर हैं । पद्म, महापद्म, तिगन्ध, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, निषध, देवकुरू, सूर्य, दशवाँ सुलस, विद्युत्प्रभ, नीलवान्, उत्तरकुरू, चन्द्र, ऐरावत और माल्यवान् ये उन सोलह हृदोंके नाम हैं ॥197-199॥

इनमें से आदि के छह हृदोंमें कम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि लक्ष्मी ये इन्द्र की वल्लभा व्यन्तर देवियाँ रहती हैं ॥200॥

बाकीके दश हृदोंमें उसी नाम के नागकुमारदेव सदा निवास करते हैं । हे महाभाग ! इधर देखो, ये देखने योग्य वक्षार पर्वत हैं ॥201॥

चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैल, त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अंजनात्म, अञ्जन, श्रद्धावान्, विजयावती, आशीविष, सुखावह, चन्द्रमाल, सूर्यमाल, नागमाल और देवमाल ये सोलह इनके नाम हैं । इनके सिवाय गन्धमादन, माल्यवान् विद्युत्प्रभ और सौमनस्य ये चार गजदन्त हैं । ये सब पर्वत उत्पत्ति तथा विनाश से दूर रहते हैं-अनादिनिधन हैं । इधर स्वच्छ जल से भरी हुई ये विभंग नदियाँ हैं ॥202-205॥

हृदा, हृदवती, पंकवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला, क्षीरोदा, शीतोदा, स्त्रोतोऽन्तर्वाहिनी, गन्धमालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी ये बारह इनके नाम हैं ॥206-207॥

हे कुमार ! स्पष्ट देखिये, कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, रम्यका, रमणीया, मंडलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मावती, शंखा, नलिना, कुमुदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धावत्सुगन्धा और गन्धमालिनी ये बत्तीस विदेहक्षेत्रके देश हैं । तथा क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्ठा, अरिष्टपुरी, खंग, मंजूषा, औषधी, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा अंकवती, पद्मावती, शुभ, रत्नसंचया, अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका, विजया, वैजयन्त, जयंती, अपराजिता, चक्रपुरी, खंगपुरी, अयोध्या और अवध्या ये बत्तीस नगरियाँ उन देशों की राजधानियाँ हैं । ये वक्षार पर्वत, विभंग नदी और देश आदि सब सीता नदी के उत्तर की ओर मेरू पर्वत के समीपसे प्रदक्षिणा रूप से वर्णन किये हैं । इनके सिवाय उन व्यन्तर देवों ने समुद्र, वन आदि जो जो दिखलाये थे वे सब राजकुमार ने देखे । इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत देखा और उसके बीच में रहने वाले समस्त प्रिय स्थान देखे । अपना तेज प्रकट करनेवाले राजकुमार ने बड़ी प्रीति से अकृत्रिम जिन-मन्दिरों की पूजा की, अर्थपूर्ण स्तुतियों से स्तुति की और तदनन्तर बड़े उत्सवों से युक्त अपने नगर में वापिस आ गये ॥208-220॥

वहाँ आकर उन व्यन्तर देवों ने दिव्य आभरण देकर तथा शान्तिपूर्ण शब्द कहकर राजा की पूजा की और उसके बाद वे निवासस्थान पर चले गये ॥221॥

जो मनुष्य बदले के कार्यसे उपकार रूपी समुद्र को नहीं तिरता है अर्थात् उपकारी मनुष्य का प्रत्युपकार नहीं करता है वह गन्ध रहित

फूल के समान जीता हुआ भी मरे के समान है ॥222॥

जब ये दो मुर्गे इस प्रकार उपकार मानने वाले हैं तब फिर मनुष्य अपने शरीर में जीर्ण क्यों होता है ? यदि उसने उपकार नहीं किया तो वह दुष्ट ही है ॥223॥

किसी एक दिन काल-लब्धि से प्रेरित हुए बुद्धिमान् राजा घनरथ अपने मन में शरीरादि का इस प्रकार विचार करने लगे ॥224॥

इस जीव को धिक्कार है । बड़े दुःख की बात है कि यह जीव शरीर को इष्ट समझकर उसमें निवास करता है परन्तु यह इस शरीर को विषा के घर से भी अधिक घृणास्पद नहीं जानता ॥225॥

जो संतोष उत्पन्न करनेवाले हों उन्हें सुख कहते हैं । परन्तु ऐसे सुख इस संसार में प्राणियों को मिलते ही कहाँ हैं ? यह कोई मोहका ही उदय समझना चाहिए कि जिसमें यह प्राणी पाप के कारणभूत दुःखों को सुख समझने लगता है ॥226॥

जन्म से लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त यदि जीव के जीवित रहने का निश्चय होता तो भी ठीक है परन्तु यह क्षणभर भी जीवित रहेगा जब इस बात का भी निश्चय नहीं है तब यह जीव आत्महित करने में तत्पर क्यों नहीं होता ? ॥227॥

ये भाई-बनधु एक प्रकार के बन्धन हैं और सम्पदाएँ भी प्राणियोंके लिए विपत्ति रूप हैं । यदि ऐसा न होता तो पहलेके सज्जन पुरुष जंगलके मध्य क्यों जाते ? ॥228॥

इधर महाराज घनरथ ऐसा चिन्तन कर रहे थे कि उसी समय अवधिज्ञान से जानकर लौकान्तिक देव उनके इष्ट पदार्थ का समर्थन करने के लिए आ पहुँचे ॥229॥

वे कहने लगे कि हे देव ! आपके लिए हित का उपदेश कौन दे सकता है ? आप स्वयं ही हेय उपादेय पदार्थ को जानते हैं । इस प्रकार सज्जनों के द्वारा स्तुति करने योग्य भगवान् घनरथ की लौकान्तिक देवों ने स्तुति की । स्वर्गीय पुष्पों से उनकी पूजा की, अपना नियोग पालन किया और यह सब कर वे अपने-अपने स्थान पर जाने के लिए आकाश में जा पहुँचे ॥230-231॥

तदनन्तर भगवान् घनरथ ने अभिषेक-पूर्वक मेघरथके लिए राज्य दिया, देवों ने उनका अभिषेक किया और इस तरह उन्होंने स्वयं संयम धारण कर लिया ॥232॥

उन्होंने मन-वचन कायको शुद्ध बना लिया था, इन्द्रियों को जीत लिया था, जिसका फल अच्छा नहीं ऐसे नीच कहे जाने वाले कषाय रूपी विषको उगल दिया था, उत्तम बुद्धि प्राप्त की थी, सब ममता छोड़ दी थी, क्षपकश्रेणी पर चढ़कर क्रम-क्रम से सब कर्मों को उखाड़ कर दूर कर दिया था और केवलज्ञान प्राप्त करने के योग्य निर्मल भाव प्राप्त किये थे ॥233-234॥

उस समय भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त होने से देवों के आसन कम्पित हो गये । उन्होंने आकर सर्व वैभवके साथ उनकी पूजा की ॥235॥ किसी एक समय राजा मेघरथ अपनी रानियोंके साथ विहार कर देवरमण नामक उद्यानमें चन्द्रकान्त मणिके शिलातल पर बैठ गया ॥ 236॥

उसी समय उसके ऊपर से कोई विद्याधर जा रहा था । उसका विमान आकाश में ऐसा रूक गया जैसा कि मानो किसी बड़ी चट्टान में अटक गया हो ॥237॥

विमान रूक जाने से वह बहुत ही कुपित हुआ । राजा मेघरथ जिस शिलापर बैठे थे वह उसे उठाने के लिए उद्यत हुआ परन्तु राजा मेघरथ ने अपने पैर के अंगूठा से उस शिला को दबा दिया जिससे वह शिला के भार से बहुत ही पीड़ित हुआ ॥238॥

जब वह शिला का भार सहन करने में असमर्थ हो गया तब करुण शब्द करता हुआ चिल्लाने लगा । यह देख, उसकी स्त्री विद्याधरी आई और कहने लगी कि हे नाथ ! मैं अनाथ हुई जाती हूँ, मैं याचना करती हूँ, मुझे पति-भिक्षा दीजिये । ऐसी प्रार्थना की जाने पर मेघरथ ने अपना पैर ऊपर उठा लिया । यह सब देख प्रियमित्रा ने राजा मेघरथ से पूछा कि हे नाथ ! यह सब क्या है ? ॥239-240॥

यह सुन राजा मेघरथ कहने लगा कि विजयार्धपर्वत पर अलका नगरी का राजा विद्युदंष्ट्र विद्याधर है । अनिलवेगा उसकी स्त्री का नाम है । यह उन दोनों का सिंहरथ नाम का पुत्र है । यह जिनेन्द्र भगवान् की वन्दनाकर अमित नामक विमान में बैठा हुआ आ रहा था कि इसका विमान किसी कारण से मेरे ऊपर रूक गया, आगे नहीं जा सका । जब उसने सब दिशाओं की ओर देखा तो मैं दिख पड़ा । मुझे देख अहंकार के कारण उसका शरीर क्रोध से काँपने लगा । वह शिलातल के साथ हम सब लोगों को उठानेके लिए उद्यम करने लगा । मैंने पैर का अंगूठा दबा दिया जिससे यह पीड़ित हो उठा । यह उसकी मनोरमा नाम की स्त्री है । राजा मेघरथ ने यह कहा । इसे सुनकर प्रियमित्रा

रानी ने फिर पूछा कि इसके इस क्रोध का कारण क्या है ॥241-244॥

यही है कि और कुछ है ? इस जन्म सम्बन्धी या अन्य जन्म सम्बन्धी ? प्रियमित्राके ऐसा पूछने पर मेघरथ ने कहा कि यही कारण है ।

अन्य नहीं है, इतना कहकर वह उसके पूर्वभव कहने लगा ॥245॥

दूसरे धातकीखण्डद्वीप के पूर्वार्धभाग में जो ऐरावत क्षेत्र है, उसके शंखपुर नगर में राजा राजगुप्त राज्य करता था । उसकी स्त्री का नाम शन्धिका था । एक दिन इन दोनों ही पति-पत्नियों ने शंखशैल नामक पर्वत परस्थित सर्वगुप्त नामक मुनिराज से जिन गुण ख्याति नामक उपवास साथ-साथ ग्रहण किया । किसी दूसरे दिन धृतिषेण नाम के मुनिराज भिक्षाके लिए घूम रहे थे । उन्हें देख दोनों दम्पतियों ने उनके लिए भिक्षा देकर रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्वर्य प्राप्त किये ॥246-248॥

तदनन्तर राजा राजगुप्त ने समाधिगुप्त मुनिराज के पास संन्यास धारण किया जिससे उत्कृष्ट आयु का धारक ब्रह्मेन्द्र हुआ । वहाँ से चयकर सिंहरथ हुआ है । शन्धिका भी संसार में भ्रमणकर तप के द्वारा स्वर्ग गई । वहाँ से च्युत होकर विजयार्धपर्वत के दक्षिण तट पर वस्त्वालय नाम के नगर में राजा सेन्द्रकेतु और उसकी सुप्रभा नाम की स्त्री से मदनवेगा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई है ॥249-251॥

यह सुनकर राजा सिंहरथ बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । उसने पास जाकर यथायोग्य रीति से राजा मेघरथ की पूजा की सुवर्णतिलक नामक पुत्र के लिए राज्य दिया और बहुत से राजाओं के साथ घनरथ तीर्थकरके समीप जैनी दीक्षा ग्रहण कर ली । इधर बुद्धिमती मदनवेगा भी गुणों की भाण्डार स्वरूप प्रियमित्रा नाम की आर्यिकाके पास जाकर कठिन तपश्चरण करने लगी । सो ठीक ही है क्योंकि कहीं पर क्रोध भी क्रोध का उपलेप दूर करने वाला माना गया है ॥252-254॥

अथानन्तर-अपने पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुए श्रेष्ठ राज्यके महोदय से त्रिवर्गके फल की प्राप्ति पर्यन्त जिसके समस्त मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं, जो शुद्ध सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, व्रतशील आदि गुणों से युक्त है, विनय सहित है, शास्त्र को जानने वाला है, गम्भीर है, सत्य बोलने वाला है, सात परम स्थानों को प्राप्त है, भव्य जीवों में देदीप्यमान है तथा स्त्री पुत्र आदि जिसकी सेवा करते हैं ऐसा राजा मेघरथ किसी दिन आष्टाह्निक पूजा कर जैन धर्म का उपदेश दे रहा था और स्वयं उपवास का नियम लेकर बैठा था कि इनमें काँपता हुआ एक कबूतर आया और उसके पीछे ही बड़े वेग से चलने वाला एक गीध आया । वह राजा के सामने खड़ा होकर बोला कि हे देव ! मैं बहुत भारी भूख की वेदना से पीड़ित हो रहा हूँ इसलिए आप, आपकी शरणमें आया हुआ यह मेरा भक्ष्य कबूतर मुझे दे दीजिये । हे दानवीर ! यदि आप यह कबूतर मुझे नहीं देते हैं तो वश, मुझे मरा ही समझिये ॥255-260॥

गीधके यह वचन सुनकर युवराज दृढ़रथ कहने लगा कि हे पूज्य ! कहिये तो, यह गीध इस प्रकार क्यों बोल रहा है, इसकी बोली सुनकर तो मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है । अपने छोटे भाई का यह प्रश्न सुनकर राजा मेघरथ इस प्रकार कहने लगा कि इस जम्बूद्वीप में मेरूपर्वत के उत्तर की ओर स्थित ऐरावत क्षेत्रके पद्मिनीखेट नामक नगरमे सागरसेन नाम का वैश्य रहता था । उसकी स्त्री का नाम अमितमति था । उन दोनोंके सबसे छोटे पुत्र धनमित्र और नन्दिषेण थे । अपने धनके निमित्त से दोनों लड़ पड़े और एक दूसरे को मारकर ये कबूतर तथा गीध नामक पक्षी हुये हैं ॥261-264॥

गीध के ऊपर कोई एक देव स्थित है । वह कौन है ? यदि यह जानना चाहते हो तो मैं कहता हूँ दमितारिके युद्ध में तुम्हारे द्वारा जो हेमरथ मारा गया था वह संसार में भ्रमणकर कैलाश पर्वत के तट पर पर्णकान्ता नदी के किनारे सोम नामक तापस हुआ । उसकी श्रीदत्ता नाम की स्त्रीके मिथ्याशास्त्रों को जाननेवाला चन्द्र नाम का पुत्र हुआ । वह पञ्चाग्नि तप तपकर ज्योतिर्लोक देव उत्पन्न हुआ ॥265-267॥ वह किसी समय स्वर्ग गया हुआ था वहाँ ऐशानेन्द्रके सभासदों ने स्तुति की कि इस समय पृथिवी पर मेघरथ से बढ़कर दूसरा दाता नहीं है । मेरी इस स्तुति को सुनकर इसे बड़ा क्रोध आया । यह उसी क्रोधवश मेरी परीक्षा करने के लिए यहाँ आया है । हे भाई ! चित्त को स्थिरकर दान आदि का लक्षण सुनो ॥268-269॥

अनुग्रह करने के लिए जो कुछ अपना धन या अन्य कोई वस्तु दी जाती है उसे ज्ञानी पुरुषों ने दान कहा है और अनुग्रह शब्द का अर्थ भी अपना और दूसरे का उपकार करना बतलाया जाता है ॥270॥

जो शक्ति विज्ञान श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होता है वह दाता कहलाता है और जो वस्तु देने वाले तथा लेने वाले दोनोंके गुणों को बढ़ाने वाली है तथा पीड़ा उत्पन्न करने वाली न हो उसे देय कहते हैं ॥271॥

सर्वज्ञ देखने यह देय चार प्रकार का तबलाया है आहार, औषधि, शास्त्र तथा समस्त प्राणियों पर दया करना । ये चारों ही शुद्ध देय है तथा

क्रम'क्रम से मोक्ष के साधन हैं ॥272॥

जो मोक्षमार्ग में स्थित है और अपने आपकी तथा दूसरों की संसार भ्रमण से रक्षा करता है वह पात्र है ऐसा कर्ममल रहित कृतकृत्य जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥273॥

निर्दोष वचन कहते हैं वही उत्तम दाता हैं, वही उत्तम देय हैं और वही उत्तम पात्र हैं ॥274॥

मांस आदि पदार्थ देय नहीं है, इनकी इच्छा करनेवाला पात्र नहीं है, और इनका देनेवाला दाता नहीं है । ये दोनों तो नरक के अधिकारी हैं ॥ 275॥

कहने का सारांश यह है कि यह गीध दान का पात्र नहीं है और यह कबूतर देने योग्य नहीं है । इस प्रकार मेघरथ की वाणी सुनकर वह ज्योतिषी देव अपना असली रूप प्रकटकर उसकी स्तुति करने लगा और कहने लगा कि हे राजन् ! तुम अवश्य ही दान के विभाग को जानने वाले हो तथा दानके शूर हो । इस तरह पूजाकर चला गया ॥276-277॥

उन गीध और कबूतर दोनों पक्षियों ने भी मेघरथ की कही सब बातें समझीं और अन्त में शरीर छोड़कर वे दोनों देवरमण नामक वन में सुरूप तथा अतिरूप नाम के दो व्यन्तर देव हुए ॥278॥

तदनन्तर राजा मेघरथके पास आकर वे देव इस प्रकार स्तुति करने लगे कि हे राजन् ! आपके प्रसाद से ही हम दोनों कुयोनिसे निकल सके हैं। ऐसा कहकर तथा पूज्य मेघरथ की पूजाकर वे दोनों देव यथास्थान चले गये ॥279॥

किसी समय उस बुद्धिमान् राजा ने चारण ऋद्धिधारी दमवर स्वामी के लिए दान देकर पन्चाश्वर्य प्राप्त किये ॥280॥

किसी दूसरे दिन राजा मेघरथ ननदीश्वर पर्व मे महापूजा कर और उपवास धारण कर रात्रि के समय प्रतिमायोग द्वारा ध्यान करता हुआ सुमेरू पर्वत के समान विराजमान था ॥281॥

उसी समय देवों की सभा में ईशानेन्द्र ने यह सब जानकर बड़े हर्ष से कहा कि अहा ? आश्चर्य है आज संसार में तू ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और तू ही धीर-वीर है ॥282॥

इस तरह अपने आप की हुई स्तुति को सुनकर देवों ने ईशानेन्द्र से पूछा कि आपने किस सज्जन की स्तुति की है ? उत्तर में इन्द्र देवों से इस प्रकार कहने लगा कि राजाओंमे अग्रणी मेघरथ अत्यन्त धीरवीर है, शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, आज वह प्रतिमायोग धारण कर बैठा है । मैंने उसी की भक्ति से स्तुति की है ॥283-284॥

ईशानेन्द्र की उक्त बात को सुनकर उसकी परीक्षा करने में अत्यन्त चतुर अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियाँ राजा मेघरथके पास आई और विलास, विभ्रम, हाव-भाव, गीत, बातचीत तथा कामके उन्माद को बढ़ाने वाले अन्य कारणों से उसके मनोबल को विचलित करने का प्रयत्न करने लगीं परन्तु जिस प्रकार बिजलीरूपी लता सुमेरू पर्वत को विचलित नहीं कर सकती उसी प्रकार वे देवियाँ राजा मेघरथके मनोबल को विचलित नहीं कर सकीं। अन्त में वे 'ईशानेन्द्रके द्वारा कहा हुआ सच है' इस प्रकार स्तुति कर स्वर्ग चली गई ॥ 285-287॥

किसी दूसरे दिन ऐशानेन्द्र ने देवों की सभा में अपनी इच्छा से राजा मेघरथ की रानी प्रियमित्राके रूप की प्रशंसा की । उसे सुनकर रतिषेणा और रति नाम की दो देवियाँ उसका रूप देखनेके लिए आई । वह स्नान का समय था अतः प्रियमित्राके शरीर में सुगन्धित तेल का मर्दन हो रहा था । उस समय प्रियमित्रा को देखकर देवियोंने इन्द्रके वचन सत्य समझे । अनन्तर उसके साथ बातचीत करने की इच्छा से उन देवियों ने कन्या का रूप धारण कर सखीके द्वारा कहला भेजा कि दो धनिक कन्याएँ-सेठ की पुत्रियाँ आपके दर्शन करना चाहती हैं । उनका कहा सुनकर प्रियमित्रा ने हर्ष से कहा कि 'बहुत अच्छा, ठहरे' इस प्रकार उन्हें ठहराकर रानी प्रियमित्रा ने अपनी सजावट की । फिर उन कन्याओं को बुलाकर अपने आपको दिखलाया-उनसे भेंट की । रानी को देखकर दोनों देवियाँ कहने लगी कि 'जैसी कान्ति पहले थी अब वैसी नहीं है' कन्याओं के वचन सुनकर प्रियमित्रा राजा का मुख देखने लगी । उत्तर में राजा ने भी कहा कि हे प्रिये ! बात ऐसी ही है ॥288-293॥

तदनन्तर देवियों ने अपना असली रूप धारण कर अपने आने का समाचार कहा और इसके विलक्षण किन्तु नश्वर रूप को धिक्कार हो । इस संसार में कोई भी वस्तु अभंगुर नहीं है इस प्रकार हृदय से विरक्त हो रानी प्रियमित्रा की पूजा कर वे देवियाँ अपनी दीप्ति से दिशाओं के तट को व्याप्त करती हुई स्वर्ग को चली गई ॥294-295॥

इस कारण से रानी प्रियमित्रा खिन्न हुई परन्तु 'यह समस्त संसारही नित्यानित्यात्मक है अतः हृदय में कुछ भी शोक मत करो' इस प्रकार राजा ने उसे समझा दिया ॥296॥

इस तरह अपनी स्त्रियों के साथ राज्य का उपभोग करते हुए राजा मेघरथ बहुत ही आनन्द को प्राप्त हो रहे थे। किसी दूसरे दिन वे मनोहर नामक उद्यान में गये। वहाँ उन्होंने सिंहासन पर विराजमान तथा देव और धरणेन्द्रों से परिवृत अपने पिता घनरथ तीर्थकर के दर्शन किये। समस्त परिवार के साथ उन्होंने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, वन्दना की और समस्त भव्य जीवों के हित की इच्छा करते हुए श्रावकों की क्रिया पूछी सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनों की चेष्टा कल्पवृक्ष के समान प्रायः परोपकार के लिए ही होती है ॥297-299॥

हे देव ! जिन श्रावकों के ग्यारह स्थान पहले विभाग कर बतलाये हैं उन्हीं श्रावकों की क्रियाओं का निरूपण करने वाला उपासकाध्ययन नाम का सातवाँ अंग, हित की इच्छा करने वाले श्रावकों के लिए कहिए। इस प्रकार राजा मेघरथ के पूछने पर मनोरथ को पूर्ण करने वाले घनरथ तीर्थकर निम्न प्रकार वर्णन करने लगे ॥300-301॥

उन्होंने कहा कि श्रावकों की क्रियाएँ गर्भान्वय, दीक्षान्वय और क्रियान्वय की अपेक्षा तीन प्रकार की हैं इनकी संख्या इस प्रकार है ॥302॥ पहली गर्भान्वय क्रियाएँ गर्भाधान को आदि लेकर निर्वाण पर्यन्त होती हैं इनकी संख्या त्रेपन है, ये सम्यग्दर्शन की शुद्धता को धारण करने वाले जीवों के होती हैं तथा इनका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥303॥

अवतार से लेकर निर्वाण पर्यन्त होने वाली दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस कही गई हैं। ये मोक्ष प्राप्त कराने वाली हैं ॥304॥

और सद्गृहित्व को आदि लेकर सिद्धि पर्यन्त सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ हैं। इन सबका ठीक-ठीक स्वरूप यह है, करने की विधि यह है तथा फल यह है। इस प्रकार घनरथ तीर्थकर ने विस्तार से इन सब क्रियाओं का वर्णन किया। इस तरह राजा मेघरथ ने घनरथ तीर्थकर के द्वारा कहा हुआ श्रावक धर्म का वर्णन सुन कर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को अत्यन्त शान्त बना लिया ॥305-306॥

शरीर, भोग और संसार की दुर्दशा का बार-बार विचार करते हुए वे संयम धारण करने के सम्मुख हुए। उन्होंने छोटे भाई दृढरथ से कहा कि तुम राज्य पर बैठो। परन्तु दृढरथ ने उत्तर दिया कि आपने राज्य में जो दोष देखा है वही दोष मैं भी तो देख रहा हूँ। जब कि यह राज्य ग्रहण कर बाद में छोड़ने के ही योग्य है तब उसका पहले से ही ग्रहण नहीं करना अच्छा है। लोक में कहावत है कि कीचड़ को धोने की अपेक्षा उसका दूर से ही स्पर्श नहीं करना अच्छा है। ऐसा कह कर जब दृढरथ राज्य ग्रहण करने से विमुख हो गया तब उन्होंने मेघसेन नामक अपने पुत्र के लिए विधिपूर्वक राज्य दे दिया और छोटे भाई तथा सात हजार अन्य राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। वे क्रम-क्रम से ग्यारह अंग के जानकार हो गये। उसी समय उन्होंने तीर्थकर नाम-कर्म के बन्धु में कारणभूत निम्नांकित सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया ॥307-311॥

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रूचि होना सो दर्शनविशुद्धि है। उसके निःशंकता आदि आठ अंग हैं ॥312॥

मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने वाले मनुष्य के लिए जो फल बतलाया है वह होता है या नहीं इस प्रकार की शंका का त्याग निःशंकता कहलाती है ॥313॥

मिथ्यादृष्टि जीव इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों की जो आकांक्षा करता है उसका त्याग करना आगम में निःकांक्षित नाम का दूसरा अंग बतलाया है। इससे सम्यग्दर्शन की विशुद्धता होती है ॥314॥

शरीर आदि में अशुचि अपवित्र पदार्थों का सद्भाव है ऐसा जानते हुए भी 'मैं पवित्र हूँ' ऐसा जो संकल्प होता है उसका त्याग करना निर्विचिकित्सा नाम का अंग है ॥315॥

यदि यह बात अर्हन्तके मन में न होती तो सब ठीक होता इस प्रकार का आग्रह मिथ्या आग्रह है उसका त्याग करना सो निर्विचिकित्सा अंग है ॥316॥

जो वास्तव में तत्त्व नहीं है किन्तु तत्त्व की तरह प्रतिभासित होते हैं ऐसे बहुत से मिथ्यानयके मार्गों में 'यह ठीक है' इस प्रकार मोह का नहीं होना अमूढ़ दृष्टि अंग कहलाता है ॥317॥

क्षमा आदि की भावनाओं से आत्म धर्म की वृद्धि करना सो सम्यग्दृष्टियों को प्रिय सम्यग्दर्शन का उपबृंहण नाम का अंग है ॥318॥

कषाय का उदय आदि होना धर्मनाश का कारण है। उसके उपस्थित होने पर अपनी या दूसरे की रक्षा करना अर्थात् दोनों को धर्म से

च्युत नहीं होने देना सो स्थितिकरण अंग है ॥319॥

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए समीचीन धर्मरूपी अमृत में निरन्तर अनुराग रखना सो वात्सल्य अंग है और मार्ग के माहात्म्य की भावना करना-जिन-मार्ग का प्रभाव फैलाना सो प्रभावना अंग है ॥320॥

सम्यग्ज्ञानादि गुणों तथा उनके धारकों का आदर करना और कषाय रहित परिणाम रखना इन दोनों को सज्जन पुरुष विनय सम्पन्नता कहते हैं ॥321॥

व्रत तथा शील से युक्त चारित्र के भेदों में निर्दोषता रखना-अतिचार नहीं लगाना, शास्त्र के उत्तमज्ञाता पुरुषों के द्वारा शीलव्रतानतीचार नाम की भावना कही गई है ॥322॥

निरन्तर शास्त्र की भावना रखना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है । संसार के दुःसह दुःख से निरन्तर डरते रहना संवेग कहलाता है ॥323॥

पात्रों के लिए आहार, अभय और शास्त्र का देना त्याग कहलाता है । आगम के अनुकूल अपनी शक्ति के अनुसार कायक्लेश करना तप कहलाता है ॥324॥

किसी समय बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से मुनिसंघ के तपश्चरण में विघ्न उपस्थित होने पर मुनिसंघ की रक्षा करना साधुसमाधि है ॥ 325॥

निर्दोष विधि से गुणियों के दुख दूर करना यह तप का श्रेष्ठ साधन वैयावृत्य है ॥326॥

अरहन्त देव, आचार्य, बहुश्रुत तथा आगमन में मन वचन काय से भावों की शुद्धतापूर्वक अनुराग रखना कम से अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति भावना है ॥327॥

मुनि के जो सामायिक आदि छह आवश्यक बतलाये हैं उनमें यथा समय आगम के कहे अनुसार प्रवृत्त होना सो आवश्यकपरिहाणि नामक भावना है ॥328॥

ज्ञान से, तप से, जिनेन्द्र देव की पूजा से, अथवा अन्य किसी उपाय से धर्म का प्रकाश फैलाने को विद्वान् लोग मार्ग प्रभावना कहते हैं ॥ 329॥

और बछड़े में गाय के समान सहधर्मी पुरुष में जो स्वाभाविक प्रेम है उसे प्रशंसा के पारगामी पुरुष वात्सल्य भावना कहते हैं ॥330॥

श्री जिनेन्द्रदेव इन सोलह भावनाओं को सब मिलकर अथवा अलग अलग रूप से तीर्थकर नाम कर्म के बंध का कारण मानते हैं ॥331॥

मेघरथ मुनिराज ने इन भावनाओं से उस निर्मल तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध किया था कि जिससे तीनों लोकों में क्षोभ हो जाता है ॥332॥

वे क्रम-क्रम से अनेक देशों में विहार करते हुए श्रीपुर नामक नगर में गये । वहाँ के राजा श्रीषेण ने उन्हें योग्य विधि से आहार दिया ।

इसके पश्चात् नन्दपुर नगर नन्दन नाम के भक्तिवान् राजा ने आहार दिया और तदनन्तर पुण्डरीकिणी नगरी में निर्मल सम्यग्दृष्टि सिंहसेन राजा ने आहार कराया । वे मुनिराज ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपकी अनेक पर्यायों को अच्छी तरह बढ़ा रहे थे । उन्हें दान देकर उक्त सभी राजाओं ने पंचाश्वर्य प्राप्त किये ॥333-335॥

अत्यन्त धीर वीर मेघ रथ ने दृढरथके साथ-साथ नभस्तिलक नामक पर्वतपर श्रेष्ठ संयम धारण कर एक महीने तक प्रायोपगमन संन्यास धारण किया और अन्त में शान्त परिणामों से शरीर छोड़कर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया ॥336-337॥

वहाँ इन दोनों की तैंतीस सागर की आयु थी । चन्द्रमा के समान उज्ज्वल एक हाथ ऊँचा शरीर था, शुल्क लेश्या थी, वे साढ़े सोलह माह में एक बार श्वास लेते थे, तैंतीस हजार वर्ष बाद एक बार अमृतमय आहार ग्रहण करते थे, प्रवीचाररहित सुख से युक्त थे, उनके अवधिज्ञान रूपी नेत्र लोकनाडी के मध्यवर्ती योग्य पदार्थों को देखते थे, उनकी शक्ति दीप्ति तथा विक्रिया का क्षेत्र भी अवधिज्ञान के क्षेत्र के बराबर था । इस प्रकार वे वहाँ चिरकालतक स्थित रहे । वहाँ से च्युत हो एक जन्म धारणकर वे नियम से मोक्षलक्ष्मी का समागम प्राप्त करेंगे ॥338-341॥

अथानन्तर-भरत क्षेत्र में एक कुरूजांगल नाम का देश है, जो आर्य क्षेत्र के ठीक मध्य में स्थित है, सब प्रकार के धान्यों का उत्पत्तिस्थान है और सबसे बड़ा है ॥342॥

वहाँ पर पानकी बेलों से लिपटे एवं फलों से युक्त सुपारी के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों पुरुष और बालकों के आलिंगन का सुख ही प्रकट कर रहे हों ॥343॥

वहाँ चोच जाति के वृक्ष किसी उत्तम राजा के समान सुशोभित होते हैं क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा महाफल-भोगोपभोग के उत्तम पदार्थ प्रदान करता है उसी प्रकार चोच जाति के वृक्ष महा फल-बड़े-बड़े फल प्रदान करते हैं, जिस प्रकार उत्तम राजा तुंग-उदारचित्त होता है उसी प्रकार चोच जाति के वृक्ष तुंग-ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा बद्धमूल-पक्की जड़ वाले होते हैं उसी प्रकार चोच जाति के वृक्ष भी बद्धमूल-पक्की जड़ वाले थे । जिस प्रकार उत्तम राजा मनोहर-अत्यन्त सुन्दर होते हैं उसी प्रकार चोच जाति के वृक्ष भी मनोहर-अत्यन्त सुन्दर थे, और जिस प्रकार उत्तम राजा सत्पत्र-अच्छी अच्छी सवारियों से युक्त होते हैं उसी प्रकार चोच जाति के वृक्ष भी सत्पत्र –अच्छे पत्तों से युक्त थे ॥344॥

वहाँ के केले के वृक्ष स्त्रियों के समान उत्तमप्रीति करनेवाले थे क्योंकि जिस प्रकार केले के वृक्ष सदृष्टि-देखने में अच्छे लगते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सदृष्टि-अच्छी आँखों वाली थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष सुकुमार होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सुकुमार थीं, जिस प्रकार केलेके वृक्ष छाया-अनातपसे युक्त होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी छाया-कान्ति से युक्त थीं, जिस प्रकार केले के वृक्ष रसीले होते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ सबसे अधिक सुन्दर थीं ॥345॥

वहाँ के सुन्दर आम के वृक्ष फलों से झुक रहे थे, नई नई कोंपलों तथा फूलों से उज्ज्वल थे, कोकिलाओं के वार्तालाप से मुखरित थे, और चंचल भ्रमरों के समूह से व्यग्र थे ॥346॥

जिनमें बड़े-बड़े पके फल लगे हुए हैं, जिनकी निकलती हुई गन्ध से भ्रमर अंधे हो रहे थे, और जो मूल से ही लेकर फल देनेवाले थे ऐसे कटहल के वृक्ष वहाँ अधिक सुशोभित होते थे ॥347॥

फूलों के भार से झुकी हुई वहाँ की झाड़ियाँ, लताएँ और वृक्ष सभी ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेव रूपी राजा के क्रीडाभवन ही हों ॥ 348॥

वहाँ की भूमि में गडढे नहीं थे, छिद्र नहीं थे पत्थर नहीं थे, ऊषर जमीन नहीं थी, आठ भय नहीं थे किन्तु इसके विपरीत वहाँ की भूति सदा फल देती रहती थी ॥349॥

जिस प्रकार प्रमादरहित श्रेष्ठ चारित्र को पालन करने वाले द्विज कभी प्रायश्चित्त नहीं प्राप्त करते उसी प्रकार वहाँ की प्रजा अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करने से कभी दण्ड का भय नहीं प्राप्त करती थी ॥350॥

जिन में निरन्तर मच्छ - जलचर जीव रहते हैं, जो स्वच्छ जल से भरे हुए हैं, और अनेक प्रकार के फूलों से आच्छादित हैं ऐसे वहाँ के सरोवर ज्योतिर्लोककी शोभा हरण करते हैं ॥351॥

वहाँ के वृक्ष ठीक राजाओं के समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा पुष्पनेत्र-कमलपुष्प के समान नेत्रों वाले होते हैं उसी प्रकार वहाँ के वृक्ष भी समुत्तंग-बहुत ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा विटपायतबाहु होते हैं-शाखाओं के समान लम्बी भुजाओं से युक्त होते हैं उसी प्रकार वहाँ के वृक्ष भी विटपायतबाहुवः - शाखाएँ ही जिनकी लम्बी भुजाएँ हैं ऐसे थे और जिस प्रकार राजा सदा उत्तमफल प्रदान करते हैं उसी प्रकार वहाँ के वृक्ष भी सदा सुन्दर फलों को धारण करने वाले थे ॥352॥

वहाँ की अनेक प्रकार की लताएँ स्त्रियों के समान सुशोभित हो रही थीं क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियों के लाल लाल ओठ होते हैं उसी प्रकार वहाँ की लताओं में लाल पल्लव थे, जिस प्रकार स्त्रियाँ मन्द मन्द मुसकान से सहित होती हैं उसी प्रकार वहाँ की लताएँ फूलों से सहित थीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ तन्वंगी-पतली होती हैं उसी प्रकार वहाँ की लताएँ भी तन्वंगी-पतली थीं, जिस प्रकार स्त्रियाँ काले काले केशों से युक्त होती हैं उसी प्रकार वहाँ की लताएँ भी काले काले भ्रमरों से युक्त थीं, और जिस प्रकार स्त्रियाँ सत्पत्र-उत्तमोत्तम पत्र –रचनाओं से सहित होती हैं उसी प्रकार वहाँ की लताएँ भी उत्तमोत्तम पत्रों से युक्त थी ॥353॥

जो मूल से लेकर मध्यभाग तक रसिक हैं और अन्त में नीरस हैं ऐसे दुर्जनो को जीतनेवाले ईख ही वहाँ पर यन्त्रों द्वारा अच्छी तरह पीडे जाते थे ॥354॥

वहाँ पर लोप-अनुबन्ध आदि का अदर्शन शब्दों के सिद्ध करने में होता था अन्य दूसरे का लोप-नाश नहीं होता था, नाश पापरूप प्रवृत्तियों का होता था, दाह विरही मनुष्यों में होता था और बेध अर्थात् छेदना दोनों कानों में होता था, दूसरी जगह नहीं ॥355॥

दण्ड केवल लकड़ियों में था । वहाँ के प्रजा में दण्ड अर्थात् जुर्माना नहीं था, निस्त्रिशता अर्थात् तीक्ष्णता केवल शस्त्रों में थी वहाँ की प्रजामें निस्त्रिशता अर्थात् दुष्टता नहीं थी, निर्धनता अर्थात् निष्परिग्रहता तपस्वियों में ही थी वहाँ के मनुष्यों में निर्धनता अर्थात् गरीबी नहीं

थी और विदानत्व अर्थात् दान देने का अभाव नहीं था ॥356॥

निर्लज्जपना केवल संभोग क्रियाओं में था, याचना केवल सुन्दर कन्याओं की होती थी, ताप केवल अग्नि से आजीविका करने वालों में था और मारण केवल रसवादियों में था-रसायन आदि बनाने वालों में था ॥357॥

वहाँ कोई असमय में नहीं मरते थे, कोई कुमार्ग में नहीं चलते थे और मुक्त जीवों तथा मारणान्तिक समुद्रात करने वालों को छोड़कर अन्य कोई विग्रही-शरीर रहित तथा मोड़ा से रहित नहीं थे ॥358॥

मिथ्या नय से द्वेष रखने वाले चारों ही वर्ण वाले जीवों के देवपूजा आदि छह कर्मों में कहीं प्राचीन प्रवृत्ति का उल्लंघन नहीं था अर्थात् देवपूजा आदि प्रशस्त कार्यों की जैसी प्रवृत्ति पहले से चली आई थी उसी के अनुसार सब प्रवृत्ति करते थे । यदि प्राचीन प्रवृत्ति के क्रम का उल्लंघन था तो संयम ग्रहण करने वाले के ही था अर्थात् संयमी मनुष्य ही पहले से चली आई असंयमरूप प्रवृत्ति का उल्लंघन संयम की नई प्रवृत्ति स्वीकृत करता था ॥359॥

लीलापूर्वक वृद्धि को प्राप्त हुए एवं सबको सन्तुष्ट करने वाले धान्य के पौधे, फल लगने पर अत्यन्त नम्र हो गये थे-नीचे को झुक गये थे अतः किसी अच्छे राजा की उपमा का धारण कर रहे थे ॥360॥

वहाँ मेघ समय पर पानी बरसाते थे, गायें सदा दूध देती थीं, सब वृक्ष फलते थे और फैली हुई लताएँ सदा पुष्पों से युक्त रहती थीं ॥361॥

वहाँ की प्रजा नित्योत्सव थी अर्थात् उसमें निरन्तर उत्सव होते रहते थे, निरातंक थी उसमें किसी प्रकार की बीमारी नहीं होती थी, निर्बन्ध थी हठ रहित थी, धनिक थी, निर्मल थी, निरन्तर उद्योग करती थी और अपने अपने कर्मों में लगी रहती थी ॥362॥

जिस प्रकार शरीर के मध्य में बड़ी भारी नाभि होती है उसी प्रकार उस कुरूजांगल देश के मध्य में एक हस्तिनापुर नाम की नगरी है ॥ 363॥

अगाध जल में उत्पन्न हुए अनेक पुष्पों-द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही है ऐसी तीन परिखाओं से वह नगर घिरा हुआ था ॥364॥

धूलिके ढेर और कोट की दीवारों से दुर्लङ्घ्य वह नगर गोपुरों से युक्त दरवाजों, अट्टालिकाओं की पंक्तियों तथा बन्दरों के शिर जैसे आकार वाले बुरजों में बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥365॥

वह नगर, राजमार्ग में ही मिलने वाले डराने के लिए बनाये हुए हाथी, घोड़े आदि के चित्रों तथा बहुत छोटे दरवाजों वाली बहुत-सी गलियों से युक्त था ॥366॥

जो सार वस्तुओं से सहित हैं तथा जिनमें सदाचारी मनुष्य इधर से उधर टहला करते हैं ऐसे वहाँ के राजमार्ग स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग के समान सुशोभित होते थे ॥367॥

वहाँ उत्पन्न होने वाले मनुष्यों में श्रेष्ठ वस्तुओं से उज्ज्वल हुए नेपथ्य-वस्त्राभूषणादि से कुछ भी भेद नहीं था केवल कुल, जाति, अवस्था, वर्ण, वचन और ज्ञान की अपेक्षा भेद था ॥368॥

उस नगर में राजभवनों के शिखरों के अग्रभाग पर जो ध्वजाएँ फहरा रही थीं उनसे रूक जाने के कारण जब सूर्य पर बादलों का आवरण नहीं रहता उन दिनों में भी घूप का प्रवेश नहीं हो पाता था ॥369॥

पुष्प, अंगराग तथा धूप आदि की सुगन्धि से अन्धे होकर जो भ्रमर आकाश में इधर-उधर उड़ रहे थे उनसे घर के मयूरों को वर्षा ऋतु की शंका हो रही थी ॥370॥

वहाँ रूप, लावण्य तथा कान्ति आदि गुणों से युक्त युवक युवतियों के साथ और युवतियाँ युवकों के साथ रहती थीं तथा परस्पर एक दूसरे को सुख पहुँचाती थीं ॥371॥

वहाँ काम को उद्दीपित करने वाले पदार्थ, स्वाभाविक प्रेम, तथा कान्ति आदि गुणों से स्त्री-पुरुषों में निरन्तर प्रीति बनी रहती थी ॥372॥

वहाँ धर्म अहिंसा रूप माना जाता था, मुनि इच्छारहित थे, और देव रागादि दोषों से रहित अर्हन्त ही माने जाते थे इसलिए वहाँ के सभी मनुष्य धर्मात्मा थे ॥373॥

वहाँ के श्रावक, चक्की चूला आदि पाँच कार्यों से जो थोड़ा-सा पाप संचित करते थे उसे पात्रदान आदि के द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर डालते थे ॥374॥

वहाँ का राजा न्यायी था, प्रजा धर्मात्मा थी, क्षेत्र जीवरहित-प्रासुक था, और प्रतिदिन स्वाध्याय होता रहता था इसलिए मुनिराज उस नगर

को कभी नहीं छोड़ते थे ॥375॥

जिनके वृक्ष अनेक पुष्प और फलों से नम्र हो रहे हैं तथा जो सबको आनन्द देने वाले हैं ऐसे उस नगर के समीपवर्ती वनों से इन्द्रा का नन्दन वन भी जीता जाता था ॥376॥

संसार में जितनी श्रेष्ठ वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उन सबका अपनी उत्पत्ति के स्थान में उपभोग करना अनुचित है इसलिए सब जगह की श्रेष्ठ वस्तुएँ उसी नगर में आती थीं और वहाँ के रहने वाले ही उनका उपभोग करते थे । यदि कोई पदार्थ वहाँ से बाहर जाते थे तो दान से ही बाहर जा सकते थे इस तरह वह नगर पूर्वोक्त त्यागी तथा भोगी जनों से व्याप्त था ॥377-378॥

उस नगर के सब लोग तादात्विक थे-सिर्फ वर्तमान की ओर दृष्टि रखकर जो भी कमाते थे उसे खर्च कर देते थे । उनकी यह प्रवृत्ति दोषाधायक नहीं थी क्योंकि उनके पुण्य से वस्तुएँ प्रतिदिन बढ़ती थीं ॥379॥

उस नगर में ब्रह्मस्थान के उत्तरी भूभाग में राजमन्दिर था जो कि देदीप्यमान भद्रशाल-उत्तमकोट आदि से विभूषित था और भद्रशाल आदि वनों से सुशोभित महामेरू के समान जान पड़ता था ॥380॥

उस राजमन्दिर के चारों ओर यथायोग्य स्थानों पर जो अन्य देदीप्यमान सुन्दर महल बने हुए थे वे मेरू के चारों ओर स्थित नक्षत्रों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥381॥

उस हस्तिनापुर राजधानी में काश्यपगोत्री देदीप्यमान राजा अजितसेन राज्य करते थे । उनके चित्त तथा नेत्रों को आनन्द देने वाली प्रियदर्शना नाम की स्त्री थी । उसने बालचन्द्रमा आदि शुभ स्वप्न देखकर ब्रह्मस्वर्ग से च्युत हुए विश्वसेन नामक पुत्र को उत्पन्न किया था ॥ 382-383॥

गन्धार देश के गन्धार नगर के राजा अजितनजय के उनकी अजिता रानी से सनत्कुमार स्वर्ग से आकर ऐरा नाम की पुत्री हुई थी और यही ऐरा राजा विश्वसेन की प्रिय रानी हुई थी । श्री ह्री धृति आदि देवियाँ उसकी सेवा करती थीं । भादों बदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रात्रि के चतुर्थ भाग में उसने साक्षात् पुत्र रूप फल को देने वाले सोलह स्वप्न देखे ॥384-386॥

अल्पनिद्रा के बीच जिसे कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त हो रहा है तथा जिसके मुख से शुद्ध सुगन्धि प्रकट हो रही है ऐसी रानी ऐरा ने सोलह स्वप्न देखने के बाद अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा ॥387॥

उसी समय मेघरथ का जीव स्वर्ग से च्युत होकर रानी ऐरा के गर्भ में आकर उस तरह अवतीर्ण हो गया जिस तरह कि शुक्ति में मोती रूप परिणमन करने वाली पानी की बूँद अवतीर्ण होती है ॥388॥

उसी समय सोती हुई सुन्दरी को जगाने के लिए ही मानो उसके शुभ स्वप्नों को सूचित करने वाली अन्तिम पहर की भेरी मधुर शब्द करने लगी ॥389॥

उस भेरी को सुनकर रानी ऐरा का मुख-कमल, कमलिनी के समान खिल उठा। उसने शय्यागृह से उठकर मंगल-स्नान किया, उस समय के योग्य वस्त्राभूषण पहने और चलती-फिरती कल्पलता के समान राजसभा को प्रस्थान किया । उस समय वह अपने ऊपर लगाये हुए सफेद छत्र से बालसूर्य की किरणों के समूह को भयभीत कर रही थी, दुरते हुए चमरों से अपना बड़ा भारी अभ्युदय प्रकट कर रही थी, और पासमें रहने वाले कुछ लोगों से सहित थी । जिस प्रकार रात्रि में चन्द्रमा की रेखा प्रवेश करती है उसी प्रकार उसने राजसभा में प्रवेश किया । औपचारिक विनय करनेवाली उस रानी को राजा ने अपना आधा आसन दिया ॥390-393॥

उसने अपने द्वारा देखी हुई स्वप्नावली क्रम-क्रम से राजा को सुनाई और अवधिज्ञान रूपी नेत्र को धारण करने वाले राजा से उनका फल मालूम किया ॥394॥

उसी समय चतुर्णिकायके देवों के साथ स्वर्ग से इन्द्र आये और आकर गर्भावतारकल्याणक करने लगे ॥395॥

उधर रानी के गर्भ में इन्द्र बड़े अभ्युदय के साथ बढ़ने लगा और इधर त्रिलोकीनाथ की माता रानी पन्द्रह माह तक देवों के द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त करती रही । जब नवाँ माह आया तब उसने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन याम्ययोग में प्रातःकाल के समय पुत्र उत्पन्न किया । वह पुत्र ऐसा सुन्दर था मानो समस्त संसार के आनन्द का समूह ही हो । साथ ही अत्यन्त निर्मल मति-श्रुत-अवधिज्ञानरूपी तीन उज्ज्वल नेत्रों का धारक भी था ॥396-398॥

शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घंटानाद से जिन्हें जिन-जन्म की सूचना दी गई है ऐसे चारों निकायों के देवों ने मिलकर जिनेन्द्र भगवान्

का जन्मोत्सव बढ़ाया ॥399॥

उस समय दिशाओं के मध्यको प्रकाशित करने वाली महादेवी इन्द्राणी ने गर्भ-गृह में प्रवेश किया और कुमारसहित पतिव्रता जिन माता ऐरा को मायामयी निद्रा ने वशीभूत कर दिया । उसने पूजनीय जिन माता को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया और एक मायामयी बालक उसके सामने रख कर जिन्हें सर्वदेव नमस्कार करते हैं ऐसे श्रेष्ठ कुमार जिन-बालक को उठा लिया तथा अपनी दोनों कोमल भुजाओं से ले जाकर इन्द्र के हाथों में सौंप दिया। इन्द्र ने इन्हें ऐरावत हाथी के कन्धे पर विराजमान कर क्षीर-महासागर के जल से उनका अभिषेक किया था इसी प्रकार इन्हें भी सुमेरु पर्वत के मस्तक पर विराजमान कर क्षीर-महासागर के जल से इनका अभिषेक किया ॥399-404॥ यद्यपि भगवान् स्वयं उत्तमोत्तम आभूषणों में से एक आभूषण थे तथापि इन्द्र ने केवल आचार का पालन करने के लिए ही उन्हें आभूषणों से विभूषित किया था ॥405॥

'ये भगवान् सबको शान्ति देनेवाले हैं इसलिए "शान्ति" इस नाम को प्राप्त हों' ऐसा सोच कर इन्द्र ने अभिषेक के बाद उनका शान्तिनाथ नाम रक्खा ॥406॥

तदनन्तर धर्मेन्द्र सब देवों के साथ बड़े प्रेम से सुमेरु पर्वत से राजमन्दिर आया और मातासे सब समाचार कह कर उसने वे त्रिलोकीनाथ माता को सौंप दिये ॥407॥

जिसे आनन्द प्रकट हो रहा है तथा जिसके अनेक भावों और रसों का उदय हुआ है ऐसे इन्द्र ने नृत्य किया सो ठीक ही है क्योंकि जब हर्ष मर्यादा का उल्लंघन कर जाता है तो किस रागी मनुष्य को नहीं नचा देता ? ॥408॥

यद्यपि भगवान्तीन लोक के रक्षक थे तो भी इन्द्र ने उन बालक रूपधारी महात्मा की रक्षा करने के लिए लोकपालों को नियुक्त किया था ॥ 409॥

इस प्रकार जन्मकल्याणक का उत्सव पूर्ण कर समस्त देव इन्द्र के साथ अपने अपने स्थान पर चले गये ॥410॥

धर्मनाथ तीर्थंकर के बाद पौन पल्य कम तीन सागर बीत जाने तथा पाव पल्य तक धर्म का विच्छेद हो लेने पर जिन्हें मनुष्य और इन्द्र नमस्कार करते हैं ऐसे शान्तिनाथ भगवान् उत्पन्न हुए थे । उनकी आयु भी इसी में सम्मिलित थी ॥411-412॥

उनकी एक लाख वर्ष की आयु थी, चालीस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्ग के समान कान्ति थी, ध्वजा, तोरण, सूर्य चन्द्र, शंख और चक्र आदि के चिह्न उनके शरीर में थे ॥413॥

पुण्यकर्म के उदय से दृढरथ भी दीर्घकाल तक अहमिन्द्रपने का राजा विश्वसेन की दूसरी रानी यशस्वती के चक्रायुध नाम का पुत्र हुआ ॥ 414॥

जिस प्रकार समुद्र में महामणि बढ़ता है, मुनि में गुणों का समूह बढ़ता है और प्रकट हुए अभ्युदयमें हर्ष बढ़ता है उसी प्रकार वहाँ बालक शान्तिनाथ बढ़ रहे थे ॥415॥

उनमें अनेक गुण, अवयवों के साथ स्पर्धा करके ही मानो क्रम-क्रम से बढ़ रहे थे और कीर्ति, लक्ष्मी तथा सरस्वती इस प्रकार बढ़ रही थीं मानो सगी बहिन ही हों ॥416॥

जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन विकलता-खण्डावस्था से रहित चन्द्रमा का मण्डल सुशोभित होता है उसी प्रकार पूर्ण यौवन प्राप्त होने पर उनका रूप सौन्दर्य प्राप्त कर अधिक सुशोभित हो रहा था ॥417॥

उनके मस्तकपर इकट्ठे हुए भ्रमरों के समान, कोमल, पतले, चिकने, काले और घूँघरवाले शुभ बाल बड़े ही अच्छे जान पड़ते थे ॥418॥

उनका शिर मेरूपर्वत के शिखर के समान सुशोभित होता था अथवा इस विचार से ही ऊँचा उठ रहा था कि यद्यपि इनका ललाट राज्यपट्ट को प्राप्त होगा परन्तु उससे ऊँचा तो मैं ही हूँ ॥419॥

उनके इस ललाटपट्टपर धर्मपट्ट और राज्यपट्ट दोनों से पूजित लक्ष्मी सुशोभित होगी इस विचार से ही मानो विधाता ने उनका ललाट ऊँचा तथा चौड़ा बनाया था ॥420॥

उनकी सुन्दर तथा कुटिल भौहें वेश्या के समान सुशोभित हो रही थीं । 'कुटिल है' इसलिए क्या चन्द्रमा की रेखा सुशोभित नहीं होती अर्थात् अवश्य होती है ॥421॥

शुभ अवयवों का विचार करने वाले लोग नेत्रों की दीर्घता को अच्छा कहते हैं सो मालूम पड़ता है कि भगवान् के नेत्र देखकर ही उन्होंने

ऐसा विचार स्थिर किया होगा । यही उनके नेत्रों की स्तुति है ॥422॥

यदि उनके कान समस्त शास्त्रों की पात्रता को प्राप्त थे तो उनका वर्णन ही नहीं किया जा सकता क्योंकि संसार में यही एक बात दुर्लभ है । शोभा तो दूसरी जगह भी हो सकती है ॥423॥

'ये भगवान्, सबको जीतने वाले मोहरूपी मल्लको जीतेंगे इसलिए ऊँची नाक इन्हीं में शोभा दे सकेगी' ऐसा विचारकर ही मानों विधाता ने उनकी नाक कुछ ऊँची बनाई थी ॥424॥

उनके मुख से उत्पन्न हुई सरस्वती विनोद से कुछ लिखेगी यह विचार कर ही मानो विधाता ने उनके कपोलरूपी पटिये चिकने और चौड़े बनाये थे ॥425॥

उनके सफेद चिकने सघन और एक बराबर दांत यही शंका उत्पन्न करते थे कि क्या ये सरस्वती के मन्द हास्य के भेद हैं अथवा क्या शुद्ध अक्षरों की पंक्ति ही हैं ॥426॥

बरगद का पका फल, विम्बफल और मूंगा आदि दूसरों के ओठों की उपमा भले ही हो जावें परन्तु उनके ओठ की उपमा नहीं हो सकते इसीलिए इनका अधर-ओठ अधर-नीच नहीं कहलाता था ॥427॥

अन्य लोगों का चिबुक तो आगे होने वाली डाडी से ढक जाता है परन्तु इनका चिबुक सदा दिखाई देता था इससे जान पड़ता है कि वह केवल शोभा के लिए ही बनाया गया था ॥428॥

चन्द्रमा क्षयी है तथा कलंक से युक्त है और कमल कीचड़ से उत्पन्न है तथा रज से दूषित है इसलिए दोनों ही उनके मुख की सदृशता नहीं धारण कर सकते ॥429॥

यदि उनके कण्ठ से दर्पण के समान सब पदार्थों को प्रकट करने वाली दिव्यध्वनि प्रकट होगी तो फिर उस कण्ठ की सुकण्ठता का अलग वर्णन क्या करना चाहिए ? ॥430॥

वे त्रिलोकीनाथ ऊंचाई के द्वारा शिरके साथ स्पर्धा करने वाले अपने दोनों कन्धों से ऐसे सुशोभित होते थे मानो तीन शिखरों वाला सुवर्णगिरि ही हो ॥431॥

घुटनों तक लम्बी एवं केयूर आदि आभूषणों से विभूषित उनकी दोनों भुजाएँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो पृथ्वी को उठाना ही चाहती हों ॥432॥

बहुत सी लक्ष्मियाँ एक दूसरे की बाधा के बिना ही इसमें निवास कर सकें यह सोचकर ही मानो विधाता ने उनका वक्ष स्थल बहुत चौड़ा बनाया था ॥433॥

जिसके मध्य में मणियों की कान्ति से सुशोभित हार पड़ा हुआ है ऐसा उनका वक्षःस्थल, जिसके मध्य में संध्या के लाल लाल बादल पड़ रहे हैं ऐसे हिमाचल के तट के समान जान पड़ता था ॥434॥

मुट्ठी में समाने के योग्य उनका मध्यभाग चूँकि उपरिवर्ती शरीर के बहुत भारी बोझको बिना किसी आकुलता के धारण करता था अतः उसका पतलापन ठीक ही शोभा देता था ॥435॥

उनकी नाभि चूँकि गम्भीर थी, दक्षिणावर्त से सहित थी । अभ्युदय, को सूचित करने वाली थी, पद्मचिह्न से सहित थी और मध्यस्थ थी अतः स्तुति का स्थान-प्रशंसा का पात्र क्यों नहीं होती ? अवश्य होती ॥436॥

करधनी को धारण करने वाली उनकी सुन्दर कमर बहुत ही अधिक सुशोभित होती थी और जम्बूद्वीप की वेदीसहित जगती के समान जान पड़ती थी ॥437॥

उनके ऊरू केले के स्तम्भ के समान गोल, चिकने तथा स्पर्श करने पर सुख देने वाले थे अन्तर केवल इतना था कि केले के स्तम्भ एक बार फल देते हैं परन्तु वे बारबार फल देते थे और केले के स्तम्भ बोझ धारण करने में समर्थ नहीं हैं परन्तु वे बहुत भारी बोझ धारण करने में समर्थ थे ॥438॥

चूँकि उनके घुटनों के ऊरू और जंघा दोनों के बीच मर्यादा कर दी थी-दोनों की सीमा बांध दी थी इसलिए वे सत्पुरुषों के द्वारा प्रशंसनीय थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अच्छा कार्य करता है उसकी प्रशंसा क्यों नहीं की जावे ? अवश्य की जावे ॥439॥

उनके चरणकमल समस्त इन्द्रों को नमस्कार कराते थे तथा लक्ष्मी उनकी सेवा करती थी । जब उनके चरणकमलों का यह हाल था तब

जंघाएँ तो उनके ऊपर थीं इसलिए उनका और वर्णन क्या किया जाए ? ॥440॥

जिस प्रकार मन्त्र में गूढ़ता गुण रहता है उसी प्रकार उनके दोनों गुल्फों-एडी के ऊपर की गांठों में गूढ़ता गुण रहता था परन्तु उनकी यह गुणता फल देने वाली थी सो ठीक ही है क्योंकि सभी पदार्थ फलदायी होने से ही गुणी कहलाते हैं ॥441॥

उनके दोनों चरणों का पृष्ठभाग कछुए के समान था और यह पृथिवी उन्हीं का आश्रय पा कर निराकुल थी । जान पड़ता है कि 'पृथिवी कछुए के द्वारा धारण की गई है, यह रूढ़ि उसी समय से प्रचलित हुई है ॥442॥

उनके दोनों अंगूठे स्थूल थे, आगे को उठे हुए थे, अच्छी तरह स्थित थे, सुख की खान थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वर्ग तथा मोक्ष का मार्ग ही दिखला रहे हों ॥443॥

परस्पर में एक दूसरे से सटी हुई उनकी आठों अँगुलियाँ ऐसी जान पड़ती थी मानों आठों कर्मों का अपह्नव करने के लिए आठ शक्तियाँ ही प्रकट हुई हों ॥444॥

उनके चरणों का आश्रय लेनेवाले सुखकारी दश नख ऐसे सुशोभित होते थे मानो उस नखों के बहाने उत्तम क्षमा आदि दशधर्म उनकी सेवा करने के लिए पहले से ही आ गये हों ॥445॥

हम भगवान् के शरीर के अवयव हैं इसीलिए इन्द्र आदि देव हम दोनों को नमस्कार करते हैं यह सोचकर ही मानो नवीन पत्तों के समान उनके दोनों पैर रागी-रागसहित अथवा लालरंग के हो रहे थे ॥446॥

चन्द्रमा के साथ रात्रि का समागम रहता है और सूर्य उष्ण है अतः ये दोनों ही उनके तेज की उपमा नहीं हो सकते । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि उनका तेज भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष के तेज के समान था ॥447॥

जब कि हजार नेत्रवाला इन्द्र इन्द्राणी के मुखकमल से विमुख होकर उनकी ओर देखता रहता है तब उनकी कान्ति का क्या वर्णन किया जावे ? ॥448॥

जिस प्रकार महामणियों से निबद्ध देदीप्यमान उज्ज्वल सुवर्ण सुशोभित होता है उसी प्रकार उनके शरीर के समागम से आभूषणों का समूह सुशोभित होता था ॥449॥

अपने नाम के सुनने मात्र से ही जिन्होंने शत्रुरूपी हाथियों के समूह का मद सुखा दिया है ऐसे राजाधिराज भगवान् शान्तिनाथ का शब्द सिंह के शब्द के समान सुशोभित होता था ॥450॥

उनकी कीर्तिरूपी लता जन्म से पहले ही लोक के अन्त तक पहुँच चुकी थी परन्तु उसके आगे आलम्बन न मिलने से वह वहीं पर स्थित रह गई ॥451॥

उनके पिता ने कुल, रूप, अवस्था, शील, कला, कान्ति आदि से विभूषित सुख देने वाली अनेक कन्याओं का उनके साथ समागम कराया था-अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कराया था ॥452॥

प्रेमामृतरूपी जल से सींचे हुए स्त्रियों के नीलकमलदल के समान नेत्रों से वे अपना हृदय बार-बार प्रसन्न करते थे ॥453॥

अपने मनरूपी धन को लूटने वाली स्त्रियों की तिरछी चन्चल लीलापूर्वक और आलसभरी चितवनों से वे पूर्ण सुख को प्राप्त होते थे ॥ 454॥

इस तरह देव और मनुष्यों से सुख भोगते हुए भगवान् के जब कुमारकाल के पच्चीस हजार वर्ष बीत गये तब महाराज विश्वसेन ने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया । क्रम-क्रम से अखण्ड भोग भोगते हुए जब उनके पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब तेज को प्रकट करने वाले भगवान् के साम्राज्य के साधन चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रकट हुई ॥455-457॥

उन चौदह रत्नों से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड, ये आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे, काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रकट हुए थे, पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गुहपति हस्तिनापुर में मिले थे और कन्या गज तथा अश्व विजयार्थ पर्वत पर प्राप्त हुए थे ॥458-459॥

पूजनीय नौ निधियाँ भी पुण्य से प्रेरित हुए इन्द्रों के द्वारा नदी और सागर के समागम पर लाकर दी गई थीं ॥460॥

इस प्रकार चक्रवर्ती का साम्राज्य पाकर दश प्रकार के भोगों का उपभोग करते हुए जब उनके पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब एक दिन वे अपने अलंकार-गृह के भीतर अलंकार धारण कर रहे थे उसी समय उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखे । वे बुद्धिमान् भगवान् आश्चर्य के साथ अपने मन में विचार करने लगे कि यह क्या है ? ॥461-462॥

उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप सम्पदा से वे पूर्व जन्म की सब बातें जान कर वैराग्य को प्राप्त हो गये ॥463॥

वे विचार करने लगे कि समस्त सम्पदाएँ मेघों की छाया के समान हैं, लक्ष्मी इन्द्र धनुष और बिजली की चमक के समान हैं, शरीर मायामय है, आयु प्रातःकाल की छाया के समान है-उत्तरोत्तर घटती रहती है, अपने लोग पर के समान हैं, संयोग वियोग के समान है, वृद्धि हानि के समान है और यह जन्म पूर्व जन्म के समान है ॥464-465॥

ऐसा विचार करते हुए चक्रवर्ती शान्तिनाथ अपने समस्त दुर्भाव दूर कर घर से बाहर निकलने का उद्योग करने लगे ॥466॥

उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर कहा कि हे देव ! जिसकी चिरकाल से सन्तति टूटी हुई है ऐसे इस धर्मरूप तीर्थ के प्रवर्तन का आपका यह समय है ॥467॥

महाबुद्धिमान् शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने लौकान्तिक देवों की वाणी का अनुमोदन कर अपना राज्यबड़े हर्ष से नारायण नामक पुत्र के लिए दे दिया ॥468॥

तदनन्तर देवसमूह के अधिपति इन्द्र ने उनका दीक्षाभिषेक किया । इस प्रकार सज्जनों में अग्रेसर भगवान् युक्तिपूर्ण वचनोंके द्वारा समस्त भाई-बन्धुओं को छोड़कर देवताओं के द्वारा उठाई हुई सर्वार्थसिद्धि नाम की पालकी में आरूढ़ हुए और सहस्राम्रवन में जाकर सुन्दर शिलातल पर उत्तर की ओर मुख कर पर्यकासन से विराजमान हो गये । उसी समय ज्येष्ठकृष्ण चतुर्दशी के दिन शाम के वक्त भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर उन्होंने अपना उपयोग स्थिर किया, सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया, वस्त्र आदि समस्त उपकरण छोड़ दिये, पञ्चमुद्रियों के द्वारा लम्बे क्लेशों के समान केशों को उखाड़ डाला । अपनी दीप्ति से जातरूप-सुवर्ण की हँसी करते हुए उन्होंने जातरूप-दिगम्बर मुद्रा प्राप्त कर ली, और शीघ्र ही सामायिक चारित्र सम्बन्धी विशुद्धता तथा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त कर लिया । इन्द्र ने उनके केशों को उसी समय देदीप्यमान पिटारे में रख लिया । सुगन्धि के कारण उन केशों पर आकर बहुत से भ्रमर बैठ गये थे जिस से ऐसा जान पड़ता था कि वे कई गुणित हो गये हों। इन्द्र ने उन केशों को क्षीरसागर की तरंगों के उस ओर क्षेप दिया ॥469-475॥

चक्रायुध को आदि लेकर एक हजार राजाओं ने भी विपत्ति को अन्त करने वाले श्री शान्तिनाथ भगवान् के साथ संयम धारण किया था ॥ 476॥

हमारे भी ऐसा ही संयम हो इस प्रकार की इच्छा करते हुए इन्द्रादि भक्त देव, भक्तिरूपी मूल्य के द्वारा पुण्य रूपी सौदा खरीद कर स्वर्गलोक के सम्मुख चले गये ॥477॥

इधर आहार करने की इच्छा से समस्त लोक के स्वामी श्री शान्तिनाथ भगवान् मन्दिरपुर नगर में प्रविष्ट हुए । वहाँ सुमित्र राजा ने बड़े उत्सव के साथ उन्हें प्रासुक आहार देकर पन्चाश्रय प्राप्त किये ॥478-479॥

इस प्रकार अनुक्रम से तपश्चरण करते हुए उन्होंने समस्त पृथिवी को पवित्र किया और मोहरूपी शत्रु को जीतने की इच्छा से कषायों को कृश किया ॥480॥

चक्रायुध आदि अनेक मुनियों के साथ श्रीमान् भगवान् शान्तिनाथ ने सहस्राम्र वन में प्रवेश किया और नन्द्यावर्त वृक्ष के नीचे तेला के उपवास का नियम लेकर वे विराजमान हो गये । अत्यन्त श्रेष्ठ भगवान् पौष शुक्ल दशमी के दिन सायंकाल के समय पर्यकासन से विराजमान थे । पूर्व की ओर मुख था, निर्ग्रन्थता आदि समस्त बाह्य सामग्री उन्हें प्राप्त थी, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों से प्राप्त हुई क्षपक शुक्लध्यानरूपी तलवार के द्वारा उन्होंने मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर दिया, अब वे वीतराग होकर यथाख्यातचारित्र के धारक हो गये । अन्तर्मुहुर्त बाद उन्होंने द्वितीय शुक्लध्यानरूपी चक्र के द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया, इस तरह वे सोलह वर्ष तक छद्यस्थ अवस्था को प्राप्त रहे । मोहनीय कर्म क्षय होने से वे निर्ग्रन्थ हो गये, ज्ञानावरण, दर्शनावरण का अभाव होने से नीरज हो गये, अन्तराय का क्षय होने से वीतविघ्न हो गये और समस्त संसार के एक बान्धव होकर उन्होंने अत्यन्त शान्त केवलज्ञानरूपी साम्राज्यलक्ष्मी को प्राप्त किया ॥481-486॥

उसी समय तीर्थंकर नाम का बड़ा भारी पुण्यकर्मरूपी महावायु, चतुर्णिकाय के देवरूपी समुद्र को क्षुभित करता हुआ बड़े वेग से बढ़ रहा था ॥487॥

अपने आप में उत्पन्न हुई सद्भक्ति रूपी तरंगों से जो पूजन की सामग्री लाये हैं ऐसे सब लोग रत्नावली आदि के द्वारा, सब जीवों के नाथ

श्री शान्तिनाथ भगवान् की पूजा करने लगे ॥488॥

उनके समवसरण में चक्रायुध को आदि लेकर छत्तीस गणधर थे, आठ सौ पूर्वों के पारदर्शी थे, इकतालीस हजार आठ सौ शिक्षक थे, और तीन हजार अवधिज्ञानरूपी निर्मल नेत्रों के धारक थे ॥489-490॥

वे चार हजार केवलज्ञानियों के स्वामी थे और छह हजार विक्रियाऋद्धि के धारकों से सुशोभित थे ॥491॥

चार हजार मनःपर्यय ज्ञानी और दो हजार चार सौ पूज्यवादी उनके साथ थे ॥492॥

इस प्रकार सब मिलाकर बासठ हजार मुनिराज थे, इनके सिवाय साठ हजार तीन सौ हरिषेणा आदि आर्यिकाएँ थीं, सुरकीर्ति को आदि लेकर दो लाख श्रावक थे, अर्हद्दासी को आदि लेकर चार लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यन्च थे । इस प्रकार बारह गणों के साथ-साथ वे समीचीन धर्म का उपदेश देते थे ॥493-495॥

विहार करते-करते जब एक माह की आयु शेष रह गई तब वे भगवान् सम्मेदशिखर पर आये और विहार बन्द कर वहाँ अचल योग से विराजमान हो गये ॥496॥

ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के पूर्व भाग में उन कृतकृत्य भगवान् शान्तिनाथ ने तृतीय शुक्लध्यान के द्वारा समस्त योगों का निरोध कर दिया, बन्ध का अभाव कर दिया और अकार आदि पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने समय तक अयोगकेवली अवस्था प्राप्त की । वहीं चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा वे तीनों शरीरों का नाश कर भरणी नक्षत्र में लोक के अग्रभाग पर जा विराजे । उस समय गुण ही उनका शरीर रह गया था । अतीत काल में गये हुए कर्ममलरहित अनंत सिद्ध जहाँ विराजमान थे वहीं जाकर वे विराजमान हो गये ॥497-499॥

उसी समय इन्द्र सहित, आलस्य-रहित और बड़ी भक्ति को धारण करने वाले चार प्रकार के देव आये और अन्तिम संस्कार-निर्वाणकल्याणक की पूजा कर अपने-अपने स्थान पर चले गये ॥500॥

चक्रायुध को आदि लेकर अन्य नौ हजार मुनिराज भी इस तरह ध्यान कर तथा औदारिक तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों को छोड़ कर निर्वाण को प्राप्त हो गये ॥501॥

इस प्रकार जिन्होंने उत्तम ज्ञान दर्शन-सुख और वीर्य से सुशोभित परमौदारिक शरीर में निवास तथा परमोत्कृष्ट विहार के स्थान प्राप्त किये, जो अरहन्त कहलाये और इन्द्र ने जिनकी दृढ़ पूजा की ऐसे श्री शान्तिनाथ भट्टारक तुम सबके लिए सात परम स्थान प्रदान करें ॥ 502॥

जो कारणों से सहित समस्त आठों कर्मों को उखाड़ कर अत्यन्त निर्मल हुए थे, जो सम्यक्त्व आदि आठ आत्मीय गुणों को स्वीकार कर जन्म-मरणसे रहित तथा कृतकृत्य हुए थे, एवं जिनके अष्ट महाप्राप्ति-हार्यरूप वैभव प्रकट हुआ था वे शान्तिनाथ भगवान् अनादि भूतकालमें जो कभी प्राप्त नहीं हो सका ऐसा स्वस्वरूप प्राप्त कर स्पष्ट रूप से तीनों लोकों के शिखामणि हुए थे ॥503॥

जो पहले राजा श्रीषेण हुए, फिर उत्तम भोगभूमिमें आर्य हुए, फिर देव हुए, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए, फिर अहमिन्द्र पद पाकर देवों के स्वामी हुए, फिर मेघरथ हुए, फिर मुनियों के द्वारा पूजित होकर सर्वार्थसिद्धि गये, और फिर वहाँसे आकर जगत् को एक शान्ति प्रदान करनेवाले श्री शान्तिनाथ भगवान् हुए वे सोलहवें तीर्थंकर तुम सबके लिए चिरकाल तक अनुपम लक्ष्मी प्रदान करते रहें ॥504॥

जो पहले अनिन्दिता रानी हुई थी, फिर उत्तम भोगभूमिमें आर्य हुआ था, फिर विमलप्रभ देव हुआ, फिर श्रीविजय राजा हुआ, फिर देव हुआ, फिर अनन्तवीर्य नारायण हुआ, फिर नारकी हुआ, फिर मेघनाद हुआ, फिर प्रतीन्द्र हुआ, फिर सहस्रायुध हुआ, फिर बहुत भारी ऋद्धिका धारी अहमिन्द्र हुआ, फिर वहाँसे च्युत होकर मेघरथ का छोटा भाई बुद्धिमान् दृढरथ हुआ, फिर अन्तिम अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ, फिर वहाँसे आकर चक्रायुध नाम का गणधर हुआ, फिर अन्त में अक्षर-अविनाशी-सिद्ध हुआ ॥505-507॥

इस प्रकार अपने हित और किये हुए उपकार को जानने वाले चक्रायुध ने अपने भाई के साथ सौहार्द धारण कर समस्त जगत् के स्वामी श्री शान्तिनाथ भगवान् के साथ-साथ परम सुख देने वाला मोक्ष पद प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों की संगति से इस संसार में कौन-सा इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होता ? ॥508॥

इस संसार में अन्य लोगों की तो बात जाने दीजिये श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को छोड़कर भगवान् तीर्थंकरों में भी ऐसा कौन है जिसने बारह

भवों में से प्रत्येक भव में बहुत भारी वृद्धि प्राप्त की हो ? इसलिए हे विद्वान् लोगो, यदि तुम शान्ति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करने वाले श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र का ही निरन्तर ध्यान करते रहो । ॥509॥

भोगभूमि आदि के कारण नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभनाथ आदि तीर्थकरों के द्वारा फिर-फिर से दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधि के अन्त तक ले जाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका । तदनन्तर भगवान् शान्तिनाथ ने जो मार्ग प्रकट किया वह बिना किसी बाधा के अपनी अवधि को प्राप्त हुआ । इसलिए हे बुद्धिमान् लोगो ! तुम लोग भी आद्यगुरु श्री शान्तिनाथ भगवान् की शरण लो । भावार्थ-शान्तिनाथ भगवान् ने जो मोक्षमार्ग प्रचलित किया था वही आज तक अखण्ड रूप से चला आ रहा है इसलिए इस युग के आद्यगुरु श्री शान्तिनाथ भगवान् ही हैं। उनके पहले पन्द्रह तीर्थकरों ने जो मोक्षमार्ग चलाया था वह बीच-बीच में विनष्ट होता जाता था ॥ 510॥

कुन्थुनाथ तीर्थकर और चक्रवर्ती चरित

पर्व - 64

कथा :

जिन्होंने कन्था के समान सब परिग्रहों का त्याग कर मोक्ष प्राप्त कराने वाले सद्ग्रन्थों की तथा कुन्थु से अधिक सूक्ष्म जीवों की रक्षा की वे कुन्थुनाथ भगवान् मोक्ष नगर तक जाने वाले तुम सब पथिकों की रक्षा करें ॥1॥

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह-क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है । उसके सुसीमा नगर में राजा सिंहर्ष राज्य करता था । वह श्रीमान् था, सिंह के समान पराक्रमी था और बहुत से मिले हुए शत्रुओं को अपनी महिमा से ही वश कर लेता था ॥2-3॥ न्यायपूर्ण आचार की वृद्धि करने वाले एवं समस्त पृथिवीमण्डल को दण्डित करने वाले उस राजा के सम्मुख पापरूपी शत्रु मानो भय से नहीं पहुँचते थे-दूर-दूर ही बने रहते थे ॥4॥

शास्त्रमार्ग के अनुसार चलने वाले और शत्रुओं को नष्ट करने वाले उस राजा के लिए जो भोगानुभव प्राप्त था वही उसकी इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी सिद्धि का प्रदान करता था ॥5॥

वह राजा किसी समय आकाश में उल्कापात देखकर चित्त में विचार करने लगा कि यह उल्का मेरे मोहरूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए ही मानो गिरी है ॥6॥

उसने उसी समय यतिवृषभ नामक मुनिराज के समीप जाकर उन्हें नमस्कार किया और उनके द्वारा कहे हुए धर्मतत्त्व के विस्तार को बड़ी भक्ति से सुना ॥7॥

वह बुद्धिमान् विचार करने लगा कि मैं मोह से जकड़ा हुआ था, इस उल्का ने ही मुझे आपत्ति की सूचना दी है ऐसा विचार कर मोह को छोड़ने की इच्छा से उसने अपना राज्यभार शीघ्र ही पुत्र के लिए सौंप दिया और बहुत से राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया । संयमी होकर उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध किया । आयु के अन्त में समाधिमरण कर वह अन्तिम अनुत्तर विमान-सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुआ ॥8-10॥

वहाँ उसने बड़े कौतुक के साथ प्रवीचार-रहित उस मानसिक सुख का अनुभव किया जो मुनियों को भी माननीय था तथा वीतरागता से उत्पन्न हुआ था ॥11॥

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरूजांगल देश में हस्तिनापुर नाम का नगर है उसमें कौरववंशी काश्यपगोत्री महाराज सूरसेन राज्य करते थे । उनकी पट्टरानी का नाम श्रीकान्ता था । उस पतिव्रता ने देवों के द्वारा ही हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी ॥12-13॥

श्रावण कृष्ण दशमी के दिन रात्रि के पिछले भाग सम्बन्धी मनोहर पहर और कृत्तिका नक्षत्र में जब सर्वार्थसिद्धि के उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने को आई तब उसने सोलह स्वप्न देखकर अपने मुँह में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा ॥14-15॥

प्रातःकाल भेरी आदि के मांगलिक शब्द सुनकर जगी, नित्य कार्यकर स्नान किया, मांगलिक आभूषण पहिने और कुछ प्रामाणिक लोगों से परिवृत होकर बिजली के समान सभारूपी आकाश को प्रकाशित करती हुई दूसरी लक्ष्मी के समान राजसभा में पहुँची । वहाँ वह अपनी योग्यता के अनुसार विजयकर पति के अर्धासन पर विराजमान हुई । अवधिज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले पति को सब स्वप्न सुनाये और उनसे उनका फल मालूम किया । अनुक्रम से स्वप्नों का फल जानकर उसका मुखकमल इस प्रकार खिल उठा जिस प्रकार कि

सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमलिनी खिल उठती है ॥16-19॥

उसी समय देवों ने महाराज शूरसेन और महारानी श्रीकान्ता का गर्भकल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया, बहुत प्रकार की पूजा की और सन्तुष्ट होकर स्वर्ग की ओर प्रयाण किया ॥20॥

जिस प्रकार मुक्ताविशेष से सीप गर्भिणी होती है उसी प्रकार उस पुत्र से रानी श्रीकान्ता गर्भिणी हुई थी और जिस प्रकार चन्द्रमा को गोदी में धारण करने वाली मेघों की रेखा सुशोभित होती है उसी प्रकार उस पुत्र को गर्भ में धारण करती हुई रानी श्रीकान्ता सुशोभित हो रही थी ॥21॥

जिस प्रकार पश्चिम दिशा चन्द्रमा को उदित करती है उसी प्रकार रानी श्रीकान्ता ने सब मास व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में उस पुत्र को उदित किया-जन्म दिया ॥22॥

उसी समय इन्द्र को आगे कर समस्त देव और धरणेन्द्र आये, उस बालक को सुमेरू पर्वत पर ले गये, क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया, अलंकारों से अलंकृत किया, कुन्धु नाम रखा, वापिस लाये, माता-पिता को समर्पण किया और अन्त में सब अपने स्थान पर चले गये ॥23-24॥

श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद जब आधा पल्य बीत गया तब पुण्य के सागर श्रीकुन्धुनाथ भगवान् उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी ॥25॥

पञ्चानवे हजार वर्ष की उनकी आयु थी पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति थी ॥26॥

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकाल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था और इतना ही समय बीत जाने पर उन्हें अपनी जन्मतिथि के दिन चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिली थी । इस प्रकार वे बड़े हर्ष से वाधारहित, निरन्तर दश प्रकार के भोगों का उपभोग करते थे ॥ 27-28॥

किसी समय वे षडंग सेना से संयुक्त होकर क्रीडा करने के लिए वन में गये थे वहाँ चिरकाल तक इच्छानुसार क्रीडाकर वे नगर को वापिस लौट रहे थे ॥29॥

कि मार्ग में उन्होंने किसी मुनि को आतप योग से स्थित देखा और देखते ही मन्त्री के प्रति तर्जनी अंगुली से इशारा किया कि देखो, देखो । मन्त्री उन मुनिराज को देखकर वहीं पर भक्ति से नतमस्तक हो गया और पूछने लगा कि हे देव ! इस तरह का कठिन तप तपकर ये क्या फल प्राप्त करेंगे ? ॥30-31॥

चक्रवर्ती कुन्धुनाथ हँसकर फिर कहने लगे कि ये मुनि इसी भव में कर्मों को नष्टकर निर्वाण प्राप्त करेंगे । यदि निर्वाण न प्राप्त कर सकेंगे तो इन्द्र और चक्रवर्ती के सुख तथा ऐश्वर्य का उपभोग कर क्रम से शाश्वतपद-मोक्ष स्थान प्राप्त करेंगे ॥32-33॥

जो परिग्रह का त्याग नहीं करता है उसी का संसार में परिभ्रमण होता है । इस प्रकार परमार्थ को जानने वाले भगवान् कुन्धुनाथ ने मोक्ष तथा संसार के कारणों का निरूपण किया ॥34॥

उन महानुभाव ने सुखपूर्वक आयु का उपभोग करते हुए जितना समय मण्डलेश्वर रहकर व्यतीत किया था उतना ही समय चक्रवर्ती पना प्राप्त कर व्यतीत किया था ॥35॥

तदनन्तर, अपने पूर्वभव का स्मरण होने से जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानों में श्रेष्ठ भगवान् कुन्धुनाथ निर्वाण-सुख प्राप्त करने की इच्छा से राज्यभोगों में विरक्त हो गये ॥36॥

सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर बड़े आदर से उनका स्तवन किया । उन्होंने अपने पुत्र को राज्य का भार देकर इन्द्रों के द्वारा किया हुआ दीक्षा-कल्याण का उत्सव प्राप्त किया । तदनन्तर देवों के द्वारा ले जाने योग्य विजया नाम की पालकीपर सवार होकर वे सहेतुक वन में गये । वहाँ तेल का नियम लेकर जन्म के ही मास पक्ष और दिन में अर्थात् वैशाखशुक्ल प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में सांयकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने दीक्षा धारण कर ली । उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया । दूसरे दिन वे हस्तिनापुर गये वहाँ धर्ममित्र राजा ने उन्हें आहार दान देकर पंचाश्वर्य प्राप्त किये । इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए उनके सोलह वर्ष बीत गये ॥37-41॥

किसी एक दिन विशुद्धता धारण करने वाले भगवान् तेल का नियम लेकर अपने दीक्षा लेने के वन में तिलकवृक्ष के नीचे विराजमान हुए ।

वहीं चैत्रशुक्ला तृतीया के दिन सायंकाल के समय कृत्तिका नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय हर्ष के साथ सब देव आये। सबने प्रार्थनाकर चतुर्थकल्याणक की पूजा की। उनके स्वयंभू को आदि लेकर पैंतीस गणधर थे, सात सौ मुनिराज पूर्वों के जानकार थे, तीन हजार दो सौ केवलज्ञान से देदीप्यमान थे, पाँच हजार एक सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे, तीन हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी थे, दो हजार पचास प्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ वादी थे, इस तरह सब मिलाकर साठ हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥42-48॥ भाविता को आदि लेकर साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ थी, तीन लाख श्राविकाएँ थी, दो लाख श्रावक थे, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यन्च थे। भगवान्, दिव्यध्वनि के द्वारा इन सबके लिए धर्मोपदेश देते हुए विहार करते थे ॥49-50॥ इस प्रकार अनेक देशों में विहार कर जब उनकी आयु एक मास की बाकी रह गई तब वे सम्मेलन शिखर पर पहुँचे। वहाँ एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्वभाग में कृत्तिका नक्षत्र का उदय रहते हुए समस्त कर्मों को उखाड़कर परमपद प्राप्त कर लिया। अब वे निरञ्जन-कर्मकलंक से रहित हो गये। देवों ने उनके निर्वाण-कल्याणक की पूजा की। उनका वह परमपद अन्यन्त शुद्ध ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण तथा अविनाशी था ॥51-53॥ जो पहले भव में राजा सिंहरेथ थे, फिर विशाल तपश्चरणकर सर्वार्थसिद्धि के स्वामी हुए, फिर तीर्थकर और चक्रवर्ती इस प्रकार दो पदों को प्राप्त हुए, जो छह प्रकार की सेनाओं के स्वामी थे, तीनों लोकों के मुख्य पुरुष जिनकी पूजा करते थे, जिन्हें सम्यक्त्व आदि आठ गुण प्राप्त हुए थे, जो तीन लोक के शिखर पर चूड़ामणि के समान देदीप्यमान थे और जिनकी महिमा बाधा से रहित थी ऐसे श्रीकुन्धुनाथ भगवान् तुम सबके लिए अविनाशी-मोक्षलक्ष्मी प्रदान करें ॥54॥ जिनके शरीर की कान्ति में इन्द्र सहित समस्त देव निमग्न हो गये, जिनकी ज्ञानरूप ज्योति में पञ्चतत्त्व सहित समस्त आकाश समा गया, जो लक्ष्मी के स्थान हैं, जिन्होंने फैला हुआ अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया, और जो अनन्त गुणों के धारक हैं ऐसे श्रीकुन्धुनाथ भगवान् तुम सबके लिए मोक्ष का निश्चय और व्यवहार मार्ग प्रदर्शित करें ॥55॥

भगवान् अरनाथ, सुभौम चक्रवर्ती, नन्दीषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायण चरित्र

पर्व - 65

कथा :

अथानन्तर जो अगाध और असार संसाररूपी सागर से पार कर देने में कारण हैं, अनेक राजा जिन्हें नमस्कार करते हैं और जो अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ऐसे अरनाथ तीर्थकर की तुम सब लोग सेवा करो-उनकी शरण में जाओ ॥1॥

इस जम्बूद्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में धनपति नाम का राजा राज्य करता था। वह प्रजा का रक्षक था और लोगों को अत्यन्त प्यारा था। पृथिवी रूपी धेनु सदा द्रवीभूत होकर उसके मनोरथ पूर्ण किया करती थी ॥2-3॥

याचकों को संतुष्ट करने वाले और शत्रुओं को नष्ट करने वाले उस राजा में ये दो गुण स्वाभाविक थे कि वह याचकों के बिना भी त्याग करता रहता था और शत्रुओं के न रहने पर भी उद्यम किया करता था ॥4॥

उसके राज्य में राजा-प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार त्रिवर्ग का सेवन करते थे इसलिए धर्म का व्यतिक्रम कभी नहीं होता था ॥5॥

किसी एक दिन उस राजा ने अर्हन्नन्दन तीर्थकर की दिव्यध्वनि से उत्पन्न हुए श्रेष्ठधर्मरूपी रसायन का पान किया जिससे राज्य सम्बन्धी भोगों से विरक्त होकर उसने अपना राज्य अपने पुत्र के लिए दे दिया और शीघ्र ही जन्म मरण का अन्त करने वाली जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥6-7॥

ग्यारह अंगरूपी महासागर के पारगामी होकर उसने सोलह कारणभावनाओं के द्वारा तीर्थकर नामक पुण्य कर्म का बन्ध किया। अन्त में प्रायोपगमन संन्यास के द्वारा उसने जयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। वहाँ तैंतीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भाव के भेद से दोनों प्रकार की शुल्क लेश्याएँ थीं, वह साढ़े सोलह माह में एक बार श्वास लेता था, और तैंतीस हजार वर्ष में एक बार मानसिक अमृतमय आहार ग्रहण करता था। प्रवीचाररहित सुखरूपी सागर का पारगामी था, अपने अवधिज्ञान के द्वारा वह लोकनाडी के भीतर रहने वाले पदार्थों के विस्तार को जानता था ॥8-11॥

उसके अवधिज्ञान का जितना क्षेत्र था उतने ही क्षेत्र तक उसका प्रकाश, बल और विक्रया ऋद्धि थी ! उसके राग-द्वेष आदि अत्यन्त शान्त हो गये थे और मोक्ष उसके निकट आ चुका था ॥12॥

वह साता वेदनीय के उदय से उत्पन्न हुए उत्तम भोगों का उपभोग करता था । इस तरह प्राप्त हुए भोगों का उपभोग करता हुआ आयु के अन्तिम भाग को प्राप्त हुआ-वहाँ से च्युत होने के सम्मुख हुआ ॥13॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कुरूजांगल नाम का देश है । उसके हस्तिनापुर नगर में सोमवंश में उत्पन्न हुआ काश्यप गोत्रीय राजा सुदर्शन राज्य करता था । उसकी प्राणों से भी अधिक प्यारी मित्रसेना नाम की रानी थी ॥14-15॥

जब धनपति के जीव जयन्त विमान के अहमिन्द्र का स्वर्ग से अवतार लेने का समय आया तब रानी मित्रसेना ने रत्नवृष्टि आदि देवकृत सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नता से फाल्गुन कृष्ण तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर सोलह स्वप्न देखे । सबेरा होते ही उसने अपने अवधिज्ञानी पति से उन स्वप्नों का फल पूछा । तदनन्तर परम वैभव को धारण करने वाली रानी पति के द्वारा कहे हुए स्वप्न का फल सुनकर ऐसी प्रसन्न हुई मानो उसे तीन लोक का राज्य ही मिल गया हो ॥16-18॥

रहित है, निरन्तर रमणीक है, सौम्य मुखवाली है, पवित्र है, उस समय के योग्य स्तुतियों के द्वारा देवियां जिसकी स्तुति किया करती हैं, और जो मेघमाला के समान जगत् का हित करने वाला उत्तम गर्भ धारण करती है ऐसी रानी मित्र सेना ने मगसिर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में तीन ज्ञानों से सुशोभित उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥19-21॥

उनके जन्म के समय जो उत्सव हुआ था उसका वर्णन करने के लिए इतना लिखना ही बहुत है कि उसमें शामिल होने के लिए अपनी-अपनी देवियों सहित समस्त उत्तम देव स्वर्ग खालीकर यहाँ आये थे ॥22॥

उस समय दीन अनाथ तथा याचक लोग सन्तोष को प्राप्त हुए थे यह कहना बहुत छोटी बात थी क्योंकि उस समय तो तीनों लोक अत्यन्त संतोष को प्राप्त हुए थे ॥23॥

श्रीकुन्थुनाथ तीर्थंकर के तीर्थ के बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्यका चौथाई भाग बीत गया था तब श्रीअरनाथ भगवान् का जन्म हुआ था । उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी । भगवान् अरनाथ की उत्कृष्ण-श्रेष्ठतम आयु चौरासी हजार वर्ष की थी तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था, सुवर्ण के समान उनकी उत्तम कान्ति थी, वे लावण्य की अन्तिम सीमा थे, सौभाग्य की श्रेष्ठ खान थे, भगवान् को देखकर शंका होती थी कि ये सौन्दर्य के सागर हैं या सौन्दर्य सम्पत्ति के घर हैं, गुण इनमें उत्पन्न हुए हैं या इनकी गुणों में उत्पत्ति हुई है अथवा ये स्वयं गुणमय हैं-गुणरूप ही हैं । इस प्रकार लोगों को शंका उत्पन्न करते हुए, बाल कल्पवृक्ष की उपमा धारण करने वाले भगवान् लक्ष्मी के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे ॥24-28॥

इस प्रकार कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें मण्डलेश्वर के योग्य राज्य प्राप्त हुआ था और इसके बाद जब इतना ही काल और बीत गया तब पूर्ण चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ था । इस तरह भोग भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया तब किसी दिन उन्हें शरद्ऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय हो जाना देखकर अपने जन्म को सार्थक करने वाला आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया । उसी समय लौकान्तिक देवों ने उनके विचारों का समर्थनकर उन्हें प्रबोधित किया और वे अरविन्दकुमार नामक पुत्र के लिए राज्य देकर देवों के द्वारा उठाई हुई वैजयन्ती नाम की पालकी पर सवार हो सहेतुक वन में चले गये । वहाँ तेल का नियम लेकर उन्होंने मगसिर शुक्ल दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में सन्ध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली । दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये ॥29-34॥

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए वे किसी समय पारणा के दिन चक्रपुर नगर में गये वहाँ सुवर्ण के समान कान्ति वाले राजा अपराजित ने उन्हें आहार देकर पन्चाश्रय प्राप्त किये । इस तरह मुनिराज अरनाथ के जब छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये ॥35-36॥ तब वे दीक्षावन में कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में सायंकाल के समय आम्रवृक्ष के नीचे तेल का नियम लेकर विराजमान हुए । उसी समय घातिया कर्म नष्टकर उन्होंने अर्हन्तपद प्राप्त कर लिया । देवों ने मिलकर चतुर्थ कल्याणक में उनकी पूजा की ॥37-38॥ कुम्भार्य को आदि लेकर उनके तीस गणधर थे, छहसौ दश ग्यारह अंग चौदह पूर्व के जानकार थे, तैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस सूक्ष्म बुद्धि को धारण करने वाले शिक्षक थे ॥39॥

अट्ठाईस सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, तैतालीस सौ विक्रियाऋद्धि को धारण करने वाले थे, बीस सौ पचपन मनःपर्ययज्ञानी

थे ॥40-41॥

और सोलह सौ श्रेष्ठवादी थे । इस तरह सब मिलाकर पचास हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥42॥

यक्षिलाको आदि लेकर साठ हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख साठ हजार श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव थे और संख्यात तिर्यन्च थे । इस प्रकार इन बारह सभाओं से घिरे हुए अतिशय बुद्धिमान् भगवान् अरनाथ ने धर्मोपदेश देने के लिए अनेक देशों में विहार किया । जब उनकी आयु एक माह की बाकी रह गई तब उन्होंने सम्मेदाचल की शिखर पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्वभाग में मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥43-46॥

उसी समय इन्द्रों ने आकर निर्वाणकल्याणक की पूजा की । भक्तिपूर्वक सैकड़ों स्तुतियों के द्वारा उनकी स्तुति की, और तदनन्तर वे सब अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥47॥

जिन्होंने परम लक्ष्मी और धर्मचक्र को प्राप्त करने की इच्छा से पृथिवी मण्डल को सन्चित करने वाला अपना सुदर्शनचक्र कुम्भकार के चक्र के समान छोड़ दिया और राज्य-लक्ष्मी को घटदासी (पनहारिन) के समान त्याग दिया । तथा जो पापरूपी शत्रु का विध्वंस करने वाले हैं ऐसे अरनाथ जिनेन्द्र भक्ति के भार से नम्रीभूत एवं संसार से भयभीत तुम सब भव्य लोगों की सदा रक्षा करें ॥48॥

क्षुधा, तृषा, भय आदि बड़े-बड़े कर्मों के द्वारा किये हुए क्षुधा तृषा आदि अठारहों दोषों को उनके निमित्त कारणों के साथ नष्टकर जिन्होंने विशुद्धता प्राप्त की थी, जो तीनों लोकों के एक गुरु थे तथा अतिशय श्रेष्ठ थे ऐसे अठारहवें तीर्थकर अरनाथ तुम लोगों की शीघ्र ही मोक्ष प्रदान करें ॥49॥

जो पहले धनपति नाम के बड़े राजा हुए, फिर व्रतों के स्वामी मुनिराज हुए, तदनन्तर स्वर्ग के अग्रभाग में सुशोभित जयन्त नामक विमान के स्वामी सुखी अहमिन्द्र हुए, फिर छहों खण्ड के स्वामी होकर चौदह रत्नों और नौ निधियों के अधिपति-चक्रवर्ती हुए तथा अन्त में तीनों लोकों के स्वामी अरनाथ तीर्थकर हुए वे अतिशय श्रेष्ठ अठारहवें तीर्थकर अपने आश्रित रहने वाले तुम सबको चिरकाल तक पवित्र करते रहें ॥50॥

अथानन्तर-इन्हीं अरनाथ भगवान् के तीर्थ में सुभौम नाम का चक्रवर्ती हुआ था । वह तीसरे जन्म में इसी भरतक्षेत्र में भूपालल नाम का राजा था ॥51॥

किसी समय राजा भूपाल, युद्ध में विजय की इच्छा रखने वाले विजिगीषु राजाओं के द्वारा हार गया । मान भंग होने के कारण वह संसार से इतना विरक्त हुआ कि उसने संभूत नामक गुरु के समीप जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली । उस दुर्बुद्धिने तपश्चरण करते समय निदान कर लिया कि मेरे चक्रवर्तीपना प्रकट हो । उसने यह सब निदान भोगों में आसक्ति रखने के कारण किया था । इस निदान से उसने अपने तप को हृदय से ऐसा दूषित बना लिया जैसा कि कोई विष से दूध को दूषित बना लेता है ॥52-54॥

वह उसी तरह घोर तपश्चरण करता रहा । आयु के अन्त में चित्त को स्थिर कर संन्यास से मरा जिससे महाशुक्र स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ॥55॥ वहाँ सोलह सागर प्रमाण आयु को धारण करने वाला वह देव सुख से निवास करने लगा । इधर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अनेक गुणों से सहित एक कोशल नाम का देश है । उसके अयोध्या नगर में इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु राज्य करता था । हृदय को प्रिय लगने वाली उसकी चित्रमती नाम की रानी थी । वह चित्रमती कन्याकुब्ज देश के राजा पारत की पुत्री थी । उत्तम पुण्य के उदय से उसके कृतवीराधिप नाम का पुत्र हुआ ॥56-58॥

जो दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा । इसी से सम्बन्ध रखने वाली एक कथा और कही जाती है जो इस प्रकार है-राजा सहस्रबाहु के काका शतबिन्दु से उनकी श्रीमती नाम की स्त्री के जमदग्नि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था । श्रीमती राजा पारत की बहिन थी । कुमार अवस्था में ही जमदग्नि की माँ मर गई थी इसलिए विरक्त होकर वह तापस हो गया और पन्चाग्नि तप तपने लगा । इसी से सम्बन्ध रखने वाली एक कथा और है । एक दृढ़ग्राही नाम का राजा था । उसकी हरिश्कर्मा नाम के ब्राह्मण के साथ अखण्ड मित्रता थी । इस प्रकार उन दोनों का समय बीतता रहा । किसी एक दिन दृढ़ग्राही राजा ने जैन तप धारण कर लिया और हरिश्कर्मा ब्राह्मण ने भी तापस के व्रत ले लिये । हरिश्कर्मा ब्राह्मण आयु के अन्त में मरकर ज्योतिर्लोक में उत्पन्न हुआ-ज्योतिषी देव हुआ और दृढ़ग्राही सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ । उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्र से जाना कि हमारा मित्र हरिश्कर्मा ब्राह्मण मिथ्यात्व के कारण ज्योतिष लोक में उत्पन्न हुआ है अतः वह उसे समीचीन जैनधर्म धारण कराने के लिए आया ॥59-64॥

हरिशर्मा के जीव को देखकर दृढ़ग्राही के जीव ने कहा कि तुम मिथ्यात्व के कारण इस तरह निन्द्यपर्याय में उत्पन्न हुए हो और मैं सम्यक्त्व के कारण उत्कृष्ट देवपर्याय को प्राप्त हुआ हूँ ॥65॥

इसलिए तुम मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शन है उसे धारण करो । जब दृढ़ग्राही का जीव यह कह चुका तब हरिशर्मा के जीवने कुछ संशय रखकर उससे पूछा कि तापसियों का तप अशुद्ध क्यों है ? उसने भी कहा कि तुम पृथिवी तल पर चलो मैं सब दिखाता हूँ । इस प्रकार सलाह कर दोनों ने चिड़ा और चिड़िया का रूप बना लिया ॥66-67॥

पृथिवी पर आकर वे दोनों ही जमदग्नि मुनि की बड़ी-बड़ी दाँडी और मूँछ में रहने लगे । वहाँ कुछ समय तक ठहरने के बाद माया को जानने वाला सम्यग्दृष्टि चिड़ा का जीव, चिड़िया का रूप धारण करने वाले ज्योतिषी देव से बोला कि हे प्रिये ! मैं इस दूसरे वन में जाकर अभी वापिस आता हूँ मैं जब तक आता हूँ तब तक तुम यहीं ठहरकर मेरी प्रतीक्षा करना । इसके उत्तर में चिड़िया ने कहा कि मुझे तेरा विश्वास नहीं है यदि तू जाता ही है तो सौगन्ध दे जा ॥68- 70॥

तब वह चिड़ा कहने लगा कि बोल तू पाँच पापों में से किसे चाहती है मैं तुझे उसी की सौगन्ध दे जाऊँगा ॥71॥

उत्तर में चिड़िया कहने लगी कि पाँच पापों में से किसी में मेरी इच्छा नहीं है । तू यह सौगन्ध दे कि यदि मैं न आऊँ तो इस तापस की गति को प्राप्त होऊँ ॥72॥

हे प्रिय ! यदि तू मुझे यह सौगन्ध देगा तो मैं तुझे अन्यत्र जाने के लिए छोड़ूँगी अन्यथा नहीं । चिड़िया की बात सुनकर चिड़ाने कहा कि तू यह छोड़कर और जो चाहती है सो कह, मैं उसकी सौगन्ध दूँगा । इस प्रकार चिड़ा और चिड़िया का वार्तालाप सुनकर वह तापस क्रोध से संतप्त हो गया, उसकी आँखें घूमने लगीं, उसने क्रूरता वश दोनों पक्षियों को मारने के लिए हाथ से मजबूत पकड़ लिया, वह कहने लगा कि मेरे कठिन तप से तो भावी लोक होने वाला है उसे तुम लोगों ने किस कारण से पसन्द नहीं किया ? यह कहा जाय । तापस के ऐसा कह चुकने पर चिड़ाने कहा कि आप क्रोध न करें इससे आपकी सज्जनता नष्ट होती है ॥73- 76॥

क्या थोड़ी सी जामिन की छाँच से दूध नष्ट नहीं हो जाता? यद्यपि आप चिरकाल से घोर तपश्चरण कर रहे हैं तो भी आपकी दुर्गति का कारण क्या है ? सो सुनिये ॥77॥

आप जो कुमार काल से ही ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं वह संतान का नाश करने के लिए हैं। संतान का घात करने वाले पुरुष की नरक के सिवाय दूसरी कौन-सी गति हो सकती है ? ॥78॥

अरे 'पुत्र रहित मनुष्य की कोई गति नहीं होती' यह आर्षवाक्य-वेदवाक्य क्या आपने नहीं सुना ? यदि सुना है तो फिर बिना विचार किये ही क्यों इस तरह दुर्बुद्धि होकर क्लेश उठा रहे हैं ? ॥79॥

उसके मन्द वचन सुनकर उस तापसने उसका वैसा ही निश्चय कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रीजनों में आसक्त रहने वाले मनुष्यों के अज्ञान तपकी यही भूमिका है ॥80॥

'ये दोनों पक्षी मेरा उपकार करने वाले हैं' ऐसा समझकर उसने दोनों पक्षियों को छोड़ दिया । इस प्रकार उन दोनों देवों के द्वारा ठगाया हुआ दुर्बुद्धि तापस कन्याकुब्ज नगर के राजा पारतकी ओर चला । वह मानो इस बात की घोषणा ही करता जाता था कि अज्ञान पूर्ण वैराग्य स्थिर नहीं रहता । वहाँ अपने मामा पारत को देखकर उस निर्लज्जने अपने आकार मात्र से ही यह प्रकट कर दिया कि मैं यहाँ कन्या के लिए ही आया हूँ । राजा पारत ने उसकी परीक्षा के लिए दो आसन रखे - एक रागरहित और दूसरा रागसहित । दोनों आसानों को देखकर वह रागसहित आसन पर बैठ गया ॥81- 83॥

उसने अपने आने का वृत्तरन्त राजा के लिए बतलाया । उसे सुनकर राजा पारत बड़े खेद से कहने लगा कि इस अज्ञान को धिक्कार हो, धिक्कार हो ॥84॥

फिर राजा ने कहा कि मेरे सौ पुत्रियाँ हैं इनमें से जो तुझे चाहेगी वह तेरी हो जायगी । राजा के ऐसा कहने पर जमदग्नि कन्याओं के पास गया । उनमें से जो तुझे चाहेगी वह तेरी हो जायगी । राजा के ऐसा कहने पर जमदग्नि को अधजला मुर्दा मानकर ग्लानि से भाग गई और कितनी ही भय से पीड़ित होकर चली गई ॥85- 86॥

लज्जा से पीड़ित हुआ वह मूर्ख तापस उन सब कन्याओं को छोड़कर धूलिमें खेलनेवाली एक छोटी-सी लड़की ने कहा कि हाँ चाहती हूँ । तापसने जाकर राजा से कहा कियह लड़की मुझे चाहती है । इस प्रकार वह लड़की को लेकर वनकी ओर चला गया । पद-पद पर लोग

उसकी निन्दा करते थे, वह अत्यन्त दीन तथा मूर्ख था ॥87-89॥

जमदग्नि ने उस लडकी का रेणुकी नाम रखकर उसके साथ विवाह कर लिया । उसी समय से ऐसी प्रवृत्ति-स्त्रियों के साथ तपश्चरण करना ही धर्म है यह कहावत प्रसिद्ध हुई है ॥90॥

जमदग्नि ने उस लडकी का रेणुकी नाम रखकर उसके साथ विवाह कर लिया । उसी समय से ऐसी प्रवृत्ति-स्त्रियों के साथ तपश्चरण करना ही धर्म है यह कहावत प्रसिद्ध हुई है ॥91- 92॥

इस प्रकार उन दोनों का काल सुख से बीत रहा था । एक दिन अरिन्जय नाम के मुनि जो रेणुकी के बड़े भाई थे उसे देखने की इच्छा से उसके घर आये ॥93॥

रेणुकी ने विनयपूर्वक मुनि के दर्शन किये । तदनन्तर पति से प्रेरणा पाकर उसने मुनि से पूछा कि हे पूज्य ! मेरे विवाह के समय आपने मेरे लिए क्या धन दिया था ? ॥94॥

सो कहो, रेणुकी के ऐसा कहने पर मुनि ने कहा कि उस समय मैंने कुछ भी नहीं दिया था । हे भद्रे ! अब ऐसा धन देता हूँ जो कि तीनों लोकों में दुर्लभ है । तू उसे ग्रहण कर । उस धन के द्वारा तू सुखों की परम्परा प्राप्त करेगी । यह कहकर उन्होंने व्रत से संयुक्त तथा शील की माला उज्ज्वल सम्यक्त्वरूपी धन प्रदान किया और काललब्धि के समान उनके वचनों से प्रेरित हुई रेणुकी ने कहा कि मैंने आपका दिया सम्यग्दर्शन रूपी धन ग्रहण किया । मुनिराज इस बात से बहुत ही संतुष्ट हुए । उन्होंने मनोवांछित पदार्थ देने वाली कामधेनु नाम की विद्या और मन्त्र सहित एक फरशा भी उसके लिए प्रदान किया ॥95- 98॥

किसी दूसरे दिन पुत्र कृतवीर के साथ उसका पिता सहस्रबाहु उस तपोवन में आया । भाई होने के कारण जमदग्नि ने सहस्रबाहु से कहा कि भोजन करके जाना चाहिये । यह कह जमदग्नि ने उसे भोजन कराया । कृतवीर ने अपनी माँ की छोटी बहिन रेणुकी से पूछा कि भोजन में ऐसी सामग्री तो राजाओं के घर भी नहीं होती फिर तपोवन में रहने वाले आप लोगों के लिए यह सामग्री कैसे प्राप्त होती है ? उत्तर में रेणुकी ने कामधेनु विद्या की प्राप्ति आदि का सब समाचार सुना दिया । मोह के उदय से आविष्ट हुए उस अकृतज्ञ कृतवीर ने रेणुकी से वह कामधेनु विद्या माँगी । रेणुकी ने कहा कि हे तात ! यह कामधेनु तुम्हारे वर्णाश्रमों के गुरु जमदग्नि की होमधेनु है अतः तुम्हारी यह याचना उचित नहीं है । रेणुकी के इतना कहते ही उसे क्रोध आ गया । वह क्रोध के वेग से कहने लगा कि संसार में जो भी श्रेष्ठ धन होता है वह राजाओं के योग्य होता है । कन्द मूल तथा फल खानेवाले लोगों के द्वारा ऐसी कामधेनु भोगने योग्य नहीं हो सकती ॥ 99-104॥

ऐसा कह कर वह कामधेनु को जबरदस्ती लेकर जाने लगा तब जमदग्नि ऋषि रोकने के लिए उसके सामने खड़े हो गये । कुमारगामी राजा कृतवीर जमदग्नि को मारकर तथा अपना मार्ग उल्लंघन कर नगर की ओर चला गया । इधर कृशोदरी रेणुकी पति की मृत्यु से रोने लगी । तदनन्तर उसके दोनों पुत्र जब फूल, कन्द, मूल तथा फल आदि लेकर वन से लौटे तो यह सब देख आश्चर्य से पूछने लगे कि यह क्या है ? ॥105-106॥

सब बात को ठीक-ठीक समझ कर उन्हें क्रोध आ गया । स्वाभाविक पराक्रम को धारण करने वाले दोनों भाइयों ने पहले तो शोक से भरी हुई माता को युक्तिपूर्ण वचनों से संतुष्ट किया फिर तीक्ष्ण फरशा को ध्वजा बनाने वाले, यमतुल्य दोनों भाइयों ने परस्पर कहा कि गाय के ग्रहण में यदि मरण भी हो जाय तो वह पुण्य का कारण है ऐसा शास्त्रों में सुना जाता है अथवा यह बात रहने दो, पिता के मरण को कौन सह लेगा ? ऐसा कहकर दोनों ही भाई चल पड़े । स्नेह से भरे हुए समस्त मुनिकुमार उनके साथ गये ॥107-110॥

राजा सहस्रबाहु और कृतवीर जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग पर चलकर वे अयोध्या नगर के समीप पहुँच गये । वहाँ कृतवीर के साथ संग्राम कर उन्होंने राजा सहस्रबाहु को मार डाला और सायंकाल के समय नगर में प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि जो अकार्य में प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए हलाहल विष के समान भयंकर पापों के परिपाक असह्य दुःखों की परम्परा रूप फल शीघ्र ही प्रदान करते हैं । इधर रानी चित्रमती के बड़े भाई शाण्डिल्य नामक तापस को इस बात का पता चला कि परशुराम, सहस्रबाहु की समस्त सन्तान को नष्ट करने के लिए उत्सुक है और रानी चित्रमती, निदानरूपी विष से दूषित तप के कारण महाशुक्र स्वर्ग में उत्पन्न हुए राजा भूपाल के जीव स्वरूप देव के द्वारा गर्भवती हुई है अर्थात् उक्त देव रानी चित्रमती के गर्भ में आया है । ज्यों ही शाण्डिल्य को इस बात का पता चला त्यों ही वह बहिन चित्रमती को लेकर अज्ञात रूप से चल पड़ा और सुबन्धु नामक निर्ग्रन्थ मुनि के पास जाकर उसने सब समाचार कह सुनाये । 'हे

आर्य ! मेरे मठ में कोई नहीं है इसलिए मैं वहाँ जाकर वापिस आऊंगा । जब तक मैं वापिस आऊँ तब तक यह देवी यहाँ रहेगी' यह कहकर वह चित्रमती को सुबन्धु मुनि के पास छोड़कर अन्यत्र चला गया ॥111-117॥

इधर रानी चित्रमती ने पुत्र उत्पन्न किया। यह बालक भरतक्षेत्र का भावी चक्रवर्ती है यह विचारकर वन-देवताओं ने उसे शीघ्र ही उठा लिया । इस प्रकार वन-देवियाँ जिसकी रक्षा करती हैं ऐसा वह बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा ॥118-119॥

तदनन्तर बड़ा भाई शाण्डिल्य नाम का तापस आकर उस चित्रमती को अपने घर ले गया । वह बालक पृथिवी को छूकर उत्पन्न हुआ था इसलिये शाण्डिल्य ने बड़ा भारी उत्सव कर प्रेम के साथ उसका सुभौम नाम रक्खा ॥120-125॥

वहाँ पर वह उपदेश के अनुसार निरन्तर प्रयोग सहित समस्त शास्त्रों का अभ्यास करता हुआ गुप्तरूप से बढ़ने लगा ॥126॥

इधर जिनका उग्र पराक्रम बढ़ रहा है ऐसे रेगुकी के दोनों पुत्रों ने इक्कीस वार क्षत्रिय वंश को निर्मूल नष्ट किया ॥127॥

पिता के मारे जाने से जिन्होंने वैर बाँध लिया है ऐसे उन दोनों भाइयों ने अपने हाथ से मारे हुए समस्त राजाओं के शिरों को एकत्र रखने की इच्छा से पत्थर के खम्भों में संगृहीतकर रक्खा था ॥128॥

इस तरह दोनों भाई मिलकर समस्त पृथिवी की राज्य लक्ष्मी का अच्छी तरह उपभोग कराते थे । किसी एक दिन निमित्तकुशल नाम के निमित्तज्ञानी ने फरशाके स्वामी राजा इन्द्रराम से कहा कि आपका शत्रु उत्पन्न हो गया है इसका प्रतिकार कीजिये । इसका विश्वास कैसे हो ? यदि आप यह जानना चाहते हैं तो मैं कहता हूँ । मारे हुए राजाओं के जो दाँत आपने इकट्ठे किये हैं वे जिसके लिए भोजन रूप परिणत हो जावेंगे वही तुम्हारा शत्रु होगा ॥129-131॥

निमित्त ज्ञानी का कहा हुआ सुनकर परशुराम ने उसका चित्त में विचार किया और उत्तम भोजन करानेवाली दानशाला खुलवाई ॥132॥

साथ में यह घोषणा करा दी कि जो भोजनाभिलाषी यहाँ आवें उन्हें पात्र में रक्खे हुए दाँत दिखलाकर भोजन कराया जावे । इस प्रकार शत्रु की परीक्षा के लिए वह प्रतिदिन अपने निरोगियों-नौकरों के द्वारा अनेक पुरुषों को भोजन कराने लगा ॥133-134॥

इधर सुभौमने अपनी माता से अपने पिता के मरने का समाचार जान लिया, वास्तव में उसका चक्रवर्तीपना प्राप्त होने का समय आ चुका था, अतिशय निमित्तज्ञानी सुबन्धु मुनि के कहे अनुसार उसे अपने गुप्त रहने का भी सब समाचार विदित हो गया अतः वह परिव्राजकका वेष रखकर अपने रहस्य को समझने वाले राजपुत्रों के समूह के साथ अयोध्या नगर की ओर चल पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि कल्याणकारी दैव भाग्यकारी दैव भाग्यशाली पुरुषों को समय पर प्रेरणा दे ही देता है ॥135-137॥

उस समय अयोध्या नगर में रहने वाले देवता बड़े जोर से रोने लगे, पृथिवी काँप उठी ओर दिन में तारे आदि दिखने लगे ॥138॥

सुभौम कुमार भोजन करने के लिए जब परशुराम की दानशाला में पहुँचे तो वहाँ के कर्मचारियों ने बुलाकर उन्हें उच्च आसनपर बैठाया और मारे हुए राजाओं के संचित दाँत दिखलाये परन्तु सुभौम के प्रभाव से वे सब दाँ शालि चावलों के भातरूपी हो गये । यह सब देखकर वहाँ के परिचारकों ने राजा के लिए इसकी सूचना दी । राजा ने भी 'उसे पकड़कर लाया जावे' यह कहकर मजबूत नौकरों को भेजा । अत्यन्त क्रूर प्रकृतिवाले भृत्यों ने सुभौम के पास जाकर कहा कि तुम्हें राजा ने बुलाया है अतः शीघ्र चलो । सुभौमने उत्तर दिया कि मैं तुम लोगों के समान इससे नौकरी नहीं लेता फिर इसके पास क्यों जाऊँ ? तुम लोग जाओ' ऐसा कहकर उसने उनकी तर्जना की, उसके प्रभाव से वे सब नौकर भयरूपी ज्वर से ग्रस्त हो गये और सब यथास्थान चले गये ॥139-143॥

यह सुनकर परशुराम बहुत कुपित हुआ । वह युद्ध के सब साधन तैयार कर आ गया । उसे आया देख सुभौम भी उसके सामने गया ॥ 144॥

परशुराम ने उसके साथ युद्ध करने के लिए अपनी सेना को आज्ञा दी । परन्तु भरतक्षेत्र के अधिपति जिस ब्यन्तरदेव ने जन्म से लेकर सुभौमकुमार की रक्षा की थी उसने उस समय भी उसकी रक्षा की अतः परशुराम की सेना उसके सामने नहीं ठहर सकी । यह देखकर परशुराम ने सुभौम की ओर स्वयं अपना हाथी बढाया परन्तु उसी समय सुभौम के भी एक गन्धराज-मदोन्मत्त हाथी प्रकट हो गया । यही नहीं, एक हजार देव जिसकी रक्षा करते हैं और जो चक्रवर्तीपना का साधन है ऐसा देवोपनीत चक्ररत्न भी पास ही प्रकट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि भाग्य के सन्मुख रहते हुए क्या नहीं होता ? जिस प्रकार पूर्वाचल पर सूर्य आरूढ होता है उसी प्रकार उस गजेन्द्र पर आरूढ होकर सुभौमकुमार निकला । वह हजार आरे वाले चक्ररत्न को हाथ में लेकर बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था । उसे देखकर परशुराम बहुत ही कुपित हुआ और सुभौम को मारने के लिए सामने आया ॥145-149॥

सुभौम कुमार ने भी चक्र-द्वारा उसे परलोक भेज दिया-मार डाला तथा बाकी बची हुई सेना के लिए उसी समय अभय घोषणा कर दी ॥

150॥

श्री अरनाथ तीर्थकर के बाद दो सौ करोड बत्तीस वर्ष व्यतीत हो जानेपर सुभौत चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ था ॥151॥

वह लक्ष्मीमान् था, इक्ष्वाकु वंश का सिंह था-शिरोमणि था, अत्यन्त स्पष्ट दिखने वाले चक्र आदि शुभ लक्षणों से सुशोभित था ॥152-

153॥

तदनन्तर बाकी के रत्न तथा नौ निधियाँ भी प्रकट हो गई इस प्रकार छह खण्डका आधिपत्य पाकर वह चक्रवर्ती के रूप में प्रकट हुआ ॥

154॥

जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग में निरन्तर दिव्य भोगों का उपभोग करता रहता है उसी प्रकार सुभौम चक्रवर्ती भी चक्रवर्ती पद में प्राप्त होने योग्य दश प्रकार के भोगों का चिरकाल तक उपभोग करता रहा ॥155॥

सुभौम का एक अमृतसायन नाम का हितैषी रसोइया था उसने किसी दिन बड़ी प्रसन्नता से उसके लिए रसायना नाम की कढ़ी परोसी ॥

156॥

सुभौमने उस कढ़ी के गुणों का विचार तो नहीं किया, सिर्फ उसका नाम सुनने मात्र से वह कुपित हो गया । इसी के बीच इस रसोइया के शत्रु ने राजा को उल्टी प्रेरणा दी जिससे क्रोधवश उसने उस रसोइया को दण्डित किया । इतना अधिक दण्डित किया कि वह रसोइया उस दण्ड से म्रियमाण हो गया । उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर निदान किया कि मैं इस राजा को अवश्य मारूँगा । थोड़े से पुण्य के कारण वह मरकर ज्योतिर्लोकमें विभंगावधिज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाला देव हुआ । पूर्व वैरका स्मरण कर वह क्रोधवश राजा को मारने की इच्छा करने लगा ॥157-159॥

उसने देखा कि यह राजा जिह्वाका लोभी है अतः वह एक व्यापारी का वेष रख मीठे-मीठे फल देकर प्रतिदिन राजाकी सेवा करने लगा ॥

160॥

किसी एक दिन उस देवने कहा कि महाराज ! वे फल तो अब समाप्त हो गये । राजा ने कहा कि यदि समाप्त हो गये तो फिर से जाकर उन्हीं फलों को ले आओ ॥161॥

उत्तर में देवने कहा कि वे फल नहीं लाये जा सकते । पहले तो मैंने उस वनकी स्वामिनी देवीकी आराधना कर कुछ फल प्राप्त कर लिये थे ॥162॥

यदि आपकी उन फलों में आसक्ति है-आप उन्हें अधिक पसन्द करते हैं तो आप मेरे साथ वहाँ स्वयं चलिये और इच्छानुसार उन फलों को खाइये ॥163॥

राजा ने उसके मायापूर्ण वचनों का विश्वास कर उसके साथ जाना स्वीकृत कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका पुण्य क्षीण हो जाता है उनकी विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है ॥164॥

यद्यपि मन्त्रियों ने उस राजा को रोका था कि आप मत्स्य की तरह रसना इन्द्रिय के लोभी हो यह राज्य छोड़ कर क्यों नष्ट होते हो तथापि उस मूर्ख ने एक न मानी । वह उनके वचन उल्लंघन कर जहाज द्वारा समुद्र में जा घुसा । उसी समय उसके घर से जिनमें प्रत्येक की एक-एक हजार यक्ष रक्षा करते थे ऐसे समस्त रत्न निधियों के साथ-साथ घर से निकल गये । यह जानकर वैश्यका वेष रखने वाला शत्रु भूतदेव अपने शत्रु राजा को समुद्र के बीच में ले गया ॥165-167॥

वहाँ ले जाकर उस दुष्ट ने पहले जन्म का अपना रसोइया का रूप प्रकट कर दिखाया और अनेक दुर्वचन कह कर पूर्वबद्ध वैर के संस्कार से उसे विचित्र रीति से मार डाला ॥168॥

सुभौम चक्रवर्ती भी अन्तिम समय रौद्रध्यान से मर कर नरकगति में उत्पन्न हुआ सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धि से क्या नहीं होता है ? ॥

169॥

सहस्रबाहु लोभ करने से अपने पुत्र के साथ-साथ तिर्यन्च गति में गया और हिंसा में तत्पर रहने वाले जमदग्नि ऋषि के दोनों पुत्र अधोगति-नरकगति में उत्पन्न हुए ॥170॥

इसीलिए बुद्धिमान् लोग इन राग-द्वेष दोनों को छोड़ देते हैं क्योंकि इनके त्याग से ही विद्वान् पुरुष वर्तमान में परमपद प्राप्त करते हैं,

भूतकाल में प्राप्त करते थे और आगामी काल में प्राप्त करेंगे ॥171॥

देखो, आठवाँ चक्रवर्ती सुभौम यद्यपि सिंह के समान एक था-अकेला ही था तथापि वह समस्त पृथिवी का स्वामी हुआ। उसने अपने पिता का वध करने वाले जमदग्नि के दोनों पुत्रों को मारकर अपनी कीर्ति से समस्त दिशाएँ उज्ज्वल कर दी थीं किन्तु स्वयं दुर्नीति के वश पड़कर नरक में उत्पन्न हुआ था ॥172॥

सुभौम चक्रवर्ती का जीव पहले तो भूपाल नाम का राजा हुआ फिर असह्य तप-तपकर महाशुक्र स्वर्ग में सोलह सागर की आयुवाला देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर परशुराम को मारने वाला सुभौम नाम का सकल चक्रवर्ती हुआ और अन्त में नरक का अधिपति हुआ ॥173॥ अथानन्तर इन्हीं के समय नन्दिषेण बलभद्र और पुण्डरीक नारायण ये दोनों ही राजपुत्र हुए हैं। इनमें से पुण्डरीक का जीव तीसरे भव में सुकेतुके आश्रय से शल्य सहित तप कर आयु के अन्त में पहले स्वर्ग में देव हुआ था, वहाँ से च्युत होकर सुभौम चक्रवर्ती के बाद छह सौ करोड़ वर्ष बीत जाने पर इसी भरत क्षेत्र सम्बन्धी चक्रपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा वरसेन की लक्ष्मीमती रानी से पुण्डरीक नाम का पुत्र हुआ था तथा इन्हीं राजा की दूसरी रानी वैजयन्ती से नन्दिषेण नाम का बलभद्र उत्पन्न हुआ था। उन दोनों की आयु छप्पन हजार वर्ष की थी, शरीर छब्बीस धनुष ऊँचा था, दोनों की आयु नियत थी और अपने तप से सन्वित हुए पुण्य के कारण उन दोनों की आयु का काल सुख से व्यतीत हो रहा था ॥174-178॥

किसी एक दिन इन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन ने अपनी पद्यावती नाम की पुत्री पुण्डरीक के लिए प्रदान की ॥179॥

अथानन्तर पहले भव में जो सुकेतु नाम का राजा था वह अत्यन्त अहंकारी दुराचारी और पुण्डरीक का शत्रु था। वह अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के अनुसार अनेक भवों में घूमता रहा। अन्त में उसने क्रम-क्रम से कुछ पुण्य का सन्चय किया था उसके अनुरोध से वह पृथिवी को वश करने वाला चक्रपुर का निशुम्भ नाम का अधिपति हुआ। उसकी आभा ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के मण्डल के समान थी। वह इतना तेजस्वी था कि दूसरे के तेज को बिलकुल ही सहन नहीं करता था। जब उसने पुण्डरीक और पद्यावती के विवाह का समाचार सुना तो वह बहुत ही कुपित हुआ। उसने सब सेना तैयार कर ली, वह शत्रुओं को मारने वाला था, नारकियों से भी कहीं अधिक निर्दय था और अखण्ड पराक्रमी था। पुण्डरीक को मारने की इच्छा से वह चल पड़ा। जिसका तेज निरन्तर बढ़ रहा है ऐसे पुण्डरीक के साथ उस निशुम्भ ने चिरकाल तक बहुत प्रकार का युद्ध किया और अन्त में उसके चक्ररूपी वज्र के घात से निष्प्राण होकर वह अधोगति में गया-नरक में जाकर उत्पन्न हुआ ॥180-184॥

सूर्य चन्द्रमा के समान अथवा मिले हुए दो लोकपालों के समान वे दोनों अपनी प्रभा से दिङ्मण्डल को व्याप्त करते हुए चिरकाल तक पृथिवी का पालन करते रहे ॥185॥

वे दोनों ही भाई बिना बाँटी हुई लक्ष्मी का उपभोग करते थे, परस्पर में परम प्रीति को प्राप्त थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी एक मनोहर विषय को देखते हुए अलग-अलग रहने वाले दो नेत्र ही हों ॥186॥

उन दोनों की राज्य से उत्पन्न हुई तृप्ति, तीन भव से चले आये पारस्परिक प्रेम से उत्पन्न होने वाली तृप्ति के एक अंश को भी नहीं प्राप्त कर सकी थी। भावार्थ-उन दोनों का पारस्परिक प्रेम राज्य-प्रेम से कहीं अधिक था ॥187॥

पुण्डरीक ने चिरकाल तक भोग भोगे और उनमें अत्यन्त आसक्ति के कारण नरक की भयंकर आयु का बन्ध कर लिया। वह बहुत आरम्भ और परिग्रह का धारक था, अन्त में रौद्र ध्यान के कारण उसकी मिथ्यात्व रूप भावना भी जागृत हो उठी जिससे मर कर वह पापोदय से तमःप्रभा नामक छठवें नरक में प्रविष्ट हुआ ॥188-189॥

उसके वियोग से नन्दिषेण बलभद्र को बहुत ही वैराग्य उत्पन्न हुआ उससे प्रेरित हो उसने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर संयम धारण कर लिया ॥190॥

उसने निर्द्वन्द्व होकर बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का शुद्ध तपश्चरण किया और कर्मों की मूलोत्तर प्रकृतियों का नाश कर मोक्ष प्राप्त किया ॥191॥

ये दोनों ही तीसरे भवमें राजपुत्र थे, फिर पहले स्वर्ग में देव हुए, तदनन्तर एक तो नन्दिषेण बलभद्र हुआ और दूसरा निशुम्भ प्रतिनारायण का शत्रु पुण्डरीक हुआ। यह तीन खण्ड के राजाओं-नारायणों में छठवाँ नारायण था ॥192॥

भगवान मल्लिनाथ, पद्म चक्रवर्ती, नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण बलीन्द्र प्रतिनारायण चरित

कथा :

जिस प्रकार सिंह किसी हाथी को जीतता है उसी प्रकार जिन्होंने अनिष्ट करने वाले मोहरूपी मल्ल को अमल्ल की तरह जीत लिया वे मल्लिनाथ भगवान् हम सबके शल्य को हरण करने वाले हों ॥1॥

जम्बूद्वीप में मेरूपर्वत से पूर्व की ओर कच्छकावती नाम के देश में एक वीतशोक नाम का नगर है उसमें वैश्रवण नाम का उच्च कुलीन राजा राज्य करता था । जिस प्रकार कुम्भकार के हाथ में लगी हुई मिट्टी उसके वश रहती है उसी प्रकार बड़े-बड़े गुणों से शोभायमान उस राजा की समस्त पृथिवी उसके वश रहती थी ॥2-3॥

प्रजा का कल्याण करने वाले उस राजा से प्रजा का सबसे बड़ा योग यह होता था कि वह खजाना किला तथा सेना आदि के द्वारा उसका उपभोग करता था ॥4॥

वह किसी महाभय के समय प्रजा की रक्षा करने के लिए धनका संचय करता था और उस प्रजाको सन्मार्ग में चलाने के लिए उसे दण्ड देता था ॥5॥

इस प्रकार बढ़ते हुए पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई लक्ष्मी का वह नव विवाहिता स्त्री के समान बड़े हर्ष से चिरकाल तक उपभोग करता रहा ॥6॥

किसी एक दिन उदार बुद्धिवाला वह राजा वर्षा के प्रारम्भ में बढ़ती हुई वनावली को देखने के लिए नगर के बाहर गया ॥7॥

वहाँ जिस प्रकार कोई बड़ा राजा अपनी शाखाओं और उपशाखाओं को फैलाकर तथा पृथिवी को व्याप्तकर रहता है और अनेक द्विज-ब्राह्मण उसकी सेवा करते हैं उसी प्रकार एक वटका वृक्ष अपनी शाखाओं और उपशाखाओं को फैलाकर तथा पृथिवी को व्याप्तकर खड़ा था एवं अनेक द्विज-पक्षीगण उसकी सेवा करते थे ॥8॥

उस वटवृक्ष को देखकर राजा समीपवर्ती लोगों से कहने लगा कि देखो देखो, इसका विस्तार तो देखो । यह ऊँचाई और बद्धमूलता को धारण करता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो हमारा अनुकरण ही कर रहा हो ॥9॥

इस प्रकार समीपवर्ती प्रिय मनुष्यों को आश्चर्य के साथ दिखलाता हुआ वह राजा दूसरे वन में चला गया और घूमकर फिर से उसी मार्ग से वापिस आया ॥10॥

लौट कर उसने देखा कि वह वटवृक्ष वज्र गिरने के कारण जड़ तक भस्म हो गया है । उसे देख कर वह विचार करने लगा कि इस संसार में मजबूत जड़ किसकी है ? विस्तार किसका है ? और ऊँचाई किसकी है ? जब इस बद्धमूल, विस्तृत और उन्नत वट वृक्ष की ऐसी दशा हो गई तब दूसरे का क्या विचार हो सकता है ? ऐसा विचार करता हुआ वह संसार की स्थिति से भयभीत हो गया । उसने अपना राज्य पुत्र के लिए दे दिया और श्रीनाग नामक पर्वत पर विराजमान श्रीनाग नामक मुनिराज के पास जाकर उनके धर्मरूपी रसायन का पान किया ॥ 11-13॥

अनेक राजाओं के साथ श्रेष्ठ तप धारण कर लिया, यथाविधि बुद्धिपूर्वक ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध किया, चिरकाल तक तपस्या की और अन्त में समस्त परिग्रह का त्याग कर अनुत्तर विमानों में से अपराजित नामक विमान में देव पद प्राप्त किया । वहाँ उस कुशल अहमिन्द्र की तैंतीस सागर की स्थिति थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, साढ़े सोलह माह बीत जाने पर वह एक बार थोड़ी-सी श्वास ग्रहण करता था, तैंतीस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था, इसका काम-भोग प्रवीचार से रहित था, लोकनाडी पर्यन्त उसके अवधिज्ञान का विषय था और उतनी ही दूर तक उसकी दीप्ति, शक्ति, तथा विक्रिया ऋद्धि थी । इस प्रकार भोगोपभोग करते हुए उस अहमिन्द्र की आयु जब छह माह की शेष रह गई और वह पृथिवी पर आने के लिए सन्मुख हुआ तब इसी भरत क्षेत्र के बंग देश में मिथिला नगरी का स्वामी इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री, कुम्भ नाम का राजा राज्य करता था ॥14-20॥

उसकी प्रजावती नाम की रानी थी जो देसरी लक्ष्मी के समान जान पड़ती थी। देवों ने उसका रत्नवृष्टि आदि अचिन्त्य वैभव प्रकट किया था ॥21॥

उसके चैत्रशुक्ल प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय अश्विनी नक्षत्र में इष्ट फल को सूचित करने वाले सोलह स्वप्न देखे ॥22॥

उसी समय मंगल पढ़ने वाले उच्च स्वर से मंगल पढ़ने लगे और अप्ल निद्रा का विघात करने वाली प्रातःकाल की भेरी बज उठी ॥23॥ प्रजावती रानी ने जागकर बड़े सन्तोष से स्नान किया, मंगलवेष धारण किया, और चन्द्रमा की रेखा जिस प्रकार चन्द्रमा के पास पहुँचती है उसी प्रकार वह अपने पति के पास पहुँची ॥24॥

वह अपने तेज से सभारूपी कुमुदिनी को विकसित कर रही थी । राजा ने उसे आती हुई देख आसन आदि देकर आनन्दित किया ॥25॥ तदनन्तर अर्धासन पर बैठी हुई रानी ने वे सब स्वप्न पति के लिए निवेदन किये-कह सुनाये क्योंकि वह उनसे उन स्वप्नों का सुखदायी फल सुनना चाहती थी ॥26॥

राजा ने भी क्रम-क्रम से उन स्वप्नों का पृथक्-पृथक् फल कहकर बतलाया कि चूँकि तूने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा है अतः अहमिन्द्र तेरे गर्भ में आया है । इधर यह कहकर राजा, रानी को अत्यन्त हर्षित कर रहा था उधर उसके वचनों को सत्य करते हुए इन्द्र सब ओर से आकर उन दोनों का स्वर्गावतरण-गर्भकल्याणक का उत्सव करने लगे । भगवान् के माता-पिता अनेक कल्याणों से युक्त थे, उनकी अर्चा कर देव लोग बड़े सन्तोष से अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥27-29॥

माता का उदर जिन-बालक को धारण कर बिना किसी बाधा के ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसमें चन्द्रमा का पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसा दर्पण का तल ही हो ॥30॥

सुख से नौ मास व्यतीत होने पर रानी प्रजावती ने मगसिर सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में उस देव को जन्म दिया जो कि पूर्ण चन्द्रमा के समान देदीप्यमान था, जिसके समस्त अवयव अच्छी तरह विभक्त थे, जो समस्त लक्षणों से युक्त था और तीन ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाला था ॥31-32॥

उसी समय हर्ष से भरे हुए समस्त देव आ पहुँचे और प्रातःकाल के सूर्य के समान तेज के पिण्ड स्वरूप उस बालक को लेकर पर्वतराज सुमेरु पर्वत पर गये । वहाँ उन्होंने जिन-बालक का विराजमान कर क्षीरसागर के दुग्ध रूप जल से उनका अभिषेक किया, उत्तम आभूषण पहिनाये और मल्लिनाथ नाम रखकर जोर से स्तवन किया ॥33-34॥

वे देवलोग जिन-बालक को वहाँ से वापिस लाये और इनका 'मल्लिनाथ नाम है' ऐसा नाम सुनाते हुए उन्हें माता की गोद में विराजमान कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥35॥

अरनाथ तीर्थकर के बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर पुण्यवान् मल्लिनाथ हुए थे । उनकी आयु भी इसी में शामिल थी ॥36॥

पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी, पच्चीस धनुष ऊँचा शरीर था, सुवर्ण के समान कान्ति थी ॥37॥

हमारे विवाह के लिए सजाया गया है, कहीं चन्चल सफेद पताकाएँ फहराई गई हैं तो कहीं तोरण बाँधे गये हैं, कहीं चित्र-विचित्र रंगावलियाँ निकाली गई हैं तो कहीं फूलों के समूह बिखरे गये हैं और सब जगह समुद्र की गर्जना को जीतने वाले नगाड़े आदि बाजे मनोहर शब्द कर रहे हैं । इस प्रकार सजाये हुए नगर को देखकर उन्हें पूर्वजन्म के सुन्दर अपराजित विमानका स्मरण आ गया । वे सोचने लगे कि कहाँ तो वीतरागता से उत्पन्न हुआ प्रेम और उससे प्रकट हुई महिमा और कहाँ सज्जनों को लज्जा उत्पन्न करने वाला यह विवाह ? यह एक विडम्बना है, साधारण-पामर मनुष्य ही इसे प्रारम्भ करते हैं बुद्धिमान् नहीं । इस प्रकार विवाह की निन्दा करते हुए वे विरक्त होकर दीक्षा धारण करने के लिए एद्यत हो गये ॥38-42॥

उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर विसतार के साथ उनकी स्तुति की, उनके दीक्षा लेने के विचार का अनुमोदन किया और यह सब कर वे आकाश-मार्ग से अदृश्य हो गये ॥43॥

अन्य साधारण मनुष्यों की बात जाने दो तीर्थकरों में भी किन्हीं तीर्थकरों की ही ऐसी बुद्धि होती है सो ठीक ही है क्योंकि कुमारावस्था में विषयों का त्याग करना महापुरुषों के लिए भी कठिन कार्य है ॥44॥

इस प्रकार भक्तिपूर्वक आकाश में वार्तालाप करते एवं उत्सव से भरे इन्द्रों ने मल्लिनाथ कुमार को दीक्षाकल्याणक के समय होनेवाला अभिषेक-महोत्सव प्राप्त कराया-उनका दीक्षाकल्याणक-सम्बन्धी महाभिषेक किया तथा मल्लिनाथ कुमार भी जयन्त नामक पालकी पर आरूढ़ होकर श्वेतवन के उद्यान में पहुँचे । वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर अपने जन्म के ही मास नक्षत्र दिन और पक्ष का आश्रय ग्रहण कर अर्थात् अगहन सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया, बाह्याभ्यन्तर-दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर दिया और तीन सौ राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥45-48॥

वे उसी समय संयमके कारण उत्पन्न हुए मनः पर्ययज्ञान से देदीप्यमान हो उठे । 'यह सनातन मार्ग है' ऐसा विचार कर सम्यग्ज्ञान से प्रेरित हुए महामुनि मल्लिनाथ भगवान् पारणा के दिन मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए । वहाँ सुवर्ग के समान कान्तिवाले नन्दिषेण नाम के राजा उन्हें प्रासुक आहार देकर शुभ पंचाश्वर्य प्राप्त किये ॥49-50॥

छद्मस्थावस्था के छह दिन व्यतीत हो जाने पर उन्होंने पूर्वोक्त वन में अशोक वृक्ष के नीचे दो दिन के लिए गमनागमन का त्याग कर दिया- दो दिनके उपवास का नियम ले लिया । वहीं पर जन्म के समान शुभ दिन और शुभ नक्षत्र आदि में उन्हें प्रातःकाल के समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का नाश होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥51-52॥

उसी केवलज्ञान से मानो जिन्हें प्रबोध प्राप्त हुआ है ऐसे समस्त इन्द्रों ने एक साथ आकर उन सर्वज्ञ भगवान्की पूजा की ॥53॥

उनके समवसरण में विशाख को आदि लेकर अट्ठाईस गणधर थे, पाँच सौ पचार पूर्वधारी थे, उनतीस हजार शिखक थे, दो हजार दो सौ पूज्य अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, एक हजार चार सौ वादी थे, दो हजार नौ सौ विक्रिया ऋद्धिसे विभूषित थे और एक हजार सात सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी थे । इस प्रकार सब मिलाकर चालीस हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥54-57॥

बन्धुषेणा को आदि लेकर पचपन हजार आर्यिकाएँ थीं, श्रावक एक लाख थे और श्राविकाएँ तीन लाख थी, देव-देवियाँ असंख्यात थीं, और सिंह आदि तिर्यन्च संख्यात थे । इस प्रकार मल्लिनाथ भगवान् इन बारह सभाओं से सदा सुशोभित रहते थे ॥58-59॥

मुक्तिमार्ग में लगाते हुए, भव्य जीवों के अनुरोधसे अनेक बड़े-बड़े देशों में विहार किया था ॥60॥

जब उनकी आयु एक माह की बाकी रह गई तब वे सम्मेदाचल पर पहुँचे । वहाँ पाँच हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में सन्ध्याके समय तनुवात वलय-मोक्षस्थान प्राप्त कर लिया ॥61-62॥

उसी समय इन्द्रादि देवों ने स्वर्गसे आकर निर्वाण-कल्याणक का उत्सव किया और गन्ध आदिके द्वारा पूजा कर उस क्षेत्रको पवित्र बना दिया ॥63॥

जिसमें जन्म-मरणरूपी तरंगे उठ रही हैं, जो दुःखरूपी खारे पानी से लबालब भरा हुआ है, जिसमें खोटी इच्छाएँ रूपी भँवर पड़नेके गड्ढे हैं और जो मिथ्यामतरूपी चन्द्रमासे निरन्तर बढ़ता रहता है ऐसे संसार रूपी सागरसे गणरूपी रत्नों का संचय करनेवाले मल्लिनाथ भगवान् शरीररूपी मगरमच्छ को दूर छोड़कर ध्यानरूपी नावके द्वारा पार हो लोक के अग्रभाग पर पहुँचे थे ॥64॥

जिन्होंने मोक्ष का श्रेष्ठ मार्ग बतलाया था, जिन्हें समस्त लोग नमस्कार करते थे, और जो समग्रगुणों से परिपूर्ण थे वे शल्य रहित मल्लिनाथ भगवान् तुम सबके लिए मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥65॥

जो पहले वैश्रवण नाम के राजा हुए, फिर अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए और फिर अतिशय दुष्ट मोहरूपी महारिपु को जीतने वाले तीर्थकर हुए वे मल्लिनाथ भगवान् तुम सबके लिए अनुपम सुख प्रदान करें ॥66॥

अथानन्तर-मल्लिनाथ जिनेन्द्र के तीर्थ में पद्य नाम का चक्रवर्ती हुआ है वह अपनेसे पहले तीसरे भवमें इसी जम्बूद्वीप के मेरूपर्वत से पूर्व की ओर सुकच्छ देशके श्रीपुर नगर में प्रजापाल नाम का राजा था । राजाओं में जितने प्राकृतिक गुण कहे गये हैं वह उन सबका उत्तम आश्रय था ॥67-68॥

अच्छे राजा के राज्य में प्रजा को अयुक्ति आदि पाँच तरह की बाधाओं में से कोई प्रकार की बाधा नहीं थी अतः समस्त प्रजा सुख से बढ़ रही थी ॥69॥

उस विजयी ने तीन शक्तिरूप सम्पत्ति के द्वारा समस्त शत्रुओं को जीत लिया था, समस्त युद्ध शान्त कर दिये थे और धर्म तथा अर्थके द्वारा समस्त भोगों का उपभोग किया था ॥70॥

किसी समय उल्कापात देखने से उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया । अब वह इष्ट सम्पत्तियों को आपात रमणीय-प्रारम्भ में ही मनोहर समझने लगा ॥71॥

वह विचार करने लगा कि मैंने मूर्खतावश इन भोगों को स्थायी समझकर चिरकाल तक इनका उपभोग किया । यदि आज यह उल्कापात नहीं होता तो संसार-सागरमें मेरा भ्रमण होता ही रहता ॥72॥

ऐसा विचार कर उसने पुत्र के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं शिवगुप्त जिनेश्वरके पास जाकर परमपद पाने की इच्छा से निश्चय और व्यवहारके भेदसे दोनो प्रकार का संयम धारण कर लिया ॥73॥

अत्यन्त उत्कृष्ट आठ प्रकार की शुद्धियों से उसका तप देदीप्यमान हो रहा था, उसने अशुभ कर्मों का आस्त्रव रोक दिया था और क्रम-क्रम से आयु का अन्त पाकर अपने परिणामों को समाधियुक्त किया था ॥74॥

वह अपने राज्य से खरीदे एवं अपने हाथ (पुरुषार्थ) से प्राप्त हुए अच्युत स्वर्गको देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि अल्प मूल्य देकर अधिक मूल्य की वस्तुको खरीदने वाला मनुष्य सन्तुष्ट होता ही है ॥75॥

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक काशी नामक देश है। उसकी वाराणसी नाम की नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय पद्मनाभ नाम का राजा राज्य करता था। उसकी स्त्रीके पद्म आदि समस्त व्रक्षणांसे सहित पद्म नाम का पुत्र हुआ था। तीस हजार वर्ष की उसकी आयु थी, बाईस धनुष ऊँचा शरीर था, वह सुवर्ण के समान देदीप्यमान था, और उसकी कान्ति आदि की देव लोग भी प्रार्थना करते थे ॥76- 78॥

पुण्य के उदय से उसने क्रमपूर्वक अपने पराक्रमके द्वारा अर्जित किया हुआ चक्रवर्तीपना प्राप्त किया था तथा चिरकाल तक बाधा रहित दश प्रकार के भोगों का आसक्तिके बिना ही उपभोग किया था ॥79॥

उसके पृथिवी सुन्दरी को आदि लेकर आठ सती पुत्रियाँ थीं जिन्हें उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ सुकेतु नामक विद्याधरके पुत्रों के लिए प्रदान किया था ॥80॥

इस प्रकार चक्रवर्ती पद्म का काल सुख से व्यतीत हो रहा था। एक दिन आकाश में एक सुन्दर बादल दिखाई दिया जो चक्रवर्ती को हर्ष उत्पन्न कर शीघ्र ही नष्ट हो गया ॥81॥

उसे देखकर चक्रवर्ती विचार करने लगा कि इस बादल का यद्यपि कोई शत्रु नहीं है तो भी यह नष्ट हो गया फिर जिनके सभी शत्रु हैं ऐसी सम्पत्तियोंमें विवेकी मनुष्य को स्थिर रहने की श्रद्धा कैसे हो सकती है ? ॥82॥

ऐसा विचार कर चक्रवर्ती संयम धारण करने में तत्पर हुआ ही था कि उसी समय उसके कुल का वृद्ध दुराचारी सुकेतु कहने लगा कि यह तुम्हारा राज्य-प्राप्ति का समय है, अभी तुम छोटे हो, नवयौवन के धारक हो, अतः भोगों का अनुभव करो, यह समय तपके योग्य नहीं है, व्यर्थ ही निर्बुद्धि क्यों हो रहे हो ? ॥83-84॥

किसी भी तपसे क्या कुछ कार्य सिद्ध होता है। व्यर्थ ही कष्ट उठाना पड़ता है, इसका कुछ भी फल नहीं होता और न कोई परलोक ही है ॥ 85॥

परलोक क्यों नहीं है यदि यह जानना चाहते हो तो सुनो, जब परलोक में रहनेवाले जीव का ही अभाव है तब परलोक कैसे सिद्ध हो जावेगा ? जिस प्रकार आटा और किण्व आदिके संयोगसे मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पञ्चभूतसे बने हुए शरीर में चेतना उत्पन्न हो जाती है इसलिए आत्मा नाम का कोई पदार्थ है ऐसा कहना आकाश-पुष्पके समान है। जब आत्मा ही नहीं है तब मरनेके बाद अपने किये हुए कर्म का फल भोगने आदि की आकांक्षा करना वन्ध्यापुत्र के आकाश-पुष्प का सेहरा प्राप्त करने की इच्छा के समान है। इसलिए यह तप करने का आग्रह छोड़ो और निराकुल होकर राज्य करो ॥86-88॥

इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि यदि किसी तरह जीव का अस्तित्व मान भी लिया जाय तो इस कुमारावस्थामें जब कि आप अत्यन्त सुकुमार हैं जिसे प्रौढ़ मनुष्य भी नहीं कर सकते ऐसे कठिन तपको किस प्रकार सहन कर सकेंगे ? ॥89॥

इस प्रकार शून्यवादी मन्त्री का कहा सुनकर चक्रवर्ती कहने लगा कि इस संसार में जो पञ्चभूतों का समूह दिखाई देता है वह रूपादि रूप है-स्पर्श रस गन्ध और वर्ण युक्त होने के कारण पुद्गलात्मक है। मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ इत्यादिके द्वारा जिसका वेदन होता है वह चैतन्य भूत समूह से भिन्न है-पृथक् है। हमारे इस शरीर में शरीरसे पृथक् चैतन्य गुण युक्त जीव नाम का पदार्थ विद्यमान है इसका स्वसंवेदनसे अनुभव होता है और बुद्धिपूर्वक क्रिया देखी जाती है इस हेतुसे अन्य पुरुषोंके शरीर में भी आत्मा है-जीव है, यह अनुमानसे जाना जाता है। इसलिए आत्मा नाम का पृथक् पदार्थ है यह मानना पड़ता है साथ ही परलोक का अस्तित्व भी मानना पड़ता है क्योंकि अतीत जन्म का स्मरण देखा जाता है ॥90-92॥

जिस प्रकार मदिरापान करनेसे बुद्धिमें जो विकार होता है वह कहाँसे आता है ? पूर्ववर्ती चैतन्य से ही उत्पन्न होता है इसी प्रकार संसार के समस्त जीवों के जो कारण और कार्यरूप बुद्धि उत्पन्न होती है वह कहाँसे आती है ? पूर्ववर्ती चैतन्यसे ही उत्पन्न होती है इसलिए जीवों का यद्यपि जन्म-मरण की अपेक्षा आदि-अन्त देखा जाता है परन्तु चैतन्य सामान्य की अपेक्षा उनका अस्तित्व अनादि सिद्ध है। इत्यादि युक्तिवादके द्वारा चक्रवर्ती ने उस शून्यवादी मन्त्रीको आत्माके अस्तित्व का अच्छी तरह श्रद्धान कराया, परिवार को विदा किया, अपने

पुत्र के लिए राज्य सौंपा और समाधिगुप्त नामक जिनराज के पास जाकर सुकेतु आदि राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया-जिन-दीक्षा ले ली ॥93-95॥

उन्होंने अनुक्रम से आगे-आगे होने वाले विशुद्धि रूप परिणामों की पराकाष्ठा को पाकर घातिया कर्मों का अन्त प्राप्त किया-घातिया कर्मों का क्षय किया ॥96॥

अब वे नव केवल लब्धियों से देदीप्यमान हो उठा और विशुद्ध दिव्यध्वनिके स्वामी हो गये । जब अन्तिम समय आया तब औदारिक, तैजस और कर्मण इन तीन शरीरोंको छोड़कर परमेश्वर सम्बन्धी पदमें सिद्ध क्षेत्र में अधिष्ठित हो गये ॥97॥

अनेक मुकुटबद्ध राजाओं से हर्षित होनेवाले एवं उत्कृष्ट पद तथा सातिशय सम्पत्ति को प्राप्त हुए चक्रवर्ती पद्म के पुण्योदय से शरीर सम्बन्धी कुछ भी कृशता उत्पन्न नहीं हुई थी ॥98॥

जिन्हें अनेक भोगोपभोग प्राप्त हैं ऐसे पद्म चक्रवर्ती को केवल लक्ष्मी ही प्राप्त नहीं हुई थी किन्तु कीर्तिके साथ-साथ अनेक अभ्युदय भी प्राप्त हुए थे । इस तरह लक्ष्मी सहित वे पद्म चक्रवर्ती सज्जनों के लिए सत् पदार्थों का समागम प्राप्त करानेवाले हों ॥99॥

जो मन्दराचल के समान उन्नत थे-उदार थे, मन्दरागके धारक थे, राजाओं के योग्य तेज से श्रेष्ठ थे, और चक्रवर्तियोंमें नौवें चक्रवर्ती थे ऐसे पद्म बड़े हर्ष से सुशोभित होते थे ॥100॥

जो पहले प्रजापाल नाम का राजा हुआ था, फिर इन्द्रियों को दमन कर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ, तदनन्तर समस्त भरत क्षेत्र का स्वामी और अनेक कल्याणों का घर पद्म नाम का चक्रवर्ती हुआ, फिर परमपद को प्राप्त हुआ ऐसा चक्रवर्ती पद्म हम सबके लिए निर्मल सुख प्रदान करे ॥101॥

अथानन्तर-इन्हीं मल्लिनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में सातवें बलभद्र और नारायण हुए थे वे अपनेसे पूर्व तीसरे भवमें अयोध्यानगर के राजपुत्र थे ॥102॥

वे दोनों पिता के लिए प्रिय नहीं थे इसलिए पिता ने उन्हें छोड़कर स्नेहवश अपने छोटे भाईके लिए युवराज पद दे दिया । यद्यपि छोटे भाईके लिए युवराज पद देने का निश्चय नहीं था फिर भी राजा ने उसे युवराज पद दे दिया ॥103॥

दोनों भाइयों ने समझा कि यह सब मन्त्री ने ही किया है इसलिए वे उस पर बहुत कुपित हुए और उस पर वैर बाँध कर धर्मतीर्थके अनुगामी बन गये । उन्होंने शिवगुप्त मुनिराज की शिष्यता स्वीकृत कर संयम धारण कर लिया । जिससे आयु के अन्त में मरकर सौधर्म स्वर्गके सुविशाल नामक विमान में देव पद को प्राप्त हो गये ॥104-105॥

वहाँ से च्युत होकर बनारसके राजा इक्ष्वाकुवंशके शिरोमणि राजा अग्निशिखके प्रिय पुत्र हुए ॥106॥

क्रमशः अपराजिता और केशवती उन दोनों की माताएँ थीं । नन्दिमित्र बड़ा भाई था और दत्त छोटा भाई था ॥107॥

बत्तीस हजार वर्ष की उनकी आयु थीं । बाईस धनुष ऊँचा शरीर था, क्रम से चन्द्रमा और इन्द्रनील मणिके समान उनके शरीर का वर्ण था और दोनों ही श्रेष्ठतम थे ॥108॥

तदनन्तर-जिसका वर्णन पहले आ चुका है ऐसा मन्त्री, संसार-सागरमें भ्रमण कर क्रम से विजयार्थ पर्वत पर स्थित मन्दरपुर नगर का स्वामी बलीन्द्र नाम का विद्याधर राजा हुआ । किसी एक दिन बाधा डालने वाले उस बलीन्द्रने अहंकारवश तुम्हारे पास सूचना भेजी कि तुम दोनोंके पास जो भद्रक्षीर नाम का प्रसिद्ध बड़ा गन्धगज है वह हमारे ही योग्य है अतः हमारे लिए ही दिया जावे ॥109-111॥

दूतके वचन सुनकर उन दोनोंने उत्तर दिया कि यदि तुम्हारा स्वामी बलीन्द्र हम दोनोंके लिए अपनी पुत्रियाँ देवे तो उसे यह गन्धगज दिया जा सकता है अन्यथा नहीं दिया जा सकता ॥112॥

इस प्रकार कानों को अप्रिय लगने वाला उनका कहना सुनकर बलीन्द्र अत्यन्त कुपित हुआ । वह यमराज का अनुकरण करता हुआ उन दोनोंके साथ युद्ध करने के लिए तैयार हो गया । उस समय दक्षिणश्रेणीके सुरकान्तार नगर के स्वामी केसरविक्रम नामक विद्याधरोंके राजा ने जो कि दत्तकी माता केशवती का बड़ा भाई था सम्प्रेदशिखर पर विधिपूर्वक सिंहवाहिनी और गरूडवाहिनी नाम की दो विद्याएँ उक्त दोनों कुमारों के लिए दे दीं और भाईपना मानकर उनके कार्य में सहायता देना स्वीकृत कर लिया ॥113-116॥

तदनन्तर उन दोनोंकी बलवान् सेनाओं का प्रलयकाल के समान समस्त प्रजा का संहार करने वाला भयंकर संग्राम हुआ ॥117॥

बलीन्द्रके पुत्र शतबलि और बलभद्रमें खूब ही मायामयी युद्ध हुआ । उसमें बलभद्रने शतबलि को क्रोधवश यमराज के मुख में पहुंचा दिया

॥118॥

यह देख, बलीन्द्रको क्रोध उत्पन्न हो गया । उसने इन्द्रके तुल्य नारायण दत्तको लक्ष्य कर अपना चक्र चलाया परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर आ गया । दत्तनारायण ने उसी चक्र को लेकर उसे मार दिया और उसका शिर हाथमें ले लिया ॥119-120॥

युद्ध समाप्त होते ही उन दोनों वीरों ने अभय घोषणा की और चक्र सहित तीनों खण्डोंके पृथिवी-चक्रको अपने आधीन कर लिया ॥121॥ चिरकाल तक राज्य सुख भोगनेके बाद चक्रवर्ती-नारायणदत्त, नरकगति सम्बन्धी भयंकर आयु का बन्ध कर सातवें नरक गया ॥122॥ भाई के वियोग से बलभद्र को बहुत वैराग्य हुआ अतः उसने सम्भूत जिनेन्द्र के पास अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ले ली तथा अन्त में केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया ॥123॥

जो पहले अयोध्यानगर में प्रसिद्ध राजपुत्र हुए थे, फिर दीक्षा लेकर आयु के अन्त में सौधर्म स्वर्ग में देव हुए, वहाँसे च्युत होकर जो बनारस नगर में इक्ष्वाकु वंशके शिरोमणि नन्दिमित्र और दत्त नाम के बलभद्र तथा नारायण हुए । उनमेंसे दत्त तो मर कर सातवीं भूमिमें गया और नन्दिषेण कैवल्य—लक्ष्मी को प्राप्त हुआ ॥124॥

मंत्री का जीव चिरकाल तक संसार-सागरमें भ्रमण कर पीछे बलीन्द्र नाम का विद्याधर हुआ और दत्त नारायणके हाथसे मरकर भयंकर नरकमें पहुँचा, इसलिए सज्जन पुरुषों को वैर का संस्कार छोड़ देना चाहिये ॥125॥

भगवान् मुनिसुव्रत, हरिषेण चक्रवर्ती, राम बलभद्र, रावण प्रतिनारायण, राजा सागर, सुलासा, मधुपिंगल, राजा वसु, क्षीरकदम्बक, पर्वत, नारद चरित

पर्व - 67

कथा :

जिनके नाम के व्रत शब्द का अर्थ सभी पदार्थों का त्याग था और जो उत्तम व्रतके धारी थे ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवान् हम सबके लिए अपना व्रत प्रदान करें ॥1॥

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ इस भव से पूर्व तीसरे भवमें इसी भरतक्षेत्रके अंग देशके चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नाम के राजा थे । किसी एक दिन वहाँके उद्यानमें अनन्तवीर्य नाम के निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे । उनकी वन्दना करने की इच्छा से राजा हरिवर्मा अपने समस्त परिवारके साथ पूजा की सामग्री लेकर उनके पास गये । वहाँ उन्होंने उक्त मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएं दीं, तीन वार पूजा की, तीनवार वन्दनाकी और तदनन्तर सनातन धर्म का स्वरूप पूछा ॥2-4॥

मुनिराज ने कहा कि यह जीव संसारी और मुक्तके भेद से दो प्रकार का है । जो आठ कर्मों से बद्ध है उसे संसारी कहते हैं और जो आठ कर्मोंसे मुक्त है-रहित है उसे मुक्त कहते हैं ॥5॥

उन कर्मों के ज्ञानावरणादि नामवाले आठ मूल भेद हैं और उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥6॥

प्रकृति आदिके भेदसे बन्धके चार भेद हैं और मिथ्यात्व अविरति कषाय तथा योगके भेदसे प्रत्यय-कर्मबन्ध का कारण भी चार प्रकार का जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥7॥

उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके भेदसे कर्मों की अवस्था चार प्रकार की होती है तथा द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव की अपेक्षा संसार पाँच प्रकार का कहा गया है ॥8॥

गुप्ति आदिके द्वारा उन कर्मों का संवर होता है तथा तपके द्वारा संवर और निर्जरा दोनों होते हैं । चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा मोक्ष होता है और मोक्ष होनेसे यह जीव सिद्ध कहलाने लगता है ॥9॥

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है और एकदेश क्षय होना निर्जरा कही जाती है ! मुक्त जीव का जो सुख है वह अतुल्य अन्तरायसे रहित एव आत्यन्तिक-अन्तातीत होता है ॥10॥

इस प्रकार अपने वचनरूपी किरणों की जालसे भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करनेवाले भगवान् अनन्तवीर्य मुनिराजने राजा हरिवर्माको तत्त्व उपदेश दिया ॥11॥

राजा हरिवर्मा भी मुनिराज के द्वारा कहे हुए तत्त्वके सद्भाव को ठीक-ठीक समझकर संसार से विरक्त हो गये । उन्होंने अपना राज्य बड़े

पुत्र के लिए देकर बाह्याभ्यन्तरके भेद से दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया और शीघ्र ही स्वर्ग अथवा मोक्ष जानेवाले राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥12-13॥

उन्होंने गुरूके समागमसे ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थकर गोत्र का बन्ध किया ॥14॥

इस तरह चिरकाल तक तपकर आयु के अन्त में समाधिमरणके द्वारा, जिसके आगे चलकर पाँच कल्याणक होने वाले हैं ऐसा प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ ॥15॥

वहाँ बीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, शुक्ल लेश्या थी, साढ़े तीन हाथ ऊंचा शरीर था, वह दश माह में एक बार श्वास लेता था, बीस हजार वर्षमें एक बार आहार ग्रहण करता था, मन-सम्बन्धी थोड़ा सो कामभोग करता था, और आठ ऋद्धियों से सहित था ॥16-17॥ पाँचवी पृथ्वी तक उसके अवधिज्ञान का विषय था और उतनी ही दूर तक उसकी दीप्ति तथा शक्ति आदि का संचार था। इस प्रकार वह वहाँ चिरकाल तक सुख का उपभोग करता रहा। जब उसकी आयु छह माह की बाकी रह गई और वह वहाँ पृथिवी तलपर आने वाला हुआ तब उसके जन्मगृहके आंगन की देवों ने रत्नवृष्टिके द्वारा पूजा की ॥18-19॥

इसी भरतक्षेत्र के मगधेश में एक राजगृह नाम का नगर है। उसमें हरिवंश का शिरोमणि सुमित्र नाम का राजा राज्य करता था ॥20॥ वह काश्यपगोत्री था, उसकी रानी का नाम सोमा था, देवों ने उसकी पूजा की थी। तदनन्तर श्रावण कृष्ण द्वितीया के दिन श्रवण नक्षत्र में जब पूर्वोक्त प्राणा केन्द्र स्वर्गसे अवतार लेने के सन्मुख हुआ तब रानी सोमाने इष्ट अर्थको सूचित करनेवाले सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद ही अपने मुहमें प्रवेश करता हुआ एक प्रभाववान् हाथी देखा। इसी हर्ष से वह जाग उठी और शुद्ध वेषको धारणकर राजा के पास गई। वहाँ फल सुनने की इच्छा से उसने राजा को सब स्वप्न सुनाये ॥21-23॥

अवधिज्ञानी राजा ने बतलाया कि तुम्हारे तीन जगत् के स्वामी जिनेन्द्र भगवान् का जन्म होगा ॥24॥

राजा के वचन सुनते ही रानी का हृदय तथा मुखकमल खिल उठा। उसी समय देवों ने आकर उसका अभिषेकोत्सव किया ॥25॥ स्वर्गीय सुख प्रदान करनेवाले देवोपनीत भोगोपभोगों से उसका समय आनन्दसे बीतने लगा। अनुक्रम से नवमा माह पाकर उसने सुख से उत्तम बालक उत्पन्न किया ॥26॥

श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर के बाद जब चौवन लाख वर्ष बीत चुके तब इनका जन्म हुआ था, इनकी आयु भी इसीमें शामिल थी ॥27॥

जन्म समय में आये हुए एवं अपनी प्रभा से समस्त दिग्मण्डल को व्याप्त करने वाले इन्द्रों ने सुमेरू पर्वतपर ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया और मुनिसुव्रतनाथ यह नाम रक्खा ॥28॥

उनकी आयु तीस हजार वर्ष की थी, शरीर की ऊंचाई बीस धनुष की थी, कान्ति मयूर के कण्ठके समान नीली थी, और स्वयं वे समस्त लक्षणों से सम्पन्न थे ॥29॥

कुमार काल के सात हजार पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर वे राज्याभिषेक पाकर आनन्द की परम्परा को प्राप्त हुए थे ॥30॥

इस प्रकार जब उनके पन्द्रह हजार वर्ष बीत गये तब किसी दिन गर्जती हुई घन-घटाके समय उनके यागहस्ती ने वन का स्मरण कर ग्रास उठाना छोड़ दिया-खाना पीना बन्द कर दिया। महाराज मुनिसुव्रतनाथ, अपने अवधिज्ञान रूपी नेत्रके द्वारा देख कर उस हाथी के मन की सब बात जान गये। वे कुतूहलसे भरे हुए मनुष्यों के सामने हाथी के पूर्वभव से सम्बन्ध रखनेवाला वृत्तान्त उच्च एवं मनोहर वाणी से इस प्रकार कहने लगे ॥31-33॥

पूर्व भवमें यह हाथी तालपुर नगर का स्वामी नरपति नाम का राजा था, वहाँ अपने उच्च कुलके अभिमान आदि खोटी-खोटी लेश्याओंसे इसका चित्त सदा घिरा रहता था, वह पात्र और अपात्र की विशेषतासे अनभिज्ञ था, मिथ्या ज्ञान से सदा मोहित रहता था। वहाँ इसने किमिच्छक दान दिया था उसके फलसे यह हाथी हुआ है ॥34-35॥

यह हाथी इस समय न तो अपने पहले अज्ञान का स्मरण कर रहा है, न पूज्य सम्पदा से युक्त राज्य का ध्यान कर रहा है और न कुदान की निष्फलता का विचार कर रहा है ॥36॥

भगवान् के वचन सुनने से उस उत्तम हाथीको अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया इस लिए उसने शीघ्र ही संयमासंयम धारण कर लिया ॥ 37॥

इसी कारणसे भगवान् मल्लिनाथको आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया जिससे वे समस्त परिग्रहों का त्याग करने के लिए सम्मुख हो गये । उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की तथा उनके विचारों का समर्थन किया ॥38॥

उन्होंने युवराज विजयके लिए अपना राज्य देकर देवों के द्वारा दीक्षा-कल्याणक का महोत्सव प्राप्त किया ॥39॥

जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध है, जिनका मोहकर्म दूर हो रहा है, और मनुष्य विद्याधर तथा देव जिन्हें ले जा रहे हैं ऐसे वे भगवान् अपराजित नाम की विशाल पालकी पर सवार हुए ॥40॥

नील नामक वन में जाकर उन्होंने वेला के उपवास का नियम लिया और वैशाख कृष्ण दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सांयकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया । शाश्वत पद-मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करनेवाले सौधर्म इन्द्र ने सर्वदर्शी भगवान् मल्लिनाथ के बालों का समूह पन्चम-सागर-क्षीरसागर भेज दिया । दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और इस तरह उन्होंने दीर्घकाल तक शुद्ध तथा निर्मल तप किया ॥41-43॥

यद्यपि वे समभाव से ही तृप्त रहते थे तथापि किसी दिन पारणा के समय राजगृह नगर में गये ॥44॥

वहाँ सुवर्ण के समान कान्तिवाले वृषभसेन नामक राजा ने उन्हें प्रासुक आहार देकर पन्चाश्वर्य प्राप्त किये ॥45॥

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्था के ग्यारह माह बीत चुके तब वे अपने दीक्षा लेने के लिए वन में पहुँचे । वहाँ उन्होंने चम्पक वृक्ष के नीचे स्थित हो कर दो दिन के उपवास का नियम लिया और दीक्षा लेने के मास पक्ष नक्षत्र तथा तिथि में ही अर्थात् वैशाख कृष्ण नवमी के दिन श्रवण नक्षत्र में शाम के समय उत्तम ध्यान के द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया ॥46-47॥

उसी समय इन्द्रों ने आकर बड़े हर्ष से ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया और मानस्तम्भ आदि की रचना तथा अनेक ऋद्धियों-सम्पदाओं से विभूषित समवसरण की रचना की ॥48॥

उन परमेशी के मल्लि को आदि लेकर अठारह गणधर थे, पांच सौ द्वादशांग के जानने वाले थे, सज्जनों के द्वारा वन्दना करने के योग्य इक्कीस हजार शिक्षक थे, एक हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, दो हजार दो सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, एक हजार पांच सौ मनःपर्ययज्ञानी थे, और एक हजार दो सौ वादी थे । इस प्रकार सब मिलाकर तीस हजार मुनिराज उनके साथ थे ॥ 49-52॥

पुष्पदन्ता को आदि लेकर पचास हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, संख्यात तिर्यन्च और असंख्यात देव देवियों का समूह था । इस तरह उनकी बारह सभाएँ थीं । इन सबके लिए धर्म का उपदेश देते हुए उन्होंने चिरकालतक आर्य क्षेत्र में विहार किया । विहार करते-करते जब उनकी आयु एक माह की बाकी रह गई तब सम्मेदशिखर पर जाकर उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्ण द्वादशी के दिन रात्रिके पिछले भाग में शरीर छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ 53-56॥

उसी समय श्रेष्ठ देवों के समूह ने आकर पन्चम-कल्याणक की पूजा की, बड़े वैभव के साथ वन्दना की और तदनन्तर सब देव यथास्थान चले गये ॥57॥

हे प्रभो ! आपके शरीर की प्रभा से व्याप्त हुई यह सभा ऐसी जान पड़ती है मानो नील कमलों का वन ही हो, हृदयगत अन्धकार को नष्ट करनेवाले आपके वचन सूर्य से उत्पन्न दीप्ति को पराजित करते हैं, इसी तरह आपका ज्ञान भी संसार के समस्त पदार्थों से उत्पन्न हुए अज्ञानान्धकार को नष्ट करता है इसलिए हे भगवन् मुनिसुव्रतनाथ ! जिसे इन्द्रादि देवों के साथ-साथ सब संसार नमस्कार करता है मैं आपके उस ज्ञानरूपी सूर्य को सदा नमस्कार करता हूँ ॥58॥

कोई तो कारण से कार्य को, गुणी से गुण को और सामान्य से विशेष को पृथक् बतलाते हैं और कोई एक-अपृथक् बतलाते हैं ये दोनों ही कथन एकान्तवाद से हैं अतः घटित नहीं होते परन्तु आपके नय के संयोग से दोनों ही ठीक-ठीक घटित हो जाते हैं इसीलिए हे भगवन् ! सज्जन पुरुष आपको आप्त कहते हैं और इसीलिए हम सब आपको नमस्कार करते हैं ॥59॥

जो पहले हरिवर्मा नाम के राजा थे, फिर जिन्होंने तप कर तथा सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध किया, तदनन्तर समाधिमरण से शरीर छोड़कर प्राणतेन्द्र हुए और वहाँ से आकर जिन्होंने हरिवंशरूपी आकाश के निर्मल चन्द्रमास्वरूप तीर्थकर होकर भव्यजीवरूपी कुमुदिनियों को विकसित किया वे श्री मुनिसुव्रतनाथ जिनेन्द्र हम सबके लिए अपनी लक्ष्मी प्रदान करें ॥

इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ तीर्थकर के तीर्थ में हरिषेण नाम का चक्रवर्ती हुआ। वह अपने से पूर्व तीसरे भव में अनन्तनाथ तीर्थकर के तीर्थ में एक बड़ा भारी राजा था। वह किसी कारण से उत्कृष्ट तप कर सनत्कुमार स्वर्ग के सुविशाल नामक विमान में छह सागर की आयु वाला उत्तम देव हुआ। वहाँ निरन्तर भोगों का उपभोग कर वहाँ निरन्तर भोगों का उपभोग कर वहाँ से च्युत हुआ और श्रीमुनिसुव्रत नाथ तीर्थकर के तीर्थ में भोगपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्मनाभ की रानी ऐरा के हरिषेण नाम का उत्तम पुत्र हुआ ॥61-64॥ दशहजार वर्ष की उसकी आयु थी, देदीप्यमान कच्छूरस के समान उसकी कान्ति थी, चौबीस धनुष ऊंचा शरीर था और क्रम-क्रम से उसे पूर्ण यौवन प्राप्त हुआ था ॥65॥

किसी एक दिन राजा पद्मनाभ हरिषेण के साथ-साथ मनोहर नामक उद्यानमें गये हुए थे वहाँ अनन्तवीर्य नामक जिनेन्द्र की वन्दना कर उन्होंने उनसे संसार और मोक्ष का स्वरूप सुना जिससे वे राजसी वृत्ति को छोड़कर शान्त वृत्ति में स्थित होने के लिए उत्सुक हो गये ॥ 66-67॥

परमपद मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक राजा पद्मनाभने राज्य का भार पुत्र के लिए सौंपा और बहुत से राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥68॥

'यह मोक्ष महल की दूसरी सीढ़ी है' ऐसा मानकर हरिषेण ने भी श्रावक के उत्तम व्रत धारण कर नगर में प्रवेश किया ॥69॥ इधर चिरकाल तक घोर तपश्चरण करते हुए पद्मनाथ मुनिराज ने दीक्षावन में ही प्रतिमायोग धारण किया और उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥70॥

उसी दिन राजा हरिषेण की आयुधशाला में चक्र, छत्र, खंग, और दण्ड ये चार रत्न प्रकट हुए तथा श्रीगृहमें काकिणी, चर्म, और मणि ये तीन प्रकट हुए। समाचार देने वालों ने दोनों समाचार एक साथ सुनाये इसलिए हरिषेण का चित्त बहुत ही संतुष्ट हुआ। वह समाचार सुनानेवालों के लिए बहुत-सा पुरस्कार देकर जिन-पूजा करने की इच्छा से निकला और जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना कर वहाँ से वापिस लौट नगर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ चक्ररत्न की पूजा कर वह दिग्विजय करने के लिए उद्यत हुआ ही था कि उसी समय उसी नगर में पुरोहित, गृहपति स्थपति, और सेनापति ये चार रत्न हुए तथा विद्याधर लोग विजयार्थ पर्वत से हाथी घोड़ा और कन्या रत्न ले आये ॥71-75॥ गणबद्धनाम के देव नदीमुखों-नदियों के गिरने के स्थानों में उत्पन्न हुई नौ बड़ी-बड़ी निधियाँ भक्ति पूर्वक स्वयं ले आये ॥76॥

उसने छह प्रकार की प्रशंसनीय सेना के साथ प्रस्थान किया, दिशाओं को जीतकर उनके सारभूत रत्न ग्रहण किये, सब पर विजय प्राप्त की और अन्त में देव, मनुष्य तथा विद्याधर राजाओं के द्वारा सेवित होते हुए उसने अपनी राजधानी में प्रवेश किया। वहाँ वह दश प्रकार के भोगों का निराकुलता से उपभोग करता हुआ चिरकाल तक स्थित रहा ॥77-78॥

किसी एक समय कार्तिक मास के नन्दीश्वर पर्व सम्बन्धी आठ दिनोंमें उसने महापूजा की और अन्तिम दिन उपवास का नियम ले कर वह महल की छत पर सभा के बीच में बैठा था और ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाश में शरद ऋतु का चन्द्रमा सुशोभित हो। वहीं बैठे-बैठे उसने देखा कि चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया है ॥79-80॥

यह देख वह विचार करने लगा कि संसार की इस अवस्था को धिक्कार हो। देखो, यह चन्द्रमा ज्योतिर्लोक का मुख्य नायक है, पूर्ण है और अपने परिवार से घिरा हुआ है फिर भी राहु ने इसे ग्रस लिया। जब इसकी यह दशा है तब जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा समय आने पर दूसरों की क्या दशा होती होगी। इस प्रकार चन्द्रग्रहण देखकर चक्रवर्ती हरिषेण को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने अनुप्रेक्षाओं के स्वरूप का वर्णन करते हुए अपनी सभा में स्थित लोगों को श्रेष्ठ धर्म का स्वरूप बतलाया और शीघ्र ही उन्हें तत्त्वार्थ का ज्ञाता बना दिया ॥81-83॥

सत्पुरुषों के द्वारा पूजनीय हरिषेण ने अपने महासेन नामक पुत्र के लिए राज्य दिया, मनोवान्छित पदार्थ देकर दीन-अनाथ तथा याचकों को संतुष्ट किया। तदनन्तर काम को जीतने वाले उसने सीमन्त पर्वत पर स्थित श्रीनाग नामक मुनिराज के पास जाकर विविध प्रकार के परिग्रह का विधि-पूर्वक त्याग कर दिया। उसने अनेक राजाओं के साथ शान्ति प्राप्त करने का साधनभूत संयम धारण कर लिया, क्रम-क्रम से अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कीं और आयु के अन्त में चार प्रकार की आराधनाएं आराध कर प्रायोपगमन नामक संन्यास धारण कर लिया। जिसके समस्त पाप क्षीण हो गये हैं तथा जो दया की मूर्ति स्वरूप हैं ऐसा वह चक्रवर्ती अन्तिम अनुत्तर विमान-सर्वार्थसिद्धि में

उत्पन्न हुआ ॥84-87॥

श्रीमान् हरिषेण चक्रवर्ती का जीव पहले जिसका शरीर राजलक्ष्मी से आलिंगित था ऐसा कोई राजा था, फिर पापसे अत्यन्त भयभीत हो उसने संसार का शरण मानकर तप धारण कर लिया जिससे तृतीय स्वर्ग में देव हुआ, फिर आयु के अन्त में वहाँ से पृथिवी पर आकर हरिषेण चक्रवर्ती हुआ और सुख भोगकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ ॥88॥

अथानन्तर-इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में राम और लक्ष्मण नाम के आठवें बलभद्र और नारायण हुए हैं इसलिए यहाँ उनका पुराण कहा जाता है ॥89॥

उसी भरतक्षेत्र के मलय नामक राष्ट्र में रत्नपुर नाम का एक नगर है। उसमें प्रजापति महाराज राज्य करते थे ॥90॥

उनकी गुणकान्ता नाम की स्त्री से चन्द्रचूल नाम का पुत्र हुआ था। उन्हीं प्रजापति महाराज के मंत्री का एक विजय नाम का पुत्र था। चन्द्रचूल और विजय में बहुत भारी स्नेह था। ये दोनों ही पुत्र अपने-अपने पिताओं को अत्यन्त प्रिय थे, बड़े लाड़ से उनका लालन-पालन होता था और कुल आदि का घमंड सदा उन्हें प्रेरित करता रहता था इसलिए वे दुर्दान्त हाथियों के समान दुराचारी हो गये थे ॥91-92॥ किसी एक दिन उसी नगर में रहनेवाला कुबेर सेठ, उसी नगर में रहनेवाले वैश्रवण सेठ की गोतमा स्त्रीसे उत्पन्न श्रीदत्त नामक श्रेष्ठ पुत्र के लिए हाथ में जलधारा छोड़ता हुआ अपनी कुबेरदत्ता नाम की पुत्री दे रहा था। उसी समय महापाप के करनेवाले किसी अनुचर ने राजकुमार चन्द्रचूल से कुबेरदत्त के रूप आदि की प्रशंसा की। उसे सुनकर वह अपने मित्र विजय के साथ उस कन्या को बलपूर्वक अपने आधीन करने के लिए तत्पर हो गया ॥93-95॥

यह देख, वैश्यों का समूह चिल्लाता हुआ महाराज के पास गया। उसके रोने-चिल्लाने का शब्द सुनते ही महाराज की क्रोधाग्नि अपने पुत्र के दुराचाररूपी ईन्धन से अत्यन्त भड़क उठी। उन्होंने नगर के रक्षक को बुलाकर आज्ञा दी कि इस दुराचारी कुमार को शीघ्र ही लोकान्तर का अतिथि बना दो-मार डालो ॥96-97॥

उसी समय राजाज्ञा से प्रेरित हुआ नगर-रक्षक बहुत भारी भीड़ में से इस राजकुमार को जीवित पकड़कर महाराज के समीप ले आया ॥98॥

यह देख राजा ने विचार किया कि इस पापी को शीघ्र ही किस प्रकार मारा जाय? कुछ देर तक विचार करने के बाद उन्होंने नगर-रक्षक को आदेश दिया कि इसे श्मशान में ले जाकर पेनी शूलीपर चढ़ा दो ॥99॥

राजा के कहते ही नगर-रक्षक कुमार को मारने के लिए चल दिया। सो ठीक ही है क्योंकि न्याय के अनुसार चलने वाले पुरुषों को स्नेह का अनुसरण करना उचित नहीं है ॥100॥

इधर यह हाल देख प्रधान-मन्त्री नगरवासियों को आगे कर राजा के समीप गया और हस्तरूपी कमल ऊपर उठाकर इस प्रकार निवेदन करने लगा ॥101॥

हे देव ! इसे कार्य और अकार्य का विवेक बाल्य-अवस्था से ही नहीं है, यह हम लोगों का ही प्रमाद है क्योंकि माता-पिता के द्वारा ही बालक सुशिक्षित और सदाचारी बनाये जाते हैं ॥102॥

यदि हाथी को बाल्यावस्था में यथायोग्य रीति से वश में नहीं किया जाता तो फिर वह मनुष्यों के द्वारा वश में नहीं किया जा सकता; यही हाल बालकों का है। यदि ये बाल्यावस्था में वश नहीं किये जाते हैं तो वे आगे चलकर ऐश्वर्य प्राप्त होने पर अभिमानरूपी ग्रह से आक्रान्त हो क्या कर गुजरेंगे इसका ठिकाना नहीं ॥103॥

यह कुमार न तो बुद्धिमान् है और न दर्बुद्धि ही है इसलिए प्राण-दण्ड देनेके योग्य नहीं है। अभी यह आहार्य बुद्धि है-इसकी बुद्धि बदली जा सकती है अतः इस समय इसे अच्छी तरह शिक्षा देना चाहिये ॥104॥

कुमार पर आपका कोप तो है नहीं, आप तो न्याय-मार्ग पर ले जाने के लिए ही इसे दण्ड देना चाहते हैं परन्तु आपको इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि राज्य की संतति धारण करने के लिए यह एक ही है-आपका यही एक मात्र पुत्र है ॥105॥

यदि आप इस एक ही संतान को नष्ट कर देंगे तो 'कुछ करना चाहते थे और कुछ हो गया' यह लोकोक्ति आज ही आपके शिर आ पड़ेगी ॥106॥

दूसरी बात यह है कि इन लोगों के रोने-चिल्लाने से महाराज ने अपने बड़े पुत्र को मार डाला इस निन्दा के भय से ग्रस्त हुए ये अभी

नगरवासी आपके सामने खड़े हुए हैं ॥107॥

इसलिए हे महाराज ! हम प्रार्थना करते हैं कि हम लोगों का यह अपराध क्षमा कर दिया जाय । मंत्री के यह वचन सुनकर राजा ने कहा कि आपका कहना ठीक नहीं है । ऐसा जान पड़ता है कि आप लोग शास्त्र के पारगामी होकर भी उसका अर्थ नहीं जानते हैं । दुष्टों का निग्रह करना और सज्जनों का पालन करना यह राजाओं का धर्म, नीति-शास्त्रों में बतलाया गया है । स्नेह, मोह, आसक्ति तथा भय आदि कारणों से यदि हम ही इस नीति-मार्ग का उल्लंघन करते हैं तो आप लोग उसकी प्रवृत्ति करने लग जावेंगे । इसलिए आप लोगों का मुझे उन्मार्गमें लगाना अच्छा नहीं है । यदि अपना दाहिना हाथ भी दुष्ट-दोषपूर्ण हो जाए तो राजा को उसे भी काट डालना चाहिये । जो मूर्ख राजा, करने योग्य और नहीं करने योग्य कार्यों के विवेक से दूर रहता है वह सांख्यमत में माने हुए पुरुष के समान है । उससे इस लोक और परलोक सम्बन्धी कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ॥108-112॥

इसलिए इस कार्य में मुझे रोकना ठीक नहीं है । महाराज के इस प्रकार कहने पर लोगों ने समझा कि महाराज सब बात स्वयं जानते हैं ऐसा समझ सब लोग भय से अपने-अपने घर चले गये ॥113॥

पुत्र पर महाराज का प्रेम नहीं है ऐसा नहीं है ऐसा जानते हुए मंत्री ने राजा से कहा कि हे देव ! मैं इसे दण्ड स्वयं दूंगा । इस प्रकार राजा की आज्ञा लेकर मंत्री भी चला गया ॥114॥

वह अपने पुत्र और राजपुत्र को साथ लेकर वनगिरि नाम के पर्वत पर गया और वहाँ जाकर कुमार से कहने लगा कि हे कुमार, अब अवश्य ही आपका मरण समीप आ गया है, क्या आप निर्भय हो मरने के लिए तैयार हैं ? उत्तर में राजकुमार ने कहा कि यदि मैं मृत्यु से इस प्रकार डरता तो ऐसा कार्य ही क्यों करता । जिस प्रकार प्यास से पीड़ित मनुष्य के लिए ठण्डा पानी अच्छा लगता है उसी प्रकार मुझे मरण अच्छा लग रहा है इसमें भय की कौनसी बात है ? इस तरह कुमार की बात सुनकर मुख्य मंत्री ने महाराज, राजकुमार और स्वयं अपने दोनों लोकों का हित करने वाला कोई कार्य निश्चय किया ॥115-118॥

तदनन्तर मंत्रीने उसी पर्वत की शिखा पर जाकर महाबल नाम के गणधर की वन्दना की और उन्हें अपने आने का सब कार्य भी निवेदन किया ॥119॥

मनःपर्यय ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करनेवाले उन गणधर महाराज ने कहा कि तुम भयभीत मत हो, ये दोनों ही तीसरे भव में इस भरत-क्षेत्र के नारायण और बलभद्र होने वाले हैं ॥120॥

यह सुनकर मंत्री उन्हें बड़ी प्रसन्नता से घर ले आया और धर्म श्रवण कराकर उसने उन दोनों को संयम धारण करा दिया ॥121॥

तदनन्तर वह मंत्री राजा के समीप आया और यह कहने लगा कि कोई एक वनवासी गुहा में रहता था, वह सिंह के समान निर्भय था, उसने अपने सुखों का अनादर कर दिया था, वह अपने कार्यों में अत्यन्त तीव्र था और उग्र-चेष्टा का धारक था । मैंने वे दोनों ही कुमार उसके लिए सौंप दिये । उस गुहावासी ने भी उनसे कहा कि आप दोनों ने बहुत भारी दोष किया है अतः अब आप लोग सुख का स्मरण न करें, अब तो आप को कठिन दुःख भोगना पड़ेगा । परलोक के निमित्त हृदय में इष्ट देवता का स्मरण करना चाहिये । यह सुनकर उन दोनों ने मुझसे कहा कि 'हे भद्र ! आप हम दोनों के लिए कष्टकर दण्ड न दीजिये, यह कार्य तो हम दोनों स्वयं कर रहे हैं अर्थात् स्वयं ही दण्ड लेने के लिए तत्पर हैं । यह कह वे दोनों अपने हाथ से उत्पादित तीव्र-वेदना प्राप्त कर परलोक के लिए तैयार हो गये । यह देख मैं इष्ट अर्थ की पूर्ति कर वापिस चला आया हुं । हे राजन् ! इस तरह आपका अभिप्राय सिद्ध हो गया ॥122-127॥

मंत्री के वचन सुनकर राजा महादुःख से व्यग्र हो गया और कुछ देर तक हवा-रहित स्थान में निष्पन्द खड़े हुए वृक्ष के समान निश्चय बैठा रहा ॥128॥

तदनन्तर राजा ने अपने आप, मंत्रियों तथा बन्धुजनों के साथ निश्चय किया और तत्पश्चात् मंत्री से कहा कि तुम्हें सदा हितकारी कार्य करना चाहिये, आज जो तुमने कार्य किया है वह पहले कभी भी तुम्हारे द्वारा नहीं किया गया ॥129॥

मंत्री ने कहा कि जिस प्रकार जो किरणों का समूह अतीत हो चुकता है और जो फूल सांप वाले वृक्ष पर लगा-लगा सूख जाता है, उसके विषय में शोक करना उचित नहीं होता है उसी प्रकार यह कार्य भी अब कालातिपाती-अतीत हो चुका है अतः अब आपको इसके विषय में शोक नहीं करना चाहिये । मंत्री के वचन सुनकर राजा ने पूछा कि यथार्थ बात क्या है ? तदनन्तर राजा का अभिप्राय जानने वाला मंत्री बोला कि वनगिरि पर्वत की गुफाओं और सघन वनों में बहुत से यति-मुनि रहते हैं उन्होंने अपने धैर्य रूपी तलवार की धारा से कषाय और

विषयरूपी शत्रुओं को जीत लिया है, क्या स्थूल क्या सूक्ष्म-सभी जीवों की रक्षा करने में वे निरन्तर तत्पर रहते हैं। उनके हृदय से भय मानों भय से ही भाग गया है और क्रोध मानों क्रोध के कारण ही उनके पास नहीं आता है। वे भोग-उपभोग के पदार्थों में असंयमियों के समान सदा निरादर करते रहते हैं। वे दोनों ही कुमार उन यतियों से धर्म का सद्भाव सुनकर विरक्त हो दीक्षित हो गये हैं। इस प्रकार मंत्री के स्पष्ट वचन सुनकर राजा बहुत ही संतुष्ट हुआ ॥130-135॥

'दोनों लोकों का हित करने वाला तू ही है' इस प्रकार मन्त्री की प्रशंसा कर राजा ने विचार किया कि ये भोग कुपुत्र के समान पाप और निन्दा के कारण हैं। ऐसा विचार कर उसने अपने कुल के योग्य किसी पुत्र को राज्य का महान् भार सौंप दिया और वनगिरि नामक पर्वत पर जाकर गणधर भगवान् को पूजा की। वहीं पर नवदीक्षित राजकुमार तथा मन्त्रि-पुत्र को देखकर उसने कहा कि मैंने जो बड़ा भारी अपराध किया है उसे आप दोनों क्षमा कीजिये। राजा के वचन सुनकर नवदीक्षित मुनियों ने कहा कि आप ही हमारे दोनों लोकों के गुरु हैं, यह संयम आपने ही प्रदान कराया है। इस प्रकार उन दोनों से प्रशंसा पाकर राजा ने सब परिग्रह का त्याग कर अनेक राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया ॥136-139॥

क्रम-क्रम से मोह-कर्म का विध्वंस कर अवशिष्ट घातिया कर्मों का नाश किया और केवलज्ञान रूपी ज्योति को प्राप्त कर वे लोक के अग्रभाग में देदीप्यमान होने लगे ॥140॥

इधर उत्कृष्ट चारित्र्य का पालन करते हुए वे दोनों ही कुमार आतापन योग लेकर तथा शरीर से ममत्व छोड़ कर खंगपुर नामक नगर के बाहर स्थित थे ॥141॥

उस समय खंगपुर नगर के राजा का नाम सोमप्रभ था। उसके सुदर्शना और सीता नाम की दो स्त्रियाँ थीं। उन दोनों के उत्तम कान्तिवाले शरीर को धारण करनेवाला सुप्रभ और गुणों के द्वारा पुरुषों में श्रेष्ठ पुरुषोत्तम इस प्रकार दो पुत्र थे। इनमें पुरुषोत्तम नारायण था वह दिग्विजय के द्वारा मधुसूदन नामक प्रतिनारायण को नष्ट कर नगर में प्रवेश कर रहा था। मनुष्य विद्याधर और देवेन्द्र उसके ऐश्वर्य को बढ़ा रहे थे, उसका शरीर भी प्रभापूर्ण था ॥142-144॥

नगर में प्रवेश करते देख अज्ञानी चन्द्रचूल मुनि (राजकुमार का जीव) निदान कर बैठा। अन्त में जीवन समाप्त होने पर दोनों मुनियों ने चार प्रकार की आराधना की। उनमें से एक तो सनत्कुमार स्वर्ग के कनकप्रभ नामक विमान में विजय नामक देव और दूसरा मणिप्रभ विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ। वहाँ उनकी उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण थी। चिरकाल तक वहाँ के सुख भोग कर वे वहाँ से च्युत हुए ॥145-147॥

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्र के बनारस नगर में राजा दशरथ राज्य करते थे। उनकी सुबाला नाम की रानी थी। उसने शुभ-स्वप्न देखे और उसी के गर्भ से फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी के दिन मघा नक्षत्र में सुवर्णचूल नाम का देव जो कि मन्त्री के पुत्र का जीव था, होनहार बलभद्र हुआ। उसकी तेरह हजार वर्ष की आयु थी, राम नाम था, और उसने सब लोगों को मन्त्रीभूत कर रक्खा था। उन्हीं राजा दशरथ की एक दूसरी रानी कैकेयी थी। उसने सरोवर, सूर्य, चन्द्रमा, धान का खेत और सिंह ये पाँच महाफल देने वाले स्वप्न देखे और उसके गर्भ से माघ शुक्ला प्रतिपदा के दिन विशाखा नक्षत्र में मणिचूल नाम का देव जो कि मन्त्री के पुत्र का जीव था उत्पन्न हुआ। उसके शरीर पर चक्र का चिह्न था, बारह हजार वर्ष की उसकी आयु थी और लक्ष्मण उसका नाम था ॥148-152॥

वे दोनों ही भाई पन्द्रह धनुष ऊँचे थे, बत्तीस लक्ष्णों से सहित थे, वज्रवृषभनाराच-संहनन के धारक थे और उन दोनों के समचतुरस्त्र-संस्थान नाम का पहला संस्थान था ॥153॥

वे दोनों ही अपरिमित शक्तिवाले थे, उनमें से राम का शरीर हंस के अंश अर्थात् पंख के समान सफेद था और लक्ष्मण का शरीर नील-कमल के समान नील कान्तिवाला था। जब राम का पचपन और लक्ष्मण का पचास वर्ष प्रमाण, अत्यन्त श्रेष्ठ ऐश्वर्य से भरा हुआ कुमार-काल व्यतीत हो गया तब इसी भरतक्षेत्र की अयोध्या-नगरी में एक सगर नामक राजा हुआ था। वह सगर तब हुआ था जब कि प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज के बाद इक्ष्वाकुवंश के शिरोमणि असंख्यात राजा हो चुके थे और उनके बाद जब हरिषेण महाराज नामक दशवां चक्रवर्ती मरकर सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हो गया था तथा उसके बाद जब एक हजार वर्ष प्रमाण काल व्यतीत हो चुका था। इस प्रकार काल व्यतीत हो चुकने पर सगर राजा हुआ था। वह अखण्ड राष्ट्र का स्वामी था, तथा बड़ा ही क्रोधी था। एक बार उसने सुलसा के स्वयंवर में आये हुए एवं राजाओं के बीच में बैठे हुए मधुपिंगल नाम के श्रेष्ठ राजकुमार को 'यह दुष्ट लक्ष्णों से युक्त है' ऐसा कहकर सभाभूमि से

निकाल दिया। राजा मधुपिंगल सगर राजा के साथ वैर बांधकर लजाता हुआ स्वयंवर मण्डप से बाहर निकल पड़ा। अन्त में संयम धारण कर वह महाकाल नाम का असुर हुआ। वह असुर राजा सगर के वंश को निर्मूल करने में तत्पर था ॥154-160॥

वह ब्राह्मण का वेष रखकर राजा सगरके पास पहुँचा और कहने लगा कि तू लक्ष्मी की बुद्धि के लिए, शत्रुओं का उच्छेद करने के लिए अथर्ववेदमें कहा हुआ प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला यज्ञ कर। इस प्रकार पापसे नहीं डरने वाले उस महाकाल नामक व्यन्तर ने उस दुर्बुद्धि राजा को मोहित कर दिया ॥161-162॥

वह राजा भी उसके कहे अनुसार यज्ञ करके पापियोंकी भूमि अर्थात् नरकमें प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार कुमारों में प्रवृत्ति करनेसे इस राजाका सबका सब कुल नष्ट हो गया। इधर राजा दशरथने जब यह समाचार सुना तब उन्होंने सोचा कि अयोध्यानगर तो हमारी वंशपरम्परासे चला आया है। ऐसा विचारकर वे अपने पुत्रों के साथ अयोध्या नगर में गये और वहीं रह कर उसका पालन करने लगे ॥ 163-164॥

वहीं इनकी किसी अन्य रानीसे भरत तथा शत्रुघ्न नाम के दो पुत्र और हुए थे। रावणको मारने से राम और लक्ष्मण का जो यश होनेवाला था उसका एक कारण था-वह यह कि उसी समय मिथिलानगरी में राजा जनक राज्य करते थे। उनकी अत्यन्त रूपवती तथा विनय आदि गुणों से विभूषित वसुधा नाम की रानी थी। राजा जनककी वसुधा नाम की रानीसे सीता नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी। जब वह नवयौवनको प्राप्त हुई तब उसे बरनेके लिए अनेक राजाओंने अपने-अपने दूत भेजे। परन्तु राजा ने यह कह कर कि मैं यह पुत्री उसीके लिए दूंगा जिसका कि दैव अनुकूल होगा, उन आये हुए दूतोंको विदा कर दिया ॥165-168॥

अथानन्तर-किसी एक समय राजा जनक विद्वज्जनों से सुशोभित सभा में बैठे हुए थे। वहीं पर कार्य करने में कुशल तथा हित करनेवाला कुशलमति नाम का सेनापति बैठा था। राजा जनक ने उससे एक प्राचीन कथा पूछी। वह कहने लगा कि 'पहले राजा सगर रानी सुलसा तथा घोड़ा आदि अन्य कितने ही जीव यज्ञ में होमे गये थे। वे सब शरीर-सहित स्वर्ग गये थे' यह बात सुनी जाती है। यदि आज कल भी यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्त होता हो तो हम लोग भी यथा योग्य-रीति से यज्ञ करें'। राजा के इस प्रकार वचन सुनकर सेनापति कहने लगा कि सदा क्रोधित हुए नागकुमार और असुरकुमार परस्पर की मत्सरता से एक दूसरे से प्रारम्भ किये हुए कार्यों में विघ्न करते हैं ॥169-173॥ चूंकि यज्ञ की यह नई रीति महाकाल नामक असुर ने चलाई है अतः प्रतिपक्षियों के द्वारा इसमें विघ्न किये जाने की आशंका है ॥174॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि नागकुमारों के राजा धरणेन्द्र ने नमि तथा विनमि का उपकार किया था इसलिए उसका पक्षपात करनेवाले विद्याधर अवश्य ही यज्ञ का विघात करेंगे ॥175॥

यज्ञ उन्हीं का सिद्ध हो पाता है जो कि उसके विघ्न दूर करने में समर्थ होते हैं। यद्यपि विजयार्थ पर्वत पर रहनेवाले विद्याधरों को इसका पता नहीं चलेगा यह ठीक है तथापि यह निश्चित है कि उनमें रावण बड़ा पराक्रमी और मानरूपी ग्रह से अधिष्ठित है उससे इस बात का भय पहले से ही है कि कदाचित् वह यज्ञ में विघ्न उपस्थित करे ॥176-177॥

हाँ, एक उपाय हो सकता है कि इस समय रामचन्द्रजी सब प्रकार से समर्थ हैं उनके लिए यदि हम यह कन्या प्रदान कर देंगे तो वे सब विघ्न दूर कर देंगे। इस प्रकार सेनापति के वचनों की सभा में बैठे हुए सब लोगों ने प्रशंसा की ॥178॥

राजा जनक के साथ ही साथ सब लोगों ने इस कार्य का निश्चय कर लिया और राजा जनक ने उसी समय सत्पुरुष राजा दशरथ के पास पत्र तथा भेंट के साथ एक दूत भेजा तथा उससे निम्न सन्देश कहलाया। आप मेरी यज्ञ की रक्षा के लिए शीघ्र ही राम तथा लक्ष्मण को भेजिये। यहाँ राम के लिए सीता नामक कन्या दी जावेगी। राम-लक्ष्मण के सिवाय अन्य राज्यपुत्रों को बुलाने के लिए भी अन्य अन्य दूत भेजे ॥179-181॥

अयोध्या के स्वामी राजा दशरथ ने भी पत्र में लिखा अर्थ समझा, दूत का कहा समाचार सुना और इस सब का प्रयोजन निश्चित करने के लिए मन्त्री से पूछा ॥182॥

उन्होंने राजा जनक का कहा हुआ सब मन्त्रियों को सुनाया और पूछा कि क्या कार्य करना चाहिये? इसके उत्तर में आगमसार मन्त्री निम्नांकित अशुभ वचन कहने लगा कि यज्ञ के निर्विघ्न समाप्त होने पर दोनों लोकों में उत्पन्न होनेवाला हित होगा और उससे इन दोनों कुमारोंकी उत्तम गति होगी ॥183-184॥

आगमसार के वचन समाप्त होने पर उसके कहे हुए का निश्चयकर अतिशयमति नाम का श्रेष्ठ मन्त्री कहने लगा कि यज्ञ करना धर्म है यह

वचन प्रमाणकोटि को प्राप्त नहीं है इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इस कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥185-186॥

वचन की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता से होती है । जिनमें समस्त प्राणियों की हिंसा का निरूपण है ऐसे यज्ञप्रवर्तक आगम का उपदेश करनेवाले विरूद्धवादी मनुष्य के वचन पागल-पुरुष के वचन के समान प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं । यदि वेद का निरूपण करने वाले परस्पर विरूद्धभाषी न हों तो उसमें एक जगह हिंसा का विधान और दूसरी जगह उसका निषेध ऐसे दोनों प्रकार के वाक्य क्यों मिलते ? कदाचित् यह कहो कि वेद स्वयंभू है, अपने आप बना हुआ है अतः परस्पर विरोध होने पर भी दोष नहीं है । तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आप से यह पूछा जा सकता है कि स्वयंभूपना कैसा है-इसका क्या अर्थ है ? यह तो कहिये । यदि बुद्धिमान् मनुष्यरूपी कारण के हलन-चलनरूपी सम्बन्ध से निरपेक्ष रहना अर्थात् किसी भी बुद्धिमान् मनुष्य के हलन-चलनरूपी व्यापार के बिना ही वेद रचा गया है अतः स्वयंभू है । स्वयंभूपन का उक्त अर्थ यदि आप लेते हैं तो मेघों की गर्जना और मेंढकों की टर्टर इनमें भी स्वयंभूपन आ जावेगा क्योंकि ये सब भी तो अपने आप ही उत्पन्न होते हैं । इसलिए आगम वही है-शास्त्र वही है जो सर्वज्ञ के द्वारा कहा हुआ हो, समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो और सब दोषों से रहित हो । यज्ञ शब्द, दान देना तथा देव और ऋषियों की पूजा करने अर्थमें आता है ॥

187-192॥

याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, और मह ये सब पूजाविधिके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥193॥

यज्ञ शब्द का वाच्यार्थ जो बहुत भारी दान देना और पूजा करना है तत्स्वरूप धर्म से ही लोग पुण्य का सन्चय करते हैं और उसीके परिपाकसे देवेन्द्र होते हैं । इसलिए ही लोक और शास्त्रोंमें इन्द्रके शतक्रतु, शतमख और शताध्वर आदि नाम प्रसिद्ध हुए हैं तथा सब जगह सुनाई देते हैं ॥194-185॥

यदि यज्ञ शब्द का अर्थ हिंसा करना ही होता है तो इसके करनेवाले की नरक गति होनी चाहिये । यदि ऐसा हिंसक भी स्वर्ग चला जाता है तो फिर जो हिंसा नहीं करते हैं उनकी अधोगति होना चाहिये- उन्हें नरक जाना चाहिये ॥196॥

कदाचित् आपका यह अभिप्राय हो कि यज्ञ में जिसकी हिंसा की जाती है उसके शरीर का दान किया जाता है अर्थात् सबको वितरण किया जाता है और उसे मारकर देवों की पूजा की जाती है इस तरह यज्ञ शब्द का अर्थ जो दान देना और पूजा करना है उसकी सार्थकता हो जाती है ? तो आपका यह अभिप्राय ठीक नहीं है क्योंकि इस तरह दान और पूजा का जो अर्थ आपने किया है वह आपके ही घर मान्य होगा, सर्वत्र नहीं । यदि यज्ञ शब्द का अर्थ हिंसा ही है तो फिर धातुपाठ में जहाँ धातुओं के अर्थ बतलाये हैं वहाँ यजधातु का अर्थ हिंसा क्यों नहीं बतलाया ? वहाँ तो मात्र 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' अर्थात् यज धातु, देवपूजा, संगतिकरण और दान देना इतने अर्थों में आती है । यही बतलाया है । इसलिए यज्ञ शब्द का अर्थ नहीं है तो आर्य पुरुष प्राणि-हिंसा से भरा हुआ यज्ञ क्यों करते हैं ? तो आपका यह कहना अशिक्षित अथवा मूर्ख का लक्षण है-चिह्न है । क्योंकि आर्य और अनार्य के भेदसे यज्ञ दो प्रकार का माना जाता है ॥

197-200॥

इस कर्मभूमिरूपी जगत् के आदि में होनेवाले परमब्रह्म श्रीवृषभदेव तीर्थकर के द्वारा कहे हुए वेद में जिसमें कि जीवादि छह द्रव्योंके भेद का यथार्थ उपदेश दिया गया है क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्नियाँ बतलाई गई हैं । इनमें क्षमा वैराग्य और अनशन की आहुतियाँ देने वाले जो ऋषि यति मुनि और अनगाररूपी श्रेष्ठ द्विज वन में निवास करते हैं वे आत्मयज्ञ कर इष्ट अर्थ को देने वाली अष्टम पृथिवी-मोक्ष स्थान को प्राप्त होते हैं ॥201-203॥

इसके सिवाय तीर्थकर गणधर तथा अन्य केवलियों के उत्तम शरीर के संस्कार से पूज्य एवं अग्निकुमार इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई तीन अग्नियाँ हैं उनमें अत्यन्त भक्त तथा दान आदि उत्तमोत्तम क्रियाओं को करनेवाले तपस्वी, गृहस्थ, परमात्मपद को प्राप्त हुए अपने पिता तथा प्रपितामह को उद्देशकर ऋषिप्रणीत वेद में कहे मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जो अक्षत गन्ध फल आदि के द्वारा आहुति दी जाती है वह दूसरा आर्ष-यज्ञ कहलाता है । जो निरन्तर यह यज्ञ करते हैं वे इन्द्र सामानिक आदि माननीय पदों पर अधिष्ठित होकर लौकान्तिक नामक देव ब्राह्मण होते हैं और अन्त में समस्त पापों को नष्टकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥204-207॥

दूसरा श्रुतज्ञानरूपी वेद सामान्य की अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है, उसके द्रव्य-क्षेत्रा आदि के भेद से अथवा तीर्थकरों के पञ्च-कल्याणकों के भेद से अनेक भेद हैं, उन सबके समय जो श्री जिनेन्द्रदेव का यज्ञ अर्थात् पूजन करते हैं वे पुण्य का सन्चय करते हैं और उसका फल भोगकर क्रम-क्रम से सिद्ध अवस्था-मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥208-209॥

इस प्रकार ऋषियों ने यह यज्ञ मुनि और गृहस्थ के आश्रय से दो प्रकार का निरूपण किया है इनमें से पहला मोक्ष का साक्षात् कारण है और दूसरा परम्परा से मोक्ष का कारण है ॥210॥

इस प्रकार यह देवयज्ञ की विधि परम्परा से चली आई है, यही दोनों लोकों का हित करनेवाली है और यही निरन्तर विद्यमान रहती है ॥ 211 ॥

किन्तु श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में सगर राजा से द्वेष रखनेवाला एक महाकाल नाम का असुर हुआ । उसी अज्ञानी ने इस हिंसा यज्ञ का उपदेश दिया है ॥212॥

महाकाल ने ऐसा क्यों किया । यदि यह जानने की इच्छा है तो सुन लीजिये । इसी भरतक्षेत्र में चारणयुगल नाम का नगर है । उसमें सुयोधन नाम का राजा राज्य करता था ॥213॥

उसकी पट्टरानी का नाम अतिथि था, इन दोनों के सुलसा नाम की पुत्री थी । उसके स्वयंवर के लिए दूतों के कहनेसे अनेक राजाओं का समूह चारणयुगल नगर में आया था । अयोध्या का राजा सगर भी उस स्वयंवर में जाने के लिए उद्यत था परन्तु उसके बालों के समूह में एक बाल सफेद था, तेल लगाने वाले सेवक से उसे विदित हुआ कि यह बहुत पुराना है यह जानकर वह स्वयंवर में जाने से विमुख हो गया, उसे निर्वेद वैराग्य हुआ । राजा सगर की एक मन्दोदरी नाम की धाय थी जो बहुत ही चतुर थी । उसने सगर के पास जाकर कहा कि यह सफेद बाल नया है और तुम्हें किसी पवित्र-वस्तु का लाभ होगा यह कह रहा है । उसी समय विश्वभू नाम का मन्त्री भी वहाँ आ गया और कहने लगा कि यह सुलसा अन्य राजाओं से विमुख होकर जिस तरह आपको ही चाहेगी उसी तरह मैं कुशलता से सब व्यवस्था कर दूँगा । मन्त्री के वचन सुनने से राजा सगर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥214-219॥

वह चतुरंग सेना के साथ राजा सुयोधन के नगर की ओर चल दिया और कुछ दिनों में वहाँ पहुँच भी गया । सगर की मन्दोदरी धाय उसके साथ आई थी । उसने सुलसा के पास जाकर राजा सगर के कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, नय, विनय, विभव, बन्धु, सम्पत्ति तथा योग्य वर में जो अन्य प्रशंसनीय गुण होते हैं उन सबका व्याख्यान किया । यह सब जानकर राजकुमारी सुलसा राजा सगर में आसक्त हो गई ॥ 220-222 ॥

जब सुलसा की माता अतिथि को इस बात का पता चला तब उसने युक्तिपूर्ण वचनों से राजा सगर की बहुत निन्दा की और कहा कि सुरम्यदेश के पोदनपुर नगर का राजा बाहुबली के वंश में होनेवाले राजाओं में श्रेष्ठ तृणपिंगल नाम का मेरा भाई है । उसकी रानी का नाम सर्वयशा है, उन दोनों के मधुपिंगल नाम का पुत्र है जो वर के योग्य समस्त गुणों से गणनीय हैं-प्रशंसनीय हैं और नई अवस्था में विद्यमान हैं । आज तुझे मेरी अपेक्षा से ही उसे वरमाला डालकर सन्मानित करना चाहिये ॥223-224॥

सौत का दुःख देनेवाले अयोध्या पति-राजा सगर से तुझे प्रयोजन है ? माता अतिथि ने यह वचन कहे जिन्हें सुलसा ने भी उसके आग्रहवश ग्रहण कर लिया ॥225॥

उसी समय से अतिथि देवी ने किसी उपाय से कन्या के समीप मन्दोदरी का आना जाना आदि बिलकुल रोक दिया ॥226॥

मन्दोदरी ने अपने प्रकृत कार्य की रूकावट राजा सगर से कही और राजा सगर ने अपने मन्त्री से कहा कि हमारा जो मनोरथ है वह तुम्हें सब प्रकार से सिद्ध करना चाहिये । बुद्धिमान मन्त्री ने राजा की बात स्वीकार कर स्वयंवर विधान नाम का एक ऐसा ग्रन्थ बनवाया कि जिसमें वर के अच्छे और बुरे लक्षण बताये गये थे । उसने वह ग्रन्थ पुस्तक के रूप में निबद्धकर एक सन्दूकची में रक्खा और वह सन्दूकची उसी नगर सम्बन्धी उद्यान के किसी वन में जमीन में छिपाकर रख दी । यह कार्य इतनी सावधानी से किया कि किसी को इसका पता भी नहीं चला ॥227-231॥

कितने ही दिन बीत जाने पर वन की पृथिवी खोदते समय उसके हल के अग्रभाग से वह पुस्तक निकाली और कहा कि इच्छानुसार खोदते हुए मुझे यह सन्दूकची मिली है । यह कोई प्राचीन शास्त्र है इस प्रकार कहता हुआ वह आश्चर्य प्रकट करने लगा, मानो कुछ जानता ही नहीं हो । उसने वह पुस्तक राजकुमारों के समूह में बँचवाई । उसमें लिखा था कि कन्या और वर के समुदाय में जिसकी आँख सफेद और पीली हो, माला के द्वारा उसका सत्कार नहीं करना चाहिये । अन्यथा कन्या की मृत्यु हो जाती है या वर मर जाता है । इसलिए पाप डर और लज्जावाले पुरुष को सभा में प्रवेश करना चाहिये । यदि कोई पापी प्रविष्ट भी हो जाय तो उसे निकाल देना चाहिये ॥232-235॥ मधुपिंगल में यह सब गुण विद्यमान थे अतः वह यह सब सुन लज्जावश वहाँ से बाहर चला गया और हरिषेण गुरु के पास जाकर उसने

तप धारण कर लिया। यह जानकर अपनी इष्ट-सिद्धि होने से राजा सगर, विश्वभू मन्त्री, तथा कुटिल अभिप्राय वाले अन्य मनुष्य हर्ष को प्राप्त हुए ॥236-237॥

मधुपिंगल के भाई-बन्धुओं को तथा अन्य सज्जन मनुष्यों को उस समय दुःख हुआ। देखो स्वार्थी मनुष्य दूसरों को ठगने से उत्पन्न हुए बड़े भारी पाप को नहीं देखते हैं ॥238॥

इधर राजा सुयोधन ने आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान् की महापूजा की, और उसके अन्त में अभिषेक किया। तदनन्तर उत्तम कन्या सुलसा को स्नान कराया, आभूषण पहिनाये, और शुद्ध तिथि वार आदि के दिन अनेक उत्तम योद्धाओं से घिरी हुई उस कन्या को पुरोहित रथ में बैठाकर स्वयंवर-मण्डप में ले गया ॥239-240॥

वहाँ अनेक राजा उत्तम आसनों पर समारूढ़ थे। पुरोहित उनके कुल जाति आदि का पृथक्-पृथक् क्रम पूर्वक निर्देश करने लगा परन्तु सुलसा अयोध्या के राजा सगर में आसक्त थी अतः उन सब राजाओं को छोड़ती हुई आगे बढ़ती गई और सगर के गले में ही माला डालकर उसका शरीर माला से अलंकृत किया ॥241-242॥

'इन दोनों का समागम विधाता ने ठीक ही किया है' यह कहकर वहाँ जो राजा ईर्ष्या रहित थे वे बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥243॥

विवाह की विधि समाप्त होने पर लक्ष्मीसम्पन्न राजा सगर सुलसा के साथ वहीं पर कुछ दिन तक सुख से रहा ॥244॥

तदनन्तर अयोध्या नगरी में जाकर भोगों का अनुभव करता हुआ सुख से रहने लगा। इधर मधुपिंगल साधु-संयम धारण कर रहे थे। एक दिन वे आहार के लिए किसी नगर में गये थे। वहाँ कोई निमित्त ज्ञानी उनके लक्षण देखकर कहने लगा कि 'इस युवा के चिह्न तो पृथिवी का राज्य करने के योग्य हैं परन्तु यह भिक्षा भोजन करनेवाला है इससे जान पड़ता है कि इन सामुद्रिक शास्त्रों से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? ये सब व्यर्थ हैं'। इस प्रकार उस निमित्तज्ञानी ने लक्षणशास्त्र - सामुद्रिक शास्त्र की निन्दा की। उसके साथ ही दूसरा निमित्तज्ञानी था वह कहने लगा कि 'यह तो राज्य-लक्ष्मी का ही उपभोग करता था परन्तु सगर राजा के मन्त्री ने झूठ-झूठ ही कृतिम-शास्त्र दिखलाकर इसे दूषित ठहरा दिया और इसीलिए इसने लज्जावश तप धारण कर लिया। इसके चले जाने पर सगर ने सुलसा को स्वीकृत कर लिया'। उस निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर मधुपिंगल मुनि क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो गये ॥245-249॥

'मैं इस तप के फल से दूसरे जन्म में राजा सगर के समस्त वंश को निर्मूल करूँगा' ऐसा उन बुद्धिहीन मधुपिंगल मुनि ने लगा तो उसे विभंगावधिज्ञान के द्वारा अपने पूर्वभव का सब समाचार याद आ गया। याद आते ही उस पापी का चित्त क्रोध से भर गया। मन्त्री और राजा के ऊपर उसका वैर जम गया। यद्यपि उन दोनों पर उसका वैर जमा हुआ था तथापि वह उन्हें जान से नहीं मारना चाहता था, उसके बदले वह उनसे कोई भयंकर पाप करवाना चाहता था ॥250-254॥

वह असुर इसके योग्य उपाय तथा सहायकों का विचार करता हुआ पृथिवी पर आया परन्तु उसने इस बात का विचार नहीं किया कि इससे मुझे बहुत भारी पाप का संचय होता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसी मूढ़ता के लिए धिक्कार हो ॥255॥

उधर वह अपने कार्य के योग्य उपाय और सहायकों की चिन्ता कर रहा था उसके अभिप्राय को सिद्ध करनेवाली दूसरी घटना घटित हुई जो इस प्रकार है। इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के धवल देश में एक स्वस्तिकावती नाम का नगर है। हरिवंश में उत्पन्न हुआ राजा विश्वावसु उसका पालन करता था। इसकी स्त्री का नाम श्रीमति था। उन दोनों के वसु नाम का पुत्र था ॥256-257॥

उसी नगर में एक क्षीरकदम्ब नाम का पूज्य ब्राह्मण रहता था। वह समस्त शास्त्रों का विद्वान् था और प्रसिद्ध श्रेष्ठ अध्यापक था ॥258॥

उसके पास उसका लड़का पर्वत, दूसरे देशसे आया हुआ नारद और राजा का पुत्र वसु ये तीन छात्र एक साथ पढ़ते थे ॥259॥

ये तीनों ही छात्र विद्याओं के पार को प्राप्त हुए थे, परन्तु उन तीनों में पर्वत निर्बुद्धि था, वह मोह के उदय से सदा विपरीत अर्थ ग्रहण करता था। बाकी दो छात्र, पदार्थ का स्वरूप जैसा गुरु बताते थे वैसा ही ग्रहण करते थे। किसी एक दिन ये तीनों गुरु के कुशा आदि लाने के लिए वन में गये थे ॥260-261॥

वहाँ एक पर्वत की शिलापर श्रुतधर नाम के गुरु विराजमान थे। अन्य तीन मुनि उन श्रुतधर गुरु से अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन कर रहे थे। जब अष्टांगनिमित्त ज्ञान का अध्ययन पूर्ण हो गया तब वे तीनों मुनि उन गुरुकी स्तुति कर बैठ गये। उन्हें बैठा देखकर श्रुतधर मुनिराजने उनकी चतुराई की परीक्षा करने के लिए पूछा कि 'जो ये तीन छात्र बैठे हैं इनमें किसका क्या नाम है? क्या कुल है? क्या अभिप्राय है? और अन्त में किसकी क्या गति होगी? यह आप लोग कहें ॥262-264॥

उन तीन मुनियों में एक आत्मज्ञानी मुनि थे। वे कहने लगे कि सुनिये, यह जो राजा का पुत्र वसु हमारे पास बैठा हुआ है वह तीव्र रागादिदूषित है अतः हिंसारूप धर्म का निश्चयकर नरक जावेगा। तदनन्तर बीच में बैठे हुए दूसरे मुनि कहने लगे कि यह जो ब्राह्मण का लड़का है इसका पर्वत नाम है, यह निर्बुद्धि है, क्रूर है, यह महाकाल के उपदेश से अथर्ववेद नामक पाप-प्रवर्तक शास्त्र का अध्ययन कर खोटे-मार्ग का उपदेश देगा, यह अज्ञानी हिंसा को ही धर्म समझता है, निरन्तर रौद्र-ध्यान में तत्पर रहता है और बहुत लोगों को उसी मिथ्यामार्ग में प्रवृत्त करता है अतः नरक जावेगा ॥265-268॥

तदनन्तर तीसरे मुनि कहने लगे कि यह जो पीछे बैठा है इसका नारद नाम है, यह जाति का ब्राह्मण है, बुद्धिमान् है, धर्मध्यानमें तत्पर रहता है, अपने आश्रित लोगों को अहिंसारूप धर्म का उपदेश देता है, यह आगे चलकर गिरितट नामक नगर का राजा होगा और अन्त में परिग्रह छोड़ कर तपस्वी होगा तथा अन्तिम अनुत्तर विमान में उत्पन्न होगा। इस प्रकार उन तीनों मुनियों का कहा सुनकर श्रुतधर मुनिराज ने कहा कि तुम लोगों ने मेरा कहा उपदेश ठीक ठीक ग्रहण किया है' ऐसा कहकर उन्होंने उन तीनों मुनियों की स्तुति की। इधर एक वृक्ष के आश्रयमें बैठा हुआ क्षीर कदम्ब उपाध्याय, यह सब बड़ी सावधानीसे सुन रहा था। सुनकर वह विचारने लगा कि विधि की लीला बड़ी ही विचित्र है, देख, इन दोनों की-पर्वत और वसु की अशुभगति होने वाली है, इनके अशुभ-कर्म को धिक्कार हो, धिक्कार हो, मैं इस विषय में कर ही क्या सकता हूँ ? ॥269-273॥

ऐसा विचारकर उसने उन मुनियों को वहीं वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे सक्तिपूर्वक नमस्कार किया और फिर बड़ी उदासीनतासे उन तीनों छात्रोंके साथ वह अपने नगर में आ गया ॥274॥

एक वर्ष के बाद शास्त्राध्ययन तथा बाल्यावस्था पूर्ण होने पर वसुके पिता विश्वावसु, वसुको राज्यपट्ट बाँधकर स्वयं तपो बनके लिए चले गये ॥275॥

इधर वसु पृथिवी का अनायास ही निष्कण्टक पालन करने लगा। किसी एक दिन वह विहार करने के लिए वन में गया था। वहीं क्या देखता है कि बहुतसे पक्षी आकाश में जाते-जाते टकराकर नीचे गिर रहे हैं। यह देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह विचार करने लगा कि आकाश से जो ये पक्षी नीचे गिर रहे हैं इसमें कुछ कारण अवश्य होना चाहिये ॥276-277॥

यह विचार कर, उसने उस स्थान का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धनुष खींचकर एक बाण छोड़ा वह बाण भी वहाँ टकराकर नीचे गिर पड़ा। यह देख, राजा वसु वहाँ स्वयं गया और सारथि के साथ उसने उस स्थान का स्पर्श किया। स्पर्श करते ही उसे मालूम हुआ कि यह आकाश स्फटिक का स्तम्भ है, वह स्तम्भ आकाश के रंग से इतना मिलता जुलता था कि किसी दूसरे को आज तक उसका बोध नहीं हुआ था ॥278-279॥

राजा वसु ने उस स्तम्भ को घर लाकर उसके चार बड़े-बड़े पाये बनवाये और उनका सिंहासन बनवाकर वह उसपर आरूढ़ हुआ। उस समय अनेक राजा आदि उसकी सेवा करते थे। लोग बड़े आश्चर्य से उसकी सेवा करते थे। लोग बड़े आश्चर्य की घोषणा करते हुए कहते थे कि देखो, राजा वसु सत्य के माहात्म्य से सिंहासन पर अधर आकाश में बैठता है ॥280-281॥

इस प्रकार इधर राजा वसुका समय बीत रहा था उधर एक दिन पर्वत और नारद, समिधा तथा पुष्प लानेके लिए वन में गये थे। वहाँ वे क्या देखते हैं कि कुछ मयूर नदी के प्रवाह का पानी पीकर गये हुए हैं। उनका मार्ग देखकर नारदने पर्वत से कहा कि हे पर्वत ! ये जो मयूर गये हुए हैं उनमें एक तो पुरुष है और बाकी सात स्त्रियाँ हैं। नारदकी बात सुनकर पर्वतने कहा कि तुम्हारा कहना झूठ है, उसे मन में यह बात सह्य नहीं हुई अतः उसने कोई शर्त बाँध ली ॥282-284॥

तदनन्तर कुछ आगे जाकर जब उसे इस बात का पता चला कि नारदका कहा सच है तो वह आश्चर्यको प्राप्त हुआ। वे दोनों वहाँसे कुछ और आगे बढ़े तो नारद हाथियों का मार्ग देखकर मुसकराता हुआ बोला कि यहाँसे जो अभी हस्तिनी गई है उसका बाँया नेत्र अन्धा है ॥ 285-286॥

पर्वत ने कहा कि तुम्हारा पहला कहना अन्धे साँप का बिलमें पहुँच जाने के समान यों ही सच निकल आया यह ठीक है परन्तु तुम्हारा यह विज्ञान हँसीको प्राप्त होता है। मैं क्या समझूँ ? इस तरह हँसते हुए ईर्ष्या के साथ उसने कहा और चित्तमें आश्चर्य प्राप्त किया ॥287-288॥

तदनन्तर नारद को झूठा सिद्ध करने के लिए वह हस्तिनीके मार्गका अनुसरण करता हुआ आगे बढ़ा और नगरतक पहुँचनेके पहले ही उसे

इस बात का पता चल गया कि नारदने जो कहा था वह सच है ॥289॥

अब तो पर्वत के शोकका पार नहीं रहा । वह शोक करता हुआ बड़े आश्चर्य से घर आया और नारद की कही हुई सब बातमातासे कहकर कहने लगा कि पिताजी जिस प्रकार नारदको शास्त्र की यथार्थ बात बतलाते हैं उस प्रकार मुझे नहीं बतलाते हैं । ये सदा मेरा अनादर करते हैं । इस तरह पापोदयसे विपरीत विचार करने के कारण पत्रके वचन, तीक्ष्णशस्त्रके समान उसके हृदय को चीरकर घुस गये । ब्राह्मणी पुत्र के वचनों को विचार कर हृदयसे शोक करने लगी ॥290-292॥

जब ब्राह्मण क्षीरकदम्ब स्नान; अग्नि होत्र तथा भोजन करके बैठा तब ब्राह्मणी ने पर्वत के द्वारा कही हुई सब बात कह सुनाई । उसे सुनकर ज्ञानियों से श्रेष्ठ ब्राह्मण कहने लगा कि मैं तो सबको एकसा-उपदेश देता हूँ परन्तु प्रत्येक पुरुष की बुद्धि भिन्न हुआ करती है यही कारण है कि नारद कुशल हो गया है । तुम्हारा पुत्र स्वभावसे ही मन्द है, इसलिए नारदपर व्यर्थ ही ईर्ष्या न करो । यह कहकर उसने विश्वास दिलानेके लिए पुत्र के समीप ही नारद से कहा कि कहो, आज वन में घूमते हुए तुमने पर्वत का क्या उपद्रव किया था ? गुरु की बात सुनकर वह कहने लगा कि बड़ा आश्चर्य है ? यह कहते हुए उसने बड़ी विनय से कहा कि मैं पर्वत के साथ विनोद-वार्ता करता हुआ वन में जा रहा था । वहाँ मैंने देखा कि कुछ मयूर पानी पीकर नदी से अभी हाल लौट रहे हैं ॥293-297॥

उनमें जो मयूर था वह अपनी पूँछ के चन्द्रक पानी में भीगकर भारी हो जाने के भय से अपने पैर पीछे की ओर रख फिर मुँह फिराकर लौटा था और बाकी जल से भीगे हुए अपने पंख फटकारकर जा रहे थे । यह देख मैंने अनुमान द्वारा पर्वत से कहा था कि इनमें एक पुरुष है और बाकी स्त्रियाँ हैं । इसके बाद वन के मध्य से चलकर किसी नगर के समीप देखा कि चलते समय किसी हस्तिनी के पिछले पैर उसी के मूत्र से भीगे हुए हैं इससे मैंने जाना कि यह हस्तिनी है । उसके दाहिनी ओर के वृक्ष और लताएँ टूटी हुई थीं इससे जाना कि यह हथिनी बाँई आँख से कानी है । उसपर बैठी हुई स्त्री मार्ग की थकावट से उतरकर शीतल छाया की इच्छा से नदी के किनारे सोई थी वहाँ उसके उदर के स्पर्श से जो चिह्न बन गये थे उन्हें देखकर मैंने जानता था कि यह स्त्री गर्भिणी है । उसकी साड़ी का एक छोर किसी झाड़ी में उलझकर लग गया था इससे जाना था कि वह सफेद साड़ी पहने थी । जहाँ हस्तिनी ठहरी थी उस घर के अग्रभाग पर सफेद ध्वजा फहरा रही थी इससे अनुमान किया था कि इसके पुत्र होगा । इस प्रकार अनुमान से मैंने ऊपर की सब बातें कहीं थी । नारद की ये सब बातें सुनकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ब्राह्मणी के समक्ष प्रकट कर दिया कि इसमें मेरा अपराध कुछ भी नहीं है-मैंने दोनों को एक समान उपदेश दिया है ॥298-304॥

उस समय पर्वत की माता भी यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुई थी । तदनन्तर उस ब्राह्मण ने पर्वत की माताको उन मुनियों के वचनों का विश्वास दिलानेकी इच्छा की । वह अपने पुत्र पर्वत और विद्यार्थी नारदके भावोंकी परीक्षा करने के लिए स्त्री सहित एकान्तमें बैठा । उसने आटेके दो बकरे बनाकर पर्वत और नारदको सौंपते हुए कहा कि जहाँ कोई देख न सके ऐसे स्थान में ले जाकर चन्दन तथा माला आदि मांगलिक पदार्थों से इनकी पूजा करो और फिर कान काटकर इन्हें आज ही यहाँ ले आओ ॥305-307॥

तदनन्तर पापी पर्वत ने सोचा कि इस वन में कोई नहीं है इसलिए वह एक बकरे के दोनों कान काटकर पिता के पास वापस आ गया और कहने लगा कि हे पूज्य ! आपने जैसा कहा था मैंने वैसा ही किया है । इस प्रकार दयाहीन पर्वतने बड़े हर्ष से अपना कार्य पूर्ण करने की सूचना पिता को दी ॥308-309॥

नारद भी वन में गया और सोचने लगा कि 'अदृश्य स्थान में जाकर इसके कान काटना है' ऐसा गुरुजीने कहा था परन्तु यहाँ अदृश्य स्थान है ही कहाँ ? देखो न, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारे आदि देवता सब ओरसे देख रहे हैं । पक्षी तथा हरिण आदि अनेक जंगली जीव सदा पास ही रह रहे हैं । ये किसी भी तरह यहाँसे दूर नहीं किये जा सकते । ऐसा विचारकर वह भव्यात्मा गुरुके पास वापिस आ गया और कहने लगा कि वन में ऐसा स्थान मिलना असम्भव है जिसे किसी ने नहीं देखा हो । इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि वन में ऐसा स्थान मिलना असम्भव है जिसे किसी ने नहीं देखा हो । इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारों पदार्थोंमें पाप तथा निन्दा उत्पन्न करने वाली क्रियाएँ करने का विधान नहीं है इसलिए मैं इस बकरा को ऐसा ही लेता आया हूँ ॥310-313॥

नारदके वचन सुनकर उस ब्राह्मण ने अपने पुत्रकी मूर्खता का विचार किया और काहा कि जो एकान्तवादी कारण के अनुसार कार्य मानते हैं वह एकान्तवाद है और मिथ्यामत है, कहीं तो कारण के अनुसार कार्य होता है और कहीं इसके विपरीत भी होता है । ऐसा जो स्याद्वाद

का कहना है वही सत्य है। देखो मेरे परिणाम सदा दया से आर्द्र रहते हैं परन्तु मुझसे जो पुत्र हुआ उसके परिणाम अत्यन्त निर्दय हैं। यहाँ कारण के अनुसार कार्य कहाँ हुआ ? इस प्रकार वह श्रेष्ठ विद्वान् बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और शिष्य की योग्यता का हृदय में विचार कर कहने लगा कि हे नारद ! तू ही सूक्ष्मबुद्धिवाला और पदार्थ को यथार्थ जानने वाला है इसलिए आज से लेकर मैं तुझे उपाध्यायके पदपर नियुक्त करता हूँ। आज से तू ही समस्त शास्त्रों का व्याख्यान करना। इस प्रकार उसी का सत्कार कर उसे बढ़ावा दिया सो ठीक ही है क्योंकि सब जगह विद्वानों की प्रीति गुणों से ही होती है ॥314-318॥

नारद से इतना कहने के बाद उसने सामने बैठे हुए पुत्र से इस प्रकार कहा-हे पुत्र ! तूने विवेक के बिना ही यह विरुद्ध कार्य किया है। देख, शास्त्र पढ़ने पर भी तुझे कार्य और अकार्य का विवेक नहीं हुआ ! तू निर्बुद्धि है अतः मेरी आँखों के ओझल होने पर कैसे जीवित रह सकेगा ? इस प्रकार शोक से भरे हुए पिता ने पर्वत को शिक्षा दी परन्तु उस मूर्ख पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। वह उसके विपरीत नारद से वैर रखने लगा सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धि मनुष्यों की ऐसी ही दशा होती है ॥319-321॥

किसी एक दिन क्षीरकदम्बक ने समस्त परिग्रहों के त्याग करने का विचार किया इसलिए उसने राजा वसु से कहा कि यह पर्वत और उसकी माता यद्यपि मन्दबुद्धि हैं तथापि हे भद्र ! मेरे पीछे भी तुम्हें इनका सब प्रकार से पालन करना चाहिये। उत्तर में राजा वसु ने कहा कि मैं आपके अनुग्रह से प्रसन्न हूँ। यह कार्य तो बिना कहे ही करने योग्य है इसके लिए आप क्यों कहते हैं ? हे पूज्यपाद ! इसमें थोड़ा भी संशय नहीं कीजिये, आप यथायोग्य परलोक का साधन कीजिये। इस प्रकार मनोहर कथा रूपी अम्लान माला के द्वारा राजा वसु ने उस उत्तम ब्राह्मण का खूब ही सत्कार किया ॥322-325॥

तदनन्तर क्षीरकदम्बकने उत्तम संयम धारण कर लिया और अन्त में संन्यासमरण कर उत्तम स्वर्ग लोक में जन्म प्राप्त किया ॥326॥
इधर समस्त शास्त्रों का जानने वाला पर्वत भी पिता के स्थान पर बैठकर सब प्रकार की शिक्षाओं की व्याख्या करने में प्रेम करने लगा ॥ 327॥

उसी नगर में सूक्ष्म बुद्धिवाला नारद भी अनेक विद्वानोंके साथ निवास करता था और शास्त्रों की व्याख्याके द्वारा यश प्राप्त करता था ॥ 328॥

इस प्रकार उन दोनों का समय बीत रहा था। किसी एक दिन साधुओं की सभा में 'अजैर्होतव्यम्' इस वाक्य का अर्थ निरूपण करने में बड़ा भारी विवाद चल पड़ा। नारद कहता था कि जिसमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई है ऐसा तीन वर्ष का पुराना जौ अज कहलाता है और उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्निके मुख में देवता की पूजा करना-आहुति देना यज्ञ कहलाता है। नारदका यह व्याख्यान यद्यपि गुरुपद्धतिके अनुसार था परन्तु निर्बुद्धि पर्वत कहता था कि अज शब्द एक पशु विशेष का वाचक है अतः उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्निमें होम करना यज्ञ कहलाता है ॥329-332॥

उन दोनोंके वचन सुनकर उत्तम प्रकृति वाले साधु पुरुष कहने लगे कि इस दुष्ट पर्वत की नारद के साथ ईर्ष्या है इसीलिए यह प्राणवधसे धर्म होता है यह बात पृथिवी पर प्रतिष्ठा पित करने के लिए कह रहा है। यह पर्वत बड़ा ही दुष्ट है, पतित है अतः हम सब लोगों के साथ वार्तालाप आदि करने में अयोग्य है ॥333-334॥

इस प्रकार सब ने क्रोधवश हाथकी हथेलियों के ताड़न से उस पर्वत का तिरस्कार किया और घोषणा की कि दुर्बुद्धि का ऐसा फल इसी लोक में मिल जाता है ॥335॥

इसप्रकार सबके द्वारा बाहर निकाला हुआ पर्वत मान-भंग होने से वन में चला गया। वहाँ महाकाल नाम का असुर ब्राह्मण का वेष रखकर भ्रमण कर रहा था। उस समय वह वृद्ध-अवस्था के रूप में था, वह बहुत-सी बलि अर्थात् शरीर की सिकुड़नों को धारण कर रहा था वे सिकुड़ने ऐसी जान पड़ती थीं मानो यमराज के चढ़ने के लिए सीढियों का मार्ग ही हो। अन्धे की तरह वह बार-बार लड़खड़ाकर गिर पड़ता था, उसके शिर पर विरले-विरले सफेद बाल थे, वह एक सफेद रंग की पगड़ी धारण कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो यमराज के भय से उसने चाँदी का टोप ही लगा रक्खा हो उसके नेत्र कुछ-कुछ बन्द थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वृद्धावस्था रूपी स्त्री के समागम से उत्पन्न हुए सुख से ही उसके नेत्र बन्द हो रहे थे, उसकी गति सँड़ कटे हुए हाथी के समान थी, वह क्रुद्ध साँप के समान लम्बी-लम्बी श्वास भर रहा था, राजा के प्यारे मनुष्य के समान वह मद से आगे नहीं देखता था, उसकी पीठ टूटी हुई थी। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता था, जिस प्रकार राजा योग्य दण्ड से सहित होता है अर्थात् सबके लिए योग्य दण्ड (सजा) देता है उसी प्रकार वह भी योग्य

दण्ड से सहित था-अर्थात् अपने अनुकूल दण्ड-लाठी लिये हुए था, ऊपरसे इतना शान्त दिखता था मानो शरीरधारी शम (शान्ति) ही हो, विश्वभू मन्त्री, सगर राजा और सुलसा कन्या के ऊपर हमारा बैर बँधा हुआ है यह कहने के लिए ही मानो वह तीन लड़ का यज्ञोपवीत धारण कर रहा था, वह अपना अभिप्राय सिद्ध करने के लिए योग्य कारण खोज रहा था। ऐसे महाकाल ने पर्वत पर घूमते हुए क्षीरकदम्बक के पुत्र पर्वत को देखा। ब्राह्मण वेषधारी महाकाल ने पर्वत के सम्मुख जाकर उसे नमस्कार किया और पर्वत ने भी उसका अभिवादन किया ॥336-343॥

महाकाल ने आश्वासन देते हुए आदरके साथ कहा कि तुम्हारा भला हो। तदनन्तर अजान बनकर महाकाल ने पर्वत से पूछा कि तुम कहाँसे आये हो और इस वनके मध्य में तुम्हारा भ्रमण किस कारणसे हो रहा है? पर्वत ने भी प्रारम्भसे लेकर अपना सब वृत्तान्त कह दिया। उसे सुनकर महाकाल ने सोचा कि यह मेरे वैरी राजा को निर्वश करने के लिए समर्थ है, यह मेरा साधर्मी है। ऐसा विचार कर ठगनेमें चतुर पापी महाकाल पर्वत से कहने लगा कि हे पर्वत, तुम्हारे पिताने, स्थण्डिलने, विष्णुने, उपमन्युने और मैंने भौम नामक उपाध्यायके पास शास्त्राभ्यास किया था इसलिए तुम्हारे पिता मेरे धर्मभाई हैं। उनके दर्शन करने के लिए ही मेरा यहाँ आना हुआ था परन्तु खेद है कि वह निष्फल हो गया। तुम इरो मत-शत्रु का नाश करने में मैं तुम्हारा सहायक हूँ ॥344-349॥

इस प्रकार उस महाकाल ने क्षीरकदम्बक के पुत्र पर्वत के इष्ट अर्थ का अनुसरण करनेवाली अथर्ववेद सम्बन्धी साठ हजार ऋचाएँ पृथक्-पृथक् स्वयं बनाई। ये ऋचाएँ वेद का रहस्य बतलाने वाली थी, उसने पर्वत के लिए इनका अध्ययन कराया और कहा कि पूर्वोक्त मन्त्रों से वायु के द्वारा बढ़ी हुई अग्नि की ज्वाला में शान्ति पुष्टि और अभिचारात्मक क्रियाएँ की जावें तो पशुओं की हिंसा से इष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। तदनन्तर उन दोनों ने विचार किया कि हम दोनों अयोध्या में जाकर रहें और शान्ति आदि फल प्रदान करने वाला हिंसात्मक यज्ञ प्रारंभ कर अपना प्रभाव उत्पन्न करें ॥350-353॥

ऐसा कहकर महाकाल ने वैरियों का नाश करने के लिए अपने क्रूर असुरों को बुलाया और आदेश दिया कि तुम लोग राजा सगर के देश में तीव्र ज्वर आदि के द्वारा पीड़ा उत्पन्न करो। यह कहकर असुरों को भेजा और स्वयं पर्वत को साथ लेकर राजा सगर के नगर में गया। वहाँ मन्त्र मिश्रित आशीर्वाद के द्वारा सगर के दर्शन कर पर्वत ने अपना प्रभाव दिखलाते हुए कहा कि तुम्हारे राज्य में जो घोर अमंगल हो रहा है मैं उसे मन्त्र-सहित यज्ञ के द्वारा शीघ्र ही शान्त कर दूँगा ॥354-356॥

विधाता ने पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए ही की है अतः उनकी हिंसा से पाप नहीं होता किन्तु स्वर्ग के विशाल सुख प्रदान करनेवाला पुण्य ही होता है ॥357॥

इस प्रकार विश्वास दिलाकर वह पापी फिर कहने लगा कि तुम यज्ञ की सिद्धि के लिए साठ हजार पशुओं का तथा यज्ञके योग्य अन्य पदार्थों का संग्रह करो। राजा सगर ने भी उसके कहे अनुसार सब वस्तुएँ उसके लिए सौंप दीं ॥358-359॥

इधर पर्वत ने यज्ञ आरम्भ कर प्राणियों को मन्त्रित करना शुरू किया-मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हें यज्ञ-कुण्ड में डालना शुरू किया। उधर महाकाल ने उन प्राणियों को विमानों में बैठाकर शरीर-सहित आकाश में जाते हुए दिखलाया और लोगों को विश्वास दिला दिया कि ये सब पशु स्वर्ग गये हैं। उसी समय उसने देश के सब अमंगल और उपसर्ग दूर कर दिये ॥360-361॥

यह देख बहुत-से भोले प्राणी उसकी प्रतारणा-माया से मोहित हो गये और स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से यज्ञ में मरने की इच्छा करने लगे ॥362॥

यज्ञ के समाप्त होने पर उस दुष्ट पर्वत ने विधि-पूर्वक एक उत्तम जाति का घोड़ा तथा राजा की आज्ञा से उसकी सुलसा नाम की रानी को भी होम दिया ॥363॥

प्रिय स्त्री के वियोग से उत्पन्न हुए शोक रूपी दावानल की ज्वाला से जिसका शरीर जल गया है ऐसा राजा सगर राजधानी में प्रविष्ट हुआ ॥ 364॥

वहाँ शय्यातल पर अपना शरीर डाल कर वह संशय करने लगा कि यह जो बहुत भारी प्राणियों की हिंसा हुई है सो यह धर्म है या अधर्म? ॥365॥

ऐसा संशय करता हुआ वह यतितर नामक मुनि के पास गया और नमस्कार कर पूछने लगा कि हे स्वामिन् ! मैंने जो कार्य प्रारम्भ किया है वह आपको ठीक-ठीक विदित है। विचार कर आप यह कहिये कि मेरा यह कार्य पुण्य रूप है अथवा पाप रूप? उत्तर में मुनिराज ने

कहा कि यह कार्य धर्म-शास्त्र से बहिष्कृत है, यह कार्य ही अपने करने वाले को सप्तम नरक भेजेगा । उसकी पहिचान यह है कि आज से सातवें दिन वज्र गिरेगा उससे जान लेना कि तुझे सातवीं पृथिवी प्राप्त हुई है । मुनिराज का कहा ठीक मान कर राजा ने उस ब्राह्मण-पर्वत से यह सब बात कही ॥366-369॥

राजा की यह बात सुनकर पर्वत कहने लगा कि वह झूठ है, वह नंगा साधु क्या जानता है ? फिर भी यदि शंका है तो इसकी भी शांति कर डालते हैं ॥370॥

इस तरह के वचनों से राजा का मन स्थिर किया और जो यज्ञ शिथिल कर दिया था उसे फिर से प्रारम्भ कर दिया । तदनन्तर सातवें दिन उस पापी असुर ने दिखलाया कि सुलसा देव-पर्याय प्राप्त कर आकाश में खड़ी है, पहले जो पशु होमे गये थे वे भी उसके साथ हैं । वह राजा सगर से कह रही है कि यज्ञ में मरने के फल से ही मैंने यह देवगति पाई है, मैं यह सब हर्ष की बात आप को कहने के लिए ही विमान में बैठ कर यहाँ आई हूँ । यज्ञ से सब देवता प्रसन्न हुए हैं और सब पितर तृप्त हुए हैं । उसके यह वचन सुनकर सगर ने विचार किया कि यज्ञ में मरने का फल प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है अतः जैन मुनि के वचन असत्य हैं । उसी समय अनुराग रखने से एवं सद्धर्म के साथ द्वेष करने वाले कर्म की मूल-प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियों के भेद से उत्पन्न हुए परिणामों से, नरकायु को आदि लेकर आठों कर्मों का अपने योग्य उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध अनुभाग-बन्ध पड़ गया । उसी समय भयंकर वज्रपात हुआ, वह उन सब शत्रुओं पर पड़ा और उस कार्य में लगे हुए सब जीवों के साथ राजा सगर मर कर रौरव नरक-सातवें नरक में उत्पन्न हुआ । अत्यन्त दुष्ट महाकाल भी तीव्र क्रोध करता हुआ अपने वैररूपी वायु के झँकोरे से उसे दण्ड देने के लिए नरक गया परन्तु उसके नीचे जाने की अवधि तीसरे नरक तक ही थी । वहाँ तक उसने उसे खोजा परन्तु जब पता नहीं चला तब वह निर्दय वहाँ से निकला और विश्वभू मंत्री आदि शत्रुओं को मारने का उपाय करने लगा । उसने माया से दिखाया कि राजा सगर सुलसा के साथ विमान में बैठा हुआ कह रहा है कि मैं पर्वत के प्रसाद से ही सुख को प्राप्त हुआ हूँ । यह देख, विश्वभू मंत्री जो कि सगर राजा के पीछे स्वयं उसके देश का स्वामी बन गया था महामेध यज्ञमें उद्यम करने लगा । महाकाल की माया से सब लोगों को साफ-साफ दिखाया गया था कि आकाशगण में बहुत-से देव तथा पितर लोग अपने अपने विमानोंमें बैठे हुए हैं । राजा सगर तथा अन्य लोग एकत्रित होकर विश्वभू मंत्री की स्तुति कर रहे हैं कि मन्त्रिन् ! तुम बड़े पुण्यशाली हो, तुमने यह महामेध यज्ञ प्रारम्भ कर बहुत अच्छा कार्य किया । इधर यह सब हो रहा था उधर नारद तथा तपस्वियों ने जब यह समाचार सुना तो वे कहने लगे कि इस दुष्ट शत्रु ने लोगों के लिए यह मिथ्या मार्ग बतलाया है अतः इसे धिक्कार है । पाप करने में अत्यन्त चतुर इस पर्वत का किसी उपायसे प्रतिकार करना चाहिये । ऐसा विचार कर सब लोग एकत्रित हो अयोध्या नगर में आये । वहाँ उन्होंने पाप करते हुए विश्वभू मंत्री को देखा और देखा कि बहुत से पापी मनुष्य अर्थ और कामके लिए बहुतसे प्राणियों का बध कर रहे हैं । तपस्वियों ने विश्वभू मंत्री से कहा कि पापी मनुष्य अर्थ और कामके लिए तो प्राणियों का विधात करते हैं परन्तु धर्म के लिए कहीं भी कोई भी मनुष्य प्राणियों का घात नहीं करते । वेद के जानने वालों ने ब्रह्म निरूपित वेद में मन्त्रिन् ! यदि तुम पूर्व ऋषियों के इस वाक्य को प्रमाण मानते हो तो तुम्हें हिंसा से भरा हुआ यह कार्य जो कि कर्म-बन्ध का कारण है अवश्य ही छोड़ देना चाहिए ॥371-390॥

सब प्राणियों का हित चाहने वाले तपस्वियों ने इस प्रकार कहा परन्तु विश्वभू मंत्री ने इसे सुन कर कहा कि हे तपस्वियों ! जो यज्ञ प्रत्यक्ष ही स्वर्ग का साधन दिखाई दे रहा है उसका अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है ? तदनन्तर इस प्रकार कहने वाले विश्वभू मंत्री से पापभीरु नारद ने कहा कि हे उत्तम मन्त्रिन् ! तू तो विद्वान है, क्या यह सब स्वर्ग का साधन है ? अरे, राजा सगर को परिवार-सहित निर्मूल (नष्ट) करने की इच्छा करनेवाले किसी मायावी ने इस तरह प्रत्यक्ष-फल दिखाकर यह उपाय रचा है, यह उपाय केवल मूर्ख मनुष्यों को ही मोहित करने का कारण है ॥391-394॥

इसलिए तू ऋषि-प्रणीत आगम में कही हुई शील तथा उपवास आदि की विधि का आचरण कर । इस प्रकार नारद के वचन सुनकर विश्वभू ने पर्वत से कहा कि तुमने नारद कहा सुना ? महाकाल असुर के द्वारा कहे शास्त्र से मोहित हुआ दुर्बुद्धि पर्वत कहने लगा कि यह शास्त्र क्या नारद ने भी पहले कभी नहीं सुना । इसके और मेरे गुरु पृथक् नहीं थे, मेरे पिता ही तो दोनों के गुरु थे फिर भी यह अधिक गर्व करता है । मुझ पर ईर्ष्या रखता है अतः आज चाहे जो कह बैठता है । विद्वान स्थविर मेरे गुरु के धर्म-भाई तथा जगत् में प्रसिद्ध थे, उन्हीं ने मुझे यह श्रुतियों का रहस्य बतलाया है । यज्ञ में मरने से जो फल होता है उसे मैंने भी आज प्रत्यक्ष दिखला दिया है फिर भी यदि तुझे विश्वास नहीं होता है तो समस्त वेदरूपी समुद्र के पारगामी राजा वसु से जो कि सत्य के कारण प्रसिद्ध है, पूछ सकते हो । यह सुनकर

नारद ने कहा कि क्या दोष है वसु से पूछ लिया जावे ॥395-400॥

परन्तु यह बात विचार करने के योग्य है कि यदि हिंसा, धर्म का साधन मानी जायगी तो अहिंसा दान शील आदि पाप के कारण हो जावेंगे ॥401॥

हो जावें यदि यह आपका कहना है तो मछलियाँ पकड़ने वाले आदि पापी जीवों की शुभ गति होनी चाहिये और सत्य, धर्म तपश्चरण तथा ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को अधोगति में जाना चाहिए ॥402॥

कदाचित् आप यह कहें कि यज्ञ में पशु-वध करने से धर्म होता है, अन्यत्र नहीं होता ? तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वध दोनों ही स्थानों में एक समान दुःख का कारण है अतः उसका फल समान ही होना चाहिए इसे कौन रोक सकता है ? कदाचित् आप यह मानते हैं कि पशुओं की रचना विधाता ने यज्ञ के लिए ही की है, अतः यज्ञ में पशु हिंसा करनेवाले के लिए पाप-बन्ध नहीं होता तो यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यह मूर्ख-जन की अभिलाषा है तथा साधुजनों के द्वारा निन्दित है ॥403-405॥

यज्ञ के लिए ही ब्रह्मा ने पशुओं की सृष्टि की है यदि यह आप ठीक मानते हैं तो फिर उनका अत्यन्त उपयोग करना उचित नहीं है क्योंकि जो वस्तु जिस कार्य के लिए बनाई जाती है उसका अन्यथा उपभोग करना कार्यकारी नहीं होता । जैसे कि श्लेष्म आदि को शमन करनेवाली औषधि का यदि अन्यथा उपयोग किया जाता है तो वह विपरीत फलदायी होता है । ऐसे ही यज्ञ के लिए बनाये गये पशुओं से यदि क्रय-विक्रय आदि कार्य किया जाता है तो वह महान् दोष उत्पन्न करनेवाला होना चाहिए । तू वाद करना चाहता है परन्तु दुर्बल है-युक्ति बल से रहित है अतः तेरे पास आकर हम कहते हैं कि जिस प्रकार शस्त्र आदि के द्वारा प्राणियों का विधात करनेवाला भी बिना किसी विशेषता के पाप से बद्ध होता है ॥406-409॥

दूसरी बात यह है कि ब्रह्मा जो पशु आदि को बनाता है वह प्रकट करता है अथवा नवीन बनाता है ? यदि नवीन बनाता है तो आकाश के फूल आदि असत् पदार्थ क्यों नहीं बना देता ? ॥410॥

यदि यह कहो कि ब्रह्मा पशु आदि को नवीन नहीं बनाता है किन्तु प्रकट करता है ? तो फिर यह कहना चाहिए कि प्रकट होने के पहले उनका प्रतिबन्धक क्या था ? उन्हें प्रकट होनेसे रोकनेवाला कौन था ? जिस प्रकार दीपक जलने के पहले अन्धकार घटादि को रोकनेवाला भी कोई होना चाहिए ॥411॥

इस प्रकार आपके सृष्टिवाद में यह व्यक्ति आदर करने के योग्य नहीं है । इस तरह नारद के वचन सुनकर सब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे ॥412॥

सब कहने लगे कि यदि राजा वसु के द्वारा तुम दोनों का विवाद विश्रान्त होता है तो उनके पास जावे । ऐसा कह सभा के सब लोग नारद और पर्वत के साथ स्वस्तिकावती नगर गये ॥413॥

पर्वत के द्वारा कही हुई यह सब जब उसकी माता ने जानी तब वह पर्वत को साथ लेकर राजा वसु के पास गई और राजा वसु के दर्शन कर कहने लगी कि यह निर्धन पर्वत तपोवन के लिए जाते समय तुम्हारे गुरु ने तुम्हारे लिए सौंपा था । आज तुम्हारी अध्यक्षता में यहाँ नारद के साथ विवाद होगा । यदि कदाचित् उस वाद में इसकी पराजय हो गई तो फिर यमराज का मुख ही इसका शरण होगा अन्य कुछ नहीं, यह तुम निश्चित समझ लो, इस प्रकार पर्वत की माता ने राजा वसु से कहा । राजा वसु गुरु की सेवा करना चाहता था अतः बड़े आदर से बोला कि हे माँ ! इस विषय में तुम शंका न करो । मैं पर्वत की ही विजय कराऊँगा । इस तरह कहकर उसने पर्वत की माँ का भय दूर कर दिया ॥414-417॥

दूसरे दिन राजा वसु आकाश-स्फटिक के पायों से खड़े हुए, सिंहासन पर आरूढ़ होकर राज-सभा में विराजमान था उसी समय वे सब विश्वभू मन्त्री आदि राजसभा में पहुँच कर पूछने लगे कि आपसे पहले भी अहिंसा आदि धर्म की रक्षा करने में तत्पर रहनेवाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नाम के चार हरिवंशी राजा हो गये हैं ॥418-419॥

इन सबके अतीत होने पर महाराज विश्वाबसु हुए और उनके बाद अहिंसा धर्म की रक्षा करनेवाले आप हुए हैं । आप ही सत्यवादी हैं इस प्रकार तीनों-लोकों में प्रसिद्ध हैं । किसी भी दशा में संदेह होने पर आप विष, अग्नि और तुला के समान हैं । हे स्वामिन् ! आप ही विश्वास उत्पन्न करनेवाले हैं अतः हम लोगों का संशय दूर कीजिये । नारद ने अहिंसा-लक्षण धर्म बतलाया है और पर्वत इसमें विपरीत कहता है **अर्थ**ात् हिंसा को धर्म बतलाता है । अब उपाध्याय-गुरु महाराज का जैसा उपदेश हो वैसा आप कहिये । इस प्रकार सब लोगों ने राजा

वसु से कहा । राजा वसु यद्यपि आप्त भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्म-तत्त्व को जानता था तथापि गुरू-पत्नी उससे पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी, इसके सिवाय वह महाकाल के द्वारा उत्पादित महामोह से युक्त था, दुःषमा नामक पंचम काल की सीमा निकट थी, और वह स्वयं परिग्रहानन्द रूप रौद्र-ध्यान में तत्पर था अतः कहने लगा कि जो तत्त्व पर्वत ने कहा है वही ठीक है । जो वस्तु प्रत्यक्ष दिख रही है उसमें बाधा हो ही कैसे सकती है ॥420-426॥

इस पर्वत के बताये यज्ञ से ही राजा सगर अपनी रानी सहित स्वर्ग गया है । जो दीपक स्वयं जल रहा है-स्वयं प्रकाशमान है भला उसे दूसरे दीपक के द्वारा कौन प्रकाशित करेगा ? ॥427॥

इसलिए तुम लोग भय छोड़कर जो पर्वत कह रहा है वही करो, वही स्वर्ग का साधन है इस प्रकार हिंसानन्दी और मृषानन्दी रौद्र ध्यान के द्वारा राजा वसु ने नरकायु का बन्ध कर लिया तथा असत्य भाषण के पाप और लोक-निन्दा से नहीं डरने वाले राजा वसु ने उक्त वचन कहे । राजा वसु की यह बात सुनकर नारद और तपस्वी कहने लगे कि आश्चर्य है कि राजा के मुख से ऐसे भयंकर शब्द निकल रहे हैं इसका कोई विषम कारण अवश्य है । उसी समय आकाश गरजने लगा, नदियों का प्रवाह उलटा बहने लगा तालाब शीघ्र ही सूख गये, लगातार रक्त की वर्षा होने लगी, सूर्य की किरणें फीकी पड़ गई, समस्त दिशाएँ मलिन हो गई, प्राणी भय से विह्वल होकर काँपने लगे, बड़े जोर का शब्द करती हुई पृथिवी फटकर दो टुक हो गई और राजा वसु का सिंहासन उस महागर्त में निमग्न हो गया । यह देख आकाश मार्ग में खड़े हुए देव और विद्याधर कहने लगे कि हे बुद्धिमान् राजा वसु ! सनातन मार्ग का उल्लंघन कर धर्म का विध्वंस करनेवाले मार्ग का निरूपण मत करो ॥428-434॥

पृथिवी में सिंहासन घुसने से पर्वत और राजा वसु का मुख फीका पड़ गया । यह देख महाकाल के किंकर तापसियों का वेष रखकर कहने लगे कि आप लोग भय को प्राप्त न हों । यह कहकर उन्होंने वसु का सिंहासन अपने आप के द्वारा उठाकर लोगों को दिखला दिया । राजा वसु यद्यपि सिंहासन के साथ नीचे धँस गया था तथापि जोर देकर कहने लगा कि मैं तत्त्वों का जानकार हूँ अतः इस उपद्रव से कैसे डर सकता हूँ ? मैं फिर भी कहता हूँ कि पर्वत के वचन ही सत्य हैं । इतना कहते ही वह कण्ठ पर्यन्त पृथिवी में धँस गया । उस समय साधुओं ने-तापसियों ने बड़े यत्न से यद्यपि प्रार्थना की थी कि हे राजन् ! तेरी यह अवस्था असत्य-भाषण से ही हुई है इसलिए इसे छोड़ दे तथापि वह अज्ञानी यज्ञ को ही सन्मार्ग बतलाता रहा । अन्त में पृथिवी ने उसे कुपित होकर हो मानो निगल लिया और वह मरकर सातवें नरक गया ॥435-439॥

तदनन्तर वह असुर जगत् को विश्वास दिलाने के लिए राजा सगर और वसु का सुन्दर रूप धारण कर कहने लगा कि हम दोनों नारद का कहा न सुनकर यज्ञ की श्रद्धा से ही स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं । इस प्रकार कहकर वह अदृश्य हो गया । इस घटना से लोगों को बहुत शोक और आश्चर्य हुआ । उनमें कोई कहता था कि राजा सगर स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नहीं, नरक गया है । इस तरह विवाद करते हुए विश्वम्भू मन्त्री अपने घर चला गया । तदनन्तर प्रयाग में उसने राजसूय यज्ञ किया । इस पर महापुर आदि नगरों के राजा मनुष्यों की मूढ़ता की निन्दा करने लगे और परम ब्रह्म-परमात्मा के द्वारा बतलाये मार्ग में तल्लीन होते हुए थोड़े दिन तक यों ही ठहरे रहे ॥440-443॥ इस समय नारद के द्वारा ही धर्म की मर्यादा स्थिर रह सकी है इसलिए सब लोगों ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसके लिए गिरितट नाम का नगर प्रदान किया ॥444॥

तापसी लोग भी दया धर्म का विध्वंस देख बहुत दुखी हुए और कलिकाल की महिमा समझते हुए अपने-अपने आश्रमों में चले गये ॥ 445॥

तदनन्तर किसी दिन, दिनकरदेव नाम का विद्याधर आया, नारद ने उससे बड़े प्रेम से कहा कि इस समय पर्वत समस्त प्राणियों के विरुद्ध आचरण कर रहा है इसे आपको रोकना चाहिये । उत्तरमें विद्याधरने कहा कि अवश्य रोकूँगा । ऐसा कहकर उसने अपनी विद्या से गंधारपन्नग नामक नागकुमार देवों को बुलाया और विघ्न करने का सब प्रपन्च उन्हें यथा योग्य बतला दिया । नागकुमार देवों ने भी संग्राम में दैत्यों को मार भगाया और यज्ञ में विघ्न मचा दिया । विश्वम्भू मन्त्री और पर्वत यज्ञ में होने वाला विघ्न देखकर शरण की खोज करने लगे । अनायास ही उन्हें सामने खड़ा हुआ महाकाल असुर दिख पड़ा । दिखते ही उन्होंने उससे यज्ञ में विघ्न आने का सब समाचार कह सुनाया, उसे सुनते ही महाकाल ने कहा कि हम लोगों के साथ द्वेष रखनेवाले नागकुमार देवों ने यह उपद्रव किया है । नागविद्याओं का निरूपण विद्यानुवाद में हुआ है । जिनविम्बों के ऊपर इनके विस्तार का निषेध बतलाया है अर्थात् जहाँ जिनविम्ब होते हैं वहाँ इनकी

शक्ति क्षीण हो जाती है ॥446-451॥

इसलिए तुम दोनों चारों दिशाओं में जिनेन्द्र के आकार की सुन्दर प्रतिमाएँ रखकर उनकी पूजा करो और तदनन्तर यज्ञ की विधि प्रारम्भ करो ॥452॥

इस प्रकार महाकाल ने यह उपाय कहा और उन दोनों ने उसे यथाविधि किया । तदनन्तर विद्याधरों का राजा दिनकरदेव यज्ञ में विघ्न करने की इच्छा से आया और जिन प्रतिमाएँ देखकर नारद से कहने लगा कि यहाँ मेरी विद्याएँ नहीं चल चकती ऐसा कहकर वह अपने स्थान पर चला गया ॥453-454॥

इस तरह वह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ और विश्वभू मन्त्री तथा पर्वत दोनों ही आयु के अन्त में मरकर चिरकाल के लिए नरक में दुःख भोगने लगे ॥455॥

अन्त में महाकाल असुर अपना अभिप्राय पूरा कर अपने असली रूपमें प्रकट हुआ और कहने लगा कि मैं पूर्व भवमें पोदनपुर का राजा मधुपिंगल था । मैंने ही इस तरह सुलसाके निमित्त यह बड़ा भारी पाप किया है । जिनेन्द्र भगवान् ने जिस अहिंसा लक्षण धर्म का निरूपण किया है धर्मात्माओं को उसी का पालन करना चाहिये इतना कह वह अन्तर्हित हो गया और दया से आर्द्र बुद्धि होकर उसने अपनी दुष्ट चेष्टाओं का प्रायश्चित्त स्वयं ग्रहण किया ॥456-458॥

मोह वश किये हुए पाप कर्मसे निवृत्ति होना ही प्रायश्चित्त कहलाता है । हिंसा धर्म में प्रवृत्त रहनेवाले विश्वभू आदि समस्त लोग पाप के कारण नरकगतिमें गये और पापसे डरने वाले कितने ही लोगोंने सम्यग्ज्ञानके धारक मुनियों के द्वारा कहा धर्म सुनकर पर्वत के द्वारा कहा मिथ्यामार्ग स्वीकृत नहीं किया और जिनका संसार दीर्घ था ऐसे कितने ही लोग उसी मिथ्यामार्ग में स्थित रहे आये ॥459-461॥

इस प्रकार अतिशयमति मंत्रीके द्वारा कहा हुआ आगम सुनकर प्रथम मंत्री, राजा तथा अन्य सभासद लोगोंने उस द्वितीय मन्त्रीकी बहुत भारी स्तुति की ॥462॥

उस समय राजा दशरथ का महाबल नाम का सेनापति बोला कि यज्ञमें पुण्य हो चाहे पाप, हम लोगों को इससे क्या प्रयोजन है ? हम लोगों को तो राजाओं के बीच दोनों कुमारों का प्रभाव दिखलाना श्रेयस्कर है । सेनापति की यह बात सुनकर राजा दशरथने कहा कि अभी इस बात पर विचार करना है । यह कह कर उन्होंने मंत्री और सेनापतिको तो विदा किया और तदनन्तर हित का उपदेश देनेवाले पुरोहितसे यह प्रश्न पूछा कि राजा जनकके घर जाने पर दोनों कुमारों का इष्ट सिद्ध होगा या नहीं ? उत्तरमें पुरोहित भी पुराणों और निमित्तशास्त्रोंके कहे अनुसार कहने लगा कि हमारे इन दोनों कुमारों का राजा जनकके उस यज्ञमें महान् ऐश्वर्य प्रकट होगा इसमें आपको थोड़ा भी संशय नहीं करना चाहिये । इसके सिवाय एक बात और कहता हूँ ॥463-467॥

वह यह कि इस भरत क्षेत्र में मनु-कुलकर, तीर्थकर, तीन प्रकार के चक्रवर्ती (चक्रवर्ती, नारायण और प्रतिनारायण) और महाप्रतापी बलभद्र होते हैं ऐसा पुराणोंके जाननेवाले मुनियोंने कहा है तथा मैंने भी पहले सुना है । हमारे ये दोनों कुमार उन महापुरुषोंमें आठवें बलभद्र और नारायण होंगे ॥468-469॥

तथा रावणको मारेंगे । इस प्रकार भविष्यको जानने वाले पुरोहितके वचन सुनकर राजा सन्तोष को प्राप्त हुए ॥470॥

कपट रूप बुद्धि को धारण करनेवाले क्रूरपरिणामी महाकाल ने क्रोधवश समस्त संसार में शास्त्रोंके विरुद्ध और अत्यन्त पाप रूप पशुओंकी हिंसासे भरे हिंसामय यज्ञकी प्रवृत्ति चलाई इसी कारणसे वह राजा वसु, दुष्ट पर्वत के साथ घोर नरकमें गया सो ठीक ही है क्योंकि जो पाप उत्पन्न करनेवाले मिथ्यामार्ग चलाते हैं उन पापियोंके लिए नरक जाना कोई बड़ी बात नहीं है ॥471॥

मोहनीय कर्म के उदय से जिसका हृदय शत्रुओं का छल समझने वाले विवेकसे शून्य था ऐसा राजा सगर रानी सुलसा और विश्वभू मन्त्रीके साथ स्वयं हिंसामय क्रियाएँ कर अधोगतिमें जानेके लिए नष्ट हुआ सो जब राजा की यह दशा हुई तब जो अन्य साधारण मनुष्य अपने क्रूर परिणामोंको नष्ट न कर व्यर्थ ही दुष्कर्ममें तल्लीन रहते हैं उनकी क्या ऐसी दशा नहीं होगी ? अवश्य होगी ॥472॥

जिसने अपने श्रेष्ठ आचार्यगुरु का अनुसरण कर हित का उपदेश दिया, विद्वानों की सभा में शास्त्रार्थ कर जिसने साधुवाद-उत्तम प्रशंसा प्राप्त की, जिसने बहुत भारी तप किया और जो विद्वानोंमें श्रेष्ठ था ऐसा श्रीमान् नारद कृतकृत्य होकर सर्वार्थसिद्धि गया ॥473॥

राम, लक्ष्मण, रावण और अणुमान चरित

कथा :

तदनन्तर जिसके शब्द और **अर्थ** सुनने योग्य हैं तथा वाणी सारपूर्ण है ऐसा पुरोहित, 'महाराज आप यह कथा श्रवण करने के योग्य हैं' इस प्रकार महाराज दशरथ को सम्बोधित कर अपने यशरूपी लक्ष्मी से दशों दिशाओं के मुखको प्रकाशित करनेवाले रावणके भवान्तर कहने लगा ॥1-2॥

उसने कहा कि धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व भरत-क्षेत्र में स्वर्गलोक के समान आभावाला एवं पृथिवी के गुणों से युक्त सारसमुच्चय नाम का देश है ॥3॥

अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में जो विजयार्थ नाम का महान् पर्वत है उसकी दक्षिण श्रेणीमें मेघकूट नाम का नगर है। उसमें राजा विनमिके वंश में उत्पन्न हुआ सहस्रग्रीव नाम का विद्याधर राज्य करता था। उसके भाई का पुत्र बहुत बलवान् था इसलिए उसने क्रोधित होकर सहस्रग्रीवको बाहर निकाल दिया था। वह सहस्रग्रीव वहाँसे निकल कर लंका नगरी गया और वहाँ तीस हजार वर्ष तक राज्य करता रहा ॥4-9॥

उसके पुत्र का नाम शतग्रीव था। सहस्रग्रीवके बाद उसने वहाँ पच्चीस हजार वर्ष तक राज्य किया था। उसका पुत्र पन्चाशतग्रीव था उसने भी शतग्रीवके बाद बीस हजार वर्ष तक पृथिवी का पालन किया था, तदनन्तर पन्चाशद्ग्रीवके पुलस्त्य नाम का पुत्र हुआ उसने भी पिता के बाद पन्द्रह हजार वर्ष तक राज्य किया। उसकी स्त्री का नाम मेघश्री था। उन दोनोंके वह देव रावण नाम का पुत्र हुआ। चौदह हजार वर्षकी उसकी उत्कृष्ट आयु थी, पिता के बाद वह भी पृथिवी का पालन करने लगा। एक दिन लंका का ईश्वर रावण अपनी स्त्री के साथ क्रीड़ा करने के लिए किसी वन में गया था। वहाँ विजयार्थ पर्वत के स्थालक नगर के राजा अमितवेग की पुत्री मणिमती विद्या सिद्ध करने में तत्पर थी उसे देखकर चंचल रावण काम और मोहके वश हो गया। उस कन्याको अपने आधीन करने के लिए उस दुष्टने मणिमती की विद्या हरण कर ली। वह कन्या उस विद्याकी सिद्धिके लिए बारह वर्षसे उपवास का क्लेश उठाती अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। विद्या की सिद्धिमें विघ्न होता देख वह विद्याधरोंके राजा पर बहुत कुपित हुई। कुपित होकर उसने निदान किया कि मैं इस राजा की पुत्री होकर इस दुर्बुद्धिका वध अवश्य करूँगी ॥10-16॥

ऐसा निदान कर वह आयु के अन्त में मन्दोदरी के गर्भ में उत्पन्न हुई। जब उसका जन्म हुआ तब भूकम्प आदि बड़े-बड़े उत्पाद हुए उन्हें देख निमित्तज्ञानियोंने कहा कि इस पुत्रीसे रावण का विनाश होगा। यद्यपि रावण निर्भय था तो भी निमित्तज्ञानियोंके वचन सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गया। उसने उसी क्षण मारीच नामक मन्त्री को आज्ञा दी कि इस पापिनी पुत्री को जहाँ कहीं जाकर छोड़ दो। मारीच भी रावण की आज्ञा पाकर मन्दोदरीके घर गया और कहने लगा कि हे देवि, मैं बहुत ही निर्दय हूँ अतः महाराजने मुझे ऐसा काम सौंपा है यह कह उसने मन्दोदरीके लिए रावण की आज्ञा निवेदित की-सूचित की। मन्दोदरी ने भी उत्तर दिया कि मैं महाराज की आज्ञा का निवारण नहीं करती हूँ ॥17-20॥

बार-बार यह शब्द कहे कि हे मारीच ! तेरा हृदय स्वभावसे ही स्नेह पूर्ण है अतः इस बालिका को ऐसे स्थान में छोड़ना जहाँ किसी प्रकार की बाधा न हो। ऐसा कह उसने जिनसे अश्रु झर रहे हैं ऐसे दोनों नेत्र पोंछकर उसके लिए वह पुत्री सौंप दी। मारीच ने ले जाकर वह सन्दूकची मिथिलानगरी के उद्यान के निकट किसी प्रकट स्थान में जमीनके भीतर रख दी और स्वयं शोक से विषाद करता हुआ वह लौट गया। उसी दिन कुछ लोग घर बनवानेके लिए जमीन देख रहे थे, वे हल चलाकर उसकी नोंकसे वहाँ की भूमि ठीक कर रहे थे। उसी समय वह सन्दूकची हलके अग्रभाग में आ लगी। वहाँ जो अधिकारी कार्य कर रहे थे उन्होंने इसे आश्चर्य समझ राजा जनकके लिए इसकी सूचना दी ॥21-25॥

राजा जनकने उस सन्दूकची के भीतर रखी हुई सुन्दर कन्या देखी और पत्रसे उसके जन्म का सब समाचार तथा पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात किया। तदनन्तर उसका सीता नाम रखकर 'यह तुम्हारी पुत्री होगी' यह कहते हुए उन्होंने बड़े हर्ष से वह पुत्री वसुधा रानी के लिए दे दी ॥ 26-27॥

रानी वसुधा ने भूमिगृह के भीतर रहकर उस पुत्री का पालन-पोषण किया है तथा उसके कलारूप गुणों की वृद्धि की है। यह कन्या इतनी गुप्त रखी गई है कि लंकेश्वर रावण को इसका पता भी नहीं है। इसके सिवाय राजा जनक यज्ञ कर रहे हैं यह खबर भी रावण को नहीं है अतः वह इस उत्सव में नहीं आवेगा। ऐसी स्थिति में राजा जनक वह कन्या रामके लिए अवश्य देवेंगे। इसलिए राम और लक्ष्मण ये दोनों

ही कुमार वहाँ अवश्य ही भेजे जाने के योग्य हैं। इस प्रकार निमित्तज्ञानी पुरोहित के कहने से राजा समस्त सेना के साथ राम और लक्ष्मण को भेज दिया ॥28-30॥

अनुराग से भरे हुए राजा जनक ने उन दोनों की अगवानी की। 'पूर्व जन्म में संचित अपने अपरिमिति पुण्य के उदय से जो इन्हें रूप आदि गुणों की सम्पदा प्राप्त हुई है उससे ये सचमुच ही अनुपम हैं-उपमा रहित हैं' इस प्रकार प्रशंसा करते हुए नगर के लोग जिन्हें देख रहे हैं ऐसे दोनों भाई साथ ही साथ नगर में प्रवेश कर राजा जनक के द्वारा बतलाये हुए स्थान पर सुख के ठहर गये। कुछ दिनों के बाद जब अनेक राजाओं का समूह आ गया तब उनके सन्निधान में राजा जनकने अपने इष्ट यज्ञ की विधि पूरी की और बड़े वैभव के साथ रामचन्द्रके लिए सीता प्रदान की ॥31-34॥

रामचन्द्रजी ने कुछ दिन तक लक्ष्मी के समान सीता के साथ वहीं जनकपुर में नये प्रेम से उत्पन्न हुए सातिशय सुख का उपभोग किया ॥ 35॥

तदनन्तर राजा दशरथ के पास से आये हुए मन्त्रियों के कहने से रामचन्द्रजी ने राजा जनक की आज्ञा ले शुद्ध तिथि में परिवार के लोग, सीता तथा लक्ष्मण के साथ बड़े हर्ष से अयोध्या की ओर प्रस्थान किया और शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर दोनों छोटे भाई भरत और शत्रुघ्न ने, बन्धुओं तथा परिवार के लोगों ने उनकी अगवानी की। जिस प्रकार इन्द्र बड़े वैभव के साथ अपनी नगरी अमरावती में प्रवेश करता है उसी प्रकार विजयी रामचन्द्रजी ने बड़े वैभवके साथ अयोध्यापुरी में प्रवेश किया ॥36-38॥

वहाँ उन्होंने प्रसन्न चित्त के धारक माता-पिता के दर्शन यथा-योग्य प्रेम से किये। तदनन्तर जिनकी लक्ष्मी उत्तरोत्तर बढ़ रही है ऐसे रामचन्द्रजी सीता तथा छोटे भाइयों के साथ सुख से रहने लगे ॥39॥

उसी समय अपने द्वारा उनके उत्सव को बढ़ाता हुआ वसन्त-ऋतु आ पहुँचा। कोयलों और भ्रमरों के समूह जो मनोहर शब्द कर रहे थे वही मानो उसके नगाड़े थे, वह समस्त दिशाओं को सुशोभित कर रहा था। जो कामदेव, तपोधन-साधुओं के साथ सन्धि करता है और शिथिल-व्रती था, और संयुक्त मनुष्यों को परस्पर में सम्बद्ध करता था। इस प्रचण्ड शक्तिवाले वसन्त-ऋतु ने संसार में प्रवेश किया ॥ 40-41॥

वसन्त-ऋतु के आते ही वन में जो उत्तम वनस्पतियों की जातियाँ थीं उनमें से कितनी ही अंकुरित हो उठीं और कितनी ही अपने पल्लवों से सानुराग हो गई, कितनी ही वनस्पतियों पर कलियाँ आ गई थीं, और कितनी ही वनस्पतियाँ, जिनके प्राण-वल्लभ अपनी अवधि के भीतर आ गये हैं ऐसी स्त्रियों के समान फूलों के समूह से निरन्तर हँसने लगीं ॥43-44॥

उस समय चन्द्रमा का मण्डल का मण्डल बर्फके पटलसे उन्मुक्त होने के कारण अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता था और सब दिशाओंमें शोभा बढ़ानेवाली अपनी चाँदनी फैला रहा था ॥45॥

दक्षिण दिशा का वायु श्रेष्ठ सुगन्धिको लेकर फूलोंसे उत्पन्न हुई परागको बिखेरता हुआ सरोवर के जलके कणोंके साथ वह रहा था ॥46॥ उसी समय अतिशय कुशल राजा दशरथने श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजापूर्वक अन्य सात सुन्दर कन्याओं के साथ रामचन्द्रका तथा पृथिवी देवी आदि सोलह राजकन्याओं के साथ लक्ष्मण का विवाह किया था ॥47-48॥

तदनन्तर राम और लक्ष्मण दोनों भाई समस्त ऋतुओंमें उन स्त्रियों के साथ प्रेमपूर्वक सुख प्राप्त करने लगे और वे स्त्रियाँ उन दोनोंके साथ प्रेमपूर्वक सुख का उपभोग करने लगीं सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य बाह्य हेतुओंसे ही सुख का देनेवाला होता है ॥49॥

इस प्रकार पुण्योदय से श्रेष्ठ सुख का अनुभव करने में तत्पर रहनेवाले दोनों भाई किसी समय अवसर पाकर राजा दशरथसे इस प्रकार कहने लगे ॥50॥

कि काशीदेश में वाराणसी (बनारस) नाम का उत्तम नगर हमारे पूर्वजोंकी परम्परासे ही हमारे आधीन चल रहा है परन्तु वह इस समय स्वामि रहित हो रहा है। यदि आपकी आज्ञा हो तो हम दोनों उसे बढ़ते हुए वैभव से युक्त कर दें। उनका कहा सुनकर राजा दशरथने कहा कि भरत आदि तुम दोनों का वियोग सहन करने में असमर्थ हैं। पूर्वकालमें हमारे वंशज राजा इसी अयोध्या नगरी में रहकर ही चिरकाल तक पृथिवी का पालन करते रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा यद्यपि एक स्थान में रहते हैं तो भी उनका तेज सर्वत्र व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार आप दोनों का तेज एक स्थान में स्थित होने पर भी समस्त पृथिवी-मण्डलमें व्याप्त हो रहा है इसलिए वहाँ जानेकी क्या आवश्यकता है? मत जाओ? यद्यपि महाराज दशरथने उन्हें बनारस जानेसे रोक दिया था तो भी वे पुनः इस प्रकार कहने लगे कि

महाराज का हम दोनों पर जो महान् प्रेम है वही हम दोनोंके जानेमें बाधा कर रहा है ॥51-56॥

जब तक शूरवीरता का होना सम्भव है और जब तक पुण्यकी स्थिति बाकी रहती है तब तक अभ्युदयके इच्छुक पुरुष उत्साहकी तत्परताको नहीं छोड़ते हैं ॥57॥

जो राजपुत्र विरूद्ध-शत्रुओं को जीतना चाहते हैं उन्हें बुद्धि शक्ति उपाय विजय गुणों का विकल्प और प्रजा अथवा मन्त्री आदि प्रकृतिके भेदोंको अच्छी तरह जानकर महान् उद्योग करना चाहिये । उनमें से बुद्धि दो प्रकार की कही जाती है एक स्वभावसे उत्पन्न हुई और दूसरी विनय से उत्पन्न हुई ॥58-59॥

शक्ति तीन प्रकार की कही गई है एक मन्त्रशक्ति, दूसरी उत्साह-शक्ति और तीसरी प्रभुत्व-शक्ति । सहायक, साधनके उपाय, देशविभाग, काल-विभाग और बाधक कारणों का प्रतिकार इन पाँच अंगोंके द्वारा मन्त्र का निर्णय करना आगममें मन्त्रशक्ति बतलाई गई है ॥60॥

शक्तिके जाननेवाले शूर-वीरतासे उत्पन्न हुए उत्साहको उत्साह-शक्ति मानते हैं । राजा के पास कोश (खजाना) और दण्ड (सेना) की जो अधिकता होती है उसे प्रभुत्व-शक्ति कहते हैं ॥61॥

नीतिशास्त्रके विद्वान् साम, दान, भेद और दण्ड इन्हें चार उपाय कहते हैं । इनके द्वारा राजा लोग अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं ॥62॥ प्रिय तथा हितकारी वचन बोलना और शरीरसे आलिंगन आदि करना साम कहलाता है । हाथी, घोड़ा, देश तथा रत्न आदि का देना उपप्रदा-दान कहलाता है । उपजाप अर्थात् परस्पर फूट डालनेके द्वारा अपना कार्य स्वीकृत करना-सिद्ध करना भेद कहलाता है । शत्रु के घास आदि आवश्यक सामग्रीकी चोरी करा लेना, उनका वध करा देना, आग लगा देना, किसी वस्तुको छिपा देना अथवा सर्वथा नष्ट कर देना इत्यादि शत्रुओं का क्षय करनेवाले जितने कार्य हैं उन्हें पण्डित लोग दण्ड कहते हैं । इन्द्रियों की अपने-अपने योग्य विषयोंमें विरोध रहित प्रवृत्ति होना तथा कामादि शत्रुओं को भयभीत करना जयशाली मनुष्य की जय कहलाती है ॥63-65॥

सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव ये राजा के छह गुण कहे गये हैं । ये छहों गुण लक्ष्मी के स्नेही हैं । युद्ध करनेवाले दो राजाओं का पीछे किसी कारणसे जो मैत्रीभाव हो जाता है उसे सन्धि कहते हैं । यह सन्धि दो प्रकार की है अवधि सहित-कुछ समयके लिए और अवधि रहित-सदाके लिए । शत्रु तथा उसे जीतने वाला दूसरा राजा ये दोनों परस्पर में जो एक दूसरे का अपकार करते हैं उसे विग्रह कहते हैं ॥66- 68॥

इस समय मुझे कोई दूसरा और मैं किसी दूसरे को नष्ट करने के लिए समर्थ नहीं हूँ ऐसा विचार कर जो राजा चुप बैठ रहता है उसे आसन कहते हैं । यह आसन नाम का गुण राजाओंकी वृद्धि का कारण है ॥69॥

अपनी वृद्धि और शत्रुकी हानि होने पर दोनों का शत्रु के प्रति जो उद्यम है-शत्रु पर चढ़कर जाना है उसे यान कहते हैं । यह यान अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि रूप फल को देनेवाला है ॥70॥

जिसका कोई शरण नहीं है उसे अपनी शरणमें रखना संश्रय नाम का गुण है और शत्रुओंमें सन्धि तथा विग्रह करा देना द्वैधीभाव नाम का गुण है ॥71॥

स्वामी, मन्त्री, देश, खजाना, दण्ड, गढ और मित्र ये राजाकी सात प्रकृतियाँ कहलाती हैं ॥72॥

विद्वान् लोगोंने ऊपर कहे हुए ये सब पदार्थ, राज्य स्थिर रहनेके कारण माने हैं । यद्यपि ये सब कारण हैं तो भी साम आदि उपायों के साथ शक्ति का प्रयोग करना प्रधान कारण हैं ॥73॥

जिस प्रकार खोदनेसे पानी और परस्पर की रगडसे अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उद्योगसे, जो उत्तम फल अदृश्य है-दिखाई नहीं देता वह भी प्राप्त करने के योग्य हो जाता है ॥74॥

जिस प्रकार फल और फूलोंसे रहित आमके वृक्षको पक्षी छोड़ देते हैं और विवेकी मनुष्य उपनिष्ट मिथ्या अपने योद्धा सामन्त और महामन्त्री आदि भी उसे छोड़ देते हैं ॥75-76॥

इसी तरह पिता भी उद्यम रहित पुत्रको अयोग्य समझकर दुखी होता है । राम और लक्ष्मणकी ऐसी प्रार्थना सुनकर महाराज दशरथ उस समय बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि तुम दोनोंने जो कहा है वह अपने कुलके योग्य ही कहा है । इस प्रकार हर्ष प्रकट करते हुए उन्होंने भावी बलभद्र-रामचन्द्रके शिर पर स्वयं अपने हाथोंसे राज्यके योग्य विशाल मुकुट बाँधा और महाप्रतापी लक्ष्मणके लिए यौवराज

का आधिपत्य पट्ट प्रदान किया। तदनन्तर महान् वैभव सम्पादन करनेवाले सत्य आशीर्वादके द्वारा बढ़ाते हुए राजा दशरथने उन दोनों पुत्रोंको बनारस नगर के प्रति भेज दिया ॥77- 80॥

दोनों भाइयोंने जाकर उस उत्कृष्ट नगर में प्रवेश किया और वहाँके रहनेवाले नगरवासियों तथा देशवासियोंको दोनों भाई सदा दान मान आदिके द्वारा सन्तुष्ट करने लगे। वे सदा दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का पालन करते थे, नीतिके जानकार थे तथा पूर्व मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करते थे। उनका प्रजा पालन करना ही मुख्य कार्य था। वे कृतकृत्य हो चुके थे-सब कार्य कर चुके थे अथवा किसी भी कार्यको प्रारम्भ कर उसे पूरा कर ही छोड़ते थे। इस प्रकार शल्यरहित उत्तम सुख प्रदान करने - वाले श्रेष्ठ कल्याणोंसे उनका समय व्यतीत हो रहा था ॥81- 83॥

इधर रावण, त्रिखण्ड भरतक्षेत्र का मैं ही स्वामी हूँ इस इस प्रकार अपने आपको गर्वरूपी पर्वत पर विद्यमान सूर्य के समान समझ ने लगा। वह शत्रुओं को रूलाता था इसलिए उसका रावण नाम पड़ा था। अपने तेज और प्रतापके द्वारा उसने सूर्य मण्डलको तिरस्कृत कर दिया था। दण्ड लेने के लिए पास आये हुए सामन्तोंके नम्रीभूत मुकुटोंके अग्रभाग में जो देदीप्यमान मणि लगे हुए थे उनके किरणरूपी जल के भीतर उस रावणके चरणकमल विकसित हो रहे थे। वह अपने सिंहासन पर बैठा हुआ था, उस पर चमर दुराये जा रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ नीलमेघ ही हो। वह भौंह टेढ़ी कर लोगोंसे वार्तालाप कर रहा था जिससे बहुत ही भयंकर जान पड़ता था। छोटे भाई, पुत्र, मूलवर्ग तथा बहुतसे योद्धा उसे घेरे हुए थे ॥84- 88॥

ऐसे रावणके पास किसी एक दिन नारदजी आ पहुँचे। वे नारदजी अपनी पीली तथा ऊँची उठी हुई जटाओं के समूह की प्रभा से आकाशको पीतवर्ग कर रहे थे, इन्द्रनीलमणिके बने हुए अक्षसूत्र-जयमाला को उन्होंने अपने हाथमें किसी बड़ी चूडीके आकार लपेट रक्खा था जिससे उनकी अंगुलियाँ बहुत ही सुशोभित हो रही थीं, तीर्थोदकसे भरा हुआ उनका पद्मराग निर्मित कमण्डलु बड़ा भला मालूम होता था और सुवर्ण सूत्र निर्मित यज्ञोपवीतसे उनका शरीर पवित्र था। आकाश से उतरते ही नारदजी ने द्वारके समीप रावणको देखा। यह देख रावणने नारद से कहा कि हे भद्र, बहुत दिन बाद दिखे हो, बैठिये, कहाँसे आ रहे हैं ? और आपका आगमन किसलिए हुआ है ? रावणके द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर दुर्बुद्धि नारद यह कहने लगा ॥89-92॥

अहंकारी तथा दुर्जय राजारूपी क्रुद्ध हस्तियों को नष्ट करने में सिंह के समान हे दशानन ! जो मैं कह रहा हूँ उसे तू चित्त स्थिर कर सून ॥ 93॥

हे राजन् ! आज मेरा बनारस से यहाँ आना हुआ है। उस नगरी का स्वामी इक्ष्वाकुवंशरूपी आकाश का सूर्य राजा दशरथ का अतिशय प्रसिद्ध पुत्र राम है। वह कुल, रूप, वय, ज्ञान, शूरवीरता तथा सत्य आदि गुणों से महान् है और अपने पुण्योदय से इस समय अभ्युदय-ऐश्वर्यके सन्मुख है। मिथिला के राजा जनकने यज्ञके बहाने उसे स्वयं बुलाकर साक्षात् लक्ष्मी के समान अपनी सीता नाम की पुत्री प्रदान की है। वह इतनी सुन्दरी है कि अपना नाम सुनने मात्रसे ही बड़े-बड़े अहंकारी कामियोंके चित्त को ग्रहण कर लेती है-वश कर लेती है, संसार की सब स्त्रियों के गुणोंको इकट्ठा करके उनकी सम्पदा से ही मानो उसका शरीर बनाया गया है, वह नेत्रोंके सामने आते ही सब जीवों को काम सुख प्रदान करती है और सम्भोगसे होने वाली तृप्तिके बाद तो मुक्ति स्त्री को भी जीतनेमें समर्थ है। वह स्त्रीरूपी रत्न सर्वथा तुम्हारे योग्य था परन्तु मिथिलापतिने तीन खण्ड की अखण्ड सम्पदा को धारण करनेवाले तुम्हारा अनादर कर रामचन्द्रके लिए प्रदान किया है ॥94-99॥

भोगोपभोगमें निमग्न रहने वाले तथा विपुल लक्ष्मी के धारक रामके पास रह कर मैं आया हूँ। मैं उसे सहन नहीं कर सका इसलिए आपके दर्शन करने के लिए प्रेमवश यहाँ आया हूँ। नारदजी की बात सुनकर विद्याधरोंके राजा रावणने 'कामी मनुष्यों की इच्छा ही देखती है नेत्र नहीं देखते हैं' इस लोकोक्तिको सिद्ध करते हुए कहा। उस समय सीता सम्बन्धी वचन सुनने से रावण का चित्त कामदेव के वाणोंकी वर्षासे जर्जर हो रहा था। रावणने कहा कि वह भाग्यशालिनी मेरे सिवाय अन्य भाग्यहीनके पास रहनेके योग्य नहीं है। महासागरको छोड़कर गंगा की स्थिति क्या कहीं अन्यत्र भी होती है ? मैं अत्यन्त दुर्बल रामचन्द्रसे सीताको जबर्दस्ती छीन लाऊँगा और स्थायी कान्ति को धारण करनेवाली रत्नमाला के समान उसे अपने वक्षःस्थल पर धारण करूँगा ॥100-104॥

इस प्रकार कामाग्नि से सन्तान हुए उस अनार्य-पापी रावणने अपनी सभा में कहा मैं कहा सो ठीक ही है क्योंकि दुर्जन मनुष्यों का ऐसा स्वभाव ही होता है ॥105॥

तदनन्तर पाप-बुद्धि का धारक नारद, रावणकी प्रज्वलित क्रोधानिको और भी अधिक प्रज्वलित करने के लिए कहने लगा कि जिसका ऐश्वर्य निरन्तर बढ़ रहा है ऐसा राम तो महाराज पदके योग्य है और भाई लक्ष्मण युवराज पदपर नियुक्त है ॥106-107॥

जब से ये दोनों भाई बनारस में प्रविष्ट हुए हैं तबसे समस्त राजाओंने अपनी-अपनी पुत्रियाँ देकर इनका सम्मान बढ़ाया है और इनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है ॥108॥

इसलिए लक्ष्मण से जिसका प्रताप बढ़ रहा है ऐसे रामचन्द्रके साथ हम लोगों को युद्ध करना ठीक नहीं है अतः युद्ध करने का आग्रह छोड़ दीजिये ॥109॥

नारदकी यह बात सुनकर रावण क्रोधित होता हुआ हँसा और कहने लगा कि हे मुने ! तुम हमारा प्रभाव शीघ्र ही सुनोगे । इतना कह कर उसने नारद को तो विदा किया और स्वयं मन्त्रशालामें प्रवेश कर मन में ऐसा विचार करने लगा कि यह कार्य किसी उपाय से ही सिद्ध करने के योग्य है, बलपूर्वक सिद्ध करने में इस की शोभा नहीं है । विद्वान लोग उपायके द्वारा बड़े से बड़े पुरुष की भी लक्ष्मी हरण कर लेते हैं । ऐसा विचार उसने मन्त्री को बुलाकर कहा कि राजा दशरथके लड़के राम और लक्ष्मण बड़े अहंकारी हो गये हैं । वे हमारा पद जीतना चाहते हैं इसलिए शीघ्र ही उनका उच्छेद करना चाहिए । दुष्ट रामचन्द्रकी सीता नाम की स्त्री है । मैं उन दोनों भाइयोंको मारनेके लिए उस सीता का हरण करूँगा । तुम इसका उपाय सोचो । जब रावण यह कह चुका तब मारीच नाम का मन्त्री विनय से हाथ जोड़ता हुआ बोला ॥110-114॥

कि हे पूज्य स्वामिन् ! हितकारी कार्य में प्रवृत्ति कराना और अहितकारी कार्य का निषेध करना मन्त्रीके यही दो कार्य हैं ॥115॥

आपने जिस कार्य का निरूपण किया है वह अपथ्य है-अहितकारी है, अकीर्ति करनेवाला है, पापानुबन्धी है, दुःसाध्य है, अयोग्य है, सज्जनोंके द्वारा निन्दनीय है, परस्त्री का अपहरण करना सब पापोंमें बड़ा पाप है, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ ऐसा कौन पुरुष होगा जो कभी इस अकार्य का विचार करेगा ॥116-117॥

फिर उनका उच्छेद करने के लिए दूसरे उपाय भी विद्यमान हैं अतः आपका वंश नष्ट करने के लिए धूमकेतुके समान इस कुकृत्यके करनेसे क्या लाभ है ? ॥118॥

इस प्रकार मारीचने सार्थक वचन कहे परन्तु जिस प्रकार निकटकालमें मरनेवाला मनुष्य औषध ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार निर्बुद्धि रावणने उसके वचन ग्रहण नहीं किये ॥119॥

वह मारीचसे कहने लगा कि 'हम तुम्हारी बात नहीं मानते' यही तुमने क्यों नहीं कहा ? हे मन्त्रिन् ! इष्ट वस्तुका घात करनेवाले इस विपरीत वचन से क्या लाभ है ? ॥120॥

हे आर्य ? यदि आप सीता-हरण का कोई उपाय जानते हैं तो मेरे लिए कहिये । इस प्रकार रावणके वचन सुन मारीच कहने लगा कि यदि आपका यही निश्चय है तो पहले दूतीके द्वारा इस बात का पता चला लीजिये कि उस सती का आपमें अनुराग है या नहीं ? यदि उसका आपमें अनुराग है तो वह स्नेहपूर्ण किसी सुखकर उपायसे ही लाई जा सकती है और यदि आपमें विरक्त है तो फिर हे देव, हठ पूर्वक उसे ले आना चाहिए । मारीचके वचन सुनकर रावण उसकी प्रशंसा करता हुआ 'ठीक-ठीक' ऐसा कहने लगा ॥121-123॥

उसी समय उस कायरने शूर्पणखा को बुलाकर कहा कि तू किसी उपाय से सीताको मुझमें अनुरक्त कर ॥124॥

इस प्रकार उसने बड़े आदर से कहा । शूर्पणखा भी इस कार्यकी प्रतिज्ञा कर उसी समय वेग से आकाश में चल पड़ी और बनारस जा पहुँची ॥125॥

उस समय वसन्त ऋतु थी अतः रामचन्द्रजी नन्दन वन से भी अधिक सुन्दर चित्रकूट नामक वन में रमण करने के लिए सीताके साथ गये हुए थे ॥126॥

वहाँ वे वन के बीच में घूम-घूमकर नाना वनस्पतियों को देख रहे थे । वहाँ एक लता थी जो फूलोंसे सहित होने के कारण ऐसी जान पड़ती थी मानों हँस ही रही हो तथा पल्लवोंसे सहित होने के कारण ऐसी मालूम होती थी मानो अनुराग से सहित ही हो । वह पतली थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कृश शरीर वाली कोई दूसरी स्त्री ही हो । वे उसे बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे । उस लताको देखते हुए रामचन्द्रजीके प्रति सीताने कुछ क्रोध युक्त होकर देखा । उसे देखते ही रामचन्द्रने कहा कि यह विना कारण ही कुपित हो रही है अतः इसे प्रसन्न करना चाहिए । वे कहने लगे कि हे चन्द्रमुखि ! देख, जिस प्रकार मैं तुम्हारे मुख पर आसक्त रहता हूँ उसी प्रकार इधर यह भ्रमर

इस लताके फूल पर कैसा आसक्त हो रहा है ? उधर ये अशोक वृक्ष स्वयं सन्तुष्ट करने के लिए नये-नये फूलों के द्वारा मानो अपना अनुराग ही प्रकट कर रहे हैं ॥127-130॥

हे प्रिये ! मेरे नेत्ररूपी भ्रमरोंको सन्तुष्ट करने के लिए तू इन फूलों के द्वारा चित्र-विचित्र सेहरा बाँधकर अपने हाथसे मेरे इन केशोंको अलंकृत कर । मैं तेरे लिए भी इन पुष्पों और प्रवालोंसे भूषण बनाता हूँ । इन फूलों और प्रवालोंसे तू सचमुच ही एक चलती-फिरती लताके समान सुशोभित होगी ॥131-132॥

इस प्रकार रामने यद्यपि कितने ही शब्द कहे तो भी सीता क्रोधवश चुप ही बैठी रही । यह देख मिष्ट तथा इष्ट वचन बोलने वाले राम फिर भी इस प्रकार कहने लगे ॥133॥

हे प्रिये ! तेरे दर्पणमें तेरा मुख देखकर कृतकृत्य हो चुके हैं और तेरी नाक तेरे मुख की सुगन्धि से ही मानो अत्यन्त तृप्त हो गई है ॥134॥ तेरे सुनने तथा गाने योग्य उत्तम शब्द सुनकर कान रससे लबालब भर गये हैं । तेरे अधर-विम्बका सवाद लेकर ही तेरी जिह्वा अन्य पदार्थों के रससे निःस्पृह हो गई है ॥135॥

तेरे हाथ तेरे कठिन स्तनों का स्पर्श कर सन्तुष्ट हो गये हैं इसी प्रकार हे प्रिये ! तेरी समस्त इन्द्रियों के सन्तुष्ट हो जानेसे तेरा मन भी खूब सन्तुष्ट हो गया है । इस तरह तू इस समय अपने आप में तृप्त हो रही है इसलिए तेरी आकृति ठीक सिद्ध भगवान् के समान जान पड़ती है फिर भी हे प्रिये ! तुझे क्रोध करना क्या उचित है । इस प्रकार चतुर शब्दोंके द्वारा रामने सीताको समझाया । तदनन्तर प्रसन्न हुई सीताके साथ राजा रामचन्द्रने समस्त इन्द्रियों से उत्पन्न हुए अभूतपूर्व सुख का अनुभव किया । सो ठीक ही है क्योंकि कहीं-कहीं क्रोध भी सुखदायी हो जाता है ॥136-138॥

वही पर लक्ष्मण भी इसी तरह अपनी स्त्रियों के साथ रमण करते थे । उस समय कामदेव बड़े हर्ष से उन सबके लिए इच्छानुसार सुख प्रदान करता था ॥139॥

इस प्रकार रामचन्द्र चिरकाल तक क्रीड़ा कर सीतासे कहने लगे कि हे प्रिये ! यह सूर्य अपनी किरणों से सबको जला रहा है सो ठीक ही है क्योंकि मस्तक पर स्थित हुआ उग्र प्रकृति का धारक किस की शान्तिके लिए होता है ? ॥140॥

लक्ष्मणके आक्रमण और पराक्रम से पराजित हुए शत्रु के समान ये वृक्ष अपनी छायाको अपने आप में लीन कर रहे हैं ॥141॥

शत्रु राजाओं के परिवारोंके समान इन बच्चों सहित हरिणों को कहीं भी आश्रय नहीं मिल रहा है इसलिए ये सन्तप्त होकर इधर उधर घूम रहे हैं ॥142॥

इस प्रकार चित्त हरण करनेवाले शब्दोंसे सीताको प्रसन्न करते हुए रामचन्द्र, इन्द्राणीके साथ इन्द्रके समान, सीताके साथ वन-क्रीड़ा करने लगे ॥143॥

रामचन्द्र सीता को कुछ खेद-खिन्न देख सरोवरके पास पहुँचे और सीताको यन्त्रसे छोड़ी हुई जल की ठण्डी बूँदोंसे सींचने लगे ॥144॥

उस समय कुछ-कुछ बन्द हुए चञ्चल नेत्ररूपी नीलकमलों से उज्ज्वल सीता का मुख-कमल देखते हुए रामचन्द्रजी बहुत कुछ सन्तुष्ट हुए थे ॥145॥

वे बुद्धिमान् रामचन्द्रजी आलिंगन करने में उत्सुक तथा मन्द हास्य करती हुई सीताके समीप छाती तक पानीमें घुस गये थे सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य इशारोंको अच्छी तरह समझते हैं ॥146॥

वहाँ बहुतसे भ्रमर कमल छोड़कर एक साथ सीताके मुखकमल पर आ झपटे उनसे वह व्याकुल हो उठी । यह देख रामचन्द्रजी कुछ खिन्न हुए तो कुछ प्रसन्न भी हुए ॥147॥

इस तरह जलमें चिरकाल तक क्रीड़ा कर और मनोरथ पूर्ण कर रामचन्द्रजी अपने अन्तःपुरके साथ वनके किसी रमणीय स्थान में जा बैठे ॥148॥

उसी समय वहाँ शूर्पणखा आई और दोनों राजकुमारों की अनुपम शोभा को बड़े आश्चर्यके साथ देखती हुई उन पर अनुरक्त हो गई ॥149॥

उस समय सीता बहुत भारी फूलों के भार से झुके हुए किसी सुन्दर अशोक वृक्ष के नीचे हरे मणि के शिला-तल पर बैठी हुई थी, आस-पास बैठी हुई सखियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं जिससे वह वन-लक्ष्मी के समान जान पड़ती थी, उसे देख शूर्पणखा कहने लगी कि इसमें

रावण का प्रेम होना ठीक ही है ॥150-151॥

रूप परावर्तन विद्यासे वह बुढ़िया बन गई उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो सीता का विलास देखने से उत्पन्न हुई लज्जाके कारण ही उसने अपना रूप परिवर्तित कर लिया हो ॥152॥

कवि लोग उसके रूप का ऐसा वर्णन करते थे, और कौतुक सहित ऐसा मानते थे कि विधाता ने इसका रूप अपनी बुद्धि की कुशलता से नहीं बनाया है अपितु अनायास ही बन गया है। यदि ऐसा न होता तो वह इसके समान ही दूसरा रूप क्यों नहीं बनाता ? ॥153॥

सीताको छोड़ अन्य रानियाँ यौवन से उद्धत हो, वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण दिखने वाली उस बुढ़िया को देख हँसी करती हुई बोली कि बतला तो सही तू कौन है ? और कहाँसे आई है ? इसके उत्तरमें बुढ़िया कहने लगी कि मैं इस बगीचा की रक्षा करनेवाले की माता हूँ और यहीं पर रहती हूँ ॥154-155॥

तदनन्तर उनके चित्तकी परीक्षा करने के लिए वह फिर कहने लगी कि हे माननीयो ! आप लोगों के सिवाय जो अन्य स्त्रियाँ हैं वे अपुण्यभागिनी हैं, आप लोग ही पुण्यशालिनी हैं क्योंकि इन कुमारोंके साथ आप लोग भोग भोगनेमें सदा तत्पर रहती हैं। आप लोगोंने पूर्वभवमें कौन-सा पुण्य कर्म किया था, वह मुझसे कहिये। मैं भी उसे करूँगी, जिससे इस राजा की रानी होकर इसे अन्य रानियों से विरक्त कर दूँगी। इस प्रकार उसके वचन सुन सब रानियाँ यह कहती हुई हँसने लगीं कि इसका शरीर ही बुढ़ापासे ग्रस्त हुआ है चित्त तो जवान है और काम से विह्वल है ॥156-159॥

इसके उत्तरमें बुढ़िया बोली कि आप लोग कुल, उत्तम रूप तथा कला आदि गुणों से युक्त हैं अतः आपको हँसी करना उचित नहीं है। आप सबको एक समान प्रेम रूपी फल की प्राप्ति हुई है इससे बढ़कर जन्म का दूसरा फल क्या हो सकता है ? आप लोग ही कहें। इस प्रकार कहती हुई बुढ़िया से वे फिर कहने लगीं कि यदि तेरे जन्म का यही फल है तो हम तुझे अपने-अपने पतिके साथ विधिपूर्वक मिला देंगी। तू बिना किसी विचारके इनकी पट्टरानी हो जाना। इस प्रकार उन स्त्रियोंकी हँसी रूपी वाणों का निशाना बनती हुई बुढ़ियाको देख सीता दया से कहने लगी कि तू स्त्रीपना क्यों चाहती है ? जान पड़ता है तू अपना हित भी नहीं समझती ॥160-163॥

स्त्रीपने का अनुभव करती हुई ये सब रानियाँ इस लोक में अनिष्ट फल प्राप्त कर रही हैं। हे दुर्बुद्धे ! यह स्त्रीपर्याय महापाप का फल है। सुनो, यदि कन्या के लक्षण अच्छे नहीं हुए तो उसे कोई भी पुरुष ग्रहण नहीं करता इसलिए शोक से उसे अपने घर ही रहना पड़ता है। इसके सिवाय कन्या को मरण पर्यन्त कुलकी रक्षा करनी पड़ती है ॥164-165॥

यदि किसी के पुत्र नहीं हुआ तो जिस घर में प्रविष्ट हुई और जिस घर में उत्पन्न हुई-उन दोनों ही घरोंमें शोक छाया रहता है। यदि भाग्यहीन होनेसे कोई वन्ध्या हुई तो उसका गौरव नहीं रहता ॥166॥

यदि कोई स्त्री दुर्भगा अथवा कुरूपा हुई तो पति उसे छोड़ देता है जिससे सदा तिरस्कार उठाना पड़ता है। रजोदोष से वह अस्पृश्य हो जाती है-उसे कोई छूता भी नहीं है। यदि कलह आदिके कारण पति उसे छोड़ देता है तो वन में उत्पन्न हुए वृक्षोंके समान उसे दुःखरूपी दावानलमें सदा जलना पड़ता है। और की बात जाने दो चक्रवर्ती की पुत्री को भी दूसरेके चरणों की सेवा करनी पड़ती है ॥167-168॥ और सपत्नियोंमें यदि किसी की उत्कृष्टता हुई तो सदा मानभंग का दुःख उठाना पड़ता है। स्वभाव, मुख, वचन, काय, और मन की अपेक्षा उनमें सदा कुटिलता बनी रहती है ॥169॥

गर्भधारण तथा प्रसूतिके समय उत्पन्न होनेवाले अनेक रोगादिकी पीड़ा भोगनी पड़ती है। यदि किसी के कन्याकी उत्पत्ति होती है तो शोक छा जाता है, किसी की सन्तान मर जाती है तो उसका दुःख भोगना पड़ता है ॥170॥

विचार करने योग्य खास कार्योंमें उन्हें बाहर रखा जाता है, समस्त कार्योंमें उन्हें परतन्त्र रहना पड़ता है, दुर्भाग्यवश यदि कोई विधवा हो गई तो उसे महान दुःखों का पात्र होना पड़ता है। दानशील उपवास आदि परलोक का हित करने वाले कार्योंके करने में उसकी कोई प्रधानता नहीं रहती। यदि स्त्री के सन्तान नहीं हुई तो कुल का नाश हो जाता है और मुक्ति तो उसे होती ही नहीं है। इनके सिवाय और भी अनेक दोष हैं जो कि सब स्त्रियों में साधारण रूप से पाये जाते हैं फिर क्यों तुझे इस निन्द्य स्त्रीपर्यायमें सुखकी इच्छा हो रही है। हे निर्लज्जे ! तू इस अवस्था में भी अपने भावी हित का विचार नहीं कर रही है इससे जान पड़ता है कि तेरी बुद्धि विपरीत हो गई है ॥

171-174॥

स्त्री पर्यायमें एक सतीपना ही प्रशंसनीय है और वह सतीपना यही है कि अपने पति को चाहे वह कुरूप हो, बीमार हो, दरिद्र हो, दुष्ट

स्वभाव वाला हो, अथवा बुरा बर्ताव करनेवाला हो, छोड़कर ऐसे ही किसी दूसरे की बात जाने दो, चक्रवर्ती भी यदि इच्छा करता हो तो उसे भी कोढ़ी अथवा चाण्डालके समान नहीं चाहना । यदि कोई ऐसा पुरुष जबर्दस्ती आक्रमण कर भोग की इच्छा रखता है तो उसे कुलवती स्त्रियाँ दृष्टिविष सर्प के समान अपने सतीत्वके बलसे शीघ्र ही भस्म कर देती हैं ॥175-177॥

इस प्रकार सीताके वचन सुनकर शूर्पणखा मन में विचार करने लगी कि कदाचित् मन्दरगिरि-सुमेरू पर्वत तो हिलाया जा सकता है पर इसका चित्त नहीं हिलाया जा सकता । ऐसा विचार कर वह बहुत ही व्याकुल हुई ॥178॥

और कहने लगी कि हे देवि ! आपके वचन सुनने से मैं घर का कार्य भूल कर दुःखी हुई, अब जाती हूँ ऐसा कहकर तथा उसके चरणों को नमस्कार कर वह चली गई ॥179॥

कार्य पूरा न होनेसे वह रावणके पास खेद-खिन्न होकर पहुंची सो ठीक ही है क्योंकि जिन कार्यों का प्रारम्भ करना अशक्य है उन कार्यों का क्लेश के सिवाय और क्या फल हो सकता है ? ॥180॥

शूर्पणखा ने पहले तो यथायोग्य विधि से उस रावणके दर्शन किये और तदनन्तर निवेदन किया कि हे देव ! सीता शीलवती है, वह वज्रयष्टिके समान किसी अन्य स्त्रीके द्वारा भेदन नहीं की जा सकती ॥181॥

इस तरह अपना वृत्तान्त कह कर उसने यह कहा कि मैंने शीलवती की क्रोधान्तिके भय से तुम्हारा अभिमत उसके सामने नहीं कहा ॥ 182॥

शूर्पणखाके वचन सुन रावण ने वह सब झूठ समझा और अपनी चेष्टा तथा मुखाकृति आदिसे क्रोधान्तिको प्रकट करता हुआ वह कहने लगा कि हे मुग्धे ! ऐसा कौन विषवादी-गारूडिक है जो सर्प का निःश्वास तथा फणाका विस्तार देख उसके भय से उसे पकड़ना छोड़ देता है ॥183-184॥

उसकी बाह्य धीरताके वचन सुनकर ही तू उससे डर गई और यहाँ वापिस चली आई । स्त्रियों की चित्तवृत्ति हाथी के कानके समान चंचल होती है यह क्या तू नहीं जानती ? ॥185॥

मैं नहीं जानता कि तूने इसका चित्त क्यों नहीं भेदन किया । तू उपायमें कुशल नहीं है किन्तु कुशल जैसी जान पड़ती है । ऐसा कह रावणने शूर्पणखा को खूब डाँट दिखाई ॥186॥

इसके उत्तरमें शूर्पणखा कहने लगी कि यदि मैं भोगोपभोग की वस्तुओं के द्वारा उसका मन अनुरक्त करती तो जो वस्तु वहाँ रामचन्द्रके पास हैं वे अन्यत्र स्वप्न में भी नहीं मिलती हैं ॥187॥

यदि शूर-वीरता आदिके द्वारा उसे अनुरक्त करती तो रामचन्द्रके समान शूरवीर पुरुष कहीं नहीं है । यदि वीणा आदिके द्वारा उसे वश करना चाहती तो वह स्वयं समस्त कला और गुणोंमें विशारद है । भूमि पर खड़े हुए लोगों के द्वारा अपनी हथेलीसे सूर्यमण्डल का पकड़ा जाना सरल है, एक बालक भी पाताल लोकसे शेषनाग का हरण कर सकता है ॥188-189॥

और समुद्र सहित पृथिवी उठाई जा सकती है परन्तु शीलवती स्त्री का चित्त काम से भेदन नहीं किया जा सकता । शूर्पणखाके वचन सुनकर रावण पाप कर्म के उदय से पुष्पक विमान पर सवार हो मन्त्रीके साथ आकाशमार्गसे चल पड़ा । पुष्पक विमान पर साँप की नई काँचली की हँसी करनेवाली निर्मल पताकाएँ फहरा रही थीं उनसे वह लोगों को 'यह हंसों की पंक्ति है' ऐसा सन्देह उत्पन्न कर रहा था । सुवर्ण की बनी छोटी-छोटी घण्टियोंके चंचल शब्दोंसे वह पुष्पक विमानदिशाओं को मुखरित कर रहा था और मेघोंके साथ ऐसा गाढ़ आलिंगन कर रहा था मानो बिछुड़े हुए बन्धुओं के साथ ही आलिंगन कर रहा हो ॥190-193॥

उस पुष्पक विमान पर जो ध्वजा-दण्ड लगा हुआ था उसके अग्रभागसे मेघ खण्डित मेघोंसे पानी की छोटी-छोटी बूँदे झड़ने लगती थीं, मन्द-मन्द वायु उन्हें उड़ा कर ले आती थी जिससे रावण का मार्गसम्बन्धी सब परिश्रम दूर होता जाता था ॥194॥

सीतामें उत्सुक हो पुष्पक विमान में बैठकर जाता हुआ रावण ऐसा दिखाई देता था मानो शरद् ऋतुके मेघोंके बीच में स्थित नीलमेघ ही हो ॥195॥

जब वह चित्रकूट नामक आनन्ददायी प्रधान वन में प्रविष्ट हुआ तब ऐसा सन्तुष्ट हुआ मानो सीताके मन में ही प्रवेश पा चुका हो ॥196॥ तदनन्तर रावण की आज्ञा से मारीचने श्रेष्ठ मणियों से निर्मिति हरिणके बच्चे का रूप बनाकर अपने आपको सीताके सामने प्रकट किया ॥ 197॥

उस मनोहारी हरिणको देखकर सीता रामचन्द्रजीसे कहने लगी कि हे नाथ ! यह बहुत भारी कौतुक देखिये, यह अनेक वर्णोंवाला हरिण हमारे मनको अनुरन्जित कर रहा है ॥198॥

इस प्रकार भाग्यके प्रतिकूल होने पर बुद्धि रहित रामचन्द्र सीताके वचन सुन उसका कुतूहल दूर करने के लिए उस हरिणको लानेके इच्छा से चल पड़े ॥199॥

वह हरिण कभी तो गरदन मोड़ कर पीछे की ओर देखता था, कभी दूर तक लम्बी छलांग भरता था, कभी धीरे-धीरे चलता था, कभी दौड़ता था, और कभी निर्भय हो घासके अंकुर खाने लगता था ॥200॥

कभी अपने आपको इतने पास ले आता था कि हाथ से पकड़ लिया जावे और कभी उछल कर बहुत दूर चला जाता था । उसकी ऐसी चेष्टा देख रामचन्द्रजी कहने लगे कि यह कोई मायामय मृग है मुझे व्यर्थ ही खींच रहा है और कठिनाई से पकड़नेके योग्य है । ऐसा कहते हुए रामचन्द्रजी उसके पीछे-पीछे चले गये परन्तु कुछ समय बाद ही वह उछल कर आकाशांगण में चला गया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त स्त्री के वश है उन्हें करने योग्य कार्य का विचार कहाँ होता है ? ॥201-202॥

जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ साँप दुखी होता है उसी प्रकार रामचन्द्रजी आकाश की ओर देखते तथा अपनी हीनता का वर्णन करते हुए वहीं पर आश्चर्य से चकित होकर ठहर गये ॥203॥

अथानन्तर-रावण रामचन्द्रजी का रूप रखकर सीता के पास आया और कहने लगा कि मैंने उस हरिणको पकड़कर आगे भेज दिया है ॥ 204॥

हे प्रिये ! अब सन्ध्याकाल हो चला है । देखो, यह पश्चिम दिशा सूर्य-बिम्ब को धारण करती हुई ऐसी सुशोभित हो रही है मानो सिन्दूर का तिलक ही लगाये हो ॥205॥

इसलिए हे सुन्दरि ! अब शीघ्र ही सुन्दर पालकी पर सवार होओ, सुखपूर्वक रात्रि बितानेके लिए यह नगरी में वापिस जाने का समय है ॥ 206॥

रावण ने ऐसा कहा तथा पुष्पक विमान को माया से पालकी के आकार बना दिया । सीता भ्रान्तिवश उस पर आरूढ़ हो गई ॥207॥

सीता को व्यामोह उत्पन्न करते हुए रावण अपने आपको ऐसा दिखाया मानो घोड़े पर सवार पृथिवी पर रामचन्द्रजी ही चल रहे हों ॥208॥ इस प्रकार मायाचार में निपुण पापी रावण उपाय द्वारा पतिव्रताओं में अग्रगामिनी-श्रेष्ठ सीता को सर्पिणी के समान अपनी मृत्यु के लिए ले गया ॥209॥

क्रम-क्रम से लंका पहुँचकर उसने सीता को एक वन के बीच उतारा और शीघ्र ही माया दूरकर उसके लाने का क्रम सूचित किया । जिस प्रकार कोई आचार्य अपनी शिष्य-परम्परा के लिए किसी गूढ़ अर्थ को बहुत देर बाद प्रकट करता है उसी प्रकार उसने इन्द्रनील मणि के समान कान्ति बाला अपना शरीर बहुत देर बाद सीता को दिखलाया ॥210-211॥

उसे देखते ही राजपुत्री सीता, भयसे, लज्जासे, और रामचन्द्रके विरहसे उत्पन्न शोक से तीव्र दुःख का प्रतिकार करनेवाली मूर्च्छाको प्राप्त हो गई ॥212॥

शीलवती पतिव्रता स्त्रीके स्पर्शसे मेरी आकाशगामिनी विद्या शीघ्र ही नष्ट हो जावेगी इस भय से उसने सीता का स्वयं स्पर्श नहीं किया ॥ 213॥

किन्तु चतुर विद्याधारियों को बुलाकर यह आदेश दिया कि तुमलोग शीतल जल तथा हवा आदि से इसकी मूर्च्छा दूर करो ॥214॥

जब उन विद्याधारियोंके अनेक उपायों से सीताकी मूर्च्छा दूर हुई तब शंकासे व्याकुल हृदय होती हुई वह उनसे पूछने लगी कि आप लोग कौन हैं ? और यह प्रदेश कौन है ? ॥215॥

इसके उत्तर में विद्याधारियाँ कहने लगीं कि हम लोग विद्याधारियाँ हैं, यह मनोहर लंकापुरी है, और यह तीन खण्डके स्वामी राजा रावण का वन है । इस संसार में आपके समान कोई दूसरी स्त्री पुण्यशालिनी नहीं हैं क्योंकि जिस प्रकार इन्द्राणीने इन्द्रको, सुभद्राने भरत चक्रवर्ती को और श्रीमती ने वज्रजंघको अपना पति बनाया था उसी प्रकार आप भी इस रावणको अपना पति बना रही हैं । आप सौभाग्यसे महालक्ष्मी के धारक रावणकी स्वामिनी होओ ॥216-218॥

इस प्रकार विद्याधारियों के कहने पर सीता बहुत ही दुःखी हुई, उसका मन दीन हो गया । वह कहने लगी कि क्या इन्द्राणी आदि स्त्रियाँ

अपना शील भंगकर इन्द्र आदि पतियोंको प्राप्त हुई थीं ? ॥219॥

ऐसी कौन सी स्त्रियाँ हैं जो प्राणों से भी अधिक अपने गुणों को लक्ष्मी के बदले बेच देती हों । रावण तीन खण्ड का स्वामी हो, चाहे छह खण्डका स्वामी हो और चाहे समस्त लोक का स्वामी हो ॥220॥

यदि वह मेरे आभूषण स्वरूप शील का खण्डन करनेवाला है तो मुझे उससे क्या प्रयोजन है ? सज्जनोंको प्राण प्यारे नहीं, किन्तु गुण प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होते हैं ॥221॥

मैं प्राण देकर अपने इन गुणरूपी प्राणों की रक्षा करूँगी जीवन की नहीं । यह नश्वर शरीर भले ही नष्ट हो जावे परन्तु कुलाचलों का अनुकरण करनेवाला मेरा शील कभी नष्ट नहीं हो सकता' । इस प्रकार प्रत्युत्तर देकर उत्तमशील व्रतको धारण करनेवाली सीता ने मनसे विचार किया और यह नियम ले लिया कि जब तक रामचन्द्रजी की कुशलता का समाचार नहीं सुन लूँगी तब तक न बोलूँगी और न भोजन ही करूँगी ॥222-224॥

वैधव्यपना प्रकट न हो इस विचार से जिसने अपने शरीर पर थोड़े से ही आभूषण रख छोड़े थे बाकी सब दूरकर दिये थे ऐसी सीता वहाँ संसार की दशा का विचार करती हुई रहने लगी ॥225॥

उसी समय लंका में उसे नष्ट करनेवाले यमराज के किंकरों के समान भय उत्पन्न करनेवाले अनेक उत्पात सब ओर होने लगे ॥226॥

जिस प्रकार यज्ञशाला में बँधे हुए बकरा के समीप हरी घास उत्पन्न हो उसी प्रकार रावण की आयुधशाला में कालचक्र के समान चक्र-रत्न प्रकट हुआ । विद्याधरों का राजा रावण उसके उत्पन्न होने का फल नहीं जानता था-उसे यह नहीं मालूम था कि इससे हमारा ही घात होगा अतः जिसके अरों का समूह देदीप्यमान हो रहा है ऐसे उस महाचक्र ने उसे बहुत भारी सन्तोष उत्पन्न किया ॥227-228॥

तदनन्तर मन्त्रियों ने उसे समझाया कि रामचन्द्र होनहार बलभद्र हैं, और उनका छोटा भाई लक्ष्मण नारायण होनेवाला है । इस समय उन दोनों का प्रताप बढ़ रहा है और दोनों ही महान् अभ्युदय के सन्मुख हैं । सीता शीलवती स्त्री है, यह जीते जी तुम्हारी नहीं होगी । शीलवान् पुरुष का तिरस्कार इसी लोक में फल दे देता है । इसके सिवाय नगर में अशुभ की सूचना देने वाले बहुत भारी उत्पात भी हो रहे हैं इसलिए दोनों लोकों में अहित करने एवं युगान्त तक अपयश बढ़ाने वाले इस कुकार्य को उसके पहले ही शीघ्र छोड़ दो जब तक कि यह बात सर्वत्र प्रसिद्धि को प्राप्त होती है' । इस प्रकार मन्त्रियों ने युक्ति से भरे वचन रावण से कहे । रावण प्रत्युत्तरमें कहने लगा कि 'इस तरह आप लोग बिना कुछ सोचे-विचारे ही युक्ति-विरुद्ध वचन क्यों कहते हैं ? अरे, प्रत्यक्ष वस्तुमें विचार करने की क्या आवश्यकता है ? देखो, सीता का अपहरण करने से ही मेरे चक्ररत्न प्रकट हुआ है, इसलिए अब तीन खण्ड का आधिपत्य मेरे हाथमें ही आ गया यह सोचना चाहिये । ऐसा कौन मूर्ख होगा जो घर पर आई हुई लक्ष्मी को पैरसे ठुकरावेगा' । इस प्रकार रावण का उत्तर सुनकर हित का उपदेश देनेवाले सब मन्त्री चुप हो गये ॥229-235॥

इधर रामचन्द्रजी मणियों से बने मायामय मृग का पीछा करते-करते वन में बहुत आगे चले गये वहाँ वे दिशाओं का विभाग भूल गये और सूर्य अस्ताचल पर चला गया । परिवारके लोगोंने उन्हें तथा सीताको बहुत ढूँढ़ा पर जब वे न दिखे तो बहुत ही खेद-खिन्न हुए । सो ठीक ही है क्योंकि शरीर का वियोग तो सहा जा सकता है परन्तु स्वामी का वियोग कौन सह सकता है ॥236-237॥

सबेरा होने पर मनुष्य-लोक के चक्षुस्वरूप सूर्य का उदय हुआ, अन्धकार मानो भय से भाग गया, कमलोंके समूह फूल उठे, रात्रिके कारण परस्पर द्वेष रखनेवाले चकवा-चकवियोंके युगल हर्ष से मिलने लगे और जिस प्रकार अर्थ निर्दोष शब्दके साथ संयोगको प्राप्त होता है अथवा सूर्य दिन के साथ आ मिलता है उसी प्रकार जानकीवल्लभ रामचन्द्रजी परिवारके लोगों के साथ आ मिले । परिजन को देखकर राजा रामचन्द्रजीने बड़ी व्यग्रता से पूछा कि हमारी प्रिया-सीता कहाँ है ? परिजन ने उत्तर दिया कि हे देव ! हम लोगों ने न आपको देखा है और न देवी को देखा है । देवी तो छायाके समान आपके पास ही थी अतः आप ही जाने कि वह कहाँ गई ? इस प्रकार परिजनके वचनों से प्रवेश पाकर क्षण भरके लिए मन को मोहित करती हुई सीताकी सपत्नीके समान मूर्च्छाने रामचन्द्रको पकड़ लिया-उन्हें मूर्च्छा आ गई ॥ 238-242॥

तदनन्तर-सीताकी सखीके समान शीतोपचार की क्रियाने राजा रामचन्द्रको मूर्च्छासे जुदा किया और 'सीता कहाँ है' ? ऐसा कहते हुए वे प्रबुद्ध-सचेत हो गये ॥243॥

परिजनके समस्त लोगों ने सीताको प्रत्येक वृक्ष के नीचे खोजा पर कहीं भी पता नहीं चला । हाँ, किसी वंशकी झाड़ीमें उसके उत्तरीय वस्त्र

का एक टुकड़ा फटकर लग रहा था परिजनके लोगों ने उसे लाकर रामचन्द्रजी को सौंप दिया । उसे देखकर वे कहने लगे कि यह तो सीता का उत्तरीय वस्त्र है, यहाँ कैसे आया ? ॥244-245॥

थोड़ी ही देरमें रामचन्द्रजी उसका सब रहस्य समझ गये । उनका हृदय शोक से व्याकुल हो गया और वे छोटे भाईके साथ चिन्ता करते हुए वहीं बैठ रहे ॥246॥

उसी समय संभ्रमसे भरा एक दूत राजा दशरथके पाससे आकर उनके पास पहुँचा और मस्तक झुकाकर इस प्रकार कार्य का निवेदन करने लगा ॥247॥

उसने कहा कि आज महाराज दशरथने स्वप्न देखा है कि राहु रोहिणीको हरकर दूसरे आकाश में चला गया है और उसके विरहमें चन्द्रमा अकेला ही वन में इधर-उधर भ्रमण कर रहा है । स्वप्न देखने के बाद ही महाराज ने पुरोहित से पूछा कि 'इस स्वप्न का क्या फल है' ? पुरोहित ने उत्तर दिया कि आज मायावी रावण सीताको हरकर ले गया है और स्वामी रामचन्द्र उसे खोजने के लिए शोक से आकुल हो वन में स्वयं भ्रमण कर रहे हैं । दूतके मुखसे यह समाचार स्पष्टरूप से शीघ्र ही उनके पास भेज देना चाहिये । इस प्रकार पुरोहितने महाराज से कहा और महाराज की आज्ञानुसार मैं यहाँ आया हूँ । ऐसा कह दूतने जिसमें पत्र रखा हुआ था ऐसा पिटारा रामचन्द्रके सामने रख दिया । रामचन्द्रने उसे शिरसे लगाकर उठा लिया और खोलकर भीतर रखा हुआ पत्र इस प्रकार बाँचने लगे ॥248-252॥

उसमें लिखा था कि इधर लक्ष्मीसम्पन्न अयोध्या नगरसे लक्ष्मीवानोंके स्वामी महाराज दशरथ प्रेमसे फैलाई हुई अपनी दोनों भुजाओं के द्वारा अपने प्रिय पुत्रों का आलिंगन कर तथा उनके शरीर की कुशल-वार्ता पूछकर यह आज्ञा देते हैं कि यहाँ से दक्षिण दिशाकी ओर समुद्र के बीच में स्थित छप्पन महाद्वीप विद्यमान हैं जो चक्रवर्ती के अनुगामी हैं अर्थात् उन सबमें चक्रवर्ती का शासन चलता है । नारायण भी अपने माहात्म्यसे उन द्वीपोंमें से आधे द्वीपों की रक्षा करते हैं ॥253-255॥

उन द्वीपोंमें एक लंका नाम का द्वीप है, जो कि त्रिकूटाचलसे सुशोभित है । उसमें क्रम-क्रम से राजा विनमिकी सन्तान के चार विद्याधर राजा, जो कि प्रजाकी रक्षा करने में सदा तत्पर रहते थे, जब व्यतीत हो चुके तब रावण नाम का वह दुष्ट राजा हुआ है जो कि लोकका कण्टक माना जाता है और स्त्रियोंमें सदा लम्पट रहता है ॥256-257॥

तदनन्तर युद्ध की इच्छा रखनेवाले नारदने किसी एक दिन रावणके सामने सीताके रूप लावण्य और कान्ति आदि का वर्णन किया । उसी समय रावण का मन कामदेव के अमोघ वाणोंसे खण्डित हो गया । उसकी बुद्धिकी धीरता जाती रही । न्यायमार्गसे दूर रहनेवाला वह मायावी जिस तरह किसी दूसरे को पता न चल सके इस तरह-गुप्त रूप से आकर सती सीताको किसी उपायसे अपनी नगरी में ले गया है सो जबतक हम लोगों के उद्योग करने का समय आता है तबतक अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये इस प्रकार प्रिया सीताके प्रति उसे समझाने के लिए कुमार को अपना कोई श्रेष्ठ दूत भेजना चाहिये' । ऐसा महाराज दशरथने अपने पत्र में लिखा था । पिता के पत्र का मतलब समझकर रामचन्द्रका शोक तो रूक गया परन्तु वे क्रोधसे उद्धत हो उठे । वे कहने लगे कि क्या रावण यमराजकी गोदमें चढ़ना चाहता है ॥258-262॥

सिंह के बच्चेके साथ विरोध करने पर क्या खरगोश का जीवन बच सकता है ? सच है कि जिनकी मृत्यु निकट आ जाती है उनकी बुद्धि शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥263॥

इस प्रकार रोष भरे शब्दों द्वारा रामचन्द्रने क्रोध प्रकट किया । तदनन्तर-लक्ष्मण, जनक, भरत और शत्रुघ्न यह समाचार सुनकर रामचन्द्रजीके पास आये और बड़ी विनय सहित उनसे मिलकर युक्तिपूर्ण शब्दों द्वारा उनका शोक दूर करने के लिए सब एक साथ इस प्रकार कहने लगे ॥264-265॥

उन्होंने कहा कि रावण चोरीसे परस्त्री हर ले गया है इससे उसी का तिरस्कार हुआ है । वह द्रोह करनेवाला है, दुष्ट है और अधर्म की प्रवृत्ति चलानेवाला है । उसने चूँकि बिना विचार किये ही यह अकार्य किया है अतः वह सीताके शापसे जलने योग्य है । महापाप करनेवालों का पाप इसी लोक में फल देता है ॥266-367॥

अब सीताको वापिस लाने का कोई उपाय सोचना चाहिए । इस प्रकार उन सबके द्वारा समझाये जाने पर रामचन्द्रजी सोयेसे उठे हुए के समान सावधान हो गये ॥268॥

उसी समय द्वारपालोंने दो विद्याधरोंके आने का समाचार कहा । राजा रामचन्द्रने उन्हें भीतर बुलाया और उन्होंने योग्य विनयके साथ उनके

दर्शन किये ॥269॥

होनहार बलभद्र रामचन्द्र भी उनके संयोगसे हर्षित हुए और पूछने लगे कि आप दोनों कुमार यहाँ कहाँ से आये हैं ? और आप कौन हैं ? इसके उत्तरमें सुग्रीव कहने लगा कि विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें एक किलकिल नाम का नगर है । विद्याधरोंमें अतिशय प्रसिद्ध बलीन्द्र नाम का विद्याधर उस नगर का स्वामी था । उसकी प्रियंगुसुन्दरी नाम की स्त्री थी । उन दोनोंके हम बाली और सुग्रीव नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए । जब पिता का देहान्त हो गया तब बड़े भाई बालीको राज्य प्राप्त हुआ और मुझे क्रमप्राप्त युवराज पद मिला । इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर मेरे बड़े भाई बालीके हृदय को लोभने धर दबाया इसलिए उसने मेरा स्थान छीनकर मुझे देशसे बाहर निकाल दिया । यह तो मेरा परिचय हुआ अब रहा यह साथी । सो यह भी दक्षिण श्रेणीके विद्युत्कान्त नगर के स्वामी प्रभञ्जन विद्याधर का अमिततेज नाम का पुत्र है । यह तीनों प्रकार की विद्याएँ जानता है, अंजना देवीमें उत्पन्न हुआ है, और अखण्ड पराक्रम का धारक है ॥ 270-276॥

किसी एक समय विद्याधर-कुमारोंके समूहमें परस्पर अपनी-अपनी विद्याओं के माहात्म्य की परीक्षा देने की बात निश्चित हुई । उस समय इसने विजयार्थ पर्वत के शिखर पर दाहिना पैर रखकर बायें पैर से सूर्य के विमान में ठोकर लगाई । तदनन्तर उसी क्षण त्रसरेणुके प्रमाण अपना छोटा सा शरीर बना लिया । यह देख, विद्याधरोंके चित्त आश्चर्य से भर गये, उसी समय समस्त विद्याधरों ने हर्ष से इसका 'अणुमान्' यह नाम रक्खा । इसने विक्रियारूपी समुद्र का पान कर लिया है अर्थात् यह सब प्रकार की विक्रिया करने में समर्थ है, यह मेरा प्राणोंसे भी अधिक प्यारा मित्र है ॥277-280॥

मैं किसी एक दिन इसके साथ सम्मेलन शिखर पर्वतपर गया था वहाँ सिद्धकूट नामक तीर्थक्षेत्र में अर्हन्त भगवान् की बहुत सी प्रतिमाओंकी भक्ति पूर्वक पूजा वन्दनाकर वहीं पर शुभ भावना करता हुआ बैठ गया । उसी समय वहाँ पर विमान में बैठे हुए नारदजी आ पहुँचे । वे जटाओं का मुकुट धारण कर रहे थे, मोतियों का यज्ञोपवीत पहिने थे, गेरूवा वस्त्रोंसे सुशोभित थे, उनकी बगलमें रत्नोंका कमण्डल लटक रहा था, वे हाथमें छत्ता लिये हुए थे, नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, और सदा रौद्रध्यानमें तत्पर रहते थे । उन्होंने आकाश से उतरकर पहले तो जिन-मन्दिरों की प्रदक्षिणा दी, फिर जिनेन्द्र भगवान् का स्तवन किया और तदनन्तर वे एकान्त स्थान में बैठ गये । मैंने उनके पास जाकर पूछा कि हे मुने ! क्या कभी मुझे अपना पद भी प्राप्त हो सकेगा ? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि राम और लक्ष्मण का बहुत ही शीघ्र आधे भरत का स्वामीपना प्रकट होने वाला है ॥281-286॥

यदि तू उनके दूत का कार्य कर देगा तो उन दोनोंके द्वारा तेरा मनोरथ सिद्ध हो जावेगा । उन्हें दूत भेजने का कार्य यों आ पड़ा है कि रामकी स्त्री वन में विहार कर रही थी उसे रावण छल पूर्वक हरकर ले गया है । इसलिए आज राम और लक्ष्मण अपना कार्य सिद्ध करने के लिए लंका भेजने योग्य किसी पुरुष की खोज करते हुए बैठे हैं । इस प्रकार नारदके वचन सुनकर हे देव ! बड़े सन्तोष से हम दोनों आपके पास आये हैं ॥287-289॥

दोनों विद्याधरोंके उक्त वचन सुनकर राम-लक्ष्मण ने उनका उचित सत्कार किया । तदनन्तर प्रभञ्जन के पुत्र अणुमान् (हनुमान्) ने प्रार्थना की कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं सीता देवीके स्थान की खोज करूँ । हे राजन् ! देवीको विश्वास उत्पन्न करानेके लिए आप कोई चिह्न बतलाइये ॥290-291॥

इस प्रकार उसका कहा सुनकर रामचन्द्रजी को विश्वास हो गया कि विनमिके वंशरूपी आकाशके चन्द्रमास्वरूप इस विद्याधरके द्वारा हमारा अभिप्राय निःसन्देह सिद्ध हो जावेगा ॥292॥

ऐसा मान राजा ने मेरी प्रिया रूप रंग आदिमें ऐसी है यह स्पष्ट बताकर उसके लिए अपने नाम से चिह्नि मुद्रिका (अंगूठी) दे दी ॥293॥ अणुमान् रामचन्द्र के चरण-कमलों को नमस्कार कर आकाशके बीच जा उड़ा और समुद्र तथा त्रिकूटाचल को लांघकर लंका नगर में जा पहुँचा । वह लंका नगर बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा था, बत्तीस गोपुरोंसे सहित था, रत्नोंके कोटसे युक्त था, महामेरूके समान ऊँचा था, रावणके महलोंसे सुशोभित था, एवं जिनमें भ्रमर और पुंस्कोकिलाएँ मनोहर शब्द कर रही हैं तथा फूल और पत्ते सुशोभित हैं अतएव जो राग तथा हासके साथ गाते हुएसे जान पड़ते हैं ऐसे बाग-बगीचोंसे मनोहर था, ऐसे लंका नगर में जाकर सीताकी खोजमें तत्पर रहनेवाले अणुमान् ने भ्रमर का रूप रख लिया और क्रम-क्रम से वह रावणके सभागृह, इन्द्रजित् आदि राजकुमारों तथा मन्दोदरी आदि रावण की स्त्रियों को बड़े आदरसे देखता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ रावण विद्यमान था ॥294-299॥

तदनन्तर नमस्कार करते हुए समस्त विद्याधर राजाओं के मुकुटों की मालाओंसे जिसके चरण- कमल पूजित हैं, जो सिंहासनके मध्य में बैठा है, सिंह के समान पराक्रमी है, इन्द्रके समान है, द्रुते हुए चमरोंसे जो ऐसा जान पड़ता है मानो गंगा की विशाल तरंगोंसे सुशोभित नीलाचल ही हो और जिसने समस्त शत्रुओं को रूला दिया है ऐसे रावण को देखकर अणुमान् ने सोचा कि इस पापीके यह ऐसा ही विचित्र कर्म का उदय है जिससे प्रेरित हो इसने धर्म का उल्लंघनकर परस्त्री की इच्छा की ॥300-302॥

नारदने जो कहा था कि इसका अकालमरण होनेवाला है सो ठीक ही कहा था । इस प्रकार विचार करते हुए अणुमान् ने रावण की सभा में सीता नहीं देखी ॥303॥

धीरे-धीरे सूर्य की प्रभा मन्द पड़ गई, दिन अस्त हो गया और सूर्य रावणके लिए यह सूचना देता हुआ ही मानो अस्ताचल की ओर चला गया कि संसार में जितने सहायक हैं वे सब प्रायः सम्पत्तिशालियों की ही सहायता करते हैं और संसार में जितने प्राणी हैं उन सबका उदय और अस्त नियमसे होता है ॥304-305॥

इस प्रकार सब ओर से चिन्तन करता हुआ वह रामचन्द्र का दूत अणुमान् अन्तःपुरके पश्चिम गोपुर पर चढ़कर नन्दन नाम का वन देखने लगा । वह नन्दन वन भ्रमरोंके शब्दसे सुशोभित था, उसमें समस्त ऋतुओंकी शोभा बिखर रही थी, साथ ही नन्दन-वनके समान जान पड़ता था, फल और फूलों के बोझसे झुके हुए सुन्दर सुन्दर वृक्षों, मन्दमन्द वायुसे उड़ती हुई नाना प्रकार के फूलों की परागों, कृत्रिम पर्वतों, सरोवरों, बावलियों, तथा लताओंसे सुशोभित मण्डपों और कामको उद्दीपित करनेवाले अन्य अनेक स्थानोंसे अन्यन्त मनोहर था । उसे देख वह अणुमान् कुछ देर तक हर्ष और कौतुकके साथ वहां खड़ा रहा ॥306-309॥

वहीं किसी समीपवर्ती स्थान में उसने सीता को देखा । उस सीताको साम आदि उपायों के द्वारा वश करने के लिए अभिप्रायानुकूल चेष्टाओं को जानने वाली अनेक विद्याधरियाँ घेरे हुई थीं । वह शिंशपा वृक्ष के नीचे शोक से व्याकुल हुई बैठी थी, चुपचाप ध्यान कर रही थी, मरकर अथवा जीर्ण शीर्ण होकर भी कुल की रक्षा करने में प्रयत्नशील थी, तथा ऐसी जान पड़ती थी मानो शील की-पातिव्रत्य धर्म की माला ही हो । ऐसी सीताको देख अणुमान्ने विचार किया कि यह वही सीता है जिसे रावण हरकर लाया है । उसने राजा रामचन्द्रजीके द्वारा बतलाये हुए चिह्नोंसे उसे पहिचान लिया और साथ ही यह विचार किया कि मेरे पुण्योदय से ही मुझे आज इस सतीके दर्शन हुए हैं। दर्शन करनेसे उसे बड़ा अनुराग उत्पन्न हुआ । उसने समझा कि जिस प्रकार दावानलके द्वारा कल्पलता संतापित होती है उसी प्रकार पापी रावणके द्वारा यह सती सन्तापित की गई है । इस प्रकार उसका चित्त यद्यपि शोक से सन्तप्त हो गया तथापि वह नीतिमार्ग में विशारद होनेसे सोचने लगा कि जो विवेकी मनुष्य अपने प्रारम्भ किये हुए कर्मको सिद्ध करने में उद्यत रहता है उसे क्रोध करना एक प्रकार का व्यसन है और कार्य में विघ्न करनेवाला है ऐसा नीतिज्ञ मनुष्य कहते हैं । इसलिए असमयमें क्रोध करना व्यर्थ है ऐसा विचार कर उसने क्षमा धारण की और उस पतिव्रताको अपने आने का समाचार बतलानेके लिए अवसर की प्रतीक्षा करता हुआ वह वहीं कुछ समयके लिए खड़ा हो गया । उसी समय चन्द्रमा का उदय हो गया और वह उदयाचलके शिखर पर चूड़ामाणिके समान सुशोभित होने लगा ॥

310-317॥

उसी समय 'आज सीताको लाये हुए सात दिन बीत चुके हैं अतः देखना चाहिये कि उसकी क्या दशा है' ऐसा विचार करता हुआ रावण वहाँ आया । वह अनेक दीपिकाओंसे आवृत था-उसके चारों ओर अनेक दीपक जल रहे थे इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो देदीप्यमान कल्पवृक्षोंसे सहित चलता फिरता नीलगिरी ही हो । वह उत्कण्ठा से सहित था तथा अन्तःपुरकी स्त्रियों से युक्त था ॥

318-319॥

'मैं अपने पति का कुशल समाचार कब सुनूँगी' ऐसा विचार करती हुई सीता चुपचाप स्थिर बैठी हुई थी । उसे रावण बड़ी देर तक आश्चर्य से देखता रहा और स्त्रियों के बीच ऐसी पतिव्रता स्त्री कोई दूसरी नहीं है ऐसा विचार कर वह कुछ पीछे हटकर दूर खड़ा रहा । वहीं से उसने सीताका अभिप्राय जानने के लिए अपनी मंजरिका नाम की विवेकवती दूती उसके पास भेजी । वह दूती सीताके पास आकर विनय से कहने लगी कि हे स्वामिनी, विद्याधरोंके राजा रावण की पाँच हजार स्त्रियाँ हैं जो विद्याधर राजाओं की पुत्रियाँ हैं और तुम्हारे ही समान मनोहर हैं । तुम उन सबकी स्वामिनी होकर महादेवीके पद पर स्थित होओ और तीन खण्डके स्वामी रावणके वक्षःस्थलपर चिरकाल तक लक्ष्मी के साथ साथ निवास करो ॥320-324॥

बिजलीके समान चंचल अपने इस यौवनको निष्फल न करो । 'रावणके हाथसे राम तुम्हें वापिस ले जावेगा' इस विचार को तुम कदम्बके

विशाल वनके समान निष्फल समझो। भूखसे पीड़ित सिंहके मुखके भीतर वर्तमान मृगको छुड़ानेके लिए कौन मनुष्य समर्थ है ? इस प्रकार उस मंजरिका नाम की दूती ने कहा सही परन्तु सीता उसे सुनकर पृथिवीके समान ही निश्चल बैठी रही सो ठीक ही है क्योंकि पतिव्रता स्त्री को भेदन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? उसे निश्चल देख रावण स्वयं डरते डरते पास आकर कहने लगा कि यदि तू कुलकी रक्षा करने के लिए बैठी है तो यह बात विचार करने के योग्य नहीं है। यदि लज्जा आती है तो वह नीच मनुष्यों के संसर्गसे होती है अतः यहाँ उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ॥325-326॥

यदि राम में तेरा प्रेम है तो तू उसे अब मरे हुए के समान समझ। जो चिरकाल से परिचित है उसे इस समय एकदम कैसे भूल जाऊँ ? यदि यह तेरा कहना है तो इस संसार में किसका किसके साथ परिचय नहीं है ? कदाचित् यह सोचती हो कि राम यहाँ आकर मुझे ले जावेंगे सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समुद्र तो यहाँ की खाई है, त्रिकूटाचल किला है, विद्याधर लोकपाल हैं, लंका नगर है, मेघनाद आदि योद्धा हैं और मैं उनका स्वामी हूँ फिर तुम्हारे रामका यहाँ प्रवेश ही कैसे हो सकता है ? ॥330-332॥

इसलिए हे प्रिये ! राम की आशा छोड़कर मेरी आशा पूर्ण करो। जो कार्य अवश्य ही पूर्ण होने वाला है उसमें समय बिताने से तुझे क्या लाभ है ? ॥333॥

तू चाहे रो और चाहे हँस, मैं तो तेरा पाहुना हो चुका हूँ। हे सुन्दरी ! तू मेरी सुन्दर स्त्रियों के चूड़ामणिके समान हो ॥334॥

यदि तू अभाग्य वश मेरा कहना नहीं मानेगी तो तुझे आज ही मेरी घटदासी बनना पड़ेगा अथवा यमराज के घर रहनेवालों का अतिथि होना पड़ेगा ॥335॥

इस तरह जिस प्रकार पुण्यहीन वश करने के लिए व्यर्थ ही बकवास किया। उसे सुनकर सीता निश्चल चित्त हो धर्म्यध्यान के समान निर्मलता धारण करती हुई निश्चल बैठी रही। रावण के मुख से निकले हुए वचन-समूहरूपी अग्नि की पंक्ति सीता के धैर्यरूपी समुद्र को पाकर शीघ्र ही उसी समय शान्त हो गई। उस समय रावण सोचने लगा कि 'मैं जिस प्रकार पराक्रम के द्वारा समस्त पुरुषों को जीतता हूँ उसी प्रकार अपनी सौभाग्य रूपी सम्पदा के द्वारा समस्त स्त्रियों को भी जीतता हूँ-उन्हें अपने वश कर लेता हूँ फिर भी यह ही जलाने के लिए रावण के मनरूपी युद्धस्थल में जो प्रचण्ड क्रोधरूपी दावानल फैल रही थी उसे मन्दोदरी ने हितकारी तथा सुनने के योग्य वचनरूपी अमृत जल से शान्त कर कहा कि आप इस तरह साधारण पुरुष के समान अस्थान में क्रोध करते हैं ? जरा सोचो तो सही, यह स्त्री क्या आपके दण्ड देने योग्य मालूम होती है ? अरे, मन्दार-वृक्ष के फूलों से बनी हुई माला क्या अग्नि में डाली जाने योग्य है ? नष्ट हो जाती है और ऐसा होने से आप पक्ष-रहित पक्षी के समान हो जावेंगे। पहले स्वयंप्रभा के लिए अश्वग्रीव विद्याधर, पद्मावती के कारण राजा मधुसूदन और सुतारा में आसक्त हुआ निर्बुद्धि अशनिघोष पराभव को पा चुका है अतः आप भी उन जैसे मत होओ। ऐसा मत समझिये कि मैं सौत के भय से कह रही हूँ। आप मेरे वचन को प्रमाण मानते हुए सीता सम्बन्धी मोह छोड़ दीजिये। ऐसा मन्दोदरी ने रावण से कहा। रावण उसके वचनों का उत्तर देने में समर्थ नहीं हो सका अतः यह कहता हुआ कुपित हो नगर में वापिस चला गया कि अब तो यह प्राणों के साथ ही छोड़ी जा सकेगी ॥336-347॥

इधर जो अपनी छोड़ी हुई पुत्री के शोक से युक्त है ऐसी मन्दोदरी सीता से एकान्त में कहने लगी कि जिस पुत्री को मैंने निमित्तज्ञानी के आदेश के डर से पृथिवी में नीचे गड़वा दिया था, वही कलह करने के लिए मेरी पुत्री तू आ गई है ऐसा मेरा मन मानता है। हे भद्रे ! तू दुःख देने वाले पापी विधाता के द्वारा यहाँ लाई गयी है। सो ठीक ही है क्योंकि इस लोक में प्रायः विधाता की चेष्टा का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। मालूम नहीं पड़ता कि तू मेरी इस जन्म की सम्बन्धिनी है अथवा पर जन्म की सम्बन्धिनी है। न जाने क्यों तुझे देखकर आज मेरा स्नेह बढ़ रहा है। हे कमललोचने ! बहुत कुछ सम्भव है कि मैं तेरी माँ हूँ और तू मेरी पुत्री है, यह तू भी समझ रही है। परन्तु यह विद्याधरों का राजा तुझे मेरी सौत बनाना चाहता है इसलिए हे बच्चे ! चाहे मरण को भले ही प्राप्त हो जाना परन्तु इसके मनोरथ को प्राप्त न होना, इसकी इच्छानुसार काम नहीं करना। इस प्रकार कहती हुई मन्दोदरी बहुत ही उत्सुक हो गई। उसके स्तनों से दूध झरने लगा और उसके स्तन-युगल सीता का अभिषेक करने के लिए ही मानो नीचे की ओर झुक गये ॥348-353॥

उसका कण्ठ गद्गद हो गया, दोनों नेत्रों से स्नेह को सूचित करनेवाला जल गिरने लगा और उस समय उसका मुखकमल शोकरूपी अग्नि से मलिन हो गया ॥354॥

यह सब देख सीता को ऐसा लगने लगा मानो मैं अपनी माता के पास ही आ गई हूँ, उसका हृदय आर्द्र हो गया और नेत्र आँसुओं से भर

गये ॥355॥

उसका अभिप्राय जानकर रावण की पट्टरानी मन्दोदरी कहने लगी कि यदि तू अपना कार्य अच्छी तरह सिद्ध करना चाहती है तो हे माँ ! मैं हाथ जोड़कर याचना करती हूँ, तू आहार ग्रहण कर, क्योंकि सबका साधन शरीर है और शरीर का साधन आहार है ॥356-357॥

चतुर मनुष्य यही कहते हैं कि यदि वृक्ष नहीं होगा तो फूल आदि कहाँ से आवेंगे ? इसी प्रकार शरीर के रहते ही तुझे तेरे स्वामी रामचन्द्र का दर्शन हो सकेगा ॥358॥

यदि उनका दर्शन साध्य न हो तो इस शरीर से महान् तप ही करना चाहिये । यह सब कहने के बाद मन्दोदरी ने यह भी कहा कि यदि मेरे वचन नहीं मानती है तो मैं भी भोजन छोड़े देती हूँ । सो मन्दोदरी के वचन सुनकर सीता ने विचार किया कि यद्यपि यह मेरी माता नहीं है तथापि माता के समान ही मेरे दुःख से दुःखी हो रही है । ऐसा विचार कर वह मन ही मन मन्दोदरी के चरणों को नमस्कार कर उनकी ओर बड़े स्नेह से देखने लगी । उसे ऐसी देख मन्दोदरी सोचने लगी कि मंजूषा में रखते समय जिस प्रकार मेरी पुत्री मेरी ओर देख रही थी उसी प्रकार आज सीता मेरी ओर देख रही है । इस पतिव्रता का यह मधुर दर्शन मुझे सब ओर से सन्तप्त कर रहा है । इस प्रकार शोक को प्राप्त हुई मन्दोदरी ने सीता के दुःख से विनम्र हो आप्तजनों के साथ साथ नगर में बड़े दुःख से प्रवेश किया तदनन्तर उसी शिंशपा वृक्षपर बैठे हुए दूत अणुमान् ने प्रवग-नामक विद्या के द्वारा अपना बंदर जैसा रूप बना लिया और वन की रक्षा करनेवाले पुरुषों को निद्रा से युक्तकर वह स्वयं सीता देवी के आगे जा खड़ा हुआ ॥359-364॥

वानर रूपधारी अणुमान् ने सीता को नमस्कारकर उसे अपना सब वृत्तान्त सुना दिया और कहा कि मैं राजा रामचन्द्रजी के आदेश से, जिसके भीतर पत्र रखा हुआ है ऐसा यह एक पिटारा ले आया हूँ । इतना कह उसने वह पिटारा सीता देवी के आगे रख दिया । वानर को देखकर सीता को सन्देह हुआ कि क्या यह मायामयी शरीर को धारण करनेवाला नीच रावण ही है ? ॥365-366॥

इस प्रकार सीता संशय कर रही थी कि उसकी दृष्टि श्रीवत्स के चिन्ह से चिन्हित एवं अपने पति के नामाक्षरों से अंकित रत्नमयी अंगूठी पर जा पड़ी । उसे देख वह फिर भी संशय करने लगी कि मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह दुष्ट रावण की ही माया है । क्या है ? यह कौन जाने, परन्तु यह पत्र तो उन्हीं का है और मेरे भाग्य से ही यहाँ आया है ऐसा सोचकर उसने पत्र पर लगी हुई मुहर तोड़कर पत्र बाँचा । पत्र बाँचते ही उसका शोक नष्ट हो गया । वह स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखकर कहने लगी कि तूने मुझे जीवित रक्खा है अतः मेरे पिता के पद पर अधिष्ठित है-मेरे पिता के समान है । जब सीता ने उक्त वचन कहे तब पवन-पुत्र अणुमान् ने अपने कान ढंककर उत्तर दिया कि हे माता ! आप मेरे स्वामी की महादेवी हैं, इस पर अन्य कल्पना न कीजिये । हे पतिव्रते ! यद्यपि तुम्हें आज ही ले जाने की मेरी शक्ति है तथापि स्वामी की आज्ञा नहीं है । राजा रामचन्द्रजी स्वयं ही आकर रावण को मारेंगे और उसकी लक्ष्मी के साथ साथ तुम्हें ले जावेंगे । उस साहसपूर्ण कार्य से उनकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त होकर रहेगी अतः शरीर धारण करने के लिए आहार ग्रहण करो ॥367-373॥

हे भगवति ! आहार ग्रहण करने में क्या दोष है ? राजा रामचन्द्र के साथ तुम्हारा समागम शीघ्र ही हो जावेगा । इस प्रकार जब अणुमान् ने कहा तब सीता ने उदासीनता छोड़कर शीघ्र ही शरीर की स्थिति के लिए आहार ग्रहण करना स्वीकृत कर लिया और उस समय के योग्य कार्यों के कहने में कुशल सीता ने उस दूत को शीघ्र ही विदा कर दिया ॥374-375॥

दूत-अणुमान् भी सीता के चरणकमलों को नमस्कार कर सूर्योदय के समय चला और अपने आगमन की प्रतीक्षा करने वाले रामचन्द्र के समीप शीघ्र ही पहुँच गया ॥376॥

उसने पहुँचते ही पहले अपने मुख-कमल की प्रसन्नता से रामचन्द्रजी को कार्य-सिद्धि की सूचना दी फिर उन्हें प्रणाम किया । स्वामी रामचन्द्र ने उसे अच्छी तरह आलिंगन कर आसन पर बैठने के लिए कहा । जब वह हर्ष पूर्वक आसन पर बैठ गया तब रामचन्द्र ने उससे पूछा कि क्यों मेरी प्रिया देखी है ? उत्तर में अणुमान् ने रामचन्द्र को प्रीति उत्पन्न करनेवाले उत्कृष्ट वचन विस्तार के साथ कहे । वह कहने लगा कि रावण स्वभाव से ही अहंकारी है फिर उसके चक्र-रत्न भी प्रकट हो गया है । इसके सिवाय लंका में बहुत से अपशकुन हो रहे हैं और उसके विद्याधर सेवक बहुत ही कुशल हैं । इन सब बातों का मन्त्रियों के साथ अच्छी तरह विचार कर जिस तरह सम्भव हो उसी तरह सीता को लाने के उपाय का शीघ्र ही निश्चय करना चाहिये । इस प्रकार यह योग्य कार्य अणुमान् ने सूचित किया । बलिष्ठ अभिप्राय को धारण करनेवाले रामचन्द्र ने अणुमान् के कहे वचनों का हृदय में अच्छी तरह विचार किया । उसी समय उन्होंने अणुमान को सेपापति का पट्ट बाँधा और सुग्रीव को युवराज बनाया ॥377-382॥

तदनन्तर उन्होंने उन दोनों के साथ-साथ मन्त्री से करने योग्य कार्य का निर्णय पूछा । उत्तर में अंगद ने कहा कि हे स्वामिन् ! राजा तीन प्रकार के होते हैं -1 लोभ-विजय, 2 धर्म-विजय और 3 असुर-विजय । नीति के जाननेवाले विद्वान् अपना कार्य सिद्ध करने के लिए, पहले के लिए दान देना, दूसरेके साथ शान्ति का व्यवहार करना और तीसरे के लिए भेद तथा दण्ड का प्रयोग करना यही ठीक उपाय बतलाते हैं । इन तीन प्रकार के राजाओं में रावण अन्तिम-असुर-विजय राजा है । वह नीच होने से क्रूर कार्य करनेवाला है इसलिए नीतिज्ञ मनुष्यों को साथ भेद और दण्ड उपाय का ही यद्यपि प्रयोग करना चाहिये तो भी क्रम का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । सर्व प्रथम उसके साथ साम का ही प्रयोग करना चाहिये ॥383-386॥

यदि आप इसका निश्चय करना चाहते हैं कि ऐसा साम का जाननेवाला कौन है जिसे वहाँ भेजा जावे ? तो उसका उत्तर यह है कि यद्यपि दक्षता-चतुरता आदि गुणों से सहित अनेक भूमिगोचरी राजा हैं परन्तु उनमें आकाश में चलने की सामर्थ्य नहीं है इसलिए आपने जो यह नया सेनापति बनाया है इसे ही भेजना चाहिए ॥387-388॥

इस अणुमान् ने मार्ग देखा है, इसे दूसरे दबा नहीं सकते, एक बार यह कार्य सिद्ध कर आया है, अनेक शास्त्रों का जानकार है तथा जाति आदि विद्याओं से सहित है, इसलिए इससे कार्य का निर्णय अवश्य ही हो जावेगा ॥389॥

अंगद के इस उपदेश से रामचन्द्र ने मनोवेग, विजय, कुमुद और हितकारी रविगति को सहायक बनाकर अणुमान् का आदर-सत्कार कर उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि हे कुमार ! यहाँ आपके सिवाय कार्य को जानने वाला तथा काय को करने वाला दूसरा नहीं है । राजा रामचन्द्र ने अणुमान् से यह भी कहा कि तुम सर्वप्रथम विभीषण से कहना कि इस लंका द्वीप में आप ही धर्म के जानकार हैं, विद्वान् हैं और कार्य के परिपाक-फल को जानने वाले हैं । लंका के ईश्वर रावण और सूर्यवंश के प्रधान रामचन्द्र दोनों का हित करने वाले हैं, इसलिए आप रावण से कहिए-जो तू सीता को हरकर लाया है सो तेरा यह कार्य अन्यायपूर्ण है, कल्पान्तकाल तक अपयश करने वाला है, तथा अहितकारी है । इस प्रकार रति से मोहित रावण को सुनाकर आप सीता को छुड़ा दीजिये । ऐसा करने पर आप अपने कुल की पाप से, विनाश से स्वयं ही रक्षा कर लेंगे । इस प्रकार की सामोक्तियों से यदि विभीषण वश में हो गया तो शत्रु अपने वश में ही समझिये । हे दूतोत्तम ! इतना ही नहीं, लक्ष्मी के साथ-साथ सीता भी आई हुई ही समझिए । इसके सिवाय और जो कुछ करने योग्य कार्य हों उनका तथा शत्रु के समाचारों का निर्णय कर शीघ्र ही मेरे पास वापिस आओ ॥390-396॥

इस प्रकार कहकर रामचन्द्र ने अणुमान् को सहायकों के साथ विदा किया । कुमार अणुमान भी रामचन्द्र को नमस्कार कर गया और शीघ्र ही लंका पहुँच गया । वहाँ उसने सब समाचार जानकर विभीषण के दर्शन किये और विनयपूर्वक कहा कि 'मैं राजा रामचन्द्र के द्वारा आपके पास भेजा गया हूँ' ऐसा कहकर उसने, रामचन्द्र ने जो कुछ कहा था वह सब बड़ी विनय के साथ विभीषण से निवेदन कर दिया ॥ 397-398॥

साथ ही उसने अपनी ओर से यह बात भी कही कि हे विद्याधरों के ईश ! आप स्वामी का सन्देश लाने वाले तथा हित करने वाले मुझको रावण के पास तक भेज दीजिये । आप से रामचन्द्र के इष्ट कार्य की सिद्धि अवश्य हो जावेगी और ऐसा हो जाने पर यह कार्य मेरे द्वारा आपसे ही सिद्ध हुआ कहलावेगा ॥399-400॥

आपके द्वारा ऐसा कहे जाने पर भी वह मूर्ख यदि सीता को नहीं छोड़ता है तो इसमें आपका अपराध नहीं है वह पापी अपने आप ही नष्ट होगा ॥401॥

इस समय जिनकी लक्ष्मी बढ रही है ऐसे रामचन्द्र को देख उनके पुण्य से प्रेरित हुई तथा 'हम लोगों को दोनों लोकों का एक कल्याण करने वाले रामचन्द्र जी की शरण जाना चाहिए, इस प्रकार अनुराग से भरी रण की भावना से ओतप्रोत पचास करोड़ चौरासी लाख भूमिगोचरियों की सेना और साढ़े तीन करोड़ विद्याधरों की सेना स्वयं ही उनसे आ मिली है । वे रामचन्द्र इतनी सब सेना तथा लक्ष्मण को साथ लेकर स्वयं ही यहाँ आ पहुँचेंगे । यद्यपि वे सीता के समान विद्याधरों के राजा रावण की लक्ष्मी को भी आज ही हरने में समर्थ हैं किन्तु उनका आप में स्वाभाविक प्रेम है इसीलिए उन्होंने मुझे भेजा है । क्या आप इस तरह के सब समाचार नहीं जानते ? इस प्रकार अणुमान के वचन सुनकर कार्य को जानने वाला विभीषण उसी समय उसे रावण के समीप ले जाकर निवेदन करने लगा कि हे देव ! रामचन्द्र ने यह दूत आपके पास भेजा है ॥402-407॥

बुद्धिमान तथा स्पष्ट और मधुर शब्द बोलनेवाले अणुमान ने भी विनयपूर्वक रावण के दर्शन किये, योग्य भेंट समर्पित की । तदनन्तर रावण

के द्वारा बतलाये हुए आसन पर बैठकर श्रवण करने के योग्य हित मित शब्दों द्वारा उसने इस प्रकार कहना शुरू किया कि हे देव, सुनिये ॥ 408-409॥

जो अपने तेज से बढ़ रहे हैं, जिनकी बुद्धि तथा साहस सबको अपने अनुकूल बनानेवाला है, गुण ही जिनके आभूषण हैं तथा जो कुशल युक्त हैं ऐसे राजा रामचन्द्र ने इस समय अयोध्या-नगर में ही विराजमान होकर तीन-खण्ड के स्वामी आपका पहले तो कुशल-प्रश्न पूछा है और फिर यह कहला भेजा है कि आप सीता को किसी दूसरे की समझ कर ले आये हैं। परन्तु वह मेरी है, आप बिना जाने लाये हैं इसलिए कुछ बिगडा नहीं है। आप बुद्धिमान् हैं अतः उसे शीघ्र भेज दीजिए ॥410-412॥

यदि आप सीता को न भेजेंगे तो विनामि वंश के एक रत्न और महात्मा स्वरूप आपका यह विचित्र कार्य धर्म तथा सुख का विघात करने वाला होगा ॥413॥

कुलीन पुत्ररूपी महासागर को यह कलंक धारण करना उचित नहीं है। अतः सीता को छोड़ने रूप बड़ी-बड़ी तरंगों के द्वारा इसे बाहर फेंक देना चाहिए ॥414॥

अणुमान् के यह वचन सुनकर रावण ने उत्तर दिया कि मैं सीता को बिना जाने नहीं लाया हूँ किन्तु जानकर लाया हूँ। मैं राजा हूँ अतः सर्व रत्न मेरे ही हैं और विशेष कर स्त्रीरत्न तो मेरा ही है। तुम्हारे राजा रामचन्द्र ने जो कहला भेजा है कि सीता को भेज दो सो क्या ऐसा कहना उसे योग्य है ॥415-416॥

(वह अभिमानीयों में बड़ा अभिमानी मालूम होता है। वह मेरी श्रेष्ठता को नहीं जानता है। 'मेरे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है' यह समाचार क्या उसके कानों के समीप तक नहीं पहुँचा है? भूमिगोचरियों तथा विद्याधर राजाओं के मुकुटों पर मेरे चरण-युगल, स्थल - कमल-गुलाब के समान सुशोभित होते हैं यह बात आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है-बड़े से लेकर छोटे तक सब जानते हैं। सीता मेरी है यह बात तो बहुत चौड़ी है किन्तु समस्त विजयार्थ पर्वत तक मेरा है। मेरे सिवाय सीता किसी अन्य की नहीं हो सकती। तुम्हारा राजा जो इसे ग्रहण करना चाहता है वह पराक्रमी नहीं है-शूर-वीर नहीं है। इस सीता को अथवा अन्य किसी स्त्री को ग्रहण करने की उसमें शक्ति है तो वह यहाँ आवे और युद्ध के द्वारा मुझे जीत कर शीघ्र ही सीता को ले जावे। कौन मना करता है?) इस प्रकार भाग्य की प्रेरणा से रावण के नाश को सूचित करने वाले वचन सुनकर अणुमान ने मन में विचार किया कि इस समय रामचन्द्र के अभ्युदय को प्रकट करनेवाले शुभ सूचक निमित्त हो रहे हैं और इस विषय में मुझे भी यही इष्ट है-मैं चाहता हूँ कि रामचन्द्र यहाँ आकर युद्ध में रावण को परास्त करें और अपना अभ्युदय बढ़ावें ॥417-418॥

तदनन्तर वह अणुमान् रामचन्द्र की ओर से दुष्ट और दुराचारी रावण से फिर कहने लगा कि 'आप अन्याय को रोकनेवाले हैं, यदि रोकनेवाले ही रोकना पड़े तो समुद्र में बड़वानल के समान उसे कौन रोक सकता है? यह सीता अभेद्य है-इसे कोई विचलित नहीं कर सकता और मैं सिंह के समान पराक्रमी प्रसिद्ध रामचन्द्र हूँ ॥419-420॥

इस अकार्य के करने से जब तक चन्द्रमा रहेगा तबतक आपकी निष्प्रयोजन अकीर्ति बनी रहेगी इस बात का भी आपको विचार करना उचित है। मैंने भाईपने के सम्बन्ध से आपके लिए हितकारी वचन कहे हैं। हे स्वामिन्! यदि आपको रूचिकर हों तो ग्रहण कीजिए अन्यथा मत कीजिये।' इस प्रकार दूत-अणुमान के वचन सुनकर रावण फिर कहने लगा ॥421-422॥

कि 'चूँकि राजा जनक ने अहंकार वश मुझे सूचना दिये बिना ही यह सीता रूपी रत्न रामचन्द्र के लिए दिया था इसलिए क्रोध से मैं इसे ले आया हूँ ॥423॥

मेरे योग्य वस्तु स्वीकार करने से यदि मेरी अकीर्ति होती है तो हो। वह रामचन्द्र तो मेरे हाथ से चक्ररत्न भी ग्रहण करना चाहता है' इस प्रकार रावण ने कहा। तदनन्तर अणुमान् रावण के कहे अनुसार उससे प्रसन्न तथा गम्भीर वचन कहने लगा कि सीता मैंने हरी है यह आप क्यों कहते हैं? यह सब जानते हैं कि जिस समय आपने सीता हरी थी उस समय वह किसके हाथ में थी-किसके पास थी? आप सीता को हर कर नहीं लाये हैं किन्तु चुरा कर लाये हैं। अतः यह कहिये कि इस कार्य से क्या आपकी शूर-वीरता प्रकट होती है? अथवा इन व्यर्थ की बातों से क्या लाभ है। आप मीठे वचनों से ही रानी सीता को शीघ्र वापिस कर दीजिये ॥424-427॥

इस प्रकार अणुमान से उत्पन्न हुए तिरस्कार सूचक रूपी अग्नि से जिसका हृदय संतप्त हो रहा है ऐसा पुष्पक विमान का स्वामी रावण कहने लगा कि 'रामचन्द्र, दृष्टिविष सर्प के फणामणि को ग्रहण करने की इच्छा करने वाले पुरुष की गति को प्राप्त करना चाहता है-मरना

चाहता है। तू दूत होने के कारण मारने योग्य नहीं है अतः यहाँ से चला जा, चला जा, इस प्रकार रावण ने सिंह को जीतने वाली अपनी गर्जना से अणुमान को ललकारा। तदनन्तर कुम्भ, निकुम्भ एवं क्रूर प्रकृतिवाले कुम्भकर्ण आदि योद्धाओं ने इन्द्रजित्, इन्द्रचर्म, अति कन्यार्क, खरदूषण, खर, दुर्मुख, महामुख आदि विद्याधरों ने और क्रुद्ध हुए अन्य कुमारों ने अणुमान को बहुत ही ललकारा। तब अणुमान ने कहा कि स्त्रीजनों के सामने इस व्यर्थ की गर्जना से क्या लाभ है? इससे कौनसा कार्य सिद्ध होता है? आप लोग मेरा उत्तर संग्राम में ही सुनिये। यह सुन नयों के जानने वाले विभीषण ने उन क्रुद्ध विद्याधरों को रोकते हुए कहा कि यह दुर्वचन कहना ठीक नहीं है। विभीषण ने अणुमान से भी कहा कि हे भद्र! तुम अपने घर जाओ। अकार्य करने के कारण जिसे आर्य मनुष्यों ने छोड़ दिया है ऐसे इस रावण को कोई नहीं रोक सकता-यह किसी की बात मानने वाला नहीं है। ठीक ही है आगे आने वाले शुभ-अशुभ कर्म के उदय को भला कौन रोक सकता है? इस प्रकार विभीषण ने कहा तब अणुमान, जिसने आहार पानी छोड़ रक्खा था ऐसी सीता के पास गया ॥

428-435॥

मन्दोदरी के उपरोध से सीता ने कुछ थोड़ा-सा खाया था उसे देख अणुमान शीघ्र ही समुद्र को पार कर रामचन्द्र के समीप आ गया ॥436॥ और नमस्कार कर कहने लगा कि बहुत कहने से क्या लाभ है? सबका सारांश यह है कि रावण सीता को नहीं छोड़ेगा इसलिए इसके अनुरूप कार्य करना चाहिए, बिलम्ब मत कीजिए, क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य निश्चित किये हुए कार्य में शीघ्रता करने की प्रशंसा करते हैं-जो कार्य निश्चित किया जा चुका है उसे शीघ्र ही कर डालना चाहिए। अणुमान की बात सुनकर इक्ष्वाकु वंश के सिंह रामचन्द्र अपनी चतुरंग सेना के साथ चित्रकूट नामक वन में जा पहुँचे। वे यद्यपि शीघ्र ही लंका की ओर प्रयाण करना चाहते थे तथापि समय को बलवान मानकर उन्होंने वर्षा ऋतु वहीं बिताई ॥437-439॥

जब रामचन्द्र चित्रकूट वन में निवास कर रहे थे तब राजा बालि का दूत उनके पास आया और प्रणाम करने के अनन्तर भेंट समर्पित करता हुआ बड़ी सावधानी से यह कहने लगा ॥440॥

कि हे देव! मेरे स्वामी राजा बालि बहुत ही बलवान् हैं। वे आपसे इस प्रकार निवेदन कर रहे हैं-कि यदि पूज्यपाद महाराज रामचन्द्र मुझे दूत बनाना चाहते हैं तो सुग्रीव और अणुमान् को दूत न बनावें क्योंकि वे दोनों बहुत थोड़ा कार्य करते हैं। यदि आप मेरा पराक्रम देखना चाहते हैं तो आप यहीं ठहरिये, मैं अकेला ही लंका जाकर और रावण का मानभंग कर आर्या जानकी को आज ही लिये आता हूँ ॥

441-443॥

इस प्रकार बालि के दूत के वचन सुनकर रामचन्द्र ने साम और भेद को जानने वाले मन्त्रियों से पूछा कि किष्किन्धा नगर के राजा बाली को क्या उत्तर दिया जावे ॥444॥

इस प्रकार मन्त्रि समूह से पूछा। तब सर्वप्रिय एवं सर्व प्रशंसित अंगद ने कहा कि शत्रु, मित्र और उदासीन के भेद से राजा तीन प्रकार के होते हैं। इन तीन प्रकार के राजाओं में रावण हमारा शत्रु है, और बालि मित्र का शत्रु है। यदि हम लोग उसके कहे अनुसार कार्य नहीं करेंगे तो वह शत्रु के साथ सन्धि कर लेगा-उसके साथ मिल जावेगा ॥445-446॥

और ऐसा होने से शत्रु की शक्ति बढ़ जायगी जिससे उसका उच्छेद करना दुःख साध्य हो जायगा। यदि बालि की बात मानते हैं तो यह कार्य आपके लिए कठिन है ॥447॥

इसलिए सबसे पहले किष्किन्धा नगरी के स्वामी के नाश करने का काम जबर्दस्ती आपके लिए आ पड़ा है इसके बाद शक्ति और सम्पत्ति बढ़ जाने से रावण का नाश सुखपूर्वक किया जा सकेगा ॥448॥

इस प्रकार अंगद के वचन स्वीकृत कर रामचन्द्र ने बालि के दूत को बुलाया और कहा कि आपके यहाँ जो महामेघ नाम का श्रेष्ठ हाथी है वह मेरे लिए समर्पित करो तथा मेरे साथ लंका के लिए चलो, पीछे आपके इष्ट कार्य की चर्चा की जायगी। ऐसा कह कर उन्होंने बालि के दूत को विदा किया और उसके साथ ही अपना दूत भी भेज दिया ॥449-450॥

वे दोनों ही दूत जाकर सुग्रीव के बड़े भाई बालि के पास पहुँचे और उन्होंने रामचन्द्र का संदेश सुनाकर उसे बहुत ही कुपित कर दिया। तब मद से उद्धत हुआ बालि कहने लगा कि इस तरह मुझपर आक्रमण करनेवाले रामचन्द्र क्या स्त्री को अपहरण करने वाले रावण को नष्ट कर तथा सीता को वापिस लाकर दिशाओं में अपना यश फैला लेंगे? ॥451-452॥

स्त्री का अपहरण करने वाले रावण के लिए तो इन्होंने शान्ति के वचन कहला भेजे हैं और जो मिलकर इनके साथ रहना चाहता है ऐसे मेरे

लिए ये कठोर शब्द कहला रहे हैं। इनकी बुद्धि और शूर-वीरता तो देखो कैसी है ? ॥453॥

गर्व से भरी हुई बालि की इस नीच भाषा को सुनकर रामचन्द्र के दूत ने कहा कि रावण चोरी से परस्त्री हर कर ले गया है सो उस उन्मार्गगामी को दोनों अपराधों के अनुरूप जो दण्ड दिया जावेगा उसे आप शीघ्र ही देखेंगे। अथवा इससे आपको क्या प्रयोजन ? यदि आपको महामेघ हाथी देना इष्ट है तो इस दुष्ट अहंकार को छोड़कर वह हाथी दे दो और स्वामी की सेवा करो। ऐसा करने से आप अवश्य ही शीघ्र वृद्धि को प्राप्त होंगे। इस प्रकार कह कर दूत ने बालि को क्रोध से प्रज्वलित कर दिया ॥454-456॥

तब यमराज का अनुकरण करने वाला बालि उत्तर में निम्न प्रकार कठोर वचन कहने लगा। उसने कहा कि 'यदि रामचन्द्र को जीने की आशा है तो हाथी की आशा छोड़ दें, यदि जीने की आशा नहीं है तो युद्ध में मेरे सामने आवें और उन्हें हाथी पर बैठने की हो इच्छा है तो मेरे चरणों की सेवा को प्राप्त हों फिर मेरे साथ इस हाथी पर बैठ कर गमन करें।' इस प्रकार बालि का विनाश करने वाली उसकी अशुभ वाणी को सुनकर वह दूत उसी समय बालि को नष्ट करने वाले बलवान् रामचन्द्र के पास वापिस आ गया और कहने लगा कि बालि प्रतिकूलता से आपका कृत्रिम शत्रु प्रकट हुआ है ॥457-459॥

उस विरोधी के रहते हुए आपका मार्ग चोरों के मार्ग के समान दुर्गम है अर्थात् जब तक आप उसे नष्ट नहीं कर देते हैं तब तक आपका लंका का मार्ग सुगम नहीं है। इस प्रकार जब दूत कह चुका तब रामचन्द्र ने लक्ष्मण को नायक बनाकर सुग्रीव आदि की सेना खदिर-वन में भेजी। जिसमें शास्त्रों के समूह देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी विद्याधरों की सेना ने सामने आई हुई बालि की सेना को उस तरह काट डाला जिस तरह कि वज्र वन को काट डालता है-नष्ट कर देता है। जब सेना नष्ट हो चुकी तब बालि अपनी सम्पूर्ण शक्ति अथवा समस्त सेना के साथ स्वयं युद्ध करने के लिए आया ॥460-462॥

काल के समान लीला करने वाली दोनों सेनाओं में फिर से भयंकर युद्ध होने लगा और काल उस युद्ध में प्रलय के समान प्रायः तृप्त हो गया ॥463॥

अन्त में लक्ष्मण ने कान तक खींच कर छोड़े हुए तीक्ष्ण सफेद वाण से ताल वृक्ष के फल के समान बालि का शिर काट डाला ॥464॥

उसी समय सुग्रीव और अणुमान को अपना स्थान मिल गया सो ठीक ही है क्योंकि अच्छी तरह की हुई प्रभु की सेवा प्रायः शीघ्र ही फल देती है ॥465॥

तदनन्तर सब लोग राजा रामचन्द्र के पास गये। सुग्रीव, रामचन्द्र को लक्ष्मण और सब सेना के साथ-साथ बड़ी भक्ति से अपने नगर में ले आया और किष्किन्धा नगर के मनोहर उद्यान में ठहरा दिया। उस समय शरद्-ऋतु आ गई थी और रामचन्द्र के साथ राजाओं की चौदह अक्षौहिणी प्रमाण सेना इकट्ठी हो गई थी ॥466-467॥

जहाँ से शिवघोष मुनि ने मोक्ष प्राप्त किया था ऐसे जगत्याद नामक पर्वत पर जाकर लक्ष्मण ने सात दिन तक निराहार रहकर पूजा की और प्रज्ञप्ति नाम की विद्या सिद्ध की। विद्या सिद्ध करते समय एक सौ आठ योद्धाओं ने उसकी रक्षा की थी। इसी प्रकार सुग्रीव ने भी उस समय उत्तम व्रत और उपवास धारण कर सम्मेदाचल पर सिद्धशिला के ऊपर महाविद्याओं की पूजा की। इनके सिवाय अन्य विद्याधरों ने भी अपनी-अपनी विद्याओं की पूजा की। इस प्रकार जिसमें ध्वजाएँ फहरा रही हैं, राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और अणुमान जिसमें प्रधान हैं, जो बड़े-बड़े हाथी रूपी मगरमच्छों से व्याप्त है, और घोड़े ही जिसमें बड़ी-बड़ी तरंगे हैं ऐसे प्रलयकाल के समुद्र के समान वह भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओं की सेना लंका के लिए रवाना हुई ॥468-472॥

अथानन्तर-जब अणुमान लंका से लौट आया था तब कुम्भकर्ण आदि भाइयों ने रावण से कहा था कि 'हे प्रभो ! आप हमारे उच्च वंश में सूर्य के समान देदीप्यमान हैं और आपका पौरुष भी सर्वत्र प्रसिद्ध है अतः आपको यह कार्य करना उचित नहीं है। यह स्त्री-रत्न उच्छिष्ट है इसलिए हम लोगों के अनुरोध से आप इसे छोड़ नहीं सकते?' इस प्रकार सबने कहा परन्तु चूँकि रावण सीता में आसक्त था इसलिए उसे छोड़ नहीं सका। वह फिर कहने लगा कि रामचन्द्र तृण-मनुष्य हैं-तृण के समान अत्यन्त तुच्छ हैं, 'उनकी सेना सीता को लेने के लिए यहाँ हमारे ऊपर आ रही है' ऐसे शब्द आज सुनाई दे रहे हैं इसलिए सीता को कैसे छोड़ा जा सकता है, यह बात तो कुल को कलंक लगाने वाली है ॥473-476॥

रावण का छोटा भाई विभीषण उसकी यह बात सह नहीं सका अतः कहने लगा कि आप रामचन्द्र को तृण-मनुष्य मानते हैं पर सूर्यवंशीय रामचन्द्र की क्या शूर-वीरता है इसका आपको पता नहीं है। आप काम से अन्धे हो रहे हैं इसलिए भाइयों के हितकारी वचन नहीं सुन रहे

हैं । आप परस्त्री के समर्पण करने को दोष बतला रहे हैं इसलिए मालूम होता है कि आप दोषों के जानकारों में श्रेष्ठ हैं ? (व्यंग्य) ॥

477-478॥

परस्त्री करना शूर-वीरता है, संसार में इस बात का प्रारम्भ आप से ही हो रहा है । आप जो अपनी दुर्बुद्धि से मिथ्या उत्तर दे रहे हैं उससे क्या दोनों लोकों में भय उत्पन्न करने वाले एवं दुर्धर उन्मार्ग की प्रवृत्ति नहीं होगी और सुमार्ग - का विनाश नहीं होगा ? जो विषय निषिद्ध नहीं है उनका भी त्याग करने की आप की अवस्था है फिर जरा विचार तो कीजिये इस अवस्था में निषिद्ध विषय की इच्छा करना क्या आपके योग्य है ? आप यह निश्चित समझिये कि यह विद्याधरों की लक्ष्मी आपके गुणों की प्रिया है । यदि आप सीता को वापिस नहीं करेंगे तो निर्गुण समझ कर यह आपको आज ही छोड़ देगी । पर-स्त्री की अभिलाषा करने रूप इस अकार्य से आप अपने-आप को अकार्य करने वालों में अग्रणी-मुखिया क्यों बनाते हैं ? इस समय आप इस दुष्ट प्रवृत्ति से पाप का संचय कर पुण्य के प्रतिकूल हो रहे हैं, पुण्य के प्रतिकूल रहने से दैव अनुकूल नहीं रहता और दैव के बिना लक्ष्मी कहाँ प्राप्त हो सकती है ? पर-स्त्री का हरण करना यह पाप सब पापों से बड़ा पाप है ॥479-484॥

अधिक विस्तार के साथ कहने में क्या लाभ है ? यह पाप आप को सातवें नरक ले जावेगा । अथवा इसे जाने दो, यह पाप पर-भव में दुःख देगा परन्तु शील की भाण्डारभूत स्त्रियाँ अपने प्रति क्रोध करने वालों के कुल को शाप के द्वारा इसी भव में आमूल नष्ट करने के लिए समर्थ रहती हैं । आपने व्रत लिया था कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी मैं उसे नहीं चाहूँगा । आपका यह एक व्रत ही आपको संसाररूपी समुद्र से पार करने के लिए जहाज के समान है इसे क्यों नष्ट कर रहे हो ? सज्जन पुरुषों को प्राण देकर यश खरीदना चाहिए परन्तु आप ऐसे अज्ञानी हैं कि प्राण और यश देकर दूसरे कल्प काल तक टिकने वाला तथा अपयश खरीद रहे हैं अतः आपके लिए धिक्कार है । यह सीता किसकी पुत्री है यह क्या आप नहीं जानते ? ठीक ही है जिनका चित्त काम से मोहित रहता है उनके लिए जानी हुई बात भी नहीं जानी के समान होती है । क्या आप यह नहीं जानते कि ये पंचेन्द्रियों के विषय जबतक प्राप्त नहीं हो जाते तब तक इनमें उत्सुकता रहती है, प्राप्त हो जाने पर सन्तोष होने लगता है, और जब इनका उपभोग कर चुकते हैं तब नीरसता आ जाती है । इसलिए अयोग्य, अनाथ, विनाश का कारण, पाप और दुःख का संचय करने वाली परस्त्री में व्यर्थ का प्रेम मत कीजिए । भविष्यत् की बात जाननेवाले निमित्तज्ञानियों ने कैसा आदेश दिया था-क्या कहा था इसका भी आप को स्मरण करना चाहिए ॥485-491॥

तथा चक्र उत्पन्न के फल का भी विचार कीजिए । पुराणों के जानने वाले राम को आठवाँ बलभद्र और लक्ष्मण को नौवाँ नारायण कहते हैं । हे विद्वान् ! आप इसका भी विचार कीजिए । सीता को नहीं सौंपने में जैसा दोष है वैसा दोष उसके सौंपने में नहीं है ॥492-493॥

इसलिए इन सब बातों का निश्चय कर सीता रामचन्द्र के लिए सौंप दीजिये । इस प्रकार विभीषण ने अच्छी तरह विचार कर यश को चन्द्रमा के समान उज्ज्वल करने के लिए लक्ष्मीरूपी लता को बढ़ाने वाले तथा धर्म और सुख देने वाले उत्कृष्ट वचन कहे । परन्तु इस प्रकार के उत्तम वचन कहने वाले विभीषण के लिए वह भयंकर रावण कुपित होकर कहने लगा कि 'तूने दूत के साथ मिलकर पहले सभा के बीच मेरा असहनीय तिरस्कार किया था और इस समय भी तू दुर्वचन बोल रहा है । तू मेरा भाई होने से मारने योग्य नहीं है इसलिए जा मेरे देश से निकल जा' । इस प्रकार रावण ने बहुत ही कठोर शब्द कहे ॥494-497॥

रावण की बात सुनकर विभीषण ने विचार किया कि इस दुराचारी का नाश अवश्य होगा, इसके साथ मेरा भी नाश होगा और यह अपयश करने वाला नाश मुझे दूषित करेगा ॥498॥

इसने तिरस्कार कर मुझे देश से निकाल दिया है यह अच्छा ही किया है क्योंकि मुझे यह इष्ट ही है । 'बादल जंगल में ही बरसे' यह कहावत आज मेरे पुण्य से सम्पन्न हुई है । अब मैं रामचन्द्र के चरण-कमलों के समीप ही जाता हूँ । इस प्रकार चित्त में विभीषण ने विचार किया और ऐसा ही निश्चय कर लिया ॥499-500॥

वह शीघ्र ही सौजन्य की तरह समुद्र के जल का उल्लंघन कर गया और जिस प्रकार किसी महानदी का प्रवाह समुद्र के पास पहुँचता है उसी प्रकार वह रामचन्द्र के समीप जा पहुँचा ॥501॥

रामचन्द्र ने तरंगों की लीला धारण करने वाले लक्ष्मण आदि अनेक बड़े-बड़े योद्धाओं को विभीषण की अगवानी करने के लिए भेजा और वे सब परीक्षा कर तथा एकीभाव को प्राप्त कर उसे ले आये । विभीषण भी रामचन्द्र के प्रभाव को समझता था अतः उनके साथ एकीभाव को प्राप्त हो गया-हिलमिल गया । तदनन्तर कुछ ही पड़ाव चलकर रामचन्द्र की सेना समुद्र के तट पर आ पहुँची और चारों ओर

ठहर गई। उस समय अणुमान ने परस्पर रामचन्द्र से इस प्रकार कहा कि हे देव ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अपनी शूर-वीरता प्रकट करने की इच्छा से लंका में जाऊँ और वन का नाश कर आपके शत्रु का मान-भंग करूँ ॥502-505॥

साथ ही लंका को जलाकर शत्रु के शरीर में दाह उत्पन्न करूँ। ऐसा करने पर वह अहंकारी रावण अभिमानी होने से यहाँ आवेगा और उस दशा में स्थान-भ्रष्ट होने के कारण वह सुख से नष्ट किया जा सकेगा। यदि यहाँ नहीं भी आवेगा तो उसके प्रताप की अति तो अवश्य होगी। अणुमान की यह विज्ञप्ति सुनकर राजा रामचन्द्र ने वैसा करने की अनुमति दे दी और शूर-वीरता से सुशोभित अनेक विद्याधरों को उसका सहायक बना दिया। रामचन्द्र की आज्ञा पाकर अणुमान बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसने वानर-विद्या के द्वारा शीघ्र ही अनेक भयंकर वानरों की सेना बनाई और उसे साथ ले शीघ्र ही समुद्र का उल्लंघन किया। वहाँ वह अपने पराक्रम से वन-पालकों को पकड़ कर उनका निग्रह करने लगा और क्रोध से उसने रावण का समस्त वन नष्ट कर डाला। तब वन के रक्षक लोग अपनी भुजाएँ ऊँची कर जोर-जोर से चिल्लाते हुए नगरी में गये और जो कभी नहीं सुने थे उन भयंकर शब्दों को सुनाने लगे। उस समय राक्षस-विद्या के प्रभाव से फहराती हुई ध्वजाओं के समूह से उपलक्षित नगर के रक्षक लोग अणुमान से युद्ध करने के लिए उसके सामने आये। यह देख अणुमान ने भी वानर-सेना के सेनापतियों को आज्ञा दी और तदनुसार वे सेनापति लोग वन के वृक्ष उखाड़कर उन्हीं से प्रहार करते हुए उन्हें मारने लगे। तदनन्तर बलवान् अणुमान ने नगर के बाहर स्थित राक्षसों की रूखी सेना को अपनी देदीप्यमान महाज्वाल नाम की विद्या से वहाँ का वहीं भस्म कर दिया। इस प्रकार वानर सेना का सेनापति अणुमान, रावण के दुर्वार प्रताप रूपी ऊँचे वृक्ष को उखाड़ कर रामचन्द्र के समीप वापिस आ गया। इधर रामचन्द्र तबतक सेना को तैयार कर युद्ध के सन्मुख खड़े हो गये ॥506-515॥

उस समय उन्होंने विभीषण से पूछा कि रावण किस कारण से नहीं आया है ? तदनन्तर विभीषण ने उत्तर दिया कि इस समय रावण लंका में नहीं है। बालि का परलोक गमन और सुग्रीव तथा अणुमान के विद्याबल का अभिमान सुनकर उसने अपनी रक्षा के लिए इन्द्रजित् नामक पुत्र को नियुक्त किया है तथा आठ दिन का उपवास लेकर और इन्द्रियों को अच्छी तरह वश कर आदित्यपाद नाम के पर्वत पर विद्याएँ सिद्ध करता हुआ बैठा है। राक्षसादि महाविद्यालयों के सिद्ध हो जाने पर वह बहुत ही शक्ति सम्पन्न हो जायेगा। इसलिए इस समय हम लोगों का यही काम है कि उसकी विद्या-सिद्धि में विघ्न किया जाय और लंका को घेरकर ठहरा जाय, इस प्रकार विभीषण ने रामचन्द्र से कहा। तदनन्तर सुग्रीव और अणुमान ने अपने द्वारा सिद्ध की हुई गरुडवाहनी, सिंहवाहनी, बन्धमोचनी और हननावरणी नाम की चार विद्याएँ अलग-अलग रामचन्द्र और लक्ष्मण के लिए दीं। इसके बाद दोनों भाइयों ने प्रज्ञप्ति नाम की विद्या से बनाये हुए अनेक विमानों के द्वारा अपनी उस बड़ी भारी सेना को लंकानगरी के बाहर मैदान में ले जाकर खड़ी कर दी। उसी समय कितने ही विद्याधर कुमार रामचन्द्र की आज्ञा से आदित्यपाद नामक पर्वत पर जाकर उपद्रव करने लगे। तब रावण के बड़े पुत्र इन्द्रजित् ने क्रोध में आकर विद्याधर राजाओं तथा पहले सिद्ध किये हुए समस्त देवताओं को यह आदेश देकर भेजा कि तुम सब लोग मिलकर इनसे युद्ध करो। इन्द्रजित् की बात सुनकर विद्या-देवताओं ने कहा कि हम लोगों ने आपके पुण्योदय से इतने समय तक आपका वाञ्छित कार्य किया परन्तु अब आपका पुण्य क्षीण हो गया है इसलिए आपके कहे अनुसार कार्य करने में हम समर्थ नहीं हैं। जब उक्त विद्या-देवताओं ने रावण से इस प्रकार स्पष्ट कह दिया तब रावण उनसे कहने लगा कि आप लोग जा सकती हैं, आप नीच देवता हैं, आपसे मेरा कौन-सा कार्य सिद्ध होने वाला है ? मैं अपने पुरुषार्थ से ही इन मनुष्य रूपी हरिणों को विद्याधरों के साथ-साथ अभी मार डालता हूँ ॥516-527॥

सहायकों के द्वारा सिद्ध किया हुआ कार्य अभिमानी मनुष्यों के लिए लज्जा उत्पन्न करता है। इस प्रकार क्रुद्ध होकर रावण उसी समय इन्द्रजित् के साथ नगर में आ गया। देखो, जिसका पुण्य नष्ट हो चुकता है ऐसे दुश्चरित्र मनुष्य का भूत और भावी सब नष्ट हो जाता है। नगर में आने पर उसने परिवार के लोगों से ज्ञात किया कि शत्रुओं ने लंका को घेर लिया है ॥528-529॥

उस समय रावण कहने लगा कि समय की विपरीतता तो देखो, हरिणों ने सिंह को घेर लिया है। अथवा जिनकी मृत्यु निकट आ जाती है उनके स्वभाव में विभ्रम हो जाता है ॥530॥

इस प्रकार किसी ऊँचे हाथी पर आक्रमण करने वाले सिंह के समान गरजते हुए रावण ने हरिण की ध्वजा धारण करने वाले अपनी रविकीर्ति नामक सेनापति को आदेश दिया ॥531॥

कि युद्ध के लिए शत्रु-पक्ष का क्षय करने वाली भेरी बजा दो। उसने उसी प्रकार रणभेरी बजा दी और कल्पकाल के अन्त में यमराज के दूत के समान अपनी समस्त सेना का अलग-अलग विभाग कर रावण लंका से बाहर निकला ॥532-533॥

उस समय वह सुकुम्भ, निकुम्भ, कुम्भकर्ण तथा अन्य राजपुत्रों से एवं महाबलवान् महामुख, अतिकाय, दुर्मुख, खरदूषण और धूम आदि प्रमुख विद्याधरों से घिरा हुआ था अतः दुष्ट ग्रहों से घिरे हुए ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के समान जान पड़ता था और तीनों जगत् को ग्रसने के लिए सतृष्ण यमराज की लीला को विडम्बित कर रहा था । वह कह रहा था कि राम और लक्ष्मण मेरे सामने खड़ा होने के लिए समर्थ नहीं हैं । अरे, बहुत से खरगोश और शृगाल इकट्ठे हो जावें तो क्या वे सिंह के सामने खड़े रहे सकते हैं ? आज उनके जीते जी यह संसार रावण से रहित भले ही हो जाय परन्तु मैं उनके साथ इस पृथिवी का पालन कदापि नहीं करूँगा । इस प्रकार अतर्कित रूप से उपस्थित अपने अमंगल को वह रावण स्वयं कह रहा था ॥534-536॥

उस समय वह कालमेघ नामक महा मदनोन्मत्त हाथी के ऊपर सवार था, प्रतिकूल (सामने की ओर से आने वाली) वायु से ताड़ित होकर फहराती हुई राक्षस-ध्वजाओं से सुशोभित था, उसके आगे-आगे चक्र-रत्न देदीप्यमान हो रहा था, उसके छत्र से सूर्य आच्छादित हो गया था-सूर्य का आताप रूक गया था और उसके अपने अनेक प्रकार के बड़े-बड़े नगाडों के शब्द से दिग्गजों के कान बहिरे कर दिये थे । इस प्रकार उस ओर मद से उद्वत हुआ रावण युद्ध के लिए तैयार होकर खड़ा हो गया और इस ओर रामचन्द्र उसके आने की बात सुनकर क्रोध से झुमने लगे ॥540-542॥

वह उस समय अत्यन्त दुर्निवार थे और क्रोध रूपी अग्नि के द्वारा मानो शत्रु को जला रहे थे । उनके नेत्रों के समीप से जो जलती हुई दृष्टि निकल रही थी वह वाणों के समान जान पड़ती थी और उसे वे जलते हुए अंगारों के समान युद्ध करने के लिए दिशाओं में बड़ी शीघ्रता से फेंक रहे थे । महाविद्याओं के समूह से जो उन्हें सेना का पाँचवाँ अंग प्राप्त हुआ था वे उससे सहित थे । उनकी ताल की ध्वजा में वलयाकार साँप को पकड़े हुए गरूड का चिह्न बना है ऐसा लक्ष्मण भी विजय पर्वत नामक हाथी पर सवार होकर निकला । इन दोनों ने पहले तो समस्त विघ्न नष्ट करने वाले श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया और फिर दोनों ही सुग्रीव तथा अणुमान आदि विद्याधरों से वेष्टित हो सूर्य-चन्द्रमा के समान शत्रु रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए चल पड़े ॥543-547॥

वे दोनों भाई नयों के समान सुशोभित थे और दृप्त तथा दुर्बुद्धियों का घात करने वाले थे । रावण के सामने युद्ध करने के लिए उन्होंने अपनी सेना का विभाग कर रक्खा था, इस प्रकार शत्रुओं को भयभीत करते हुए वे युद्ध-भूमि में जाकर ठहर गये । वहाँ इनके नगाडा के बड़े भारी शब्द शत्रुओं के नगाडों के शब्दों को तिरस्कृत कर रहे थे सो ऐसा जान पड़ता था कि मानो वे शब्द ऊँचे उठते हुए दण्डों के कठोर प्रहार से भयभीत हो गुहा अथवा गढ़ आदि देशों में सब ओर से प्रवेश कर रहे हों-छिप रहे हों ॥548-550॥

हाथियों की चिंघाड़ों और घोडों के हींसने के शब्द विशेष रूप से योद्धाओं की शूर-वीरता रूप सम्पत्ति को अच्छी तरह बढ़ा रहे थे ॥551॥ उस समय जो आरम्भ प्रकट हो रहे थे वे शत्रुओं को भयभीत करते हुए आकाश-मार्ग को रोक रहे थे और स्त्रियों के समान दुर्जय थे ॥ 552॥

धनुष धारण करने वाले लोग अपने-अपने धनुष लेकर निकले थे । उन धनुषों का मध्यम भाग हाथ के अग्रभाग के बराबर था, वे नये बादलों के समूह के समान जान पड़ते थे, बाण सहित थे, बुद्धिमान् पुरुषों के मन के समान गुण-डोरी (पक्ष में दया दाक्षिण्य आदि गुणों) से नम्र थे, कठोर वचनों के समान दूर से ही हृदय को भेदन करनेवाले थे, उनकी प्रत्यंचा का शब्द दिशाओं में फैल रहा था अतः ऐसे जान पड़ते थे मानो क्रोध-वश हुंकार ही कर रहे हों खींचकर कानों के समीप तक पहुँचे हुए थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो कुछ मन्त्र ही कर रहे हों, और सज्जनों की संगति के समान वे कठिन कार्य करते हुए भी कभी भग्न नहीं होते थे ऐसे धनुषों को धारण कर धनुर्धारी लोग बाहर निकले । कुछ धीर-वीर योद्धा तलवार और कवच धारण कर जोर-जोर से चिल्ला रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बिजली सहित गरजते हुए काले मेघों को ही जीतना चाहते हों । इनके सिवाय नाना प्रकार के हथियारों से सहित नाना प्रकार युद्ध करने में चतुर अन्य अनेक योद्धा भी चारों ओर से शत्रुओं की सेना के साथ युद्ध करने के लिए आ पहुँचे । उनके साथ जो घोड़े थे, वे बड़े वेग से चल रहे थे और खुरों के आघात से मानो पृथिवी को बिदार रहे थे ॥553-558॥

वे घोड़े चमरों से सहित थे तथा महामणियों से बनी हुई पीठ (काठी) से युक्त थे अतः राजा के समान जान पड़ते थे । अथवा किसी इष्ट-विश्वासपात्र सेवक के समान मरण-पर्यन्त अपने स्वामी का हित करने वाले थे ॥559॥

उनके मुख में घास के ग्रास लग रहे थे जिससे भोजन करते हुए से जान पड़ते थे और छोटी-छोटी घंटियों के मनोहर शब्दों से ऐसे मालूम हो रहे थे मानो निरन्तर अपनी जीत की घोषणा ही कर रहे हों ॥560॥

वे घोड़े कवच पहने हुए थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो पंखों से युक्त होकर आकाश के मध्यभाग को ही लाँघना चाहते हों। उनके मुखों से लार रूपी जल का फेन निकल रहा था जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पैररूपी नटों के नृत्य करने के लिए फूलों से पृथिवी की पूजा ही कर रहे हों। वे घोड़े यूनान, कश्मीर और वाल्हीक आदि देशों में उत्पन्न हुए थे, उन पर ऊँची उठाई हुई देदीप्यमान तलवारों की किरणों से सुशोभित घुडसवार बैठे हुए थे, वे महासेना रूपी समुद्र में उत्पन्न हुई तरंगों के समान इधर-उधर चल रहे थे, और जोर-जोर से हींसने के शब्द रूपी आभूषणों से शत्रुओं को भयभीत करने के लिए ही मानो निकले हुए थे। इनके सिवाय वायु जिनके अनुकूल चल रही है जिसमें शस्त्र रूपी वर्तन भरे हुए हैं, जिनपर ऊँचे दण्ड वाली पताकाएँ फहरा रही हैं, और संग्राम रूपी समुद्र के जहाज के समान जान पड़ते हैं ऐसे बड़े-बड़े रथ भी वहाँ चल रहे थे। चक्रवर्ती रावण यदि एक चक्र से पराक्रमी है तो हमारे पास ऐसे दो चक्र विद्यमान हैं ऐसा समझ कर समस्त दिशाओं में आक्रमण करने वाले रथ वहाँ बड़ी तेजी से आ रहे थे। जिनके भीतर उनके स्वामी बैठे हुए हैं, जो अनेक शस्त्रों से परिपूर्ण हैं और जिनमें शीघ्रता से चलने वाले वेगगामी घोड़े जुते हुए हैं ऐसे तैयार खड़े हुए हमारे रथ युद्ध के लिए बद्धकक्ष क्यों न हों? पैदल चलने वाले सिपाही, घोड़े और हाथी भले ही आगे दौड़ते चले जावें पर इन व्यग्र प्राणियों से क्या होने वाला है? विजय तो हम लोगों पर ही निर्भर है। यह सोचकर ही मानो बोझ से भरे रथ धीरे-धीरे चल रहे थे। सन्मार्ग पर चलने वाले, शास्त्रों के धारक एक चक्रवाले चक्रवर्तियों ने जब समस्त दिशाओं पर आक्रमण किया था तब दो चक्रवाले रथों ने समस्त दिशाओं पर आक्रमण किया इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी प्रकार पर्वत के समान जिनका अग्रभाग कुछ ऊँचा उठा हुआ था, पीछे की ओर फैली हुई पूँछ से जिनकी पूँछ का उपान्त भाग कुछ खुल रहा था, जो ऊपर की ओर उठते हुए सूँड के लाल लाल अग्रभाग से सुशोभित थे और इसीलिए जो कमलों के सरोवर के समान जान पड़ते थे, जिनकी वृत्ति पर प्रणोय थी-दूसरों के आधीन थी अतः जो बच्चों के समान जान पड़ते थे, जो अपने गण्डस्थलों पर स्थित भ्रमरों को मानो क्रोध से ही कान रूपी पंखों की फटकार से उड़ा रहे थे, उड़ती हुई सफेद ध्वजाओं से जो बगलाओं की पंक्तियों सहित काले मेघों के समान जान पड़ते थे, जिनमें कितने ही हाथी दूसरे हाथियों के मद की सुगन्ध सूँघकर आकाश में खिले हुए कमल के समान जिनका अग्रभाग विकसित हो रहा है ऐसी सूँडों से युद्ध करने के लिए तैयार हो रहे थे, जो पैनी नोकवाले अंकुशों की चोट से अपांग प्रदेश में घायल होने के कारण युद्ध-क्रिया से रोके जा रहे थे, जो हथिनियों के समूह के समीप बार-बार अपना मस्तक हिला रहे थे, जिनका सब क्रोध शान्त हो गया था, जिन पर प्रधान पुरुष बैठे हुए थे और जो उन्नत शरीर होने के कारण समस्त संसार पर आक्रमण करते हुए से जान पड़ते थे ऐसे चलते फिरते पर्वतों के समान ऊँचे-ऊँचे हाथी सब ओर से निकल कर चल रहे थे ॥561-575॥ उस समय अनुकूल पवन से प्रेरित ध्वजाएँ शत्रुओं की ओर ऐसी जा रही थीं मानो दण्डों को छोड़कर पहले ही युद्ध करने के लिए उद्यत हो रही हों ॥576॥

अथवा सूर्य की किरणों को ढंकने वाली वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो निर्मल आकाश में जो मेघरूपी मैल छाया हुआ था उसे ही दूर कर रही हों ॥577॥

अथवा वे ध्वजाएँ दण्ड धारण कर रही थीं अर्थात् दण्डों में लगी हुई थीं इसलिए वृद्ध पुरुषों का अनुकरण कर रही थीं अथवा समय पर मुक्त होती थीं-खोलकर फहराई जाती थीं इसलिए मुनिमार्ग का अनुसरण करती थीं ॥578॥

उस समय धूलि उड़कर चारों ओर फैल गई थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सेना के बोझ से खिन्न हुई पृथिवी साँस ही ले रही हो। अथवा पूर्ण ज्ञान को नाश करने का कारण मिथ्याज्ञान ही फैल रहा हो ॥579॥

अथवा युद्ध में विघ्न करने वाला कोई बड़ा भारी भय ही आकर उपस्थित हुआ था। जिसने पूर्वभ्रम में पुण्य संचित नहीं किया ऐसा मनुष्य जिस प्रकार सबके नेत्रों के लिए अप्रिय लगता है इसी प्रकार वह धूलि भी सबके नेत्रों के लिए अप्रिय लग रही थी ॥580॥

इस प्रकार वेग से भरी धूलि आकाश को उल्लंघन कर रही थी अर्थात् समस्त आकाश में फैल रही थी। उस धूलि के भीतर समस्त सेना ऐसी हो गई मानो मूर्च्छित हो गई हो अथवा गर्भ में स्थित हो, अथवा दीवाल पर लिखे हुए चित्र के समान निश्चेष्ट हो गई हो। उसका समस्त कलकल शान्त हो गया। जिस प्रकार किसी पराजित राजा के चित्त का क्षोभ धीरे-धीरे शान्त हो जाता है उसी प्रकार जब वह धूलि का बहुत भारी क्षोभ धीरे-धीरे शान्त हो गया और दृष्टि का कुछ-कुछ संचार होने लगा तब सेनापतियों के द्वारा जिन्हें प्रेरणा दी गई है ऐसे क्रोध से भरे योद्धा गमन करने से शुद्ध हुए नये बादलों के समान धनुष धारण करते हुए बाणों की वर्षा करने लगे और युद्ध के मैदान में शत्रु-योद्धाओं के हृदय राग-रहित करने लगे। सेनापतियों के द्वारा प्रेरित हुए योद्धा बड़े उत्साह से युद्ध कर रहे थे ॥581-585॥

सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनों का बल शत्रु से प्रकट नहीं होता किन्तु मित्र से प्रकट होता है । मैंने अपना जीवन देने के लिए ही राजा से आजीविका पाई है-वेतन ग्रहण किया है । अब उसका समय आ गया है यह विचार कर कोई योद्धा रण में वह ऋण चुका रहा था । युद्ध करने में एक तो सेवक का कर्तव्य पूरा होता है, दूसरे यश की प्राप्ति होती है और तीसरे शूर-वीरों की गति प्राप्त होती है ये तीन फल मिलते हैं ॥586-587॥

तथा हम लोगों के यही तीन पुरुषार्थ हैं यही सोचकर कोई योद्धा किसी दूसरे योद्धा से परस्पर लड़ रहा था । मैं अपनी सेना में किसी का मरण नहीं देखूँगा क्योंकि वह मेरा ही पराभव होगा' यह मानता हुआ कोई एक योद्धा स्वयं सबसे पहले युद्ध कर मर गया था । इस प्रकार तीव्र-क्रोध करते हुए सब योद्धा, दायें-बायें दोनों हाथों से छोड़ने योग्य, आधे छोड़ने योग्य, और न छोड़ने योग्य सब तरह के शस्त्रों से बिना किसी आकुलता के निरन्तर युद्ध कर रहे थे । दोनों ओर से एक दूसरे के सन्मुख छोड़े जाने वाले बाण, बीच में ही अपना मार्ग बनाकर बड़ी शीघ्रता से एक दूसरे की सेना में जाकर पड़ रहे थे । गुण अर्थात् धनुष की डोरी को छोड़कर दूर जाने वाले, तीक्ष्ण एवं खून पीने वाले बाण सीधे होने पर भी प्राणों का घात कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट पुरुष में रहने वाले गुण, गुण नहीं कहलाते हैं । बाणों का न तो किसी के साथ वैर था और न उन्हें कुछ फल ही मिलता था तो भी वे शत्रुओं का घात कर रहे थे ॥588-591॥

सो ठीक ही है क्योंकि जिनकी वृत्ति दूसरों के द्वारा प्रेरित रहती है ऐसे तीक्ष्ण (पैन-कुटिल) पदार्थों की ऐसी ही अवस्था होती है । जिनका परस्पर बैर बँधा हुआ है ऐसे अनेक विद्याधर पक्षियों के समान अपने प्राणों को तृण के समान मानते हुए बाणों के द्वारा परस्पर विद्याधरों का घात कर रहे थे ॥592-594॥

धनुष धारण करने वाले कितने ही योद्धा लक्ष्य पर लगाई हुई अपनी दृष्टि के साथ ही साथ शीघ्र पड़ने वाले तीक्ष्ण बाणों के द्वारा पर्वतों के समान बहुत से हाथियों को मारकर गिरा रहे थे । किसी एक योद्धा ने अपने मर्मभेदी एक ही बाण से हाथी को मार गिराया था सो ठीक ही है क्योंकि इसीलिए तो विजय की इच्छा करने वाले शूरवीर दूसरे का मर्म जानने वालों को स्वीकार करते हैं-अपने पक्ष में मिलाते हैं । कोई एक योद्धा चोट से मूर्च्छित हो खून से लथ-पथ हो गया था तथा आये हुए गृद्ध पक्षियों के पंखों की वायु से उठकर पुनः अनेक योद्धाओं को मारने लगा था । कोई एक अल्प मूर्च्छित योद्धा, अपने आपको देव-कन्या द्वारा ले जाया जाता हुआ देख उत्सव के साथ हँसता हुआ अकस्मात् उठ खड़ा हुआ । जो बाणों से भरा हुआ है, जिसमें रण के मारू बाजे गूँज रहे हैं, जिसमें निरन्तर शिर रहित धड़ नृत्य कर रहे हैं, और जिसमें बाणों का मण्डप छाया हुआ है ऐसे युद्ध-स्थल में जिसकी सब अँतड़ियों का समूह बँध रहा है और जो बहुत से खून के प्रवाह से पूजित है ऐसे किसी एक योद्धा ने राक्षस-विवाह के द्वारा वीर-लक्ष्मी को अपनी ओर खींचा था । उस युद्ध-स्थल में डाकिनियाँ बड़ी चपलता से नृत्य कर रही थीं और शृगाल भयंकर शब्द कर रहे थे । वे शृगाल ऊपर की ओर किये हुए मुखों से निकलने वाले अग्नि के तिलगों से बहुत ही भयंकर जान पड़ने थे । जिसकी कैचियों का समूह ऊपर की ओर उठ रहा है और जो चन्चल कपालों को धारण कर रहा है । ऐसा राक्षसियों का समूह बहुत अधिक पिये हुए खून को उगल रहा था । अत्यन्त तीक्ष्ण बाण नाराच और चक्र आदि शस्त्रों के पड़ने से उस समय सूर्य का मण्डल भी प्रभाहीन तथा कान्ति रहित हो गया था । जिस प्रकार स्याद्वादियों के द्वारा आक्रान्त हुआ मिथ्यावादियों का समूह पराजय को प्राप्त होता है उसी प्रकार उस समय रामचन्द्रजी के सैनिकों के द्वारा आक्रान्त हुई रावण की सेनाएँ पराजय को प्राप्त हो रही थीं । इस प्रकार उस रणांगण में संग्राम प्रवृत्त हुए बहुत समय हो गया ॥595-604॥

उस युद्ध में कितने ही लोग मर गये, कितने ही घायल हो गये, और कितने ही पापी, प्राण छोड़ने में असमर्थ हो कण्ठगत प्राण हो गये ॥ 605॥

उस समय वे मरणासन्न पुरुष ऐसा सन्देह उत्पन्न कर रहे थे कि यमराज खाते समय तो सबको खा गया परन्तु वह खाये हुए समस्त लोगों को पचाने में समर्थ नहीं हो सका, इसलिए ही मानो उसने उन्हें उगल दिया था ॥606॥

जिनके अंग जर्जर हो रहे हैं ऐसे कितने ही योद्धा उस युद्ध-स्थल में जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हुए थे और वे देखनेवाले यमराज को भी भयानक रस उत्पन्न कर रहे थे-उन्हें देख यमराज भी भयभीत हो रहा था ॥607॥

जिनके पैर कट गये हैं ऐसे कितने ही प्रतापी एवं बलशाली घोड़े अपने शरीर से ही उठने का प्रयत्न कर रहे थे ॥608॥

योद्धाओं के द्वारा छोड़े हुए बाणों और नाराचों से कीलित हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनसे गेरू के निर्झर झर रहे हैं और जिन पर छोटे-छोटे बाँस लगे हुए हैं ऐसे पर्वत ही हों ॥609॥

चक्र आदि अवयवों के टूट जाने से सब ओर बिखरे पड़े रथ ऐसे जान पड़ते थे मानो उस संग्राम रूपी समुद्र के बीच में चलने वाले जहाज ही टूटकर बिखर गये हों ॥610॥

इस प्रकार उन दोनों सेनाओं में बहुत दिन तक युद्ध होता रहा । एक दिन रावण भाग्य के प्रतिकूल होने से अपनी सेना को नष्ट होती देख बहुत दुःखी हुआ । उसी समय उसने माया से सीता का शिर काट कर 'लो, यह तुम्हारी देवी है ग्रहण करो' यह कहते हुए क्रोध से रामचन्द्रजी के सामने फेंक दिया ॥611-612॥

इधर सीता का कटा हुआ शिर देखते ही रामचन्द्रजी के हृदय में मोह ने अपना स्थान जमाना शुरू किया और उधर रावण की सेना में युद्ध का उत्सव होना शुरू हुआ । यह देख, विभीषण ने रामचन्द्रजी से सच बात कही कि शीलावती सीता को आपके सिवाय कोई दूसरा छूने के लिए भी समर्थ नहीं है। हे नाथ, यह रावण की माया है अतः आप इस विषय में शोक न कीजिए । विभीषण की इस बात पर विश्वास रख कर रामचन्द्रजी रावण की सेना को शीघ्र ही इस प्रकार नष्ट करने लगे जिस प्रकार कि सिंह हाथियों के समूह को अथवा सूर्य अन्धकार के समूह को नष्ट करता है ॥613-616॥

अब रावण खुला युद्ध छोड़कर माया-युद्ध करने की इच्छा से अपने पुत्रों के साथ आकाश रूपी आँगन में जा पहुँचा ॥617॥

उस माया-युद्ध में रावण को दुरीक्ष्य (जो देखा न जा सके) देख कर, अत्यन्त चतुर राम और लक्ष्मण, सिंहवाहिनी तथा गरुड़वाहिनी विद्याओं के द्वारा अर्थात् इन विद्याओं के द्वारा निर्मित आकाशगामी सिंह और गरुड़ पर आरुढ़ होकर युद्ध करने के लिए उद्यत हुए । सुग्रीव, अणुमान् आदि अपने पक्ष के समस्त विद्याधरों की सेना भी उनके साथ थी। रावण के साथ रामचन्द्र, इन्द्रजीत के साथ लक्ष्मण, कुम्भकर्ण के साथ सुग्रीव, रविकीर्ति के साथ अणुमान्; खर के साथ कमलकेतु, इन्द्रकेतु के साथ अंगद, इन्द्रवर्मा के साथ युद्ध में प्रसिद्ध कुमुद और खरदूषण के साथ माया करने में चतुर नील युद्ध कर रहे थे । इसी प्रकार युद्ध करने में अत्यन्त उद्यत रामचन्द्रजी के अन्य भृत्य भी रावण के मुखिया लोगों के साथ मायायुद्ध करने लगे ॥618-622॥

उस समय इन्द्रजीत ने देखा कि रामचन्द्रजी युद्ध में रावण को दबाये जा रहे हैं-उसका तिरस्कार कर रहे हैं तब वह रावण के प्राणों के समान बीच में आ घुसा ॥623॥

परन्तु रामचन्द्रजी ने उसे शक्ति की चोट से गिरा दिया । यह देख रावण कुपित होकर शस्त्रों से सुशोभित रामचन्द्रजी की ओर दौड़ा ॥ 624॥

इसी बीच में लक्ष्मण बड़ी शीघ्रता से उन दोनों के बीच में आ गया और रावण ने मायामयी हाथी पर सवार होकर उसे नाराच-पन्जर में घेर लिया । अर्थात् लगातार बाण-वर्षा कर उसे ढँक लिया ॥625॥

परन्तु गरुड़ की ध्वजा फहरानेवाला लक्ष्मण प्रहरणावरण नाम की विद्या से बड़ा प्रतापी था । वह सिंह के बच्चे के समान दृप्त बना रहा और शत्रुरूपी हाथी उसे रोक नहीं सके ॥626॥

वह अपनी विद्या से नाराच-पन्जर को तोड़कर बाहर निकल आया । यह देख रावण बहुत कुपित हुआ और उसने क्रोधित होकर विश्वासपात्र चक्ररत्न के लिए आदेश दिया ॥627॥

उसी समय नारद आदि आकाश में सिंहनाद करने लगे । वह चक्र-रत्न मूर्तिधारी पराक्रम के समान प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के दाहिने हाथ पर आकर ठहर गया । तदनन्तर चक्ररत्न को धारण करनेवाले लक्ष्मण ने उसी चक्ररत्न से तीन-खण्ड के समान रावण का शिर काटकर अपने आधीन कर लिया ॥628-629॥

रावण, अपने दुराचार के कारण पहले ही नरकायु का बन्ध कर चुका था । अतः, दुःख देनेवाली भयंकर (अधोगति) नरक गति को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है; क्योंकि, पापी मनुष्यों की और क्या गति हो सकती है ? ॥630॥

तदनन्तर लक्ष्मणने विजय-शंख बजाकर समस्त शत्रुओं को अभयदान की घोषणा की सो ठीक ही है । क्योंकि, राजाओं को जीतनेवाले विजयी राजाओं का यही धर्म है ॥631॥

उसी समय रावण के बचे हुए महामन्त्री आदि ने भ्रमरों के समान मलिन होकर रामचन्द्र तथा लक्ष्मण के चरण-कमलों का आश्रय लिया ॥ 632॥

रावण की मन्दोदरी आदि जो देवियाँ दुःख से रो रही थीं उनका दुःख दूर कर राम और लक्ष्मण ने विभीषण को लंका का राजा बनाया तथा

रावण की वंश-परम्परासे आई हुई समस्त विभूति उसे प्रदान कर दी । इस प्रकार दोनों भाई बलभद्र और नारायण होकर तीन-खण्ड के बलशाली स्वामी हुए ॥633-634॥

तदनन्तर जो अशोक वन के मध्य में बैठी है, और संग्राम में रामचन्द्रजी की विजय के समाचार सुनने से प्रकट हुए हर्ष से युक्त है ऐसी शीलवती सीता के पास जाकर विभीषण, सुग्रीव तथा अणुमान् आदि ने उसके यथा योग्य दर्शन किये और विजयोत्सव की खबर सुनाई ॥ 635-636॥

तत्पश्चात् जिस प्रकार कुशल कारीगर महामणि को हार के साथ, अथवा कुशल कवि शब्द को मनोहर अर्थ के साथ अथवा सज्जन पुरुष अपनी बुद्धि को धर्म के साथ मिलाने हैं उसी प्रकार उन विभीषण आदि ने दूसरी लक्ष्मी के समान सीताजी को रामचन्द्रजी के साथ मिलाया । सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम भृत्य और मित्रों के सम्बन्ध से इष्ट-सिद्धियाँ हो ही जाती हैं ॥637-638॥

उधर जब तक रामचन्द्रजी का दर्शन नहीं हो गया था तब तक सीता दुःख को धारण कर रही थी और इधर रामचन्द्रजी का हृदय भी सीता के वियोग से उत्पन्न होनेवाले शोक से व्याकुल हो रहा था । परन्तु उस समय परस्पर एक-दूसरे के दर्शन कर दोनों ही परम प्रीति को प्राप्त हुए । रामचन्द्रजी तृतीय प्रकृतिवाली शान्त स्वभाववाली सीता को और सीता शान्त स्वभाववाले राजा रामचन्द्रजी को पाकर बहुत प्रसन्न हुए ॥639-640॥

विरह से लेकर अब तक के जो-जो वृत्तान्त थे वे सब दोनों ने एक-दूसरे से पूछे सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री-पुरुष परस्पर एक-दूसरे को अपना सुख-दुःख बतलाकर ही सुखी होते हैं ॥641॥

'जिसने दोष किया था ऐसा रावण मारा गया, रही सीता, सो यह निर्दोष है' ऐसा विचार कर रामचन्द्रजी ने उसे स्वीकृत कर लिया । सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन हमेशा विचार के अनुसार ही काम करते हैं ॥642॥

तदनन्तर - दोनों भाई लंकापुरी से निकलकर अतिशय सुन्दर पीठ नाम के पर्वत पर ठहरे वहाँ पर देव और विद्याधरों के राजाओं ने अपने हाथ से उठाते हुए सुवर्ण के एक हजार आठ बड़े-बड़े कलशों के द्वारा दोनों का बड़े हर्ष से अभिषेक किया । वहीं पर लक्ष्मण ने कोटि-शिला उठाई और उसके माहात्म्य से सन्तुष्ट हुए रामचन्द्रजी ने सिंहनाद किया ॥643-645॥

वहाँ के रहनेवाले सुनन्द नाम के यक्ष ने उन दोनों की बड़े हर्ष से पूजा की और लक्ष्मण के लिए बड़े सन्मान से सौनन्दक नाम की तलवार दी ॥646॥

तदनन्तर दोनों भाइयों ने गंगा नदी के किनारे-किनारे जाकर गंगाद्वार के समीप ही वन में सेना ठहरा दी । लक्ष्मण ने रथ पर सवार हो गोपुर द्वार से समुद्र में प्रवेश किया और पैर को कुछ टेढ़ाकर मागध देव के निवास-स्थान की ओर अपने नाम से चिह्नित बाण छोड़ा ॥ 647-648॥

मागध देव ने भी बाण देखकर अपने आपको अल्प पुण्यवान् माना और यह महापुण्यशाली चक्रवर्ती है ऐसा समझकर लक्ष्मण की स्तुति की । यही नहीं, उसने रत्नों का हार, मुकुट, कुण्डल और उस बाण को तीर्थ-जल से भरे हुए कलश के भीतर रखकर लक्ष्मण के लिए भेंट किया ॥649-650॥

तदनन्तर समुद्र के किनारे-किनारे चलकर वैजयन्त नामक गोपुर पर पहुँचे और वहाँ पूर्व की भाँति वरतनु देव को वश किया ॥651॥

उस देव से लक्ष्मण ने कटक, केयूर, मस्तक को सुशोभित करनेवाला चूडामणि, हार और कटिसूत्र प्राप्त किया ॥652॥

तदनन्तर रामचन्द्रजी के साथ ही साथ लक्ष्मण पश्चिम दिशा की ओर गया और वहाँ सिन्धु नदी के गोपुर द्वार से समुद्र में प्रवेश कर उसने पूर्व की ही भाँति प्रभास नाम के देव को वश किया ॥653॥

प्रभास देव से लक्ष्मण ने सन्तानक नाम की माला, जिस पर मोतियों का जाल लटक रहा है ऐसा सफेद छत्र, और अन्य-अन्य आभूषण प्राप्त किये ॥654॥

तत्पश्चात् सिन्धु नदी के किनारे-किनारे जाकर पश्चिम दिशा के म्लेच्छ-खण्ड में रहनेवाले लोगों को अपनी आज्ञा सुनाई और वहाँ की श्रेष्ठ वस्तुओं को ग्रहण किया ॥655॥

फिर दोनों भाई पूर्व-दिशा की ओर सन्मुख होकर चले और विजयार्थ पर्वत पर रहनेवाले लोगों को वश कर उसने हाथी, घोड़े, अस्त्र, विद्याधर कन्याएँ एवं अनेक रत्न प्राप्त किये, पूर्व खण्डमें रहनेवाले म्लेच्छों को कर देनेवाला बनाया और तदनन्तर विजयी होकर वहाँ से

बाहर प्रस्थान किया ॥656-657॥

इस प्रकार लक्ष्मण ने सोलह हजार पट्टबन्ध राजाओं को, एक सौ दश नगरियों के स्वामी विद्याधरों को और तीन-खण्ड के निवासी देवों को आज्ञाकारी बनाया था। उसकी यह दिग्विजय व्यालीस वर्ष में पूर्ण हुई थी। देव, विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजा हाथ जोड़कर सेवा करते थे। इस तरह बड़े भाई रामचन्द्रजी के आगे-आगे चलने वाले चक्ररत्न के स्वामी एवं सबके द्वारा पूजित लक्ष्मण ने, मांगलिक वेषभूषा से सुशोभित तथा समागम की प्रार्थना करनेवाली कान्ता के समान उस आयोध्या नगरी में इन्द्र के समान प्रवेश किया ॥658-661॥

तदनन्तर किसी शुद्ध लग्न और शुभ मुहूर्त के आने पर मनुष्य, विद्याधर और व्यन्तर देवों के मुखिया लोगों ने एकत्रित होकर श्रीमान् राम और लक्ष्मण को एक ही साथ सिंहासन पर विराजमान कर उनका तीर्थ जल से भरे हुए सुवर्ण के एक हजार आठ बड़े-बड़े कलशों से अभिषेक किया। इस प्रकार उन्हें तीन-खण्ड के साम्राज्य पर विराजमान कर प्रार्थना की कि आपकी लक्ष्मी बढ़ती रहे और आपका यश दिशाओं के अंत तक फैल जावे। प्रार्थना करने के बाद उन्हें रत्नों के बड़े-बड़े मुकुट बाँधे, मणिमय आभूषण पहिनाये और बड़े-बड़े आशीर्वादों से अलंकृत कर उत्सुक हो उनकी पूजा की ॥662-665॥

लक्ष्मण के पृथिवीसुन्दरी को आदि लेकर लक्ष्मी के समान मनोहर सोलह हजार पतिव्रता रानियाँ थीं और रामचन्द्रजी के सीता को आदि लेकर आठ हजार प्राणप्यारी रानियाँ थीं। सोलह हजार देश और सोलह हजार राजा उनके आधीन थे। नौ हजार आठ सौ पचास द्रोणमुख थे, पच्चीस हजार पत्तन थे, इच्छानुसार फल देने वाले बारह हजार कर्वट थे, बारह हजार मटव थे, आठ हजार खेटक थे, महाफल देने वाले अड़तालीस करोड़ गाँव थे, समुद्र के भीतर रहने वाले अट्ठाईस द्वीप थे, व्यालीस लाख बड़े-बड़े हाथी थे, इतने ही श्रेष्ठ रथ थे, नव करोड़ घोड़े थे, युद्ध करने में शूर-वीर ब्यालीस करोड़ पैदल सैनिक थे और आठ हजार गणबद्ध नाम के देव थे ॥666-672॥ रामचन्द्रजी के अपराजित नाम का हलायुध, अमोघ नाम के तीक्ष्ण वाण, कौमुदी नाम की गदा और रत्नावतंसिका नामक माला ये चार महारत्न थे। इन सब रत्नों की अलग-अलग एक-एक हजार यक्षदेव रक्षा करते थे ॥673-674॥

इसी प्रकार सुदर्शन नाम का चक्र, कौमुदी नाम की गदा, सौनन्दक नाम का खड्ग, अमोघमुखी शक्ति, शार्ंग नाम का धनुष, महाध्वनि करने वाला पाँच मुख का पञ्चजन्य नाम का शंख और अपनी कान्ति के भार से शोभायमान कौस्तुभ नाम का महामणि ये सात रत्न अपरिमित कान्ति को धारण करने वाले लक्ष्मण के थे और सदा एक-एक हजार यक्ष देव उनकी पृथक्-पृथक् रक्षा करते थे ॥675-677॥ इस प्रकार सुख रूपी सागर में निमग्न रहनेवाले महाभाग्यशाली दोनों भाइयों का समय भोग और सम्पदाओं के द्वारा वयतीत हो रहा था कि किसी समय मनोहर नाम के उद्यान में शिवगुप्त नाम के जिनराज पधारे। श्रद्धा से भरे हुए बुद्धिमान् राम और लक्ष्मण ने बड़ी विनय के साथ जाकर उनकी पूजा-वन्दना की। तदनन्तर आत्म-निष्ठा के अत्यन्त निकट होने के कारण कृतकृत्य एवं कर्म-मल-कलंक से रहित उक्त जिनराज से धर्म का स्वरूप पूछा ॥678-680॥

भव्य जीवों का अनुग्रह करना ही जिनका मुख्य कार्य है ऐसे शिवगुप्त जिनराज भी अपने वचन-समूह रूपी उत्तम चन्द्रिका से उस सभा को आह्लादित करते हुए कहने लगे ॥681॥

कि इस संसार में जीवादिक नौ पदार्थ हैं उनका प्रमाण नय निक्षेप तथा निर्देश आदि अनुयोगों से जो कि ज्ञान प्राप्ति के कारण हैं बोध होता है। गौण और मुख्य नयों के स्वीकार करने रूप बल के मिल जाने से 'स्यादस्ति', 'स्याद्नास्ति' आदि भंगो द्वारा प्रतिपादित धर्मों से वे जीवादि पदार्थ सदा युक्त रहते हैं। इनके सिवाय शिवगुप्त जिनराज ने आप्त भगवान् का स्वरूप, मार्गणा, गुणसमास, संसार का स्वरूप, धर्म से सम्बन्ध रखने वाले अन्य युक्ति-युक्त पदार्थ, कर्मों के भेद, सुख-दुःखादि अनेक भेद रूप कर्मों के फल, बन्ध और मोक्ष का कारण, मुक्ति और मुक्त जीव का स्वरूप आदि विविध पदार्थों का विवेचन भी किया। इस प्रकार उनसे धर्म का विशेष स्वरूप सुनकर रामचन्द्रजी आदि समस्त बुद्धिमान् पुरुषों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये ॥682-686॥

परन्तु भोगों में आसक्त रहने वाले लक्ष्मण ने निदान शल्य नामक दोष के कारण नरक की भयंकर आयु का बन्ध कर लिया था इसलिए उसने सम्यग्दर्शन आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया ॥687॥

इस प्रकार राम और लक्ष्मण ने कुछ वर्ष तो अयोध्या में ही सुख से बिताये तदनन्तर वहाँ का राज्य भरत और शत्रुघ्न के लिए देकर वे दोनों अपने हुए नगरी में प्रविष्ट हुए ॥688- 689॥

रामचन्द्र के देव के समान विजयराम नाम का पुत्र था और लक्ष्मण के चन्द्रमा के समान पृथिवीचन्द्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥690॥

जिनका अभ्युदय प्रसिद्ध है और जो धर्म, **अर्थ**, काम रूप त्रिवर्ग के फल से सुशोभित हैं ऐसे रामचन्द्र और लक्ष्मण अन्य पुत्र-पौत्रादिक से युक्त होकर सुख से समय बिताते थे ॥691॥

किसी एक दिन लक्ष्मण नागवाहिनी शय्या पर सुख से सोया हुआ था । वहाँ उसने तीन स्वप्न देखे-पहला मत हाथी के द्वारा वट वृक्ष का उखाड़ा जाना, दूसरा राहु के द्वारा निगले हुए सूर्य का रसातल में चला जाना और तीसरा चूना से सफेद किये हुए ऊँचे राजभवन का एक देश गिर जाना । इन स्वप्नों को जिस प्रकार देखा था उसी प्रकार निवेदन कर गया ॥692-694॥

पुरोहित ने सुनते ही उनका फल इस प्रकार कि, वट वृक्ष के उखड़ने से लक्ष्मण असाध्य बीमारी को प्राप्त होगा, राहु के द्वारा ग्रस्त सूर्य के गिरने से उसके भाग्य, भोग और आयु का क्षय सूचित करता है तथा ऊँचे भवन के गिरने से आप तपोवन को जावेंगे ॥695-696॥

पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले रामचन्द्रजी ने पुरोहित के यह वचन एकान्त में सुने परन्तु धीर-वीर होने के कारण मन में कुछ भी विकार भाव को प्राप्त नहीं हुए ॥697॥

तदनन्तर दया में उद्यत रहने वाले रामचन्द्रजी ने दोनों लोकों का हितकर मान कर यह घोषणा करा दी कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करे ॥698॥

इसके सिवाय उन्होंने सर्वज्ञ देव का स्वप्न तथा शान्ति-पूजा की और दीनों के लिए जिसने जो चाहा वह दान दिया ॥699॥

तदनन्तर जिसका पुण्य क्षीण हो गया है ऐसे लक्ष्मण को कुछ दिनों के बाद असाता वेदनीय कर्म के उदय से प्रेरित हुआ महारोग उत्पन्न हुआ ॥700॥

उसी असाध्य रोग के कारण चक्ररत्न का स्वामी लक्ष्मण मरकर माघ कृष्ण अमावस्या के दिन चौथी पंकप्रभा नाम की पृथिवी में गया ॥701॥

लक्ष्मण के वियोग से उत्पन्न हुई शोक-रूपी अग्नि से जिनका हृदय सन्तप्त हो रहा है ऐसे रामचन्द्रजी ने ज्ञान के प्रभाव से किसी तरह अपने आप आत्मा को सुस्थिर किया, छोटे भाई लक्ष्मण का विधि पूर्वक शरीर संस्कार किया और प्रसन्नतापूर्ण वचन कहकर समस्त अन्तःपुर का शोक शान्त किया ॥702-703॥

फिर उन्होंने सब प्रजा के सामने पृथिवी सुन्दरी नाम की प्रधान रानी से उत्पन्न हुए लक्ष्मण के बड़े पुत्र के लिए राज्य देकर अपने ही हाथ से उसका पट्ट बाँधा ॥704॥

सात्विक वृत्ति को धारण करने वाले सीता के विजयराम आदिक आठ पुत्र थे । उनमें से सात बड़े पुत्रों ने राज्यलक्ष्मी लेना स्वीकृत नहीं किया इसलिए उन्होंने अजितंजय नाम के छोटे पुत्र के लिए युवराज पद देकर मिथिला देश समर्पण कर दिया और स्वयं संसार, शरीर तथा भोगों से विरक्त हो गये ॥705-706॥

विरक्त होते ही वे अयोध्या नगरी के सिद्धार्थ नामक उस वन में पहुँचे जो कि भगवान् वृषभदेव के दीक्षाकल्याण का स्थान होने से तीर्थस्थान हो गया था । वहाँ जाकर उन्होंने महाप्रतापी शिवगुप्त नाम के केवली के समीप संसार और मोक्ष के कारण तथा फल को अच्छी तरह समझा ॥707-708॥

जब उन्हें इन्हीं केवली भगवान् से बात का पता चला कि लक्ष्मण निदान नामक शल्य के दोष से चौथे नरक गया है तब उनकी बुद्धि और भी अधिक निर्मल हो गई । तदनन्तर जिन्होंने लक्ष्मण का समस्त स्नेह छोड़ दिया है और आभिनिबोधिक-मतिज्ञान से जिन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति हुई है ऐसे रामचन्द्रजी ने सुग्रीव, अणुमान और विभीषण आदि पाँच सौ राजाओं तथा एक सौ अस्सी अपने पुत्रों के साथ संयम धारण कर लिया ॥709-711॥

इसी प्रकार सीता महादेवी और पृथिवी सुन्दरी से सहित अनेक देवियों ने श्रुतवती आर्यिका के समीप दीक्षा धारण कर ली ॥712॥

तदनन्तर जिन्होंने श्रावक के व्रत ग्रहण किये हैं ऐसे राजा तथा युवराज ने जिनेन्द्र भगवान् के चरण-युगल को अच्छी तरह नमस्कार कर नगरी में प्रवेश किया ॥713॥

रामचन्द्र और अणुमान दोनों ही मुनि, शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक मोक्षमार्ग का अनुष्ठान कर श्रुतकेवली हुए ॥714॥

शेष बचे हुए मुनिराज भी बुद्धि आदि सात ऋद्धियों के ऐश्वर्य को प्राप्त हुए । इस प्रकार जब छद्मस्थ अवस्था के तीन सौ पंचानवे वर्ष बीत गये तब शुल्क ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मों का क्षय करने वाले मुनिराज रामचन्द्र को सूर्य-विम्ब के समान केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥

715-716॥

प्रकट हुए एकछत्र आदि प्रातिहार्यों से विभूषित हुए केवल रामचन्द्रजी ने धर्ममयी वृष्टि के द्वारा भव्य-जीवरूपी धान्य के पौधों को सींचा ॥ 717॥

इस प्रकार केवलज्ञान के द्वारा उन्होंने छह सौ वर्ष बिताकर फाल्गुन शुल्क चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल के समय सम्मेदाचल की शिखर पर तीसरा शुल्कध्यान धारण किया और तीनों योगों का निरोधकर समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुल्क ध्यान के आश्रय से समस्त अघातिया कर्मों का क्षय किया । इस प्रकार औदारिक, तैजस और कर्मण इन तीन शरीरों का नाश हो जाने से उन्होंने अणुमान आदि के साथ उन्नत पद-सिद्ध क्षेत्र प्राप्त किया ॥718-720॥

विभीषण आदि कितने ही मुनि अनुदिश को प्राप्त हुए और रामचन्द्र तथा लक्ष्मण की पट्टरानियाँ सीता तथा पृथिवी सुन्दरी आदि कितनी ही आर्यिकाएँ अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हुई ॥721॥

शेष रानियाँ प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न हुई । लक्ष्मण नरक से निकल कर क्रम-क्रम से संयम धारण कर मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त होगा ॥722॥

सो ठीक ही है क्योंकि जीवों के इसी प्रकार की विचित्रता होती है ॥723॥

जिन्होंने समुद्र को गोपद के समान उल्लंघन किया, जिन्होंने अपनी सेना से शत्रु के नगर को एक छोटे से घर के समान घेर लिया, जिन्होंने शत्रु के समस्त वंश को धान के खेत के समान शीघ्र ही निर्मूल कर दिया, जिन्होंने लक्ष्मी के साथ-साथ शत्रु से सीता को छीन लिया, जिनके दोनों चरण, नम्रीभूत देव, भूमिगोचरी राजा तथा विद्याधरों के मस्तकरूपी सिंहासन पर सदा विद्यमान रहते थे, जिन्होंने दक्षिण दिशा के अर्धभरत क्षेत्र को निष्कण्टक बना दिया था, जो समस्त तीन खण्डों के स्वामी थे, अयोध्या नगरी में रहते थे, जिनकी प्रभा ज्येष्ठ मास के सूर्य की प्रभा को भी तिरस्कृत करती थी । जिनकी वीरलक्ष्मी दिशाओं के अन्त में रहने वाले दिग्गजों के गर्व-रूपी सर्प को शान्त करने में सदा व्यग्र रहती थी, हल आदि प्रसिद्ध तथा सुशोभित रत्नों की पंक्ति से अनुरजित लक्ष्मी के द्वारा प्राप्त कराये हुए भोगों के संयोग से जो सदा सुखी रहते थे, जो समस्त याचकों को संतुष्ट रखते थे, जो तेज से चन्द्र और सूर्य के समान थे, और जिन्होंने अपने यश से समस्त संसार को अत्यन्त प्रकाशित कर दिया था ऐसे श्रीमान् बलभद्र और नारायण पदवी के धारक रामचन्द्र और लक्ष्मण चिरकाल तक साथ ही साथ इस पृथिवी का पालन करते रहे । उन दोनों में से एक तो भोगों की समानता होने पर भी परिणामों के द्वारा की हुई विशेषता से तीन लोक के शिखर पर सुख से विराजमान हुआ और दूसरा चतुर्थ नरक की भूमिका नायक हुआ । इसलिए आचार्य कहते हैं कि विद्वानों को मूर्ख के समान कभी भी निदान नहीं करना चाहिये ॥724-727॥

रावण का जीव पहले सारसमुच्चय नाम के देश में नरदेव नाम का राजा था । फिर सौधर्म स्वर्ग में सुख का भाण्डार-स्वरूप देव हुआ और तदनन्तर वहाँ से च्युत होकर इसी भरतक्षेत्र के राजा विनमि विद्याधर के वंश में समस्त विद्याधरों के देदीप्यमान मस्तकों की मालापर आक्रमण करने वाला, स्त्रीलम्पट, अपने वंश को नष्ट करने के लिए केतु (पुच्छलतारा) के समान तथा दुराचारियों में अग्रेसर रावण हुआ ॥728॥

लक्ष्मण का जीव पहले इसी क्षेत्र के मलयदेश में चन्द्रचूल नाम का राजपुत्र था, जो अत्यन्त दुराचारी था । जीवन के पिछले भाग में तपश्चरण कर वह सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुआ फिर वहाँ से आकर यहाँ अर्धचक्री लक्ष्मण हुआ था ॥729॥

सीता पहले गुणरूपी आभूषणों से सहित मणिमति नाम की विद्याधरी थी । उसने अत्यन्त कुपित होकर निदान मरण किया जिससे यश को विस्तृत करने वाली तथा अच्छे व्रतों का पालन करने वाली जनकपुत्री सती सीता हुई ॥730॥

रामचन्द्र का जीव पहले मलय देश के मंत्री का पुत्र चन्द्रचूल का मित्र विजय नाम से प्रसिद्ध था फिर तीसरे स्वर्ग में दिव्य भोगों से लालित कनकचूल नाम का प्रसिद्ध देव हुआ और फिर सूर्यवंश में अपरिमित बल को धारण करने वाला रामचन्द्र हुआ ॥731॥

जो दुःखदायी पापकर्म के दुष्ट उदय से उत्पन्न होने वाले निन्दनीय दुःख से बहुत दूर रहते थे, जिन्होंने समस्त इन्द्रों को नम्र बना दिया था, जो सर्वज्ञ थे, वीतराग थे, समस्त सुखों के भाण्डार थे और जो अंत में देवों के देव हुए-सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए ऐसे अष्टम बलभद्र श्री रामचन्द्रजी हम लोगों की इष्ट-सिद्धि करें ॥732॥

भगवान नमिनाथ, जयसेन चक्रवर्ती चरित

कथा :

अथानन्तर-भक्त लोगों के हृदय-कमलमें धारण किया हुआ जिनका नाम भी मुक्तिके लिए पर्याप्त है-मुक्ति देनेमें समर्थ है ऐसे नमिनाथ स्वामी हम सबके लिए शीघ्र ही मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥1॥

इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रके वत्स देशमें एक कौशाम्बी नाम की नगरी है । उसमें पार्थिव नाम का राजा राज्य करता था ॥2॥

वह इक्ष्वाकु वंशके नेत्रके समान था, लक्ष्मी को अपने वक्षःस्थल पर धारण करता था, अतिशय पराक्रमी था और सब दिशाओं पर आक्रमण कर साक्षात् चक्रवर्ती के समान सुशोभित होता था ॥3॥

उस राजा के सुन्दरी नाम की रानी से सिद्धार्थ नाम का पुत्र हुआ था । एक दिन वह राजा मनोहर नाम के उद्यान में गया था । वहाँ उसने परमावधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक मुनिवर नाम के मुनिके दर्शन किये और विनय से नम्र होकर उनसे धर्म का स्वरूप पूछा । मुनिराजने धर्म का यथार्थ स्वरूप बतलाया उसे सुनकर राजा को वैराग्य उत्पन्न हो आया । वह विचार करने लगा कि संसार में प्राणी मरण-रूपी मूलधन लेकर मृत्युका कर्जदार हो रहा है ॥4-6॥

प्रत्येक जन्म में अनेक दुःखों को भोगता और उस कर्जकी वृद्धि करता हुआ यह प्राणी दुर्गत हो रहा है- दुर्गतियोंमें पड़कर दुःख उठा रहा है अथवा दरिद्र हो रहा है । जब तक यह प्राणी रत्नत्रय रूपी धनका उपार्जन कर मृत्यु रूपी साहूकारके लिए व्याज सहित धन नहीं दे देगा तब तक उसे स्वास्थ्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह सुखी कैसे रह सकता है ? ऐसा निश्चय कर वह कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करनेका उद्यम करने लगा ॥7-8॥

उत्कृष्ट बुद्धि के धारक राजा पार्थिव ने, अनेक शास्त्रोंके सुनने एवं प्रजा का पालन करनेवाले सिद्धार्थ नाम के अपने समर्थ पुत्र के लिए राज्य देकर पूज्यपाद मुनिवर नाम के मुनिराज के चरण-कमलोंके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषोंकी ऐसी ही प्रवृत्ति होती है ॥9-10॥

प्रतापी सिद्धार्थ भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर तथा अणुव्रत आदि व्रत धारण कर सुखपूर्वक भोग भोगता हुआ प्रजा का पालन करने लगा ॥ 11॥

इस प्रकार समय व्यतीत हो रहा था कि एक दिन उसने अपने पिता पार्थिव मुनिराजका समाधिमरण सुना । समाधिमरण का समाचार सुनते ही उसकी विषय-सम्बन्धी इच्छा दूर हो गई । उसने शीघ्र ही मनोहर नाम के उद्यानमें जाकर महाबल नामक केवली भगवान् से तत्त्वार्थका विस्तारके साथ स्वरूप समझा ॥12-13॥

तदनन्तर श्रीदत्त नामक पुत्र के लिए राज्य देकर उसने क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया और शान्त होकर संयम धारण कर लिया ॥ 14॥

उस पुरुषोत्तमने ग्यारह अंग धारण कर सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य कर्म का बन्ध किया ॥15॥

और आयु के अन्त में समाधिमरण कर अपराजित नाम के श्रेष्ठ अनुत्तर विमान में अतिशय शोभायमान देव हुआ ॥16॥

वहाँ उसकी तैंतीस सागर की आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, तथा श्वासोच्छ्वास, आहार, लेश्या आदि भाव उस विमान-सम्बन्धी देवों के जितने बतलाये गये हैं वह उन सबसे सहित था ॥17॥

जब इस अहमिन्द्र का जीवनका अन्त आया और वह छह माह बाद यह वहाँसे चलनेके लिए तत्पर हुआ तब जम्बूवृक्ष से सुशोभित इसी जम्बूद्वीप के वंग नामक देशमें एक मिथिला नाम की नगरी थी । वहाँ भगवान् वृषभदेवका वंशज, काश्यपगोत्री विजयमहाराज नाम से प्रसिद्ध सम्पत्तिशाली राजा राज्य करता था ॥18-19॥

जिस प्रकार उदित होता हुआ सूर्य संसार को अनुरक्त-लाल वर्ण का कर लेता है उसी प्रकार उसने राज्यगद्दी पर आरूढ़ होते ही समस्त संसार को अनुरक्त-प्रसन्न कर लिया था और ज्यों-ज्यों सूर्य स्वयं राग-लालिमासे रहित होता जाता है त्यों-त्यों वह संसार को विरक्त-लालिमा से रहित करता जाता है इसी प्रकार वह राजा भी ज्यों-ज्यों विराग-प्रसन्नतासे रहित होता जाता था त्यों-त्यों संसार को विरक्त-प्रसन्नतासे रहित करता जाता था । सारांश यह है कि संसार की प्रसन्नता और अप्रसन्नता उसीपर निर्भर थी सो ठीक ही है क्योंकि उसने वैसा ही तप किया था और वैसा ही उसका प्रभाव था ॥20॥

चूँकि पुण्य कर्म के उदय से अनेक-गुणों के समूह तथा लक्ष्मी ने उस राजा का वरण किया था इसलिए उसमें धर्म, अर्थ, कामरूप तीनों

पुरुषार्थ अच्छी तरह प्रकट हुए थे ॥21॥

उस राजा के राज्य में यदि ताप उष्णत्व था तो सूर्य में ही था अन्यत्र ताप-दुःख नहीं था, क्रोध था तो सिर्फ कामी मनुष्यों में ही था वहाँके अन्य मनुष्यों में नहीं था, विग्रह नाम था तो शरीरों में ही था अन्यत्र नहीं, विरागता-वीतरागता यदि थी तो मुनियों में ही थी वहाँके अन्य मनुष्यों में विरागता-स्नेहका अभाव नहीं था । परार्थ ग्रहण-अन्य कवियों के द्वारा प्रतिपादित अर्थका ग्रहण करना कुकवियों में ही था अन्य मनुष्यों में परार्थग्रहण-दूसरे के धनका ग्रहण करना नहीं था । बन्धन -हरबन्ध, छत्रबन्ध आदिकी रचना काव्यों में ही थी वहाँके अन्य मनुष्यों में बन्धन-पाश आदिसे बाँधा जाना नहीं था । विवाद-शास्त्रार्थ यदि था तो विजयकी इच्छा रखनेवाले विद्वानों में ही था वहाँ के अन्य मनुष्यों में विवाद-कलह नहीं था । शरव्याप्ति-एक प्रकार के तृणका विस्तार नदियों में ही था वहाँके मनुष्यों में शरव्याप्ति-वाणोंका विस्तार नहीं था । अनवस्थिति-अस्थिरता यदि थी तो ज्यौतिष्क देवों में ही थी-वे ही निरन्तर गमन करते रहते थे वहाँके मनुष्यों में अनवस्थिति-अस्थिरता नहीं थी । क्रूरता यदि थी तो दुष्ट ग्रहों में ही थी वहाँ के मनुष्यों में क्रूरता-दुष्टता-निर्दयता नहीं थी और पिशाचता-पिशाच जाति यदि थी तो देवों में ही थी वहाँके मनुष्यों में पिशाचता-नीचता नहीं थी ॥22-24॥

विजयमहाराजकी महादेवीका नाम वप्पिला था, देवों ने रत्नवृष्टि आदिसे उसकी पूजा की थी, श्री, ही, धृति आदि देवियाँ उसकी सेवा करती थीं । शरद् ऋतुकी प्रथम द्वितीया अर्थात् आश्विन कृष्ण द्वितीया के दिन अश्विनी नक्षत्र और रात्रिके पिछले पहर जब कि भगवान् का स्वर्गावतरण हो रहा था तब सुख से सोई महारानीने पहले कहे सोलह स्वप्न देखे ॥25-26॥

उसी समय उसने अपने मुख में प्रवेश करना हुआ एक हाथी देखा । देखते ही उसकी निद्रा दूर हो गई और प्रातःकाल के बाजोंका शब्द सुनने से उसके हर्षका ठिकाना नहीं रहा ॥27॥

उसने देशावधि ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करनेवाले राजा से इन स्वप्नों का फल पूछा और राजा ने भी कहा कि तुम्हारे गर्भ में भावी तीर्थकरने अवतार लिया है ॥28॥

उसी समय इन्द्रों ने आकर अपने नियोग के अनुसार भगवान् का स्वर्गावतरण महोत्सव-गर्भकल्याणकका उत्सव किया और तदनन्तर सब साथ ही साथ अपने अपने स्थानपर चले गये ॥29॥

वप्पिला महादेवीने आषाढ़ कृष्ण दशमी के दिन स्वाति नक्षत्रके योग में समस्त लोक के स्वामी महाप्रतापी जेष्ठपुत्रको उत्पन्न किया ॥30॥ देवों ने उसी समय आकर जन्म-कल्याणक का उत्सव किया और मोह-शत्रु को भेदन करनेवाले जिन-बालकका नभिनाथ नाम रक्खा ॥ 31॥

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ तीर्थकर की तीर्थ-परम्परा में जब साठ लाख वर्ष बीत चुके थे तब नमिनाथ तीर्थकर का जन्म हुआ था ॥32॥

भगवान् नमिनाथ की आयु दश हजार वर्ष की थी, शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था और कान्ति सुवर्ण के समान थी । जब उनके कुमारकाल के अढ़ाई हजार वर्ष बीत गये तब उन्होंने अभिषेकपूर्वक राज्य प्राप्त किया था ॥33-34॥

इस प्रकार राज्य करते हुए भगवान् को पाँच हजार वर्ष बीत गये । एक दिन जब कि आकाश वर्षाऋतुके बादलोंके समूह से व्याप्त हो रहा था तब महान् अभ्युदयके धारक भगवान् नमिनाथ दूसरे सूर्य के समान हाथी के कन्धेपर आरूढ़ होकर वन-विहारके लिए गये ॥35-36॥

उसी समय आकाशमार्गसे आये हुए दो देवकुमार हस्तकमल जोड़कर नमस्कार करते हुए इस प्रकार प्रार्थना करने लगे ॥37॥

वे कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में एक वत्सकावती नाम का देश है । उसकी सुसीमा नगरी में अपराजित विमानसे अवतार लेकर अपराजित नाम के तीर्थकर उत्पन्न हुए हैं । उनके केवलज्ञान की पूजा के लिए सब इन्द्र आदि देव आये थे ॥38-39॥

उनकी सभा में प्रश्न हुआ कि क्या इस समय भरतक्षेत्र में भी कोई तीर्थकर है ? सर्वदर्शी अपराजित भगवान् ने उत्तर दिया कि इस समय वंगदेशके मिथिलानगर में नमिनाथ स्वामी अपराजित विमानसे अवतीर्ण हुए हैं वे अपने पुण्योदय से तीर्थकर होनेवाले हैं ॥40-41॥

इस समय वे देवों के द्वारा लाये हुए भोगों का अच्छी तरह उपभोग कर रहे हैं-गृहस्थावस्थामें विद्यमान हैं । हे देव ! हम दोनों अपने पूर्व जन्ममें धातकीखण्ड द्वीप के रहनेवाले थे वहाँ तपश्चरण कर सौधर्म नामक स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं । दूसरे दिन हमलोग अपराजित केवलीकी पूजा के लिए गये थे । वहाँ उनके वचन सुनने से पूजनीय आपके दर्शन करने के लिए कौतुकवश यहाँ आये हैं ॥42-43॥

जिन्हें निकटकालमें ही केवलज्ञान की प्राप्ति होनेवाली है ऐसे भगवान् नमिनाथ देवोंकी उक्त समस्त बातोंको हृदय में धारण कर नगर में लौट आये ॥44॥

वहाँ वे विदेह क्षेत्रके अपराजित तीर्थकर तथा उनके साथ अपने पूर्वभवके सम्बन्धका स्मरण कर संसार में होनेवाले भावोंका बार-बार विचार करने लगे ॥45॥

वे विचार करने लगे कि इस आत्मा ने अपने आपको अपने आपके ही द्वारा अनादिकाल से चले आये बन्धनोंसे अच्छी तरह जकड़ कर शरीर-रूपी जेलखानेमें डाल रक्खा है और जिस प्रकार पिंजड़े के भीतर पापी पक्षी दुःखी होता है अथवा आलान-खम्बेसे बँधा हुआ हाथी दुःखी होता है उसी प्रकार यह आत्मा निरन्तर दुःखी रहता है। यह यद्यपि नाना दुःखोंको भोगता है तो भी उन्हीं दुःखोंमें राग करता है। रति नोकषायके अत्यन्त तीव्र उदय से यह इन्द्रियों के विषय में आसक्त रहता है और विष्ठा के कीड़ाके समान अपवित्र पदार्थोंमें तृष्णा बढ़ाता रहता है ॥46-48॥

यह प्राणी मृत्यु से डरता है किन्तु उसी ओर दौड़ता है, दुःखोंसे छूटना चाहता है किन्तु उनका ही सन्चय करता है। हाय-हाय, बड़े दुःखकी बात है कि आर्त और रौद्र ध्यानसे उत्पन्न हुई तृष्णासे इस जीव की बुद्धि विपरीत हो गई है। यह बिना किसी विश्रामके चतुर्गतिरूप भवमें भ्रमण करता है और पाप के उदय से दुःखी होता रहता है। इष्ट अर्थका विघात करनेवाली, दृढ़ और अनादि काल से चली आई इस मूर्खताको भी धिक्कार हो ॥49-50॥

इस प्रकार वैराग्य के संयोग से वे भोग तथा राग से बहुत दूर जा खड़े हुए। उसी समय सारस्वत आदि समस्त वीतराग देवों ने-लौकान्तिक देवों ने उनकी पूजा की ॥51॥

कर्मों का क्षयोपशम होने से उनके प्रशस्त संज्वलन का उदय हो गया अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षयोपशम और संज्वलन क्रोध मान माया लोभका मन्द उदय रह गया जिससे रत्नत्रयको प्राप्त कर उन्होंने सुप्रभ नामक पुत्रको अपना राज्य-भार सौंप दिया ॥52॥

तदनन्तर देवों के द्वारा किये हुए अभिषेक के साथ-साथ दीक्षा-कल्याणकका उत्सव प्राप्त कर वे उत्तरकुरू नाम की मनोहर पालकी पर सवार हो चैत्रवन नामक उद्यानमें गये। वहाँ उन्होंने बेलाका नियम लेकर आषाढकृष्ण दशमीके दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया और उसी समय संयमी जीवों के प्राप्त करने के योग्य चतुर्थ-मनःपर्ययज्ञान भी प्राप्त कर लिया ॥53-55॥

पारणा के लिए भगवान् वीरपुर नामक नगर में गये वहाँ सुवर्ण के समान कान्तिवाले राजा दत्तने उन्हें आहार दान देकर पन्चाश्वर्य प्राप्त किये ॥56॥

तदनन्तर जब छद्मस्थ अवस्था के नव वर्ष बीत गये तब वे एक दिन अपने ही दीक्षावन में मनोहर बकुल वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए। वहीं पर उन्हें मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष की तीसरी नन्दा तिथि अर्थात् एकादशी के दिन सायंकाल के समय समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ-उसी समय इन्द्र आदि देवों ने चतुर्थ-ज्ञानकल्याणका उत्सव किया ॥57-59॥

सुप्रभार्य को आदि लेकर उनके सत्रह गणधर थे। चार सौ पचास समस्त पूर्वोक्त जानकार थे, बारह हजार छह सौ अच्छे व्रतोंको धारण करने वाले शिक्षक थे, एक हजार छह सौ अवधिज्ञान के धारकोंकी संख्या थी, इतने ही अर्थात् एक हजार छह सौ ही केवल ज्ञानी थे, पन्द्रह सौ विक्रियाश्रद्धि के धारक थे, बारह सौ पचास परिग्रह रहित मनःपर्ययज्ञानी थे और एक हजार वादी थे। इस तरह सब मुनियोंकी संख्या बीस हजार थी। मंगिनीको आदि लेकर पैतालीस हजार आर्यिकाएं थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएं थीं, असंख्यात देव देवियां थीं और संख्यात तिर्यन्च थे ॥60-65॥

इस प्रकार समीचीन धर्म का उपदेश करते हुए भगवान् नमिनाथ ने नम्रीभूत बारह सभाओं के साथ आर्य क्षेत्र में सब ओर विहार किया। जब उनकी आयु का एक माह बाकी रह गया तब वे विहार बन्द कर सम्मेदशिखर पर जा विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाखकृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रिके अन्तिम समय अश्विनी नक्षत्र में मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥66-68॥

उसी समय देवों ने आकर सबके स्वामी श्री नमिनाथ तीर्थकर का पन्चम निर्वाण-कल्याणक का उत्सव किया और तदनन्तर पुण्यरूपी पदार्थ को प्राप्त हुए सब देव अपने-अपने स्थान को चले गये ॥69॥

जिनका शरीर सुवर्ण के समान देदीप्यमान था, जिन्होंने घातिया कर्मों के साथ युद्ध किया था, समस्त अहितोंको जीता था अथवा विजय

प्राप्त की थी, नम्रीभूत देव जय-जय करते हुए जिनकी स्तुति करते थे, जो विद्वान् शिष्योंके स्वामी थे और अन्त में जिन्होंने शरीर नष्ट कर दिया था- मोक्ष प्राप्त किया था वे श्री नमिनाथ स्वामी हम सबके संसार-सम्बन्धी बहुत भारी भय को नष्ट करें ॥70॥

जो तीसरे भव में कौशाम्बी नगर में सिद्धार्थ नाम के प्रसिद्ध राजा थे, वहाँ पर घोर तपश्चरण कर जो अनुत्तरके चतुर्थ अपराजित विमान में देव हुए और वहाँसे आकर जो मिथिला नगरी में इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय तीनों जगत् के हितकारी वचनों को प्रकट करने के लिए नमिनाथ नामक इक्कीसवें तीर्थकर हुए, जिन्होंने देवों सहित समस्त इन्द्रोंसे नमस्कार कराया था, जिनपर चमर ढोरे जा रहे थे और जिनपर उड़ते हुए भ्रमरोंसे सुशोभित पुष्पवृष्टियोंका समूह पड़ा करता था ऐसे श्री नमिनाथ भगवान् चरण-कमल के मकरन्द-रसको पान करनेवाले शिष्य रूपी भ्रमरोंके लिए निरन्तर संतोष प्रदान करते रहें ॥71-72॥

तीनों जगत् को जीतने से जिसका गर्व बढ़ रहा है ऐसे मोह का माहात्म्य मर्दन करने से जिन्हें मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त हुई है ऐसे श्री नमिनाथ भगवान् हम सबके लिए भी मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें ॥73॥

अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीप के उत्तर भाग में एक ऐरावत नाम का बड़ा भारी क्षेत्र है उसके श्रीपुर नगर में लक्ष्मीमान् वसुन्धर नाम का राजा रहता था ॥74॥

किसी एक दिन पद्मावती स्त्रीके वियोगसे उसका मन अत्यन्त विरक्त हो गया जिससे वह अत्यन्त सुन्दर मनोहर नाम के वन में गया । वहाँ उसने वरचर्म नाम के सर्वज्ञ भगवान् से धर्मके सद्भावका निर्णय किया फिर विनयन्धर नाम के पुत्र के लिए अपना सब भार सौंपकर अनेक राजाओं के साथ, संयम धारण कर लिया । तदनन्तर कठोर तपश्चरण कर समाधि मरण किया जिससे महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ ॥75-77॥

वहाँ पर उसकी सोलह सागर की आयु थी, दिव्य भोगों का अनुभव कर वह वहाँसे च्युत हुआ और इन्हीं नमिनाथ तीर्थकरके तीर्थ में वत्स देश की कौशाम्बी नगरी के अधिपति, इक्ष्वाकुवंशी राजा विजयकी प्रभाकरी नाम की देवीसे कान्तिमान् पुत्र हुआ ॥78- 79॥

वह सर्व लक्षणों से युक्त था, जयसेन उसका नाम था, तीन हजार वर्षकी उसकी आयु थी साठ हाथकी ऊँचाई थी, तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति थी, वह चौदह रत्नों का स्वामी था, नौ निधियाँ सदा उसकी सेवा करती थीं, ग्यारहवाँ चक्रवर्ती था और दश प्रकार के भोग भोगता हुआ सुख से समय बिताता था । किसी एक दिन वह ऊँचे राजभवनकी छत पर अन्तःपुरवर्ती जनों के साथ लेट रहा था ॥80-82॥ पौर्णमासी के चन्द्रमा के समान वह समस्त दिशाओं को देख रहा था कि इतनेमें ही उसे उल्कापात दिखाई दिया। उसे देखते ही विरक्त होता हुआ वह इस प्रकार विचार करने लगा कि देखो यह प्रकाशमान वस्तु अभी तो ऊपर थी और फिर शीघ्र ही अपनी दो पर्यायें छोड़कर कान्तिरहित होती हुई नीचे चली गई ॥83-84॥

'मेरा तेज भी बहुत ऊँचा है, तथा बलवान् है' इस तरह के मदको धारण करता हुआ जो मूढ़ प्राणी अपनी आत्माके लिए हितकारी परलोक सम्बन्धी कार्यका आचरण नहीं करता है और उसके विपरीत नश्वर तथा संतुष्ट नहीं करनेवाले विषयोंमें आसक्त रहता है वह प्रमादी मनुष्य भी इसी उल्काकी गतिको प्राप्त होता है अर्थात् तेज रहित होकर अधोगतिको जाता है ॥85-86॥

ऐसा विचार कर सरल बुद्धि के धारक चक्रवर्ती ने काल आदि लब्धियोंकी अनुकूलता से चक्र आदि समस्त राम्राज्य को छोड़ने का निश्चय कर लिया । वह अपने बड़े पुत्रों के लिए राज्य देने लगा परन्तु उन्होंने तप धारण करने की उदात्त इच्छा से राज्य लेने की इच्छा नहीं की तब उसने छोटे पुत्र के लिए राज्य दिया और अनेक राजाओं के साथ वरदत्त नाम के केवली भगवान् से संयम धारण कर लिया । वह कुछ ही समयमें श्रुत बुद्धि तप विक्रिया और औषध आदि ऋद्धियों से विभूषित हो गया ॥87-89॥

चारण ऋद्धि भी उसे प्राप्त हो गई । अन्त में वह सम्मेदशिखर के चारण नामक ऊँचे शिखरपर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर आत्माकी आराधना करता हुआ जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ उत्तम पुण्यकर्म के अनुभागसे उत्पन्न हुए सुख का चिरकाल के लिए अनुभव करने लगा ॥90- 91॥

जयसेन का जीव पहले भव में वसुन्धर नाम का राजा था फिर समीचीन तपश्चरण प्राप्त कर सोलह सागर की आयुवाला देव हुआ, वहाँसे चय कर जयसेन नाम का चक्रवर्ती हुआ और फिर जयन्त विमान में सुख का भाण्डार स्वरूप अहमिन्द्र हुआ ॥92॥

भगवान नमिनाथ, श्रीकृष्ण चरित

कथा :

अथानन्तर-सज्जन लोग जिन्हें उत्तम क्षमा आदि दश धर्म रूपी अरोंका अवलम्बन बतलाते हैं और जो समीचीन धर्मरूपी चक्रकी हाल हैं ऐसे श्री नेमिनाथ स्वामी हम लोगों को शान्ति करनेवाले हों ॥1॥

जिनेन्द्र भगवान् नारायण और बलभद्र का पुण्यवर्धक पुराण संसार से भय उत्पन्न करनेवाला है इसलिए इस श्रुतज्ञान को मन-वचन कायकी शुद्धिके लिए वन्दना करता हूं ॥2॥

मंगलाचरण रूपी सत्क्रिया करके मैं हरिवंश नामक पुराण कहूँगा और वह भी पूर्वाचार्यों के अनुसार जैसा हुआ है अथवा जैसा सुना है वैसा ही कहूँगा ॥3॥

इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर सुगन्धिला नाम के देशमें एक सिंहपुर नाम का नगर है उसमें अर्हदास नाम का राजा राज्य करता था । उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था । दोनों ही पूर्वभवमें संचित पुण्यकर्म के उदय से उत्पन्न हुए कामभोगों से संतुष्ट रहते थे । इस प्रकार दोनों का सुख से समय बीत रहा था । किसी एक दिन रानी जिनदत्ताने श्री जिनेन्द्र भगवान् की अष्टाह्निका सम्बन्धी महापूजा करने के बाद आशा प्रकट की कि 'मैं कुल के तिलकभूत पुत्र को प्राप्त करूँ' । ऐसी आशा कर वह बड़ी प्रसन्नतासे रात्रिमें सुख से सोई । उसी रात्रिको अच्छे व्रत धारण करनेवाली रानीने सिंह, हाथी, सूर्य, चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक इस पाँच स्वप्न देखनेके बाद ही कोई पुण्यात्मा उसके गर्भ में अवतीर्ण हुआ और नौ माह बीत जानेपर रानीने बलवान् पुत्र उत्पन्न किया । उस पुत्र के जन्म समय से लेकर उसका पिता शत्रुओं द्वारा अजय हो गया था इसलिए भाई-बान्धवोंने उसका नाम अपराजित रक्खा ॥4-10॥

वह रूप आदि गुणरूपी सम्पत्ति के साथ साथ यौवन अवस्था तक बढ़ता गया इसलिए देवोंमें इन्द्रके समान सुन्दर दिखने लगा ॥11॥ तदनन्तर किसी एक दिन राजा ने वनपाल के मुख से सुना कि मनोहर नाम के उद्यानमें विमलवाहन नामक तीर्थकर पधारे हुए हैं । सुनते ही वह भक्ति से प्रेरित हो अपनी रानियों तथा परिवारके लोगों के साथ वहाँ गया । वहाँ जाकर उसने बारबार प्रदक्षिणाएँ दीं, हाथ जोड़े, प्रणाम किया, गन्ध, पुष्प अक्षत आदिके द्वारा अच्छी तरह पूजा की तथा धर्मरूपी अमृत का पान किया । यह सब करते ही अकस्मात् उसकी भोगोंकी इच्छा शान्त हो गई जिससे उसने अपराजित नामक पुत्र के लिए सप्त प्रकारकी विभूति प्रदान कर पाँच सौ राजाओं के साथ त्येष्ठ तप धारण कर लिया ॥11-15॥

कुमार अपराजित ने भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर अणुव्रत आदि श्रावक के व्रत ग्रहण किये और फिर जिस तरह इन्द्र अमरावतीमें प्रवेश करता है उसी तरह लक्ष्मी से युक्त हो अपनी राजधानीमें प्रवेश किया ॥16॥

उसने स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र सम्बन्धी चिन्ता तो अपने मन्त्रियों पर छोड़ दी और स्वयं शास्त्रोक्त मार्गसे धर्म तथा काममें लीन हो गया ॥17॥ किसी एक समय उसने सुना कि हमारे पिता के साथ श्री विमलवाहन भगवान् गन्धमादन पर्वतपर मोक्षको प्राप्त हो चुके हैं । यह सुनते ही उसने प्रतिज्ञा की कि 'मैं श्री विमलवाहन भगवान् के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करूँगा । इस प्रतिज्ञासे उसे आठ दिनका उपवास हो गया ॥18-19॥

तदनन्तर इन्द्र की आज्ञा से यक्षपति ने उस राजा को महान् शुभ रूप श्री विमलवाहन भगवान् का साक्षात्कार कराकर दर्शन कराया । राजा अपराजितने जिन-मन्दिरमें उन विमलवाहन भगवान् की पूजा वन्दना करने के बाद भोजन किया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त स्नेह तथा शोक से पीड़ित हो रहा है उन्हें तत्त्वका विचार कैसे हो सकता है ? ॥20-21॥

किसी एक दिन वसन्त ऋतु की आष्टाह्निका के समय बुद्धिमान् राजा अपराजित जिन-प्रतिमाओंकी पूजाकर उनकी स्तुति कर वहीं पर बैठा हुआ था और धर्मोपदेश कर रहा था कि उसी समय आकाश से दो चारणऋद्धि धारी मुनिराज आकर वहीं पर विराजमान हो गये । जिनेन्द्र भगवान् की स्तुतिके समाप्त होने पर राजा ने बड़ी विनयके साथ उनके सन्मुख जाकर उनके चरणोंमें नमस्कार किया, धर्मोपदेश सुना और तदनन्तर कहा कि हे पूज्य ! हे भगवन् ! मैंने पहले कभी आपको देखा है । उन दोनों मुनियोंमें जो ज्येष्ठ मुनि थे वे कहने लगे कि हाँ राजन् ! ठीक कहते हो, हम दोनोंको आपने देखा है ॥22-25॥

परन्तु कहाँ देखा है ? वह स्थान मैं कहता हूँ सुनो । पुष्करार्थ द्वीप के पश्चिम सुमेरू की पश्चिम दिशामें जो महानदी है उसके उत्तर तट पर एक गन्धित नाम का महादेश है । उसके विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणीमें सूर्यप्रभ नगरका स्वामी राजा सूर्यप्रभ राज्य करता था । उसकी स्त्री का नाम धारिणी था । उन दोनोंके बड़ा पुत्र चिन्तागति दूसरा मनोगति और तीसरा चपलगति इस प्रकार तीन पुत्र हुए थे । धर्म, अर्थ

और कामके समान इन तीनों पुत्रोंसे वे दोनों माता-पिता सदा प्रसन्न रहते थे सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम पुत्रोंसे कौन नहीं सन्तुष्ट होते हैं ?

॥26-29॥

उसी विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी में अरिन्दमपुर नगर के राजा अरिंजय रहते थे उनकी अजितसेना नाम की रानी थी और दोनोंके प्रीतिमती नाम की सती पुत्री हुई थी । उसने अपनी विद्यासे चिन्तागतिको छोड़कर समस्त विद्याधरोंको मेरू पर्वत की तीन प्रदक्षिणा देनेमें जीत लिया था ॥30-31॥

तत्पश्चात् चिन्तागति उसे अपने वेग से जीतकर कहने लगा कि तू रत्नों की माला से मेरे छोटे भाईको स्वीकार कर । चिन्तागतिके वचन सुनकर प्रीतिमतीने कहा कि जिसने मुझे जीता है उसके सिवाय दूसरेके गलेमें मैं यह माला नहीं डालूँगी । इसके उत्तरमें चिन्तागतिने कहा कि चूँकि तूने पहले उन्हें प्राप्त करने के इच्छा से ही मेरे छोटे भाइयोंके साथ गतियुद्ध किया था अतः तू मेरे लिए त्याज्य है । चिन्तागतिके यह वचन सुनते ही वह संसार से विरक्त हो गई और उसने विवृत्ता नाम की आर्यिकाके पास जाकर उत्कृष्ट तप धारण कर लिया । यह देख वहाँ बहुतसे लोगों ने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली ॥32-35॥

कन्या का यह साहस देख जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ऐसे चिन्तागतिने भी अपने दोनों छोटे भाइयोंके साथ दमवर नामक गुरुके पास जाकर संयम धारण कर लिया और आठों शुद्धियोंको पाकर तीनों भाई चौथे स्वर्ग में सामाजिक जातिके देव हुए ॥36-37॥

वहाँ सात सागर की उत्कृष्ट आयु पर्यन्त अनेक भोगों का अनुभव कर च्युत हुए और दोनों छोटे भाइयोंके जीव जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कला देशमें जो विजयार्थ पर्वत है उसकी उत्तर श्रेणीमें गगनवल्लभ नगर के राजा गगनचन्द्र और उनकी रानी गगनसुन्दरीके हम दोनों अमितमति तथा अमिततेज नाम के पुत्र उत्पन्न हुए हैं । हम दोनों ही तीनों प्रकारकी विद्याओंसे युक्त थे ॥38-40॥ किसी दूसरे दिन हम दोनों पुण्डरीकिणी नगरी गये । वहाँ श्री स्वयंप्रभ तीर्थकरसे हम दोनोंने अपने पिछले तीन जन्मोंका वृत्तान्त पूछा । तब स्वयंप्रभ भगवान् ने सब वृत्तान्त ज्योंका त्यों कहा । तदनन्तर हम दोनोंने पूछा कि हमारा बड़ा भाई इस समय कहाँ उत्पन्न हुआ है ? इसके उत्तरमें भगवान् ने कहा कि वह सिंहपुर नगर में उत्पन्न हुआ है, अपराजित उसका नाम है, और स्वयं राज्य करता हुआ शोभायमान है ॥41-43॥

यह सुनकर हम दोनों ने उन्हीं स्वयंप्रभ भगवान् के समीप संयम धारण कर लिया और तुम्हें देखनेके लिए तुम्हारे जन्मान्तरके स्नेहसे हम दोनों यहाँ आये हैं ॥44॥

हे भाई ! अब तब तू पुण्य-कर्म के उदय से प्राप्त हुए समस्त भोगों का उपभोग कर चुका है । अब तेरी आयु केवल एक माहकी शेष रह गई है इसलिए शीघ्र ही आत्म-कल्याणका विचार कर ॥45॥

राजा अपराजित ने यह बात सुनकर दोनों मुनिराजोंकी वन्दना की और कहा कि आप यद्यपि निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हुए हैं तो भी जन्मान्तरके स्नेहसे आपने मेरा बड़ा उपकार किया है । यथार्थमें आप ही मेरे हितेच्छु हैं । तदनन्तर उधर उक्त दोनों मुनिराज प्रसन्न होते हुए अपने स्थान पर गये इधर राजा अपराजितने अपना राज्य विधिपूर्वक प्रीतिकर कुमार के लिए दिया, आष्टाह्वि क पूजा की, भाइयोंको विदा किया और स्वयं प्रायोपगमन नाम का उत्कृष्ट संन्यास धारण कर लिया । संन्यासके प्रभाव से वह सोलहवें स्वर्गके सातंकर नामक विमान में बाईस सागर की आयुवाला बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंका धारक अच्युतेन्द्र हुआ । वह पुण्यात्मा वहाँ के दिव्य भोगों का चिरकाल तक उपभोग कर वहाँसे च्युत हुआ ॥46-50॥

और इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरूजांगल देशमें हस्तिनापुरके राजा श्रीचन्द्र की श्रीमती नाम की रानी से सुप्रतिष्ठ नाम का यशस्वी पुत्र हुआ । जब यह पूर्ण युवा हुआ तब सुनन्दा नाम की इसकी सुख देनेवाली स्त्री हुई ॥51-52॥

श्रीचन्द्र राजा ने पुत्र को अत्यन्त योग्य समझ कर उसके लिए राज्य दे दिया और स्वयं सुमन्दर नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥53॥

सुप्रतिष्ठ भी निष्कण्टक राज्य में अच्छी तरह प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ । एक दिन उसने यशोधर मुनिके लिए आहार दान दिया था जिससे उसे पन्चाश्वर्यकी प्राप्ति हुई थी ॥54॥

किसी दूसरे दिन वह राजा चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल सुन्दर राजमहलके ऊपर अन्तःपुरके साथ बैठा हुआ दिशाओं को देख रहा था कि अकस्मात् उसकी दृष्टि उल्कापात पर पड़ी । उसे देखते ही वह संसार को नश्वर समझने लगा । तदनन्तर उसने सुदृष्टि नामक ज्येष्ठ

पुत्रका राज्याभिषेक किया और आत्मज्ञान प्राप्त कर सुमन्दर नामक जिनेन्द्र के समीप दीक्षा धारण कर ली । अनुक्रम से उसने ग्यारह अंगोका अभ्यास किया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थकर नामक निर्मल नाम-कर्म का बन्ध किया । जब आयु का अन्त आया तब समाधि धारण कर एक महीनेका संन्यास लिया जिसके प्रभाव से जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पदको प्राप्त किया । वहाँ उसकी तैंतीस सागर की आयु थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, वह साढे सोलह माहके अन्त में एक बार श्वास ग्रहण करता था, बिना किसी आकुलताके जब तेतीस हजार वर्ष बीत जाते थे तब एक बार आहार ग्रहण करता था, उसका सुख प्रवीचार-मैथुनसे रहित था, लोक-नाड़ीके अन्त तक उसके अवधिज्ञान का विषय था, वहीं तक उसके बल, कान्ति तथा विक्रिया आदि गुण भी थे ॥55- 61॥

इस प्रकार वह देवगति में दिव्य सुख का अनुभव करता था, सुख रूपी महासागरसे सदा सन्तुष्ट रहता था और सुखदायी लम्बी आयु तक वहीं विद्यमान रहा था ॥62॥

अब इस के आगे वह जिस वंश में उत्पन्न होगा उस वंश का वर्णन किया जाता है । जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक वत्स नाम का देश है । उसकी कौशम्बी नगरी में अतिशय प्रसिद्ध राजा मधवा राज्य करता था । उसकी महादेवीका नाम वीतशोका था । कालक्रम से उन दोनोंके रघु नाम का पुत्र हुआ ॥ 63- 64॥

उसी नगर में एक सुमुख नाम का बहुत धनी सेठ रहता था । किसी एक समय कलिंग देशके दन्तपुर नामक नगर में वीरदत्त नाम का वैश्य पुत्र, व्याधोंके डरके कारण अपने साथियों तथा वनमाला नाम की स्त्रीके साथ कौशम्बी नगरी में आया और वहाँ सुमुख सेठके आश्रय से रहने लगा । किसी दिन सुमुख सेठ वन में घूम रहा था कि उसकी दृष्टि वनमाला पर पड़ी । उसे देखते ही कामदेवने उसे अपने वाणोंका मानो तरकश बना लिया-वह कामदेव के वाणोंसे घायल हो गया । तदनन्तर मायाचारी पापी सेठने वीरदत्तको तो बहुत भारी आजीविका देकर बारह वर्ष के लिए व्यापारके हेतु बाहर भेज दिया और स्वयं लुभाई हुई वनमालाको अपकीर्तिके साथ स्वीकृत कर लिया-अपनी स्त्री बना लिया ॥65- 69॥

बारह वर्ष बिता कर जब वीरदत्त वापिस आया तब वनमाला के विकार को सुन संसार की दुःखमय स्थितिका विचार करने लगा । अन्त में शोक से आकुल, पुण्यहीन, आश्रयरहित, वीरदत्तने विरक्त होकर प्रोष्ठिल मुनिके पास जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥70-71॥

आयु के अन्त में संन्यास-मरण कर वह प्रथम सौधर्म स्वर्ग में प्रवीचारकी खान स्वरूप चित्रांगद नाम का देव हुआ ॥72॥

इधर सुमुख सेठ और वनमाला ने भी किसी दिन धर्मसिंह नामक मुनिराज के लिए प्रासुक आहार देकर अपने पाप की निन्दा की ॥73॥ दूसरे ही दिन वज्र के गिरने से उन दोनों की साथ ही साथ मृत्यु हो गई । उनमेंसे सुमुख का जीव तो भरत क्षेत्रके हरिवर्ष नामक देशमें भोगपुर नगर के स्वामी हरिवंशीय राजा प्रभंजन मृकण्डु नाम की रानीसे सिंहकेतु नाम का पुत्र हुआ और वनमालाका जीव उसी हरिवर्ष देशमें वस्वालय नगर के स्वामी राजा वज्रचाप की सुभा नाम की रानीसे बिजलीकी क्रान्तिको तिरस्कृत करनेवाली विद्युन्माला नाम की पुत्री हुई जो सिंहकेतुके पूर्ण यौवन होने पर उसकी स्त्री हुई ॥74-77॥

किसी दिन वन-विहार करते समय चित्रांगद देवने उन दोनों दम्पतियोंको देखा और 'मैं इन्हें मारूँगा' ऐसे विचारसे वह उन्हें उठाकर जाने लगा ॥78॥

पहले जन्म में सेठ सुमुख का प्रियमित्र राजा रघु अणुव्रतों के फल से सौधर्म स्वर्ग में सूर्यप्रभ नाम का श्रेष्ठ देव हुआ था । वह उस समय चित्रांगद को देखकर कहने लगा कि 'हे भद्र ! मेरे वचन सुन, इन दोनोंके मर जानेसे तुझे क्या फल मिलेगा ? यह काम पाप का बन्ध करनेवाला है, युक्तिपूर्वक काम करनेवालों के अयोग्य है, संसार रूप वृक्ष के दुःखरूपी दुष्ट फलका देनेवाला है । इसलिए तू यह जोड़ा छोड़ दे' इस प्रकार उसने बार बार कहा । उसे सुनकर चित्रांगदको भी दया आ गई और उसने उन दोनोंको छोड़ दिया । तदनन्तर सूर्यप्रभ देवने उन दोनों दम्पतियोंको संबोध कर आश्वासन दिया और आगे होनेवाले सुखकी प्राप्ति का विचार कर उन्हें चम्पापुरके वन में छोड़ दिया ॥79- 83॥

दैव-योग से उसी समय चम्पापुर का राजा चन्द्रकीर्ति विना पुत्र के मर गया था इसलिए राज्यकी परम्परा ठीक-ठीक चलानेके लिए सुयोग्य मन्त्रियोंने किसी योग्य पुण्यात्मा पुरुषको ढूँढ़नेके अर्थ किसी शुभ लक्षणवाले हाथीको गन्ध आदिसे पूजा कर छोड़ा था ॥84- 85॥

वह दिव्य हाथी भी वन में गया और पुण्योदय से उन दोनों-सिंहकेतु और विद्युन्मालाको अपने कंधे पर बैठा कर नगर में वापिस आ गया ॥

प्रसन्नता से भरे हुए मन्त्री आदिने सिंहकेतु का अभिषेक किया, राज्यासन पर बैठाया और पट्ट बाँधा ॥87॥

तदनन्तर उन लोगों ने पूछा कि आप किसके पुत्र हैं और यहाँ कहाँसे आये हैं ? उत्तरमें सिंहकेतु ने कहा कि 'मेरे पिताका नाम प्रभंजन है और माताका नाम गुणों से मण्डित मृकण्डू है । मैं हरिवंश रूपी निर्मल आकाशका चन्द्रमा हूँ, कोई एक देव मुझे पत्नी सहित लाकर यहाँ वन में छोड़ गया है, मैं अब तक वन में ही स्थित था' ॥88- 89॥

सिंहकेतु के वचन सुनकर लोग चूँकि यह मृकण्डूका पुत्र है इसलिए उसका माकण्डेय नाम रखकर उसी नाम से उसे पुकारने लगे ॥90॥ इस प्रकार वह माकण्डेय, दैवयोग से प्राप्त हुए राज्य का चिरकाल तक उपभोग करता रहा । उसीके सन्तानमें हरिगिरि, हिमगिरि तथा वसुगिरि आदि अनेक राजा हुए । उन्हींमें कुशार्थ देशके शौर्यपुर नगरका स्वामी राजा शूरसेन हुआ जो कि हरिवंश रूपी आकाशका सूर्य था और अपनी शूरवीरतासे जिसने समस्त शत्रुओं को जीत लिया था । राजा शूरसेनके वीर नाम का एक पुत्र था उसकी स्त्री का नाम धारिणी था । इन दोनोंके अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि नाम के दो पुत्र हुए ॥91-94॥

अन्धकवृष्टिकी रानीका नाम सुभद्रा था । उन दोनोंके धर्मके समान गम्भीर समुद्रविजय 1, स्तिमितसागर 2, हिमवान् 3, विजय 4, विद्वान् अचल 5, धारण 6, पूरण 7, पूरितार्थीच्छ 8, अभिनन्दन 9, वसुदेव 10 ये चन्द्रमा के समान कान्तिवाले दश पुत्र हुए तथा चन्द्रिकाके समान कान्तिवाली कुन्ती और माद्री नाम की दो पुत्रियाँ हुई ॥95-97॥

समुद्रविजय आदि पहले के नौ पुत्रों के क्रम से संभोग सुख को प्रदान करनेवाली शिवदेवी, घृतीश्वरा, स्वयंप्रभा, सुनीता, सीता, प्रियावाक्, प्रभावती, कालिङ्गी और सुप्रभा नाम की संसार में सबसे उत्तम स्त्रियाँ थीं ॥98-99॥

राजा शूरवीर के द्वितीय पुत्र नरवृष्टि की रानीका नाम पद्मावती था और उससे उनके उग्रसेन, देवसेन तथा महासेन नाम के तीन गुणी पुत्र उत्पन्न हुए ॥100॥

इनके सिवाय एक गन्धारी नाम की पुत्री भी हुई । ये सब पुत्र-पुत्रियाँ अत्यन्त सुख देनेवाले थे । इधर हस्तिनापुर नगर में कौरव वंशी राजा शक्ति राज्य करता था । उसकी शतकी नाम की रानीसे पराशर नाम का पुत्र हुआ । उस पराशरके मत्स्य कुलमें उत्पन्न राजपुत्री रानी सत्यवतीसे बुद्धिमान् व्यास नाम का पुत्र हुआ । व्यासकी स्त्री का नाम सुभद्रा था इसलिए तदनन्तर उन दोनोंके घृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र हुए ॥101-103॥

अथानन्तर-किसी एक समय वज्रमाली नाम का विद्याधर क्रीडा करने के लिए हस्तिनापुरके वन में आया था । वह वहाँ अपने हाथकी अंगूठी भूलकर चला गया । इधर राजा पाण्डु भी उसी वन में घूम रहे थे । इन्हें वह अंगूठी दिखी तो इन्होंने उठा ली । जब उस विद्याधरको अंगूठीका स्मरण आया तब वह लौटकर उसी वन में आया तथा यहाँ वहाँ उसकी खोज करने लगा । उसे ऐसा करते देख पाण्डुने कहा कि आप खोज रहे हैं ? पाण्डुके वचन सुनकर विद्याधरने कहा कि मेरी अंगूठी गिर गई है । इसके उत्तरमें पाण्डुने उसे अंगूठी दिखा दी । पश्चात् पाण्डुने उस विद्याधरसे पूछा कि इससे क्या काम होता है ? उत्तरमें विद्याधरने कहा कि हे भद्र ! यह अंगूठी इच्छानुसार रूप बनानेवाली है । यह सुन कर पाण्डुने प्रार्थना की कि हे भाई ! यदि ऐसा है तो यह अंगूठी कुछ दिन तक मेरे हाथमें रहने दो, मैं इसका प्रभाव देखूँगा । पाण्डुकी इस प्रार्थना पर उस विद्याधरने वह अंगूठी उन्हें दे दी । पाण्डुने उस अंगूठीके द्वारा किये अपने अदृश्य रूप से कुन्तीके साथ समागम किया जिससे उसके कर्ण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । कुन्तीके परिजनोंने दूसरोंको विदित न होने पावे इस तरह छिपा कर उस बालक को एक सन्दूकचीमें रखवा, उसे कुण्डल तथा रत्नोंका कवच पहिनाया और एक परिचायक पत्र साथ रखकर यमुना नदी के प्रवाहमें छोड़ दिया ॥104-111॥

चम्पापुर के राजा आदित्य ने बहती हुई सन्दूकची को मँगाकर जब खोला तो उसके भीतर स्थित बालसूर्य के समान बालक को देखकर वह विस्मयमें पड़ गया । उसने सोचा कि यह पुत्र अपनी रानी राधाके लिए हो जायगा । यह विचार कर उसने वह पुत्र राधाके लिए दे दिया । राधाने जब उस पुत्रको देखा तब वह अपने कर्ण-कानका स्पर्श कर रहा था इसलिए उसने बड़े आदरसे उसका कर्ण नाम रख दिया । यह सब होने के बाद राजा पाण्डुका कुन्ती और माद्रीके साथ पाणिग्रहणपूर्वक प्राजापत्य विवाहसे सम्बन्ध हो गया । कुन्तीके धर्मपुत्र-युधिष्ठिर नाम का धर्मात्मा राजा उत्पन्न हुआ फिर क्रम से भीमसेन और अर्जुन उत्पन्न हुए । उसके ये तीनों पुत्र धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्गके समान जान पड़ते थे । इसी प्रकार माद्रीके ज्येष्ठ पुत्र सहदेव और उसके बाद नकुल उत्पन्न हुआ था ॥112-116॥

धृतराष्ट्र के लिए गान्धारी दी गई थी अतः उन दोनों के सर्व प्रथम दुर्योधन उत्पन्न हुआ। उसके पश्चात् दुःशासन, दुर्घर्षण तथा दुर्मर्षण आदि उत्पन्न हुए। ये सब महाप्रतापी सौ भाई थे। इस तरह सबका काल लीला पूर्वक सुख से व्यतीत हो रहा था ॥117-118॥

किसी दूसरे दिन गन्धमादन नामक पर्वत पर श्री सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज आकर विराजमान हुए। राजा शूरवीर अपने पुत्र पौत्र आदि के साथ उनकी वन्दनाके लिए गया। वहाँ जाकर उसने उनकी पूजा की, स्तुति की और उनके द्वारा कहा हुआ धर्म का उपदेश सुना। उपदेश सुनने से उसका चित्त संसार से भयभीत हो गया अतः उसने अभिषेक कर अन्धकवृष्टिके लिए राज्य दे दिया और 'यह योग्य है' ऐसा समझकर छोटे पुत्र नरवृष्टि के लिए युवराज पद दे दिया। तदनन्तर वह स्वयं संयम धारण कर उत्कृष्ट तपश्चरण करने लगा। अनुक्रम से बारह वर्ष बीत जानेपर वही सुप्रतिष्ठ मुनिराज उसी गन्धमादन पर्वत पर प्रतिमा योग धारण कर पुनः विराजमान हुए। उस समय सुदर्शन नाम के देवने क्रोधवश कुछ उपसर्ग किया परन्तु वे इसके द्वारा किये हुए समस्त उपसर्गको जीतकर तथा समस्त परिषहों को सह कर ध्यान के द्वारा घातिया कर्मों का क्षय करते हुए केवलज्ञानी हो गये ॥119-124॥

उस समय सब देवों के साथ-साथ अन्धकवृष्टि भी उनकी पूजा के लिए गया था। वहाँ उसने आश्चर्य से पूछा कि हे देव ! इस देवने पूजनीय आपके ऊपर यह महान् उपसर्ग किस कारण किया है ? अन्धकवृष्टिके ऐसा कह चुकने पर जिनेन्द्र भगवान् सुप्रतिष्ठ केवली इस प्रकार कहने लगे-इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी कलिंग देशके कान्चीपुर नगर में सूरदत्त और सुदत्त नाम के दो वैश्य पुत्र रहते थे ॥

125-127॥

उन दोनोंने लंका आदि द्वीपों में जाकर इच्छानुसार बहुत-सा धन कमाया और लौटकर जब नगर में प्रवेश करने लगे तब उन्हें इस बात का भय लगा कि इस धन पर टैक्स देना पड़ेगा। इस भय से उन्होंने वह धन नगर के बाहर ही किसी झाड़ीके नीचे गाड़ दिया और कुछ पहिचानके लिए चिह्न भी कर दिये। दूसरे दिन कोई एक मनुष्य मदिरा बनानेके लिए उसके योग्य वृक्षोंकी जड़ खोदता हुआ वहाँ पहुँचा। खोदते समय उसे वह भारी धन मिल गया। धन देखकर उसने विचार किया कि जिससे थोड़ा ही लाभ होता है ऐसे इन वृक्षोंकी जड़ोंके उखाड़नेसे क्या लाभ है ? मुझे अब बहुत भारी धन मिल गया है यह मेरी सब दरिद्रताको दूर भगा देगा। मैं मरण पर्यन्त इस धनसे भोगों का सेवन करूँगा, ऐसा विचार वह सब धन लेकर चला गया ॥128-131॥

दूसरे दिन जब वैश्यपुत्र उस स्थान पर आये तो अपना धन नहीं देखकर परस्पर एक दूसरे पर धन लेनेका विश्वास करते हुए लड़ने लगे और परस्पर एक दूसरेको मारते हुए मर गये। वे क्रोध और लोभके कारण नरकायुका बन्धक पहले नरकमें जा पहुँचे। चिरकाल तक वहाँ के दुःख भोगनेके बाद वहाँसे निकले और विन्ध्याचलकी गुफामें मेढ़ा हुए। वहाँ भी परस्पर एक दूसरे का वध कर वे गंगा नदी के किनारे बसनेवाले गोकुलमें बैल हुए। वहाँ भी जन्मान्तर के द्वेषके कारण दोनों युद्ध कर मरे और सम्मोदपर्वत पर बुद्धिसे मनुष्यों की समानता करनेवाले वानर हुए ॥132-135॥

वहाँ पर भी पत्थर से निकलनेवाले पानी के कारण दोनों कलह करने लगे। उनमें से एक तो शीघ्र ही मर गया और दूसरा कण्ठगत प्राण हो गया। उसी समय वहाँ सुरगुरू और देवगुरू नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आ पहुँचे। उन्होंने उसे पन्च नमस्कार मन्त्र सुनाया, जिसे उसने बड़ी उत्सुकतासे सुना और धर्मश्रवणके साथ-साथ मरकर सौधर्म स्वर्ग में चित्रांगद नाम का देव हुआ। वहाँसे निकल कर वह उसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के मध्य में स्थित पोदनपुर नगर के स्वामी राजा सुस्थितकी सुलक्षणा नाम की रानीसे उत्कृष्ट बुद्धिका धारक सुप्रतिष्ठ नाम का पुत्र हुआ ॥136-139॥

किसी एक समय वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में उसने असित नाम के पर्वत पर दो वानरोंका युद्ध देखा। जिससे उसे अपने पूर्व जन्मकी समस्त चेष्टाओं का स्मरण हो गया ॥140॥

उसी समय उसने सुधर्मचार्य के पास जाकर दीक्षा ले ली। वही सूरदत्तका जीव मैं यह सुप्रतिष्ठ हुआ हूँ। मेरा छोटा भाई सुदत्त संसार में भ्रमण करता हुआ अन्त में सिन्धु नदी के किनारे रहनेवाले मृगायण नामक तपस्वीकी विशाला नाम की स्त्रीसे गोतम नाम का पुत्र हुआ। मिथ्यादर्शनके प्रभाव से वह पंचाग्नियों के मध्य में तपश्चरण कर सुदर्शन नाम का ज्यौतिष्क देव हुआ है। पूर्व भवके वैरके कारण ही इसने मुझ यह उपसर्ग किया है। सुदर्शन देवने उन सुप्रतिष्ठ केवली के वचन बड़े आदर से सुने और सब वैर छोड़कर समीचीन धर्म स्वीकृत किया ॥141-144॥

तदनन्तर राजा अन्धकवृष्टि ने यह सब सुननेके बाद हाथ जोड़कर उन्हीं सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रसे अपने पूर्व भवका सम्बन्ध पूछा ॥145॥

शिष्ट वचन बोलना ही जिनकी वाणीका विशेष गुण है ऐसे वीतराग सुप्रतिष्ठ भगवान् कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि बिना किसी निमित्तके हितकी बात कहना उन जैसोंका स्वाभाविक गुण है ॥146॥

वे कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीप की अयोध्या नगरी में अनन्तवीर्य नाम का राजा रहता था । उसी नगरी में कुबेरके समान सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ रहता था । वह सेठ प्रतिदिन दश दीनारोंसे, अष्टमीको सोलह दीनारोंसे, अमावसको चालीस दीनारोंसे और चतुर्दशीको अस्सी दीनारोंसे अर्हन्त भगवान् की पूजा करता था । वह इस तरह खर्च करता था, पात्र दान देता था, शील पालन करता था और उपवास करता था । इन्हीं सब कारणों से पापरहित उस सेठने 'धर्मशील' इस तरहकी प्रसिद्धि प्राप्त की थी । किसी एक दिन उस सेठने जलमार्गसे जाकर धन कमानेकी इच्छा की । उसने बारह वर्ष तक लौट आनेका विचार किया था इसलिए बारह वर्ष तक भगवान् की पूजा करने के लिए जितना धन आवश्यक था उतना धन उसने अपने मित्र रूद्रदत्त ब्राह्मणके हाथमें सौंप दिया और कह दिया कि इससे तुम जिनपूजा आदि कार्य करते रहना क्योंकि आप मेरे ही समान हैं ॥147-152॥

सेठ के चले जाने पर रूद्रदत्त ब्राह्मण ने वह समस्त धन परस्त्रीसेवन तथा जुआ आदि व्यसनोके द्वारा कुछ ही दिनोंमें खर्च कर डाला ॥ 153॥

तदनन्तर वह चोरी आदि में आसक्त हो गया । श्येनक नामक कोतवाल ने उसे चोरी करते हुए एक रात में देख लिया । देखकर कोतवालने कहा कि चूँकि तू ब्राह्मण नाम को धारण करता है अतः मैं तुझे मारता नहीं हूँ, तू इस नगरसे चला जा, यदि अब फिर कभी ऐसा दुष्कर्म करता हुआ दिखेगा तो अवश्य ही मेरे द्वारा यमराज के मुख में भेज दिया जायगा-मारा जायगा ॥154-155॥

यह कहकर कोतवाल ने उसे डाँटा । रूद्रदत्त भी, वहाँसे निकल कर उल्कामुखी पर रहनेवाले भीलोंके स्वामी पापी कालकसे जा मिला ॥ 156॥

वह रूद्रदत्त किसी समय अयोध्या नगरी में गायों के समूह का अपहरण करने के लिए आया था उसी समय श्येनक कोतवालके द्वारा मारा जाकर वह महापाप के कारण अधोगतिमें गया ॥157॥

वहाँ से निकल कर महामच्छ हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर सिंह हुआ, फिर नरक गया, वहाँसे आकर दृष्टिविष नाम का सर्प हुआ फिर नरक गया, वहाँसे आकर शार्दूल हुआ फिर नरक गया, वहाँ से आकर गरुड़ हुआ फिर नरक गया और वहाँ से आकर सर्प हुआ फिर नरक गया और वहाँसे आकर भील हुआ । इस प्रकार समस्त नरकों में जाकर वहाँसे बड़े कष्टसे निकला और त्रस स्थावर योनियोंमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहा ॥158-159॥

अन्त में इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरूजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में जब राजा धनन्जय राज्य करते थे तब गोतम गोत्री कपिष्ठल नामक ब्राह्मण की अनुन्धरी नाम की स्त्री से वह रूद्रदत्तका जीव गोतम नाम का महादरिद्र पुत्र हुआ । उत्पन्न होते ही उसका समस्त कुल नष्ट हो गया । उसे खानेके लिए अन्न नहीं मिलता था, उसका पेट सूख गया था, हड्डियाँ निकल आई थीं, नसों से लिपटा हुआ उसका शरीर बहुत बुरा मालूम होता था, उसके बाल जुओंसे भरे थे, वह जहाँ कहीं सोता था वहीं लोग उसे फटकार बतलाते थे, वह अपने शरीर की स्थितिके लिए कभी अलग नहीं होनेवाले श्रेष्ठ मित्र के समान अपने हाथ के अग्रभाग में खप्पर लिये रहता था ॥160-164॥

वाञ्छित रस के समान वह सदा 'देओ देओ' ऐसे शब्दों से केवल भिक्षा के द्वारा सन्तोष प्राप्त करनेका लोलुप रहता था परन्तु इतना अभाग्य था कि भिक्षासे कभी उसका पेट नहीं भरता था । जिस प्रकार पर्वके दिनोंमें कौआ बलिको ढूँढ़नेके लिए इधर-उधर फिरा करता है इसी प्रकार वह भी भिक्षाके लिए इधर-उधर भटकता रहता था । वह मुनियों के समान शीत, उष्ण तथा वायुकी बाधाको बार-बार सहता था, वह सदा मलिन रहता था, केवल जिह्वा इन्द्रिय के विषय की ही इच्छा रखता था, अन्य सब इन्द्रियो के विषय उसके छूट गये थे । जिस प्रकार राजा सदा दण्डधारी रहता है-अन्यथा प्रवृत्ति करने वालों को दण्ड देता है उसी प्रकार वह भी सदा दण्डधारी रहता था-हाथ में लाठी लिये रहता था ॥165-167॥

'सातवें नरक में उत्पन्न हुए नारकियों का रूप ऐसा होता है' यहाँ के लोगों को यह बतलानेके लिए ही मानो विधाता ने उसकी सृष्टि की थी । वह उडद अथवा स्याही जैसा रंग धारण करता था । अथवा ऐसा जान पड़ता था कि सूर्य के भय से मानो अन्धकारका समूह मनुष्यका रूप रखकर चल रहा हो । वह अत्यंत घृणित था, पापी था, यदि उसे कहीं कण्ठपर्यन्त पूर्ण आहार भी मिल जाता था तो नेत्रों से वह अतृप्त जैसा ही मालूम होता, वह जीर्ण शीर्ण तथा छेदवाले अशुभ वस्त्र अपनी कमरसे लपेटे रहता था, उसके शरीर पर बहुतसे घाव हो गये थे,

उनकी बड़ी दुर्गन्ध आती थी तथा भिनभिनाती हुई अनेक मक्खियाँ उसे सदा घेरे रहती थीं, कभी हटती नहीं थीं, उन मक्खियों से उसे क्रोध भी बहुत पैदा होता था। नगर के बालकोंके समूह सदा उसके पीछे लगे रहते थे और पत्थर आदिके प्रहारसे उसे पीड़ा पहुँचाते थे, वह झुँझला कर उन बालकोंका पीछा भी करता था परन्तु बीच में ही गिर पड़ता था। इस प्रकार बड़े कष्टसे समय बिता रहा था। किसी एक समय कालादि लब्धियोंकी अनुकूल प्राप्तिसे वह आहारके लिए नगर में भ्रमण करनेवाले समुद्रसेन नाम के मुनिराज के पीछे लग गया। वैश्रवण सेठ के यहाँ मुनिराजका आहार हुआ। सेठने उस गोतम ब्राह्मण को भी कण्ठ पर्यन्त पूर्ण भोजन करा दिया। भोजन करने के बाद भी वह मुनिराज के आश्रममें जा पहुँचा और कहने लगा कि आप मुझे भी अपने जैसा बना लीजिये। मुनिराजने उसके वचन सुनकर पहले तो यह निश्चय किया यह वास्तवमें भव्य है फिर उसे कुछ दिन तक अपने पास रखकर उसके हृदयकी परख की। तदनन्तर उन्होंने उसे शान्तिका साधन भूत संयम ग्रहण करा दिया ॥168-176॥

बुद्धि आदिक ऋद्धियाँ भी उसे एक वर्ष के बाद ही प्राप्त हो गईं। अब वह गोतम नाम के साथ ही साथ गुरुके स्थानको प्राप्त हो गया- उनके समान बन गया ॥177॥

आयु के अन्त में उसके गुरु मध्यम-ग्रैवेयक के सुविशाल नाम के उपरितन विमान में अहमिन्द्र हुए और श्री गोतम मुनिराज भी आयु के अन्त में विधिपूर्वक आराधनाओं की आराधनासे अच्छी तरह समाधिमरण कर उसी मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल विमान में अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए ॥178-179॥

वहाँ के दिव्य सुख का उपभोग कर वह ब्राह्मण मुनि का जीव अट्ठाईस सागर की आयु पूर्ण होने पर वहाँसे च्युत हुआ और तू अन्धकवृष्टि नाम का राजा हुआ है। इस प्रकार अपने भवोंका अनुभव करता हुआ बुद्धिमान् अन्धकवृष्टि फिर भगवान् से अपने पुत्रों के भवोंका सम्बन्ध पूछने लगा ॥180-181॥

वे भगवान् भी सर्वभाषा रूप परिणमन करनेवाली अपनी दिव्य ध्वनि से इस प्रकार कहने लगे-जम्बूद्वीप के मंगला देशमें एक भद्रिलपुर नाम का नगर है। उसमें मेघरथ नाम का राजा राज्य करता था। उसकी देवीका नाम सुभद्रा था। उन दोनोंके दृढ़रथ नाम का पुत्र हुआ। अपने पुण्योदय से उसने यौवराज्य का पट्ट धारण किया था। उसी भद्रिलपुर नगर में एक धनदत्त नाम का सेठ रहता था, उसकी स्त्री का नाम नन्दयशा था। उन दोनोंके धनपाल, देवपाल, जिनदेव, जिनपाल, अर्हदत्त, अर्हदास, सातवाँ जिनदत्त, आठवाँ प्रियमित्र और नौवाँ धर्मरूचि ये नौ पुत्र हुए थे। इनके सिवाय प्रियदर्शना और ज्येष्ठा ये दो पुत्रियाँ भी हुई थीं ॥182-186॥

किसी एक समय सुदर्शन नाम के वन में मन्दिरस्थविर नाम के मुनिराज पधारे। राजा मेघरथ और सेठ धनदत्त दोनों ही अपने पुत्र-पौत्रादिसे परिवृत होकर उनके पास गये। राजा मेघरथ क्रिया सहित धर्म का स्वरूप सुनकर विरक्त हो गया अतः अभिषेक पूर्वक दृढ़रथ नामक पुत्र के लिए अपना पद देकर उसने संयम धारण कर लिया। तदनन्तर धनदत्त सेठने भी अपने नौ पुत्रों के साथ संयम ग्रहण कर लिया। नन्दयशा सेठानी भी अपनी दोनों पुत्रियोंके साथ सुदर्शना नाम की आर्यिकाके पास गई और शीघ्र ही संसार के स्वरूपका निर्णय कर उसने भी तप धारण कर लिया-क्रम क्रम से विहार करते हुए वे सब बनारस पहुँचे और वहाँ बाहर अत्यन्त सुन्दर वृक्षोंसे युक्त प्रियंगुखण्ड नाम के वन में जा विराजमान हुए। वहाँ सबके गुरु मन्दिरस्थविर, मेघरथ राजा और धनदत्त सेठ तीनों ही मुनि ध्यान कर केवलज्ञानी हो गये। तदनन्तर निरन्तर धर्माभूतकी वर्षा करते हुए वे तीनों, तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य होकर आयु के अन्त में राजगृह नगर के समीप सिद्ध शिलासे सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए। किसी दूसरे दिन धनदेव आदि नौ भाई, दोनों बहिनों और नन्दयशाने उसी शिलातलपर विधिपूर्वक संन्यास धारण किया। पुत्र-पुत्रियों से युक्त नन्दयशाने उन्हें देखकर निदान किया कि 'जिस प्रकार ये सब इस जन्ममें मेरे पुत्र-पुत्रियाँ हुई हैं उसी प्रकार परजन्ममें भी मेरे ही पुत्र-पुत्रियाँ हों और इन सबके साथ मेरा सम्बन्ध इस जन्मकी तरह पर-जन्ममें भी बना रहें। ऐसा निदान कर उसने स्वयं संन्यास धारण कर लिया और मर कर उन सबके साथ आनत स्वर्गके शातंकर नामक विमान में उत्पन्न हो वहाँ के भोग भोगने लगी। वहाँ उसकी बीस सागर की आयु थी। आयुपूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर वह तुम्हारी सुभद्रा नाम की रानी हुई है, धनदेव आदि प्रसिद्ध पौरुषके धारक समुद्रविजय आदि पुत्र हुए हैं तथा प्रियदर्शना और ज्येष्ठा नामक पुत्रियोंके जीव अतिशय प्रसिद्ध कुन्ती माद्री हुए हैं। यह सब सुननेके बाद राजा अन्धकवृष्टिने अब सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रसे वसुदेवकी भवावली पूछी ॥187-198॥

जिनराज भी वसुदेवकी शुभ भवावली अपनी गम्भीर भाषा द्वारा इस प्रकार कहने लगे सो ठीक ही हैं क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा है

कि जिससे भव्य जीवोंका सदा अनुग्रह होता है ॥199॥

वे कहने लगे कि कुरूदेश के पलाशकूट नामक गाँव में एक सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था । वह जन्मसे ही दरिद्र था । उसके नन्दी नाम का एक लड़का था । नन्दीके मामाका नाम देवशर्मा था । उसके सात पुत्रियाँ थीं । नन्दी अपने मामाकी पुत्रियाँ प्राप्त करना चाहता था इसलिए सदा उसके साथ लगा रहता था परन्तु पुण्यहीन होने के कारण देवशर्मनि वे पुत्रियाँ उसके लिए न देकर किसी दूसरेके लिए दे दीं । पुत्रियोंके न मिलनेसे नन्दी बहुत दुःखी हुआ ॥200-202॥

तदनन्तर किसी दूसरे दिन वह कौतुकवश नटों का खेल देखने के लिए गया । वहाँ बड़े-बड़े बलवान् योद्धाओंकी भीड़ थी जिसे वह सहन नहीं कर सका किन्तु उसके विपरीत गिर पड़ा । उसे गिरा हुआ देख दूसरे लोग परस्पर ताली पीट कर उसकी हँसी करने लगे । इस घटनासे उसे बहुत ही लज्जा हुई और वह किसी पर्वत की शिखरसे नीचे गिरनेका उद्यम करने लगा ॥203-204॥

पर्वत की शिखर पर चढ़कर वह टाँकी से कटी हुई एक शिला पर खड़ा हो गया और गिरनेका विचार करने लगा परन्तु भयके कारण गिर नहीं सका, वह बार-बार गिरनेके लिए तैयार होता और बार-बार पीछे हट जाता था ॥205॥

उसी पर्वत के नीचे पृथिवी तल पर द्रुमषेण नाम के मुनिराज विराजमान थे वे मति, श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानों से सहित थे, शंख और निर्नामिक नाम के दो मुनि उनके पास ही बैठे हुए थे उन्होंने द्रुमषेण मुनिराजसे आदरके साथ पूछा कि यह छाया किसकी है ? उन्होंने उत्तर दिया कि जिसकी यह छाया है वह इससे तीसरे भवमें तुम दोनोंका पिता होगा ॥206-207॥

गुरु की बात सुनकर उसके दोनों होनहार पुत्र नन्दी के पास जाकर पूछने लगे कि 'हे भाई ! तुझे यह मरण का आग्रह क्यों हो रहा है ? यदि तू इस मरणसे भाग्य तथा सौभाग्य आदि चाहता है तो यह सब तुझे तपकी सिद्धिसे प्राप्त हो जावेगा' इस प्रकार समझा कर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया ॥208-209॥

वह नन्दी भी चिरकाल तक तपश्चरण कर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ; वहाँ सोलह सागर की आयु प्रमाण मनोवांछित सुख का उपभोग करता रहा । तदनन्तर वहाँ से च्युत होकर पृथिवीको वश करने के लिए वसुदेव हुआ है । बलभद्र और नारायणकी उत्पत्ति इसीसे होगी ॥ 210-211॥

महाराज अन्धकवृष्टि यह सब सुनकर संसार से भयभीत हो उठे । वे विद्याधन तो थे ही, अतः परमपद-मोक्षपद प्राप्त करने की इच्छा से उन्होंने अभिषेकपूर्वक समुद्रविजयके लिए राज्य दे दिया और स्वयं समस्त परिग्रह छोड़कर शान्तचित्त हो उन्हीं सुप्रतिष्ठित जिनेन्द्र के समीप बहुतसे राजाओं के साथ तप धारण कर लिया । संयम धारण कर अन्त में उन्होंने संन्यास धारण किया और कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥212-214॥

इधर समुद्रविजय पृथिवी का पालन करने लगे । उनके राज्यमें समस्त वर्णों और समस्त आश्रमोंके लोग, उत्तम धर्मके कार्योंमें इच्छानुसार सुखपूर्वक यथायोग्य प्रवृत्ति करते थे ॥215॥

राजा समुद्रविजय राज्य का यथायोग्य विभाग कर दिक्पालों के समान अपने आठों भाइयोंके साथ सर्व प्रकार का सुख देनेवाले राज्य का उपभोग करते थे ॥216॥

इस प्रकार पुण्योदय से उन सबका काल सुख से बीत रहा था । इन सबमें वसुदेव सबसे अधिक युवा थे इसलिए वे अपनी लीला दिखानेकी उत्कण्ठासे प्रतिदिन स्वेच्छानुसार गन्धवारण नामक हाथीपर सवार होकर नगर के बाहर जाते थे । उस समय चतुरंग सेना उनके साथ रहती थी, चमरोंके समूह उनके आस-पास दुराये जाते थे, बजते हुए समस्त बाजोंका ऐसा जोरदार शब्द होता था जिससे कि दिशाओं के किनारे फटेसे जाते थे, वन्दी, मागध तथा सूत आदि लोग उनकी विरूदावलीका वर्णन करते जाते थे, अनेक प्रकार के आभरणोंकी कान्ति के समूह से उनका शरीर देदीप्यमान रहता था जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानो अपने तेज से सूर्य का निग्रह करने के लिए ही उद्यत हो रहे हैं, अथवा भूषणांग जातिके कल्पवृक्षका तिरस्कार करने के लिए ही तैयारी कर रहे हों । उस समय वे देवों के कुमार के समान जान पड़ते थे इसलिए नगरकी स्त्रियाँ इन्हें देखकर अपना अपना कार्य भूल जाती थीं और अपनी मामी आदिके रोकनेमें निरादर हो जाती थीं-किसी के निषेध करने पर भी नहीं मानती थीं ॥217-222॥

इस तरह कुमार वसुदेव के निकलने से नगरनिवासी लोग दुःखी होने लगे इसलिए एक दिन उन्होंने यह समाचार महाराज समुद्रविजयके पास जाकर निवेदन किया ॥223॥

नगर-निवासियोंकी बात सुनकर भाईके स्नेहसे भरे हुए महाराज समुद्रविजयने विचार किया कि यदि इसे स्पष्ट ही मना किया जाता है तो संभव है यह विमुख हो जावेगा। इसलिए उन्होंने कुमार वसुदेव को एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'हे कुमार ! तुम्हारे शरीर की कान्ति आज बदली-सी मालूम होती है इसलिए तुम्हें ठण्डी हवा आदिमें यह व्यर्थका भ्रमण छोड़ देना चाहिए। यदि भ्रमणकी इच्छा ही है तो राजभवन के चारों ओर धारागृह, मनोहर-वन, राज-मन्दिर, तथा कृत्रिम पर्वत आदि पर जहाँ इच्छा हो मन्त्रियों, सामन्तों, प्रधान योद्धाओं अथवा महामन्त्रियोंके पुत्रों आदिके साथ भ्रमण करो।' महाराज वसुदेवकी बात सुनकर कुमार वसुदेव ऐसा ही करने लगे सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष आप्तजनों के वचनों को अमृत जैसा ग्रहण करते हैं ॥224-228॥

कुमार इस प्रकार राजमन्दिर के आसपास ही भ्रमण करने लगे। एक दिन जिसे बहुत बोलनेकी आदत थी और जो स्वेच्छानुसार आचरण करने में उत्सुक रहता था ऐसा निपुणमति नाम का सेवक कुमार वसुदेवसे कहने लगा कि इस उपायसे महाराजने आपको बाहर निकलनेसे रोका है। कुमार ने भी उस सेवकसे पूछा कि महाराजने ऐसा क्यों किया है ? उत्तरमें वह कहने लगा कि जब आप बाहर निकलते हैं तब आपका सुन्दर रूप देखने से नगरकी स्त्रियोंका चारित्र शिथिल हो जाता है, वे काम से आकुल हो जाती हैं, लज्जा छोड़ देती है, विपरीत चेष्टाएँ करने लगती हैं, कन्याएँ सधवाएँ और विधवाएँ सभी मदिरा पी हुईके समान हो जाती हैं, कितनी ही स्त्रियोंका सब शरीर पसीनासे तरबतर हो जाता है; कितनी ही स्त्रियों के नेत्र आधे खुले रह जाते हैं, कितनी ही स्त्रियाँ पहननेके वस्त्र छोड़ देती हैं, कितनी ही भोजन छोड़ देती हैं, कितनी ही गुरुजनोंका तिरस्कार कर बैठती हैं, कितनी ही रक्षकोंको ललकार देती हैं, कितनी ही अपने पतियोंकी उपेक्षा कर देती हैं, कितनी ही पुत्रोंकी परवाह नहीं करती हैं, कितनी ही पुत्रोंको बन्दर समझ कर दूर फेंक देती हैं, कितनी ही कम्बलको ही उत्तम वस्त्र समझकर पहिन लेती हैं, कितनी कीचड़को अंगराग समझकर शरीर पर लपेट लेती हैं और कितनी ही ललाटको नेत्र समझ कर उसी पर कज्जल लगा लेती हैं। अपनी-अपनी समस्त स्त्रियोंकी ऐसी विपरीत चेष्टा देख समस्त नगरनिवासी बड़े दुःखी हुए और उन्होंने शब्दों द्वारा महाराजसे इस बात का निवेदन किया। महाराजने भी इस उपायसे आपकी ऐसी व्यवस्था की है। निपुणमति सेवककी बात सुनकर उसकी परीक्षा करने के लिए कुमार वसुदेव ज्यों ही राजमन्दिरसे बाहर जाने लगे त्यों ही द्वारपालोंने यह कहते हुए मना कर दिया कि 'देव ! हम लोगों को आपके बड़े भाईकी ऐसी ही आज्ञा है कि कुमार को बाहर नहीं जाने दिया जावे।' द्वारपालोंकी उक्त बात सुनकर कुमार वसुदेव उस समय तो रूक गये परन्तु दूसरे ही दिन समुद्रविजय आदि से कुछ कहे बिना ही अपयशके भय से विद्या सिद्ध करने के बहाने अकेले ही श्मशानमें गये और वहाँ जाकर माताके नाम एक पत्र लिखा कि 'वसुदेव अकीर्तिके भय से महाज्वालाओं वाली अग्निमें गिरकर मर गया है।' यह पत्र लिखकर घोड़ेके गले में बाँध दिया, उसे वहीं छोड़ दिया और स्वयं जिसमें मुर्दा जल रहा था ऐसी अग्निकी प्रदक्षिणा देकर रात्रिमें ही शीघ्रता से किसी अलक्षित मार्ग से चले गये ॥229-243॥

तदनन्तर सूर्योदय होने पर जब उनके प्रधान प्रधान रक्षकों ने राजमन्दिरमें कुमार वसुदेव को नहीं देखा तो उन्होंने राजा समुद्रविजयको खबर दी और उनकी आज्ञानुसार अनेक लोगों के साथ उन्हें खोजने के लिए वे रक्षक लोग इधर-उधर घूमने लगे। कुछ समय बाद उन्होंने श्मशानमें जला हुआ मुर्दा और उसी के आस पास घूमता हुआ कुमार वसुदेवका घोड़ा देखा ॥244-245॥

घोड़ेके गले में जो पत्र बाँधा था उसे लेकर उन्होंने राजा समुद्रविजयके लिए सौंपा दिया। पत्रमें लिखा हुआ समाचार सुनकर समुद्रविजय आदि भाई तथा अन्य राजा लोग सभी शोक से अत्यन्त दुःखी हुए परन्तु निमित्तज्ञानीने जब कुमार वसुदेव के योग्य और क्षेमका वर्णन किया तो उसे जानकर सब शान्त हो गये ॥246-247॥

राजा समुद्रविजय ने उसी समय स्नेह वश, बहुतसे हितैषी तथा चतुर सेवकोंको कुमार वसुदेवकी खोज करने के लिए भेजा ॥248॥

इधर कुमार वसुदेव विजयपुर नामक गाँव में पहुँचे और विश्राम करने के लिए अशोक वृक्ष के नीचे बैठ गये। कुमार के बैठनेसे उस वृक्ष की छाया स्थिर हो गई थी उसे देख कर वागवान् ने सोचा कि उस निमित्तज्ञानीके वचन सत्य निकले। ऐसा विचार कर उसने मगधदेशके राजा को इसकी खबर दी और राजा ने भी अपनी श्यामला नाम की कन्या कुमार वसुदेव के लिए समर्पित की। कुमार ने कुछ दिन तक तो वहाँ विश्राम किया, तदनन्तर वहाँसे आगे चल दिया। अब वे देवदारु वन में पुष्परम्य नामक कमलोंके सरोवरके पास पहुँचे और वहाँ किसी जंगली हाथी के साथ क्रीड़ा कर बड़ी प्रसन्नतासे उसपर सवार हो गये ॥249-252॥

उसी समय किसी विद्याधर ने उनकी बड़ी प्रशंसा की और हाथीसे उठाकर उन पुण्यात्माको अकस्मात् ही विजयार्ध पर्वत पर पहुँचा दिया ॥ 253 ॥

वहाँ किन्नरगीत नाम के नगर में राजा अशनिवेग रहता था उसकी शाल्मलिदत्ता नाम की एक पुत्री थी जो कि पवनवेगा स्त्रीसे उत्पन्न हुई थी और दूसरी रतिके समान जान पड़ती थी । अशनिवेगने वह कन्या कुमार वसुदेव के लिए समर्पित कर दी । कुमार ने भी उसे विवाह कर उसके साथ स्मरणके भी अगोचर कामसुख का अनुभव किया और कुछ दिन तक वहीं विश्राम किया । तदनन्तर जब कुमार ने वहाँसे जानेकी इच्छा की तब अशनिवेगका दायद (उत्तराधिकारी) अंगारवेग उन्हें जानेके लिए उद्यत देख उठाकर आकाश में ले गया । इधर शाल्मलिदत्ताको जब पता चला तो उससे नंगी तलवार हाथमें लेकर उसका पीछा किया । शाल्मलिदत्ताके भय से अंगारवेग कुमार को छोड़कर भाग गया । कुमार नीचे गिरना ही चाहते थे कि उसकी प्रिया शाल्मलिदत्ताके द्वारा भेजी हुई पर्णलध्वी नाम की विद्याने उन्हें चम्पापुरके सरोवरके मध्य में वर्तमान द्वीप पर धीरे-धीरे उतार दिया। वहाँ आकर कुमार ने किनारे पर रहनेवाले लोगोंसे पूछा कि इस द्वीपसे बाहर निकलनेका मार्ग क्या है ? आप लोग मुझे बतलाइए । तब लोगोंने कुमारसे कहा कि क्या आप आकाश से पड़े हैं ? जिससे कि निकलनेका मार्ग नहीं जानते । कुमार ने उत्तर दिया कि आप लोगोंने ठीक जाना है सचमुच ही मैं आकाश से पड़ा हूँ । कुमारका उत्तर सुनकर सब लोग हँसने लगे और 'इस मार्ग के द्वारा आप जलसे बाहर निकल आइए' ऐसा कह कर उन्होंने मार्ग दिखा दिया । कुमार उसी मार्गसे निकल कर नगर में प्रवृष्ट हुए और मनोहर नामक गन्धर्वविद्याके गुरुके पास जा बैठे । गन्धर्वदत्ताको स्वयंवरमें जीतनेके लिए उनके पास बहुतसे शिष्य वीणा बजाना सीख रहे थे । उन्हें देख तथा अपने वीणाविषयक ज्ञान को छिपाकर कुमार मूर्खकी तरह बन गये और कहने लगे कि मैं भी इन लोगों के साथ वीणा बजाने का अभ्यास करता हूँ । ऐसा कह कर उन्होंने एक वीणा ले ली । पहले तो उसकी तन्त्री तोड़ डाली और फिर तूँबा फोड़ दिया । उनकी इस क्रियाको देख लोग अत्यधिक हँसने लगे और कहने लगे कि इसकी धृष्टताको तो देखो । कुमार वसुदेवसे भी उन्होंने कहा कि तुम ऐसे चतुर हो, जान पड़ता है कि गन्धर्वदत्ताके तुम्हीं पति होओगे और हम सबको गाने-बजानेकी कलामें हरा दोगे ॥254-266॥

इस प्रकार कुमार वसुदेव वहाँ कुछ समय तक स्थित रहे । तदनन्तर गन्धर्वदत्ताके स्वयंवरमें उत्सुक हुए भूमिगोचरी और विद्याधर लोग एकत्रित होने लगे ॥267॥

गाने बजाने की कलाका रूप धारण करनेवाली गन्धर्वदत्ताने स्वयंवर शालामें आये हुए बहुतसे लोगों को अपने गाने-बजानेके द्वारा तत्काल जीत लिया ॥268॥

वहाँ जो चारुदत्त आदि मुख्य मुख्य श्रोता बैठे थे वे सब उस गन्धर्वदत्ताकी प्रशंसा कर रहे थे और कह रहे थे कि उसका कला-कौशल बड़ा ही विलक्षण है-सबसे अद्भुत है ॥269॥

तदनन्तर वसुदेव भी अपने गुरु से पूछकर कन्याके पास गये और कहने लगे कि ऐसी वीणा लाओ जिसमें एक भी दोष नहीं हो ॥270॥ लोगोंने तीन चार वीणाएँ वसुदेव के हाथ में सौंप दीं । वसुदेव ने उन्हें देखकर हँसते हुए कहा कि इन वीणाओंकी ताँतमें लोमांस नाम का दोष है और तुम्बीफल तथा दण्डोंमें शल्क एवं पाषाण नाम का दोष है । उन्होंने यह कहा ही नहीं किन्तु प्रकट करके दिखला भी दिया। यह देख कन्याने कहा कि तो फिर आप कैसी वीणा चाहते हैं ? इसके उत्तरमें कुमार ने कहा कि मुझे जो वीणा इष्ट है उसका समागम इस प्रकार हुआ था । ऐसा कहकर उन्होंने निम्नांकित कथा सुनाई ॥271-273॥

हस्तिनापुर के राजा मेघरथ के पद्मावती रानी से विष्णु और पद्मरथ नाम के दो पुत्र हुए थे ॥274॥

कुछ समय बाद राजा मेघरथ तो विष्णुकुमार पुत्र के साथ तप करने लगे और पद्मरथ राज्य करने लगा । किसी अन्य समय समीपवर्ती किसी राजा ने राज्यमें क्षोभ उत्पन्न किया जिसे प्रधान मन्त्री वलिने साम आदि उपायों से शान्त कर दिया । राजा पद्मरथने वलिके कार्यसे सन्तुष्ट होकर कहा कि 'तुझे क्या इष्ट है ? तू क्या चाहता है ?' सो कह ! उत्तरमें वलिने कहा कि मैं सात दिन तक राज्य करना चाहता हूँ । राजा ने भी वलिकी इस माँगको जीर्णतृणके समान तुच्छ समझ उसे सात दिनका राज्य देना स्वीकृत कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो किये हुए उपकार को जानते हैं अर्थात् कृतज्ञ हैं वे उपकार करनेवालेके लिए क्या नहीं देते हैं ? ॥275-278॥

उसी समय अकम्पन गुरु आदि मुनियों के समूहने हस्तिनापुर आकर वहाँके सौम्य पर्वत पर आतापन योग धारण कर लिया । पहले जब वलि मन्त्री उज्जयिनी नगरी में रहता था तब उसे अकम्पन गुरुने शास्त्रार्थके समय विद्वानों की सभा में जीत लिया था इसलिए वह पापी क्रोधसे उनका घात करना चाहता था ॥279-280॥

पापी वलि मन्त्री ने यज्ञ का बहाना कर उस सौम्य पर्वत के चारों ओर याचकों को दान देने तथा देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए पाक

अर्थात् रसोई बनवाना शुरू किया जिससे धुआँ तथा ज्वालाओं का समूह चारों ओर फैलने लगा । जब मुनिराज विष्णुकुमार को इस उपसर्गका पता चला तो वे आकर राजा पद्मरथके पास गये और वीतराग आसन पर बैठ गये । राजा पद्मरथ ने उनकी वन्दना की, पूजा की तथा कहा कि मुझसे क्या कार्य है ? ॥281-283॥

मुनिराज विष्णुकुमार ने राजा पद्मरथ से कहा कि तुम्हारे मन्त्री ने आतप योग धारण करनेवाले मुनियों के लिए उपसर्ग कर रक्खा है उसे तुम शीघ्र ही दूर करो ॥284॥

उत्तर में राजा ने कहा कि मैं उसके लिए सात दिन का राज्य देना स्वीकृत कर चुका हूँ अतः सत्यव्रत के खण्डित होने के भय से मैं उसे नहीं रोक सकता । हे पूज्य ! इस दुष्ट का इस समय आप ही निवारण कीजिए । स्वच्छन्द रहनेवाले दुष्ट जन योग्य और अयोग्य चेष्टाओं को-अच्छे-बुरे कार्योंको नहीं जानते हैं ॥285-286॥

राजा पद्मरथ ने ऐसा उत्तर दिया, उसे सुनकर मुनिराजने कहा कि तो मैं ही शीघ्र नष्ट होनेवाले इस पापी को मना करता हूँ ॥287॥

इतना कहकर वे महामुनि वामन (बौने) ब्राह्मण का रूप रखकर वलिके पास पहुँचे और आशीर्वाद देते हुए बोले कि हे महाभाग ! आज तू दाताओंमें मुख्य है इसलिए मैं तेरे पास आया हूँ तू मुझे भी कुछ दे । उत्तरमें वलिने इष्ट वस्तु देना स्वीकृत कर लिया । तदनन्तर ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनि ने कहा कि हे राजन्, मैं अपने पैरसे तीन पैर पृथिवी चाहता हूँ यही तू मुझे दे दे । ब्राह्मणकी बात सुनकर वलिने कहा कि 'यह तो बहुत थोड़ा क्षेत्र है इतना ही क्यों माँगा ? ले लो', इतना कहकर उसने ब्राह्मणके हाथमें जलधारा छोड़कर तीन पैर पृथिवी दे दी । फिर क्या था ? मुनिराजने विक्रियाऋद्धिसे फैला कर एक पैर तो मानुषोत्तर पर्वत की ऊँची शिखर पर रक्खा और देदीप्यमान कान्तिका धारक दूसरा पैर सुमेरु पर्वत की चूलिका पर रक्खा ॥288-292॥

उस समय विद्याधर और भूमिगोचरी सभी स्तुति कर मुनिराजसे कहने लगे कि हे प्रभो ! अपने चरणोंको संकोच लीजिए, वृथा ही संसारका कारणभूत क्रोध नहीं कीजिए ॥293॥

इस प्रकार संगीत और वीणा आदि से मुखर हुए भूमिगोचरियों और विद्याधरों ने शीघ्र ही उन मुनिराजको प्रसन्न कर लिया और उन्होंने भी अपने दोनों चरण संकोच लिये ॥294॥

उस समय उनका लक्षण-सहित संगीत सुनकर देव लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अच्छे स्वर वाली घोषा, सुघोषा, महाघोषा और घोषपती नाम की चार वीणाएँ दीं । उन वीणाओं मेंसे देवों ने यथा-क्रम से दो वीणाएँ तो विद्याधरोंकी दी थीं और दो वीणाएँ भूमिगोचरियोंकी दी थीं ॥295-296॥

तदनन्तर उन मुनिराज ने वलि से कहा कि मुझ ब्राह्मण ने तुझसे व्यर्थ ही याचना की क्योंकि तीसरा चरण रखनेके लिए अवकाश ही नहीं है । यह कहकर बलवान् विष्णुकुमार मुनिराजने उस दुराचारी वलिको शीघ्र ही बाँध लिया और अकम्पन आदि मुनियों के उस दुःसह उपसर्गको दूर कर दिया ॥297-298॥

बाँधे हुए वलि को मारने के लिए राजा पद्मरथ उद्यत हुए परन्तु मुनिराजने उसे मना कर दिया और प्रसन्नचित्त होकर उन्होंने वलिको समीचीन धर्म ग्रहण कराया । इस प्रकार धर्म की प्रभावना करनेवाले बुद्धिमान् मुहामुनिकी राजा पद्मरथने पूजा की । तदनन्तर वे अपने स्थान पर चले गये ॥299-300॥

यह सब कथा कहने के बाद कुमार वसुदेव ने गन्धर्वदत्ता से कहा कि देवों के द्वारा दी हुई चार वीणाओंमें से घोषवती नाम की वीणा आपके इस वंश में समागमको प्राप्त हुई थी अतः आप वही शुभ वीणा मेरे लिए मँगाइए ॥301॥

इस प्रकार कहने वाले वसुदेव के लिए उन लोगों ने वही वीणा लाकर दी । वसुदेवने उसी वीणाके द्वारा गा बजाकर सब श्रोताओं का चित्त प्रसन्न कर दिया । गन्धर्वदत्ता वसुदेवकी वीणा बजानेमें बहुत भारी कुशलता देखकर प्रसन्न हुई और उसने अच्छे कण्ठवाले तथा समस्त राजाओं को कुण्ठित करनेवाले कुमार वसुदेव के गलेमें अपने आपकी तरह माला समर्पित कर दी सो ठीक ही है क्योंकि पूर्व पर्यायमें पुण्य करनेवाले लोगों को बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ स्वयं आकर मिल जाती है ॥302-304॥

इसके बाद सबने हर्षित होकर वसुदेव का कल्याणाभिषेक किया । इसी तरह विद्याधरोंकी श्रेणियों **अर्थ**ात् विजयार्थ पर्वत पर जाकर विद्याधर राजाओं के द्वारा कन्यादान आदिसे सम्मानित वसुदेवने सात सौ कन्याएँ प्राप्त कीं । तदनन्तर-परम अभ्युदयको धारण करनेवाले कुमार वसुदेव विजयार्थ पर्वत से लौटकर भूमि पर आ गये ॥305-306॥

वहाँ अरिष्टपुर नगर के राजा हिरण्यवर्मा के पद्मावती रानी से उत्पन्न हुई रोहिणी नाम की पुत्री थी जो सचमुच ही रोहिणी चन्द्रमाकी स्त्रीके समान जान पड़ती थी । उसके स्वयंवरके लिए अनेक कलाओं तथा गुणोंको धारण करनेवाले मुख्य शिक्षकोंके समान अनेक राजा लोग आये थे परन्तु वसुदेव 'हम सबके उपाध्याय हैं' लोगों को यह बतलानेके लिए ही मानो सबसे अलग बैठे थे । उस समय रोहिणीने उत्कण्ठासे कुण्ठित चित्त होकर अपनी भुजलताके समान रत्नों की माला से वसुदेव के कण्ठका आलिंगन किया था ॥307-309॥

यह देख, जिस प्रकार प्रलयकाल में समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर क्षुभित हो जाता है उसी प्रकार समुद्रविजय आदि सभी राजा मर्यादा छोड़कर क्षुभित हो उठे और जबर्दस्ती रोहिणीको हरनेका उद्यम करने लगे । यह देख, हिरण्यवर्मा भी अपने भाइयोंको साथ ले उन दुष्ट हृदय वाले राजाओंसे युद्ध करने के लिए तैयार हो गया ॥310-311॥

कुमार वसुदेव ने भी अपने नाम के अक्षरों से चिह्नित एक बाण शीघ्र ही समुद्रविजयकी ओर छोड़ा ॥312॥

वाण पर लगे हुए नामाक्षरों को बाँचकर समुद्रविजय आश्चर्य से चकित हो गये, वे कहने लगे-अहो पुण्योदय से मुझे वसुदेव मिल गया । उन्होंने सन्तुष्ट होकर शीघ्र ही संग्राम बन्द कर दिया और अपने अन्य छोटे भाइयोंको साथ लेकर वे कामदेव को जीतनेवाले लघु भाई वसुदेवसे मिलनेके लिए गये ॥313-314॥

हाथ जोड़े हुए कुमार वसुदेव ने महाराज समुद्रविजय को प्रणाम कर प्रसन्न किया । तदनन्तर अपने अन्य बड़े भाइयोंको भी प्रणामके द्वारा प्रसन्न बनाया ॥315॥

कुमार के द्वारा पहले विवाही हुई अपनी-अपनी पुत्रियों को भूमिगोचरी और विद्याधर राजा बड़े हर्ष से ले आये और उन्हें कुमार के साथ मिला दिया । समुद्रविजय आदि ने कुमार वसुदेव को साथ लेकर उत्सवों से भरे हुए अपने नगर में प्रवेश किया और वहाँ वे सब निरन्तर इच्छानुसार सुख भोगते हुए रहने लगे ॥316-317॥

इस प्रकार इन सबका समय अविनाशी तथा प्रशंसनीय भोगों के द्वारा सुख से व्यतीत हो रहा था । कुछ समय बाद जिनका वर्णन पहले आ चुका है ऐसे शंख नाम के मुनिराज का जीव महाशुक्र स्वर्ग से चय कर वसुदेव की रोहिणी नामक स्त्री के पद्म नाम का पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न हुआ । वह अपने भाइयों में आनन्द को बढ़ाता हुआ नौवाँ बलभद्र होगा ॥318-319॥

उसकी निर्मल बुद्धि सूर्य की प्रभा के समान प्रताप युक्त थी । जिस प्रकार शरद् ऋतु का संस्कार पाकर सूर्यकी प्रभा पद्म अर्थात् कमलोंके विकासको बढ़ाने लगती है उसी प्रकार उसकी बुद्धि शास्त्रोंका संस्कार पाकर पद्मा अर्थात् लक्ष्मी की उत्पत्तिको बढ़ाने लगी थी ॥ 320॥

उसका प्रताप दुर्वार था, दुष्टों को नष्ट करनेवाला था और विशिष्ट-पुरुषों का पालन करनेवाला था फिर भला वह सूर्य के सारभूत तेजका उल्लंघन क्यों नहीं करता ? ॥321॥

अब इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी कथा कही जाती है जो इस प्रकार है । जहाँ गंगा और गन्धावती नदियाँ मिलती हैं वहाँ बहुतसे फले फूले वृक्ष थे । उन्हीं वृक्षों के बीच में जठरकौशिक नाम की तपसियों की एक बस्ती थी । उस बस्तीका नायक वशिष्ठ तपसी था वह पंचाग्नि तप तपा करता था । एक दिन वहाँ गुणभद्र और वीरभद्र नाम के दो चारण मुनि आये । उन्होंने उसके तपको अज्ञान तप बताया । यह सुनकर वह दुर्बुद्धि तापस क्रोध करता हुआ उनके सामने खड़ा होकर पूछने लगा कि मेरा अज्ञान क्या है ? उन दोनों मुनियोंमें जो प्रथम थे ऐसे गुणभद्र मुनि कहने के लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुष हित का ही उपदेश देते हैं ॥322-325॥

उन्होंने जटाओं के समूह में उत्पन्न होनेवाली लीखों तथा जुओं के संघटन को; निरन्तर स्नान के समय लगकर जटाओं के भीतर मरी हुई छोटी-छोटी मछलियों को और जलते हुए इन्धन के भीतर रहकर छटपटाने वाले अनेक कीड़ों को दिखाकर समझाया कि देखो यह तुम्हारा अज्ञान है ॥326-327॥

काल-लब्धि का आश्रय मिलने से विशिष्ट बुद्धि का धारक वह वशिष्ठ तापस दीक्षा लेकर आतापन योग में स्थित हो गया और उपवास सहित तप करने लगा ॥328॥

उसके तप के प्रभाव से सात व्यन्तर देवियाँ आयी और आगे खड़ी होकर कहने लगीं; कि हे मुनिराज ! अपना इष्ट सन्देश कहिये, हमलोग करने के लिए तैयार हैं ॥329॥

उन्हें देखकर वशिष्ठ मुनि ने कहा कि मुझे आप लोगोंसे इस जन्म में कुछ प्रयोजन नहीं है अन्य जन्म में मेरे पास आना ॥330॥

इस प्रकार तप करते हुए वे अनुक्रम से मथुरापुरी आये वहाँ एक महीने के उपवास का नियम लेकर उन्होंने आतापन योग धारण किया ॥ 331 ॥

तदनन्तर दूसरे दिन मथुरा के राजा उग्रसेन ने बड़ी भक्ति से उन मुनि के दर्शन किये और नगर में घोषणा करा दी कि यह मुनिराज हमारे ही घर भिक्षा ग्रहण करेंगे, अन्यत्र नहीं। इस घोषणा से उन्होंने अन्य सब लोगों को आहार देने का निषेध कर दिया। अपनी पारणा के दिन मुनिराज ने भिक्षा के लिए नगरी में प्रवेश किया परन्तु उसी समय राजमन्दिर में अग्नि लग गई उसे देख मुनिराज निराहार ही लौटकर तपोवन में चले गये ॥332-334॥

मुनिराजने एक मास के उपवास का नियम फिर से ले लिया। तदनन्तर एक माह बीत जाने पर क्षीण शरीर के धारक मुनिराज ने जब आहार की इच्छा से पुनः नगरी में प्रवेश किया तब वहाँ पर हाथी का क्षोभ हो रहा था उसे देख वे शीघ्र ही नगरी से वापिस लौट गये और एक माह का फिर उपवास लेकर तप करने लगे। एक माह समाप्त होने पर जब वे फिर आहार के लिए राजमन्दिर की ओर गये तब महाराज जरासन्ध का भेजा हुआ पत्र सुनकर राजा उग्रसेन का चित्त व्याकुल हो रहा था अतः उसने मुनि की ओर ध्यान नहीं दिया ॥ 335-337॥

क्षीण शरीर के धारी वशिष्ठ मुनि जब वहाँसे लौट रहे थे तब उन्होंने लोगों को यह कहते हुए सुना कि 'राजा न तो स्वयं भिक्षा देता है और न दूसरोंको देने देता है। इसका क्या अभिप्राय है सो जान नहीं पड़ता।' लोगों का कहना सुनकर पाप कर्म से उदय से मुनिराज को क्रोध आ गया जिससे उनकी बुद्धि जाती रही। उसी समय उन्होंने निदान किया कि 'मैंने जो उग्र तप किया है उसके फलसे मैं पुत्र होकर इस राजाका निग्रह करूँ तथा इसका राज छीन लूँ ॥338-340॥

इस प्रकार के खोटे परिणामों से मुनिराज की मृत्यु हो गई और वे तीव्र वैरके कारण राजा उग्रसेन की पद्मावती रानी के गर्भ में जा उत्पन्न हुए ॥341॥

उस रानी पद्मावती को भी गर्भ के बालक की क्रूरतावश राजा के हृदय का मांस खाने की इच्छा हुई और उससे वह दुःखी होने लगी। यह जानकर मन्त्रियों ने अपनी बुद्धि से कोई बनावटी चीज देकर कहा कि 'यह तुम्हारे पति के हृदय का मांस है' इस प्रकार उसका दोहला पूरा किया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य क्या नहीं करते हैं ? ॥342-343॥

जिसका दोहला पूरा हो गया है ऐसी रानी पद्मावती ने अनुक्रम से वह पापी पुत्र प्राप्त किया, जिस समय वह उत्पन्न हुआ था उस समय अपने ओठ डस रहा था, उसकी दृष्टि क्रूर थी और भौंह टेढ़ी ॥344॥

माता-पिता ने उसे देखकर विचार किया कि इसका यहाँ पोषण करना योग्य नहीं है यही समझ कर उन्होंने उसे छोड़ने की विधि का विचार किया और कांसोकी एक सन्दूक बनवा कर उसमें उस पुत्र को पत्र सहित रख दिया तथा यमुना नदी के प्रवाह में छोड़ दिया ॥345-346॥ कौशाम्बी नाम की नगरी में एक मण्डोदरी नाम की कलारन रहती थी उसने प्रवाह में बहती हुई सन्दूक के भीतर स्थित उस बालक को देखा। देखते ही वह उसे उठा लाई और हितैषिणी बन अपने पुत्र के समान उसका पालन करने लगी। सो ठीक ही है क्योंकि तपस्वियों के हीन पुण्य भी क्या नहीं करते ? ॥347-348॥

कितने ही दिनों में वह सुदृढ़ अवस्था पाकर साथ खेलनेवाले समस्त बालकों को चाँटा, मुट्ठी तथा डण्डा आदि से पीड़ा पहुँचाने लगा। उसके इस दुराचार से खिन्न होकर मण्डोदरी ने उसे छोड़ दिया-घर से निकाल दिया ॥349-350॥

अब वह शौर्यपुर में जाकर राजा वसुदेव का सेवक बन गया और सदा उनकी सेवा में तत्पर रहने लगा ॥351॥

अब इसी से सम्बन्ध रखनेवाली एक अन्य कथा कहते हैं और वह इस प्रकार है-यद्यपि राजा जरासन्धने सब राजाओं को जीत लिया था तो भी किसी समय उसका कुछ कार्य बाकी रह गया था। उसकी पूर्तिके लिए जरासन्धने सब राजाओं के पास इस आशयके पत्र भेजे कि जो राजा सुरम्य देशके मध्य में स्थित पोदनपुरके स्वामी हमारे शत्रु सिंहस्थको युद्धमें अपने बलसे जीतकर तथा बाँधकर हमारे पास लावेगा उसे मैं आधा देश तथा कलिन्दसेना रानीसे उत्पन्न हुई जीवद्यशा नाम की अपनी पतिव्रता पुत्री दूंगा। प्रतापी राजा वसुदेवने जब यह पत्र पाया तो उन्होंने सिंहका मूत्र मँगाकर घोड़ेके शरीर पर लगवाया, उन्हें रथ में जोता और तदनन्तर ऐसे रथ पर आरूढ़ होकर चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने संग्राममें उस भारी राजा सिंहस्थको जीत लिया और अपने सेवक कंसके द्वारा उसे बाँधवा कर स्वयं राजा जरासन्ध को सौंप दिया। राजा जरासन्ध भी सन्तुष्ट होकर वसुदेव के लिए आधे देश के साथ अपनी पूर्व प्रतिज्ञात पुत्री देने लगा। उस समय वसुदेव ने

देखा कि उस पुत्री के लक्षण अच्छे नहीं हैं अतः कह दिया कि सिंहस्थको मैंने नहीं बाँधा है यह कार्य इस कंस ने किया है इसलिए इसी आज्ञाकारी के लिए यह कन्या दी जावे । वसुदेव के वचन सुनकर राजा जरासन्धने कंस का कुल जानने के लिए मण्डोदरी के पास अपना दूत भेजा ॥352-360॥

दूतको देखकर मण्डोदरी डर गई और सोचने लगी कि क्या मेरे पुत्रने वहाँ भी अपराध किया है ? इसी भय से वह सन्दूक साथ लेकर स्वयं राजा जरासन्धके पास गई । वहाँ जाकर उसने 'यह सन्दूक ही इसकी माता है' यह कहते हुए पहले वह कांस की सन्दूक राजा के आगे जमीन पर रख दी । तदनन्तर नमस्कार कर कहने लगी कि 'यह बालक कांसकी सन्दूक में रखा हुआ यमुनाके जलमें बहा आ रहा था मैंने लेकर इसका पालन मात्र किया है ॥361-363॥

चूँकि यह कांसकी सन्दूक में आया था इसलिए गाँवके लोगोंने इसे कंस नाम से पुकारना शुरू कर दिया । यह स्वस्वभावसे ही अपनी शूर-वीरताका घमण्ड रखता है और बचपन से ही स्वच्छन्द प्रकृति का है' ॥364॥

मण्डोदरी के ऐसे वचन सुनकर राजा जरासन्धने सन्दूक के भीतर रखा हुआ पत्र लेकर बचवाया । उसमें लिखा था कि यह राजा उग्रसेन और रानी पद्मावतीका पुत्र है । यह जानकर सन्तुष्ट हुए राजा जरासन्धने कंसके लिए जीवद्यशा पुत्री तथा आधा राज्य दे दिया ॥ 365-366॥

जब कंसने यह सुना कि उत्पन्न होते ही मुझे मेरे माता-पिताने नदीमें छोड़ दिया था तब वह बहुत ही कुपित हुआ, उसका पूर्व पर्यायका वैर वृद्धिगत हो गया । उसी समय उसने मथुरापुरी जाकर माता-पिताको कैद कर लिया और दोनोंको गोपुर-नगर के प्रथम दरवाजेके ऊपर रख दिया सो ठीक ही है क्योंकि विचार रहित पापी मनुष्य कुपित होकर क्या क्या नहीं करते हैं ? ॥367-368॥

तदनन्तर कंस राजा वसुदेव को अपने नगर में ले आया और उन्हें उसने बड़ी विभूतिके साथ राजा देवसेनकी पुत्री तथा अपनी छोटी बहिन देवकी समर्पित कर दी । इस प्रकार कंसका समय सुख से व्यतीत होने लगा । किसी दूसरे दिन अतिमुक्त मुनि भिक्षाके लिए राजभवन में आये । उन्हें देख हँसीसे जीवद्यशा बड़े हर्ष से कहने लगी कि 'हे मुने ! यह देवकी का ऋतुकाल का वस्त्र है, यह आपकी छोटी बहिन इस वस्त्रके द्वारा अपनी चेष्टा आपके लिए दिखला रही है' । जीवद्यशाके उक्त वचन सुनकर मुनिका क्रोध भड़क उठा । वे वचनगुप्तिको भंग करते हुए बोले कि इस देवकीका जो पुत्र होगा वह तेरे पतिको अवश्य ही मारेगा । यह सुनकर जीवद्यशाको भी क्रोध आ गया और उसने उस वस्त्रके दो टुकड़े कर दिये । तब मुनि ने कहा कि वह न केवल तेरे पतिको मारेगा किन्तु तेरे पिताको भी मारेगा । यह सुनकर तो उसके क्रोधका पार ही नहीं रहा । अबकी बार उसने उस वस्त्रको पैरोंसे कुचल दिया । यह देख मुनि ने कहा कि देवकीका पुत्र स्त्रीकी तरह समुद्रान्त पृथिवी रूपी स्त्री का पालन करेगा ॥369-375॥

जीवद्यशा इन सुनी हुई बातों का विचार कर कंस के पास गई और उसे परस्पर में सब समझा आई ॥376॥

'मुनि जो बात हँसी में भी कह देते हैं वह सत्य निकलती है' यह विचार कर कंस डर गया और राजा वसुदेव के पास जाकर बड़े स्नेह से याचना करने लगा कि आपकी आज्ञा से प्रसूतिके समय देवकी हमारे ही घर आकर प्रसूतिकी पूरी विधि करे ॥377॥

कंसके अनुरोधसे वसुदेवने भी 'ऐसा ही होगा' यह कहकर उसकी बात मान ली सो ठीक ही है क्योंकि अवश्यम्भावी कार्योंमें मुनिराज भी भूल कर जाते हैं ॥378-379॥

किसी दिन वही अतिमुक्त मुनि भिक्षाके लिए देवकीके घर प्रविष्ट हुए तो देवकीने खड़े होकर यथोक्त विधिसे उनका पडिगाहन किया । आहार देनेके बाद देवकी और वसुदेवने उनसे पूछा कि क्या कभी हम दोनों भी दीक्षा ले सकेंगे ? मुनिराजने उनका अभिप्राय जानकर कहा कि इस तरह छलसे क्यों पूछते हो ? आप दोनों सात पुत्र प्राप्त करेंगे, उनमेंसे छह पुत्र तो अन्य स्थान में बढ़कर निर्वाण प्राप्त करेंगे और सातवाँ पुत्र चक्रवर्ती होकर अपने छत्रकी छायासे चिरकाल तक समस्त पृथिवी का पालन करेगा ॥380-383॥

यह सुनकर देवकी बहुत हर्षित हुई । तदनन्तर उसने तीन बारमें दो-दो युगल पुत्र प्राप्त किये । इन्द्रको मालूम हुआ कि ये सब पुत्र चरमशरीरी हैं अतः उसने देवकी के गूढ़ कार्यको जाननेवाले नैगमर्ष नाम के देव को प्रेरणा की । इन्द्रके द्वारा प्रेरित हुआ नैगमर्ष देव देवकीके इन पुत्रोंको ले जाकर भद्रिलपुर नगर में अलका नाम की वैश्य पुत्रीके आगे डाल आता था और उसके तत्काल उत्पन्न होकर मरे हुए तीन युगल पुत्रोंको देवकीके सामने डाल देता था ॥384-386॥

कंसने उन मरे हुए पुत्रोंको देखकर विचार किया कि इन निर्जीव पुत्रोंसे मेरी क्या हानि हो सकती है ? मुनि असत्यवादी भी तो हो सकते हैं

। उसने ऐसा विचार किया सही परन्तु उसकी शंका नहीं गई इसलिए वह उन मृत पुत्रोंको शिलाके ऊपर पछाड़ता रहा । इसके बाद निर्नामक मुनिका जीव महाशुक्र स्वर्गसे च्युत होकर देवकी के गर्भ में आया । अबकी बार उसने अपने ही घर सातवें महीने में ही पुत्र उत्पन्न किया । नीतिविद्यामें निपुण वसुदेव और बलभद्र पद्मने विचार किया कि कंसको बिना जताये ही इस पुत्रका नन्दगोपके घर सुख से पालन-पोषण करावेंगे । पिता और भाईने अपने विचार देवकीको भी बतला दिये । बलभद्र ने उस बालक को उठा लिया और पिताने उस पर छत्र लगा लिया उस समय घोर अन्धकार था अतः पुत्र के पुण्य से नगरका देवता विक्रिया वश एक बैलका रूप बनाकर उनके आगे हो गया । उस बैलके दोनों पैने सींगों पर देदीप्यमान मणियोंके दीपक रखे हुए थे उनसे समस्त अन्धकार दूर होता जाता था ॥387-392॥

गोपुरके किवाड़ बन्द थे पुत्र के चरणों का स्पर्श होते ही खुल गये । यह देख बन्धनमें पड़े हुए उग्रसेनने बड़े क्षोभके साथ कहा कि इस समय किवाड़ कौन खोल रहा है ? यह सुनकर बलभद्रने कहा कि आप चुप बैठिये यह बालक शीघ्र ही आपको बन्धनसे मुक्त करेगा । मथुराके राजा उग्रसेनने सन्तुष्ट होकर 'ऐसा ही हो' कहकर आशीर्वाद दिया । बलभद्र और वसुदेव वहाँसे निकल कर रात्रिमें ही यमुना नदी के किनारे पहुँचे । होनहार चक्रवर्ती के प्रभाव से यमुनाने भी दो भागोंमें विभक्त होकर उन्हें मार्ग दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन आर्द्रात्मा (जल स्वरूप पक्षमें दयालु) होगा जो अपने समान वर्णवालेसे आश्रित होता हुआ भाईचारेको प्राप्त नहीं हो ॥393-397॥

इधर बड़े आश्चर्य से यमुनाको पार कर बलभद्र और वसुदेव नन्दगोपालके पास जा रहे थे इधर वह भी एक बालिकाको लेकर आ रहा था । बलदेव और वसुदेवने उसे देखते ही पूछा कि हे भद्र ! रात्रिके समय अकेले ही तुम्हारा आना क्यों हो रहा है ? इस प्रकार पूछे जाने पर नन्दगोपने प्रणाम कर कहा कि 'आपकी सेवा करनेवाली मेरी स्त्रीने पुत्र-प्राप्तिके लिए श्रद्धाके साथ किन्हीं भूत देवताओं की गन्ध आदिसे पूजाकर उनसे आशीर्वाद चाहा था । आज रात्रिको उसने यह कन्या रूप सन्तान पाई है । कन्या देखकर वह शोक करती हुई मुझसे कहने लगी कि ले जाओ यह कन्या उन्हीं भूत देवताओं को दे आओ-मुझे नहीं चाहिए । सो हे नाथ ! मैं यह कन्या उन्हीं भूत देवताओं को देनेके लिए जा रहा हूँ' । उसकी बात सुनकर बलदेव और वसुदेवने कहा कि 'हमारा मनोरथ सिद्ध हो गया' ॥398-402॥

इस प्रकार सन्तुष्ट होकर उन्होंने नन्द गोपके लिए सब समाचार सुना दिये, उसकी लड़की ले ली और अपना पुत्र उसे दे दिया । साथ ही यह भी कह दिया कि तुम इसे होनहार चक्रवर्ती समझो । यह सब काम कर वे दोनों किसी दूसरेको मालूम हुए बिना ही गुप्त रूप से नगर में वापिस आ गये ॥403-404॥

इधर नन्दगोप भी वह बालक लेकर घर आया और 'लो, प्रसन्न होकर उन देवताओंने तुम्हारे लिए यह महापुण्यवान् पुत्र दिया है' यह कहकर अपनी प्रियाके लिए उसने वह होनहार चक्रवर्ती सौंप दिया । यहाँ, कंसने जब सुना कि देवकीने कन्या पैदा की है तो वह सुनते ही उसके घर गया और जाते ही उसने पहले तो कन्याकी नाक चपटी कर दी और तदनन्तर उसे घायके द्वारा एक तलघटमें रखकर बड़े प्रयत्नसे बढ़ाया ॥405-407॥

बड़ी होने पर उसने अपनी विकृत आकृति को देखकर शोक से सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली और विन्ध्याचल पर्वत पर रहने लगी ॥408॥

एक दिन वन में रहनेवाले भील लोग उसे देवता समझ उसकी पूजा करके कहीं गये थे कि इतनेमें व्याघ्रने उसे शीघ्र ही खा लिया । वह मरकर स्वर्ग चली गई । दूसरे दिन जब भील लोग वापिस आये तो उन्हें वहाँ उसकी सिर्फ तीन अंगुलियाँ दिखीं । वहाँके रहनेवाले मूर्ख लोगोंने उन अँगुलियोंकी दूध तथा अंगराग आदि से पूजा की । उसी समय से 'यह आर्या ही विन्ध्यवासिनी देवी है' ऐसा समझ कर लोग उसकी मान्यता करने लगे ॥409-411॥

अथानन्तर-अकस्मात् ही मथुरा नगरी में बड़े भारी उत्पाद बढ़ने लगे । उन्हें देख, कंसने शीघ्र ही वरूण नाम के निमित्तज्ञानीसे पूछा कि सच बतलाओ इन उत्पातोंका फल क्या है ? निमित्तज्ञानीने उत्तर दिया कि आपका बड़ा भारी शत्रु उत्पन्न हो चुका है ॥412-413॥

निमित्तज्ञानीकी बात सुनकर राजा कंस चिन्ता में पड़ गया । उसी समय उसके पूर्व भवमें सिद्ध हुए सात व्यन्तर देवता आकर कहने लगे कि हम लोगों को क्या कार्य सौंपा जाता है ॥414॥

कंसने कहा कि 'कहीं हमारा शत्रु उत्पन्न हुआ है उस पापीको तुम लोग खोज कर मार डालो' । ऐसा कहकर उसने उन सातों देवताओं को भेज दिया और वे देवता भी 'तथावस्तु' कहकर चल पड़े ॥415॥

उन देवताओं में से पूतना नाम की देवताने अपने विभंगावधि ज्ञान से कृष्ण को जान लिया और उसकी माताका रूप रखकर मारनेके लिए

उसके पास गई ॥416॥

वह पूतना अत्यंत दुष्ट थी और विष भरे स्तन का दूध पिलाकर कृष्ण को मारना चाहती थी। इधर पूतना कृष्णके मारनेका विचार कर रही थी उधर कोई दूसरी देवी जो बालक कृष्णकी रक्षा करने में सदा तत्पर रहती थी पूतनाकी दुष्टताको समझ गई। पूतना जिस समय कृष्णको दूध पिलानेके लिए तैयार हुई उसी समय उस दूसरी देवीने पूतनाके स्तनोंमें बहुत भारी पीड़ा उत्पन्न कर दी। पूतना उस पीड़ाको सहनेमें असमर्थ हो गई और चिल्ला कर भाग गई ॥417-418॥

तदनन्तर किसी दिन कोई देवी, गाड़ीका रूप रखकर बालक श्रीकृष्णके ऊपर दौड़ती हुई आई, उसे श्रीकृष्णने दोनों पैरोंसे तोड़ डाला ॥ 419॥

किसी एक दिन नन्दगोपकी स्त्री बालक श्रीकृष्णको एक बड़ी उलूखलसे बाँध कर पानी लेने के लिए गई थी परन्तु श्रीकृष्ण उस उलूखलको अपनी कमरसे घटीसता हुआ उसके पीछे चला गया ॥420॥

उसी समय दो देवियाँ अर्जुन वृक्षका रूप रखकर बालक श्रीकृष्णको पीड़ा पहुँचाने के लिए उनके पास आई परन्तु उसने उन दोनों वृक्षोंको जड़से उखाड़ डाला ॥421॥

किसी दिन कोई एक देवी ताड़का वृक्ष बन गई। बालक श्रीकृष्ण चलते-चलते जब उसके नीचे पहुँचा तो दूसरी देवी उसके मस्तक पर फल गिरानेकी तैयारी करने लगी और कोई एक देवी गधीका रूप रखकर उसे काटनेके लिए उद्यत हुई। श्रीकृष्णने उस गधीके पैर पकड़ कर उसे ताड़ वृक्ष से दे मारा जिससे वे तीनों ही देवियाँ नष्ट हो गई ॥422-423॥

किसी दूसरे दिन कोई देवी घोड़ेका रूप बनाकर कृष्णको मारनेके लिए चली परन्तु कृष्णने क्रोधवश उसका मुँह ही तोड़ दिया। इस प्रकार सातों देवियाँ कंसके समीप जाकर बोलीं कि 'हमलोग आपके शत्रु को मारनेमें असमर्थ हैं' इतना कहकर वे बिजली के समान विलीन हो गई ॥424-425॥

अन्य लोगों पर अपना कार्य दिखानेवाले शस्त्र जिस प्रकार इन्द्रके वज्रायुध पर निःसार हो जाते हैं उसी प्रकार अन्यत्र अपना काम दिखानेवाली देवोंकी शक्तियाँ भी पुण्यात्मा पुरुषके विषय में निःसार हो जाती हैं ॥426॥

किसी एक दिन अरिष्ट नाम का असुर श्रीकृष्ण का बल देखने के लिए काले बैल का रूप रखकर आया परन्तु श्रीकृष्ण उसकी गर्दन ही तोड़ने के लिए तैयार हो गया। अन्त में माता ने उसे ललकार कर और हे पुत्र ! दूसरे प्राणियों को क्लेश पहुँचानेवाली इन व्यर्थ की चेष्टाओं से दूर रह' इत्यादि कहकर उसे रोका ॥427-428॥

यद्यपि माता यशोदा उसे इन कार्यों से बार-बार रोकती थी पर तो भी मद से उद्धत हुआ बालक कृष्ण इन कार्यों को करने लगता था सो ठीक ही है क्योंकि महाप्रतापी पुरुष साहस के कार्य में रोके नहीं जा सकते ॥429॥

देवकी और वसुदेव ने लोगों के कहने से श्रीकृष्ण के पराक्रम की बात सुनी तो वे उसे देखने के लिए उत्सुक हो उठे। निदान एक दिन वे गोमुखी नामक उपवास के बहाने बलभद्र तथा अन्य परिवार के लोगों के साथ वैभव प्रदर्शन करते हुए व्रज के गोधा वन में गये ॥

430-431॥

जब ये सब वहाँ पहुँचे थे तब महाबलवान् कृष्ण किसी अभिमानी बैल की गर्दन झुकाकर उससे लटक रहे थे। देवकी तथा बलदेव ने उसी समय कृष्ण को देखकर गन्ध माला आदि से उसका सम्मान किया और स्नेह से आभूषण पहिनाये। देवकी ने उसकी प्रदक्षिणा दी। प्रदक्षिणा के समय देवकी के सुवर्ण कलशके समान दोनों स्तनों से दूध झरकर कृष्णके मस्तक पर इस प्रकार पड़ने लगा मानो उसका अभिषेक ही कर रही हो। बुद्धिमान् बलदेव ने जब यह देखा तब उन्होंने मन्त्रभेद के भय से शीघ्र ही 'यह उपवास से थककर मूर्च्छित हो रही है' यह कहते हुए दूध से भरे कलशों से उसका खूब अभिषेक कर दिया। तदनन्तर देवकी तथा वसुदेव आदि ने व्रजके अन्य अन्य प्रधान लोगों का भी उनके योग्य पूजा-सत्कार किया, हर्षित होकर गोपाल बालकों के साथ श्रीकृष्ण को भोजन कराया, स्वयं भी भोजन किया और तदनन्तर लौटकर मथुरापुरी में वापिस आ गये ॥432-437॥

किसी एक दिन व्रज में बहुत वर्षा हुई तब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन नाम का पर्वत उठाकर उसके नीचे गायों की रक्षा की थी ॥438॥

इस काम से चाँदनी के समान उनकी कीर्ति समस्त संसार में फैल गई और वह शत्रुओं के मुखरूपी कमलसमूह को संकुचित करने लगी ॥ 439॥

तदनन्तर जो जैन-मन्दिर मथुरापुरी की स्थापना का कारण भूत था उसके समीप ही पूर्व दिशाके दिक्पाल के मन्दिर में श्रीकृष्ण के पुण्य की अधिकता से नागशय्या, धनुष और शंख ये तीन रत्न उत्पन्न हुए । देवता उनकी रक्षा करते थे और वे श्रीकृष्ण की होनहार लक्ष्मी को सूचित करते थे ॥440-441॥

मथुरा का राजा कंस उन्हें देखकर डर गया और वरूण नामक निमित्तज्ञानी से पूछने लगा कि इनकी उत्पत्ति का फल क्या है ? सो कहो ॥ 442॥

वरूण ने कहा कि हे राजन् ! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधि से इन्हें सिद्ध कर लेगा वह चक्ररत्न से सुरक्षित राज्य प्राप्त करेगा ॥443॥

कंस ने वरूण के वचन सुनकर उन तीनों रत्नों को स्वयं सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असमर्थ रहा और बहुत भारी खिन्न होकर उनके सिद्ध करने के प्रयत्नसे विरत हो गया-पीछे हट गया ॥444॥

ऐसा कौन बलवान् है जो इस कार्य को सिद्ध कर सकेगा इसकी जाँच करने के लिए भयभीत कंसने नगर में यह घोषणा करा दी कि जो भी नागशय्या पर चढ़कर एक हाथ से शंख बजावेगा और दूसरे हाथ से धनुष को अनायास ही चढ़ा देगा उसे राजा अपनी पुत्री देगा ॥

445-446॥

यह घोषणा सुनते ही अनेक राजा लोग मथुरापुरी आने लगे । राजगृहसे कंस का साला स्वर्भानु जो कि सूर्य के समान तेजस्वी था अपने भानु नाम के पुत्रको साथ लेकर बड़े वैभव से आ रहा था । वह मार्ग में गोधावन के उस सरोवर के किनारे जिसमें कि बड़े-बड़े सर्पों का निवास था ठहरना चाहता था परन्तु जब उसे गोपाल बालकों के कहनेसे मालूम हुआ कि इस सरोवर से कृष्ण के सिवाय किन्हीं अन्य लोगों से द्वारा पानी लिया जाना शक्य नहीं है तब उसने कृष्ण को बुलाकर अपने पास रख लिया और सेना को यथास्थान ठहरा दिया ॥

447-450॥

अवसर पाकर कृष्ण ने राजा स्वर्भानु से पूछा कि हे राजन् ! आप कहाँ जा रहे हैं ? तब उसने मथुरा जानेका सब प्रयोजन कृष्णको बतला दिया । यह सुनकर कृष्ण ने फिर पूछा-क्या यह कार्य हमारे जैसे लोग भी कर सकते हैं ? कृष्ण का प्रश्न सुनकर स्वर्भानुने सोचा कि यह केवल बालक ही नहीं है इसका पुण्य भी अधिक मालूम होता है । ऐसा विचार कर उसने कृष्ण को उत्तर दिया कि यदि तू यह कार्य करने में समर्थ है तो हमारे साथ चल । इतना कह कर स्वर्भानु ने कृष्ण को अपने पुत्र के समान साथ ले लिया । मथुरा जाकर उन्होंने कंस के यथायोग्य दर्शन किये और तदनन्तर उन समस्त लोगों को भी देखा कि नागशय्या आदि को वश करने का प्रयत्न कर रहे थे परन्तु सफलता नहीं मिलने से जिनका मान भंग हो गया था । श्रीकृष्ण ने भानुको अपने समीप ही खड़ा कर उक्त तीनों कार्य समाप्त कर दिये और उसके बाद स्वर्भानु का संकेत पाकर शीघ्र ही वह कुशलता पूर्वक व्रजमें वापिस आ गया ॥451-455॥

'यह कार्य भानु ने ही किया है' ऐसा कुछ पहरेदारों ने कंस को बतलाया और कुछ ने यह बतलाया कि यह कार्य भानु ने नहीं किन्तु किसी दूसरे कुमार ने किया है ॥456॥

यह सुन कर राजा कंस ने कहा कि यदि ऐसा है तो उस अन्य कुमार की खोज की जावे, वह किसका लडका है ? उसका क्या कुल है ? और कहाँ रहता है ? उसके लिए कन्या दी जावेगी ॥457॥

इधर नन्दगोप को जब अच्छी तरह निश्चय हो गया कि यह कार्य हमारे ही पुत्र के द्वारा हुआ है तब वह डर कर अपनी गायोंके साथ कहीं भाग गया ॥458॥

किसी एक दिन वहाँ पत्थर का खंभा उखाड़ने के लिए बहुत से लोग गये परन्तु सब मिल कर भी उस खंभा को नहीं उखाड़ सके और श्रीकृष्ण ने अकेले ही उखाड़ दिया ॥459॥

लोग इस कार्य से बहुत प्रसन्न हुए और श्रीकृष्णके इस साहस से आश्चर्यमें पड़ गये । अनन्तर सब लोगोंने श्रेष्ठ वस्त्र तथा आभूषण आदि देकर उनकी पूजा की ॥460॥

यह देख नन्दगोपने विचार किया कि मुझे इस पुत्र के प्रभाव से किसीसे भय नहीं हो सकता । ऐसा विचार कर वह अपने पहलेके ही स्थान पर वज्रमें वापिस आ गया ॥461॥

खोज करने के लिए गये हुए लोगों ने यद्यपि कंस को यह अच्छी तरह बतला दिया था कि जिसने उक्त तीन कार्य किये थे वह नन्दगोप का पुत्र है तथापि उसे निश्चय नहीं हो सका इसलिए उसने शत्रु की जाँच करने की इच्छा से दूसरे दिन नन्दगोप के पास यह खबर भेजी थी कि

नाग राजा जिसकी रक्षा करते हैं वह सहस्रदल कमल भेजो । राजा की आज्ञा सुनकर नन्दगोप शोक से आकुल होकर कहने लगा कि राजा लोग प्रजा की रक्षा करनेवाले होते हैं परन्तु खेद है कि वे अब मारनेवाले हो गये ॥462-464॥

इस तरह खिन्न होकर उसने कृष्ण से कहा कि हे प्रिय पुत्र ! मेरे लिए राजा की ऐसी आज्ञा है अतः जा, भयंकर सर्प जिनकी रक्षा करते हैं ऐसे कमल राजा के लिए तू ही ला सकता है । पिता की बात सुनकर कृष्ण ने कहा कि 'इसमें कठिन क्या है ? मैं ले आऊँगा' ऐसा कह कर वह शीघ्र ही महासर्पों से युक्त सरोवर की ओर चल पड़ा ॥465-466॥

और बिना किसी शंका के उस सरोवरमें घुस गया । यह जान कर यमराज के समान आकारवाला नागराज उठ कर उसे निगलने के लिए तैयार हो गया । उस समय वह नागराज क्रोध से दीपित हो रहा था, अपनी श्वासों से उत्पन्न हुई देदीप्यमान अग्नि की ज्वालाओं के कण विखेर रहा था, चूड़ामणि की प्रभा से देदीप्यमान फणा के आटोप से भयंकर था, उसकी दोनों जिह्वाएँ लप-लप कर रही थीं और चमकीले नेत्रों से उसका देखना बड़ा भयंकर जान पड़ता था, श्रीकृष्ण ने भी विचार किया कि इसकी यह फणा हमारा वस्त्र धोने के लिए शुद्ध शिला रूप हो । ऐसा विचार कर वे जल से भीगा हुआ अपना पीताम्बर उसकी फणा पर इस प्रकार पछाड़ने लगे कि जिस प्रकार गरूड़ पक्षी अपना पंखा पछाड़ता है । वज्रपात के समान भारी दुःख देनेवाली उनके वस्त्रकी पछाड़ से वह नागराज भयभीत हो गया और उनके पूर्व पुण्य के उदय से अदृश्य हो गया ॥467-471॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने इच्छानुसार कमल तोड़ कर शत्रु के पास पहुँचा दिये उन्हें देखकर शत्रुने ऐसा समझा मानों मैंने शत्रु को ही देख लिया हो ॥472॥

इस घटना से राजा कंस को निश्चय होगया कि हमारा शत्रु नन्दगोप के पास रहता है । एक दिन उसने नन्द गोपालको संदेश भेजा कि तुम अपने मल्लोंके साथ मल्लयुद्ध देखने के लिए आओ । संदेश सुनकर नन्द गोप भी श्रीकृष्ण आदि मल्लोंके साथ मथुरामें प्रविष्ट हुए ॥ 473-474॥

नगर में घुसते ही श्रीकृष्ण की ओर एक मत्त हाथी दौड़ा । उस हाथीने अपना बन्धन तोड़ दिया था, वह यमराज के समान जान पड़ता था, मदकी गन्धसे खिंचे हुए अनेक भौरे उसके गण्डस्थल पर लग कर शब्द कर रहे थे, वह विनय रहित किसी राजकुमार के समान निरंकश था, और अपने दाँतोंके आघातसे उसने बड़े-बड़े पक्के मकानों की दीवारें गिरा दी थीं । उस भयंकर हाथीको सामने दौड़ता आता देख श्रीकृष्णने निर्भय होकर उसका एक दाँत उखाड़ लिया और दाँत से ही उसे खूब पीटा । अन्त में वह हाथी भयभीत होकर दूर भाग गया । तदनन्तर 'इस निमित्तसे आप लोगोंकी जीत स्पष्ट ही होगी' संतुष्ट होकर यह कहते हुए श्रीकृष्ण ने साथके गोपालोंको पहले तो खूब उत्साहित किया और फिर कंसकी सभा में प्रवेश किया । कंसका अभिप्राय जाननेवाले राजा वसुदेव भी उस समय किसी उपायसे अपनी सेना को तैयार किये हुए वहीं एक स्थान पर बैठे थे । बलदेवने उठकर अपनी भुजाओं के आस्फालनसे ताल ठोक कर शब्द किया और कृष्णके साथ रंगभूमि के चारों ओर चक्कर लगाया । उसी समय उन्होंने श्री कृष्णसे कह दिया कि 'यह तुम्हारा कंस को मारने का समय है' इतना कह वे रंगभूमि से बाहर निकल गये ॥475-481॥

इसके बाद कंस की आज्ञा से कृष्ण के सेवक, अहंकारी तथा मल्लोंका वेष धारण करनेवाले अनेक गोपाल बालक अपनी भुजाओं को ठोकते हुए रंगभूमिमें उतरे । उस समय कानोंको आनन्दित करनेवाले बाजोंकी चंचल ध्वनि हो रही थी और उसीके अनुसार वे सब अपने पैर रखते उठाते थे, ऊँचे उठे हुए अपने दोनों कन्धोंसे वे कुछ गर्विष्ठ हो रहे थे, कभी दाहिनी भुक्कुटि चलाते थे तो कभी बाईं । बीच-बीच में भयंकर गर्जना कर उठते थे, वे कभी आगे जाकर पीछे लौट जाते थे, कभी आगे चक्कर लगाते थे, कभी थिरकते हुए चलते थे, कभी उछल पड़ते थे और कभी एक ही स्थान पर निश्चल खड़े रह जाते थे । इस तरह साफ-साफ दिखनेवाले अनेक पैतरो से नेत्रोंको अच्छे लगनेवाले वे मल्ल रंगभूमिको अलंकृत कर खड़े थे । उनके साथ ही रंगभूमि को घेर कर चाणूर आदि कंसके प्रमुख मल्ल भी खड़े हुए थे । कंसके वे मल्ल अहंकार से भरे हुए थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो वीर रसके अवतार ही हों ॥482-486॥

उस समय रंगभूमि में खड़े हुए कृष्ण बहुत भले जान पड़ते थे, उनके चित्त का विस्तार अत्यन्त उदार था, वे बड़े-बड़े वीर पहलवानों में अग्रेसर थे, उनकी कान्ति ऐसी दमक रही थी मानो उन्होंने पहले ही प्रतिमल्ल के युद्ध में विजय प्राप्त कर ली हो, उनका पराक्रम रूपी रस उत्तरोत्तर बढ़ रहा था और उन्हें ऐसा उत्साह था कि यदि इस समय मल्ल का रूप धर कर सूर्य भी आकाश से नीचे उतर आवे तो उसे भी जीत लूँगा ॥487॥

उस समय उनके वक्ष बहुत कड़े बँधे थे, बाल बँधे थे, डाँढ़ी मूँछ थी ही नहीं, शरीर स्वभावसे ही चिकना था, वे गोप मल्लों के साथ अमल्लों की तरह सदा युद्ध का अभ्यास करते और पूर्ण विजय प्राप्त करते थे, और उनके पराक्रमकी सब सराहना करते थे ॥488॥

उनके चरणों का रखना स्थिर होता था, उनकी हड्डियोंका गठन वज्रके सारके समान सुदृढ़ था, उनकी भुजाएँ अर्गलके समान लम्बी तथा मजबूत थीं, उनकी कमर मुट्ठी में समानेके योग्य थी, वक्षःस्थल अत्यन्त कठोर तथा चौड़ा था, वे बड़े भारी नीलगिरिके समान थे, उनका शरीर सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की मानो मूर्ति था और गर्वके संचारसे कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता था ॥ 489॥

उनके चमकीले नेत्र चंचल हो रहे थे, वे बड़ी मजबूत मुट्ठी बाँधे थे, उनकी इन्द्रियों का समूह पूर्ण परिपक्व था, वे शीघ्र गमन करने में दक्ष थे, और वज्रके समान अत्यन्त उग्र थे, इस प्रकार युद्ध-भूमिमें खड़े हुए नन्द गोपके पुत्र श्रीकृष्ण यमराज के लिए भी असहनीय भारी भय उत्पन्न कर रहे थे ॥490॥

वे श्रीकृष्ण ऐसे जान पड़ते थे मानो समस्त शूरवीरता ही रूप धरकर आ गई थी, अथवा समस्त बल आकर इकट्ठा हुआ था, अथवा समस्त बल एकत्रित हो गया था, सिंह जैसी आकृतिको धारण करनेवाले उन्होंने सिंहनाद किया और रंगभूमि से उछल कर आकाश रूपी आंगनको लौंघ दिया मानो घरका आंगन ही लौंघ दिया हो ॥491॥

फिर आकाश से वज्रकी भाँति पृथिवी पर आये, उन्होंने अपने पैर पटकनेकी चोटसे पर्वतों के सन्धि-बन्धनको शिथिल कर दिया, वे बराबर गर्जने लगे, इधर-उधर दौड़ने लगे और सिन्दूरसे रंगी अपनी दोनों भुजाओं को चलाने लगे ॥492॥

उस समय वे अत्यन्त कुपित थे, उनकी कमरके दोनों ओर पीत वस्त्र बँधा हुआ था, और जिस प्रकार सिंह हाथीको मार कर सुशोभित होता है उसी प्रकार वे बाहु-युद्ध में कुशल, अतिशय दुष्ट और पहाड़के शिखरके समान ऊँचे प्रतिद्वन्दी चाणूर मल्लको सहसा मार कर सुशोभित हो रहे थे ॥493॥

यह देख, खून के निकलने से जिसके नेत्र अत्यन्त भयंकर हो रहे हैं ऐसा कंस स्वयं जन्मान्तर के द्वेष के कारण मल्ल बन कर युद्ध के लिए रंगभूमि में आ कूदा, श्रीकृष्ण ने हाथ से उसके पैर पकड़ कर छोटे से पक्षी की तरह पहले तो उसे आकाश में घुमाया और फिर यमराज के पास भेजने के लिए जमीन पर पछाड़ दिया ॥494॥

उसी समय आकाश से फूल बरसने लगे, देवों के नगाड़ों ने जोरदार शब्द किया, वसुदेव की सेना में क्षोभ के कारण बहुत कलकल होने लगा, और वीर शिरोमणि बलदेव, पराक्रम से सुशोभित, विजयी तथा शत्रु रहित छोटे भाई कृष्ण को आगे कर विरूद्ध राजाओं पर आक्रमण करते हुए रंगभूमि में जा डटे ॥495॥

जिनका बल अतुल्य है, जो अलंघनीय शत्रु रूपी मत्त हाथियोंके घातसे कुपित सिंह के समान हैं, जिनका पराक्रम माननीय है, बन्दीगण जिनकी स्तुति कर रहे हैं और जिन्होंने सब लोगों को हर्ष उत्पन्न किया है ऐसे श्रीकृष्णके समीप वीरलक्ष्मी सहसा ही पहुँच गई ॥496॥ मेरी दूतीके समान श्रेष्ठ वीरलक्ष्मी इनकी विजयी दाहिनी भुजाको प्राप्त कर चुकी है, इसलिए आधे भरत क्षेत्रकी लक्ष्मी भी चिरकाल से प्राप्त हुए उन श्रीकृष्ण रूपी पतिको रागके द्वारा चन्चल कटाक्षों से देख रही थी ॥497॥

श्रीकृष्ण, बनदेव, श्रीकृष्ण की पट्टरानियां

पर्व - 71

कथा :

अथानन्तर-कंस की स्त्रियों द्वारा छोड़े हुए अश्रुजल का पान कर पृथ्वी रूपी वृक्ष से चारों ओर उत्सव रूपी अंकुर प्रकट होने लगे ॥1॥ 'यह शूरवीर, पुण्यात्मा वसुदेव राजा का पुत्र है, कंस के भय से छिप कर व्रज में वृद्धि को प्राप्त हो रहा था, अनुक्रम से होनेवाली वृद्धि, न केवल इनके पक्ष की ही वृद्धि के लिए है अपितु चन्द्रमा के समान समस्त संसार की वृद्धि के लिए है' इस प्रकार नगरवासी तथा देशवासी लोग जिनकी स्तुति करते थे, जिन्होंने राजा उग्रसेन को बन्धन-मुक्त कर दिया था, जो महात्मा थे, जिन्होंने उत्तम धनके द्वारा नन्द आदि गोपालों की पूजा कर उन्हें विदा किया था, और जो भाई-बन्धुओं के साथ मिलकर शौर्यपुर नगर में प्रविष्ट हुए थे ऐसे श्रीकृष्ण का समय सुख से बीत रहा था कि एक दिन कंस की रानी जीवद्यशा पति की मृत्यु से दुःखी होकर जरासन्ध के पास गई। उसने मथुरापुरी में जो वृत्तान्त हुआ था वह सब जरासन्ध को बतला दिया ॥2-6॥

उस वृत्तान्त को सुनकर जरासन्ध ने क्रोधवश पुत्रों को यादवों के प्रति चढ़ाई करने की आज्ञा दी ॥7॥

वे पुत्र अपनी सेना सजाकर गये और युद्ध के आंगन में पराजित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यके प्रतिकूल होने पर कौन पराजय को प्राप्त नहीं होते ? ॥8॥

अबकी बार जरासन्ध ने कुपित होकर अपना अपराजित नाम का पुत्र भेजा क्योंकि वह उसे सार्थक नामवाला तथा शत्रुओं के लिए यमराज के समान समझता था ॥9॥

बड़ी भारी सेना लेकर अपराजित गया और चिरकाल तक उसने तीन-सौ छयालीस बार युद्ध किया परन्तु पुण्य क्षीण हो जाने से उसे भी पराङ्मुख होना पड़ा ॥10॥

तदनन्तर 'मैं पिता की आज्ञा से यादवोंको अवश्य जीतूँगा' ऐसा संकल्प कर उसके उद्यमी कालयवन नामक पुत्र ने प्रस्थान किया ॥11॥

कालयवन की आज्ञा सुनकर अग्रशोची यादवों ने शौर्यपुर, हस्तिनापुर और मथुरा तीनों ही स्थान छोड़ दिये ॥12॥

कालयवन उनका पीछा कर रहा था, तब यादवों की कुल-देवता बहुत-सा ईन्धन इकट्ठा कर तथा ऊँची लौवाली अग्नि जलाकर और स्वयं एक बुढ़ियाका रूप बना कर मार्ग में बैठ गई । उसे देख कर युवा कालयवन ने उससे पूछा कि यह क्या है ? उत्तरमें बुढ़िया कहने लगी कि हे राजन् । सुन, आपके भय से मेरे सब पुत्र यादवोंके साथ-साथ इस ज्वालाओं से भयंकर अग्निमें गिरकर मर गये हैं ॥13-15॥

बुढ़ियाके वचन सुनकर कालयवन कहने लगा कि अहो, मेरे भय से समस्त शत्रु मेरी प्रतापान्तिके समान इस अग्निमें प्रविष्ट हो गये हैं ॥16॥

ऐसा विचार कर वह शीघ्र ही लौट पड़ा और झूठा अहंकार धारण करता हुआ पिता के पास पहुँच गया । आचार्य कहते हैं कि इस बिना विचारी चेष्टाको धिक्कार है ॥17॥

इधर चलते-चलते यादवों की सेना अपना स्थान बनानेके लिए समुद्र के किनारे ठहर गई ॥18॥

वहाँ श्रीकृष्ण ने शुद्ध भावों से दर्भ के आसन पर बैठकर विधि-पूर्वक मन्त्रका जाप करते हुए अष्टोपवास का नियम लिया । उसी समय नैगम नाम के देव ने कहा कि मैं घोड़ा का रूप रखकर आऊँगा सो मुझपर सवार होकर तुम समुद्र के भीतर बारह योजन तक चले जाना । वहाँ तुम्हारे लिए नगर बन जायगा । नैगम देवकी बात सुन कर श्रीकृष्ण ने निश्चयानुसार वैसा ही किया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य के रहते हुए कौन मित्र नहीं हो जाता ? ॥19-21॥

जो प्राप्त हुए वेग से उद्धत है, जिसपर श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं, और जिसके कानों के चमर निश्चल हैं ऐसा घोड़ा जब दौड़ने लगा तब मानो श्रीकृष्णके भय से ही समुद्र दो भेदों को प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि और शक्ति से युक्त मनुष्यों के द्वारा जलका (पक्षमें मूर्ख लोगोंका) समूह भेदको प्राप्त हो ही जाता है ॥22-23॥

उसी समय वहाँ श्रीकृष्ण तथा होनहार नेमिनाथ तीर्थंकर के पुण्य से इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने एक सुन्दर नगरीकी रचना की । जिसमें सबसे पहले उसने विधिपूर्वक मंगलों का मांगलिक स्थान और एक हजार शिखरों से सुशोभित देदीप्यमान एक बड़ा जिनमन्दिर बनाया फिर वप्र, कोट, परिखा, गोपुर तथा अट्टालिका आदि से सुशोभित, पुण्यात्मा जीवोंसे युक्त मनोहर नगरी बनाई । समुद्र अपनी बड़ी-बड़ी तरंग रूपी भुजाओंसे उस नगरी के गोपुरका आलिङ्गन करता था, वह नगरी अपनी दीप्ति से देवपुरी की हँसी करती थी और द्वारावती उसका नाम था ॥24-27॥

जिन्हें लक्ष्मी कटाक्ष उठा कर देख रही है ऐसे श्रीकृष्ण ने पिता वसुदेव तथा बड़े भाई बलदेव के साथ उस नगरी में प्रवेश किया और यादवोंके साथ सुख से रहने लगे ॥28॥

अथानन्तर-जो आगे चल कर तीन लोक का स्वामी होनेवाला है ऐसा अहमिन्द्र का जीव जब छह माह बाद जयन्त विमानसे चलकर इस पृथिवीपर आनेके लिए उद्यत हुआ तब काश्यपगोत्री, हरिवंश के शिखामणि राजा समुद्रविजय की रानी शिवदेवी रत्नों की धारा आदिसे पूजित हुई और देवियाँ उसके चरणों की सेवा करने लगीं । छह माह समाप्त होने पर रानीने कार्तिक शुक्ल षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में रात्रिके पिछले समय सोलह स्वप्न देखे ओर उनके बाद ही मुख-कमल में प्रवेश करता हुआ एक उत्तम हाथी भी देखा ॥29-32॥

तदनन्तर-बन्दीजनों के शब्द और प्रातःकाल के समय बजनेवाली भेरियों की ध्वनि सुनकर जागी हुई रानी शिवदेवीने मंगलमय स्नान किया, पुण्य रूप वस्त्राभरण धारण किये और फिर बड़ी नम्रता से राजा के पास जाकर वह उनके अर्धासन पर बैठ गई । पश्चात् उसने

अपने देखे हुए स्वप्नों का फल पूछा । सूक्ष्म बुद्धिवाले राजा समुद्रविजय ने भी सुने हुए आगमका विचार कर उन स्वप्नों का फल कहा कि तुम्हारे गर्भ में तीन लोक के स्वामी तीर्थकर अवतीर्ण हुए हैं ॥33-35॥

उस समय रानी शिवदेवी स्वप्नों का फल सुनकर ऐसी सन्तुष्ट हुई मानो उसने तीर्थकरको प्राप्त ही कर लिया हो । उसी समय इन्द्रों ने भी अपने-अपने चिह्नों से जान लिया । वे सब बड़े हर्ष से मिलकर आये और स्वर्गावतरण कल्याण (गर्भकल्याणक) का महोत्सव करने लगे । उत्सव द्वारा पुण्योपार्जन कर वे अपने-अपने स्थान पर चले गये ॥36-37॥

फिर श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में ब्रह्मयोग के समय तीन ज्ञान के धारक भगवान् का जन्म हुआ ॥38॥

तदनन्तर अपने आसन कम्पित होनेसे जिन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे सौधर्म आदि इन्द्र हर्षित होकर आये और नगरीको घेर कर खड़े गये । तदनन्तर जो नील कमल के समान कान्ति के धारक हैं, ईशानेन्द्र ने जिनपर छत्र लगाया है, तथा नमस्कार करते हुए चमर और वैरोचन नाम के इन्द्र जिनपर चमर ढोर रहे हैं ऐसे जिनेन्द्र बालक को सौधर्मेन्द्र ने बड़ी भक्ति से उठाया और कुबेर-निर्मित तीन प्रकारकी मणिमय सीढियोंके मार्गसे चलकर उन्हें ऐरावत हाथी के स्कन्ध पर विराजमान किया । अब इन्द्र आकाश-मार्गसे चलकर सुमेरू पर पहुँचा वहाँ उसने सुमेरू पर्वत की ईशान दिशामें पाण्डुक शिला के अग्रभाग पर जो अनादि-निधन मणिमय सिंहासन रक्खा है उसपर सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी जिन-बालक को विराजमान कर दिया । वहीं उसने अनुक्रम से हाथों हाथ लाकर इन्द्रों के द्वारा सौंपे हुए एवं और सागरके जलसे भरे, सुवर्णमय एक हजार आठ देदीप्यमान कलशोंके द्वारा उनका अभिषेक किया, उन्हें इच्छानुसार यथायोग्य आभूषण पहिनाये और ये समीचीन धर्मरूपी चक्रकी नेमि हैं-चक्रधारा हैं, इसलिए उन्हें नेमि नाम से सम्बोधित किया । फिर सौधर्मेन्द्र ने मुकुटबद्ध इन्द्रों के द्वारा माननीय महाभ्युदयके धारक भगवान् को सुमेरू पर्वत से लाकर माता-पिताको सौंपा, विक्रिया द्वारा अनेक भुजाएँ बनाकर रस और भाव से भरा हुआ आनन्द नाम का नाटक किया और यह सब करने के बाद वह समस्त देवों के साथ अपने स्थान पर चला गया ॥39-48॥ भगवान् नमिनाथ की तीर्थपरम्परा के बाद पाँच लाख वर्ष बीत जानेपर नेमि जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी, उनकी आयु एक हजार वर्ष की थी, शरीर दश धनुष ऊँचा था, उनके संस्थान और संहनन उत्तम थे, तीनों लोकों के इन्द्र उनकी पूजा करते थे, और मोक्ष उनके समीप था । इस प्रकार वे दिव्य मुखों का अनुभव करते हुए चिरकाल तक द्वारावतीमें रहे ॥ 49-51॥

इस तरह सुखोपभोग करते हुए उनका बहुत भारी समय एक क्षण के समान बीत गया । किसी एक दिन मगध देशके रहनेवाले ऐसे कितने ही वैश्य पुत्र, जो कि जलमार्गसे व्यापार करते थे, पुण्योदय से मार्ग भूल कर द्वारावती नगरी में आ पहुँचे । वहाँ की राजलीला और विभूति देखकर आश्चर्यमें पड़ गये । वहाँ जाकर उन्होंने बहुत से श्रेष्ठ रत्न खरीदे । तदनन्तर राजगृह नगर जाकर उन वैश्य-पुत्रों ने अपने सेठको आगे किया और उन रत्नोंको भेंट देकर चक्ररत्न के धारक राजा जरासन्ध के दर्शन किये । राजा जरासन्धने उन सबका सन्मान कर उनसे पूछा कि 'अहो वैश्य-पुत्रो ! आप लोगोंने यह रत्नोंका समूह कहाँसे प्राप्त किया है ? यह अपनी उठती हुई किरणों से ऐसा जान पड़ता है मानो कौतुकवश इसने नेत्र ही खोल रक्खे हों' ॥52-56॥

उत्तरमें वे वैश्यपुत्र कहने लगे कि हे राजन् ! सुनिये, हम लोगोंने एक बड़ा आश्चर्य देखा है और ऐसा आश्चर्य, जिसे कि पहले कभी नहीं देखा है । समुद्र के बीच में एक द्वारावती नगरी है जो ऐसी जान पड़ती है मानो पातालसे ही निकल कर पृथिवी पर आई हो । वहाँ चूनासे पुते हुए बड़े-बड़े भवन सघनतासे विद्यमान हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो समुद्र के फेनका समूह ही नगरी के आकार परिणत हो गया हो । वह शत्रुओं के द्वारा अलंघनीय है अतः ऐसी जान पड़ती है मानो भरत चक्रवर्ती का दूसरा पुण्य ही हो । भगवान् नेमिनाथ की उत्पत्तिका कारण होनेसे वह नगरी सब नगरियोंमें उत्तम है, कोई भी उसका विघात नहीं कर सकता है, वह याचकों से रहित है, यह उसके महलों पर बहुत-सी पताकाएँ फहराती रहती हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है कि 'यह गौरव रहित शरद् ऋतु के बादलों का समूह मेरे ऊपर रहता है' इस ईर्ष्याके कारण ही वह मानो महलोंके अग्रभाग पर फहराती हुई चन्चल पताकाओं रूपी बहुत-सी भुजाओं से आकाश में ऊँचाई पर स्थित शरद् ऋतुके बादलोंको वहाँसे दूर हटा रही हो । वह नगरी ठीक समुद्र के जलके समान है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र के जलमें बहुतसे रत्न रहते हैं उसी प्रकार उस नगरी में भी बहुतसे रत्न विद्यमान हैं, जिस प्रकार समुद्रका जल कृष्ण तेज अर्थात् काले वर्ण से सुशोभित रहता है उसी प्रकार वह नगरी भी कृष्ण तेज अर्थात् वसुदेव के पुत्र श्री कृष्णके प्रतापसे सुशोभित है, और जिस प्रकार समुद्र के जलमें सदा गम्भीर शब्द होता रहता है उसी प्रकार उस नगरी में भी सदा गम्भीर शब्द होता रहता है । वह नौ योजन चौड़ी तथा बारह

योजन लम्बी है, समुद्र के बीच में है तथा यादवों की नगरी कहलाती है । हम लोगों ने ये रत्न वहीं प्राप्त किये हैं' ऐसा वैश्य-पुत्रों ने कहा ॥ 57-64॥

जब दैवसे छले गये अहंकारी जरासन्ध ने वैश्य-पुत्रों के उक्त वचन सुने तो वह क्रोधसे अन्धा हो गया, उसकी दृष्टि भयंकर हो गई, यही नहीं, बुद्धिसे भी अन्धा हो गया ॥65॥

जिसकी सेना, असमयमें प्रकट हुए प्रलयकाल के लहराते समुद्र के समान चञ्चल है ऐसा वह जरासन्ध यादव लोगोंका शीघ्र ही नाश करने के लिए तत्काल चल पड़ा ॥66॥

बिना कारण ही युद्ध से प्रेम रखनेवाले नारदजी को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने शीघ्र ही जाकर श्रीकृष्णसे जरासन्धके कोपका समाचार कह दिया ॥67॥

'शत्रु चढ़कर आ रहा है' यह समाचार सुनकर श्रीकृष्ण को कुछ भी आकुलता नहीं हुई । उन्होंने नेमिकुमार के पास जाकर कहा कि आप इस नगरकी रक्षा कीजिए । सुना है कि मगधका राजा जरासन्ध हम लोगों को जीतना चाहता है सो मैं उसे आपके प्रभाव से घुणके द्वारा खाये हुए जीर्ण वृक्ष के समान शीघ्र ही नष्ट किये देता हूं । श्रीकृष्णके वीरता पूर्ण वचन सुनकर जिनका चित्त प्रसन्नतासे भर गया है जो कुछ-कुछ मुसकरा रहे हैं और जिनके नेत्र मधुरतासे ओत-प्रोत हैं ऐसे भगवान् नेमिनाथको अवधिज्ञान था अतः उन्होंने निश्चय कर लिया कि विरोधियोंके ऊपर हम लोगोंकी विजय निश्चित रहेगी । उन्होंने दाँतोंकी देदीप्यमान कान्ति को प्रकट करते हुए 'ओम्' शब्द कह दिया अर्थात् द्वारावतीका शासन स्वीकृत कर लिया । जिस प्रकार जैनवादी अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षणसे सुशोभित पक्ष आदिके द्वारा ही अपनी जयका निश्चय कर लेता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी नेमिनाथ भगवान् की मुसकान आदिसे ही अपनी विजयका निश्चय कर लिया था ॥68-72॥

अथानन्तर कृष्ण और बलदेव, शत्रुओं को जीतने के लिए जय, विजय, सारण, अंगद, दव, उद्धव, सुमुख, पद्म, जरा, सुदृष्टि, पाँचों पाण्डव, सत्यक, द्रुपद, समस्त यादव, विराट्, अपरिमित सेनाओंसे युक्त धृष्टार्जुन, उग्रसेन, युद्धका अभिलाषी चमर, विदुर, तथा अन्य राजाओं के साथ उद्धत होकर युद्धके लिए तैयार हुए और वहाँसे चलकर कुरूक्षेत्र में जा पहुँचे ॥73- 76॥

उधर युद्धकी इच्छा रखनेवाला जरासन्ध भी अपनी गर्मी (अहंकार) प्रकट करनेवाले भीष्म, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा, रूक्म, शल्य, वुषसेन, कृप, कृपवर्मा, रूदिर, इन्द्रसेन, राजा जयद्रथ, हेमप्रभ, पृथिवी का नाथ दुर्योधन, दुःशासन, दुर्मर्षण, दुर्धर्षण, दुर्जय, राजा कलिंग, भगदत्त, तथा अन्य अनेक राजाओं के साथ कृष्णके सामने आ पहुँचा ॥77-80॥

उस समय श्री कृष्ण की सेना में युद्ध की भरियाँ बज रही थीं सो जिस प्रकार कुसुम्भ रंग वस्त्र को रंग देता है उसी प्रकार उन भरियोंके उठते हुए शब्दने भी शूरवीरों के चित्त को रंग दिया था ॥81॥

उन भरियों का शब्द सुनकर कितने ही राजा लोग देवताओंकी पूजा करने लगे और कितने ही गुरुओं के पास जाकर अहिंसा आदि व्रत ग्रहण करने लगे ॥82॥

युद्धके सम्मुख हुए कितने ही राजा अपने भृत्योंसे कह रहे थे कि तुम लोग कवच धारण करो, पैनी तलवार लो, धनुष चढ़ाओ और हाथी तैयार करो । घोड़ों पर जीनकस कर तैयार करो, स्त्रियाँ अधिकारियोंके लिए सौँपो, रथोंमें घोड़े जोत दो, निरन्तर भोग-उपभोग की वस्तुओं का सेवन किया जाय और बन्दी तथा मागध लोग अपने पराक्रमकी वन्दना करें-स्तुति करें' ॥83-86॥

उस समय कितने ही राजा, स्वामी की भक्तिसे, कितने ही स्वाभाविक पराक्रमसे, कितने ही शत्रुओं पर जमी हुई ईर्ष्यासे, कितने ही यश पानेकी इच्छासे, कितने ही शूरवीरोंकी गति पानेके लोभसे, कितने ही अपने वंशके अभिमानसे और कितने ही युद्ध सम्बन्धी अन्य-अन्य कारणों से प्राणोंका नाश करने के लिए तैयार हो गये थे ॥87-88॥

उस समय श्रीकृष्ण भी बड़ा गर्व कर रहे थे, सब आभूषण पहिने थे और शरीर पर केशर पर केशर लगाये हुए थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो सिन्दूर लगाये हुए हाथी हों ॥89॥

'आपकी जय हो', 'आप चिरंजीव रहें' इस प्रकार बन्दीजन उनका मंगलपाठ पढ़ रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो चातकोंकी सुन्दर ध्वनिसे युक्त नवीन मेघ ही हो ॥90॥

उन्होंने सज्जनों के द्वारा धारण की हुई पवित्र सुवर्णमय झारीके जलसे आचमन किया, शुद्ध जलसे शीघ्र ही पूर्ण जलान्जलि दी और फिर

गन्ध पुष्प आदि द्रव्यों के द्वारा विघ्नों का नाश करने वाले, स्वामी रहित (जिनका कोई स्वामी नहीं) तथा भव्य जीवोंका मनोरथ पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष के समान श्री जिनेन्द्रदेव की भक्ति-पूर्वक पूजा की, उन्हें नमस्कार किया । तदनन्तर चारों ओर गुरुजनों और सामन्तोंको अथवा प्रामाणिक सामन्तोंको रखकर स्वयं ही शत्रु को नष्ट करने के लिए उसके सामने चल पड़े ॥91- 93॥

तदनन्तर कृष्ण की आज्ञा से अनुराग रखनेवाले प्रशंसनीय परिचारकोंने यथायोग्य रीतिसे सेनाकी रचना की ॥94॥

जरासन्ध भी संग्राम रूपी युद्धभूमि के बीच में आ बैठा और कठोर सेनापतियोंके द्वारा सेनाकी योजना करवाने लगा ॥95॥

इस प्रकार जब सेनाओं की रचना ठीक-ठीक हो चुकी तब युद्ध के नगाड़े बजने लगे । शूर-वीर धनुषधारियोंके द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे आकाश भर गया और उसने सूर्यकी फैलती हुई किरणों की सन्तति को रोक दिया-ढक दिया । 'सूर्य अस्त हो गया है' इस भयकी आशंकासे मोहवश चकवा-चकवी परस्पर बिछुड़ गये । अन्य पक्षी भी शब्द करते हुए घोंसलों की ओर जाने लगे । उस समय युद्ध के मैदान में इतना अन्धकार हो गया थाकि योद्धा परस्पर एक दूसरेको देख नहीं सकते थे परन्तु कुछ ही समय बाद क्रुद्ध हुए मदोन्मत्त हाथियों के दाँतों की टक्कर से उत्पन्न हुई अग्निके द्वारा जब वह अन्धकार नष्ट हो जाता और सब दिशाएँ साफ-साफ दिखने लगतीं तब समस्त शस्त्र चलानेमें निपुण योद्धा फिरसे युद्ध करने लगते थे । विक्रमरससे भरे योद्धाओं ने क्षण भर में खून की नदियाँ बहा दीं ॥

96-100॥

भयंकर तलवार की धार से जिनके आगे के दो पैर कट गये हैं ऐसे घोड़े उन तपस्वियोंकी गतिको प्राप्त हो रहे थे जो कि तप धारण कर उसे छोड़ देते हैं ॥101॥

जिनके पैर कट गये हैं ऐसे हाथी इस प्रकार पड़ गये थे मानो प्रलय काल की महावायुसे जड़से उखड़ कर नीले रंगके बड़े-बड़े पहाड़ ही पड़ गये हों ॥102॥

शत्रु भी जिनके साहसपूर्ण कार्यों की प्रशंसा कर रहे हैं ऐसे पड़े हुए योद्धाओं के प्रसन्न मुख-कमल, स्थल कमल (गुलाब) की शोभा धारण कर रहे थे ॥103॥

योद्धाओं ने अपनी कुशलता से परस्पर एक दूसरे के शस्त्र तोड़ डाले थे परन्तु उनके टुकड़ों से ही समीप में खड़े हुए बहुत से लोग मर गये थे ॥104॥

कितने ही योद्धा न ईर्ष्या से, न क्रोध से, न यश से, और न फल पाने की इच्छा से युद्ध करते थे किन्तु 'यह न्याय है' ऐसा सोचकर युद्ध कर रहे थे ॥105॥

जिनका शरीर सर्व प्रकार के शस्त्रों से छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे कितने ही वीर योद्धा हाथियोंके स्कन्धसे नीचे गिर गये थे परन्तु कानोंके आभरणोंमें पैर फँस जानेसे लटक गये थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपना चिर-परिचित स्थान छोड़ना नहीं चाहते हों और इसीलिए कानोंके अग्रभागका सहारा ले नीचेकी ओर मुखकर लटक गये हों ॥106-107॥

बड़ी चपलता से चलनेवाले कितने ही योद्धा अपने रक्षाकी लिए बायें हाथ में भाल लेकर शस्त्रोंवाली दाहिनी भुजासे शत्रुओं को मार रहे थे ॥108॥

आगम में जो मनुष्योंका कदलीघात नाम का अकाल-मरण बतलाया गया है उसकी अधिकसे अधिक संख्या यदि हुई थी तो उस युद्धमें ही हुई थी ऐसा उस युद्ध के मैदान के विषय में कहा जाता है ॥109॥

इस प्रकार दोनों सेनाओं में चिरकाल तक तुमुल युद्ध होता रहा जिससे यमराज भी खूब सन्तुष्ट हो गया था ॥110॥

तदनन्तर जिस प्रकार किसी छोटी नदी के जल को महानदी के प्रवाहका जल दबा देता है उसी प्रकार श्रीकृष्णकी सेना को शत्रुकी सेनाने दबा दिया ॥111॥

यह देख, जिस प्रकार सिंह हाथियोंके समूह पर टूट पड़ता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण क्रुद्ध होकर तथा सामन्त राजाओंकी सेना के समूह साथ लेकर शत्रु को मारनेके लिए उद्यत हो गये-शत्रु पर टूट पड़े ॥112॥

जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही अन्धकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार श्रीकृष्णको देखते ही शत्रुओं की सेना विलीन हो गई-उसमें भगदड़ मच गई । यह देख, क्रोधसे भरा जरासन्ध आया और उसने रूक्ष दृष्टिसे देखकर, अपने पराक्रम से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला चक्ररत्न ले श्रीकृष्णकी ओर चलाया ॥113-114॥

परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर श्रीकृष्ण की दाहिनी भुजा पर ठहर गया । तदनन्तर वही चक्र लेकर श्रीकृष्ण ने मगधेश्वर-जरासन्धका शिर काट डाला ॥115॥

उसी समय कृष्ण की सेनामें जीत के नगाड़े बजने लगे और आकाश से सुगन्धित जलकी बूँदोंके साथ-साथ कल्पवृक्षोंके फूल बरसने लगे ॥ 116॥

चक्रवर्ती श्रीकृष्ण ने दिग्विजय की भारी इच्छा के चक्ररत्न आगे कर बड़े भाई बलदेव तथा अपनी सेना के साथ प्रस्थान किया ॥117॥

जिनका उदय बलवान् है ऐसे श्रीकृष्ण ने मागध आदि प्रसिद्ध देवोंको जीत कर अपना सेवक बनाया और उनके द्वारा दिये हुए श्रेष्ठ रत्न ग्रहण किये ॥118॥

लवण समुद्र सिन्धु नदी और विजयार्थ पर्वत के बीचके म्लेच्छ राजाओंसे नमस्कार कराकर उनसे अपने पैरोंके नखोंकी कान्तिका भार उठवाया ॥119॥

तदनन्तर विजयार्थ पर्वत, लवणसमुद्र और गंगानदी के मध्य में स्थित म्लेच्छ राजाओं को विद्याधरोंके साथ ही साथ जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही वश कर लिया ॥120॥

इस प्रकार आधे भरतके स्वामी होकर श्रीकृष्ण ने, जिसमें बहुत ऊँची पताकाएँ फहरा रही हैं और जगह जगह तोरह बाँधे गये हैं ऐसी द्वारावती नगरी में बड़े हर्ष से प्रवेश किया ॥121॥

प्रवेश करते ही देव और विद्याधर राजाओं ने उन्हें तीन खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती मानकर उनका बिना कुछ कहे सुने ही अपने आप राज्याभिषेक किया ॥122॥

श्रीकृष्ण की एक हजार वर्ष की आयु थी, दश धनुषकी ऊँचाई थी, अतिशय सुशोभित नीलकमल के समान उनका वर्ण था, और लक्ष्मी से आलिंगित उनका शरीर था ॥123॥

चक्र, शक्ति, गदा, शंख, धनुष, दण्ड, और नन्दक नाम का खंग ये उनके सात रत्न थे । इन सभी रत्नों की देव लोग रक्षा करते थे ॥124॥

रत्नमाला, गदा, हल और मूसल ये देदीप्यमान चार महारत्न बलदेव प्रभुके थे ॥125॥

रूक्मिणी, सत्यभामा, सती जाम्बवती, सुसीमा, लक्ष्मणा, गान्धारी, सप्तमी गौरी और प्रिया पद्मावती ये आठ देवियाँ श्रीकृष्णकी पटूरानियाँ थीं। इनकी सब मिलाकर सोलह हजार रानियाँ थीं तथा बलदेव के सब मिलाकर अभीष्ट सुख देनेवाली आठ हजार रानियाँ थीं । ये दोनों भाई इन रानियोंके साथ देवों के समान सुख भोगते हुए परम प्रीतिको प्राप्त हो रहे थे ॥126-128॥

इस प्रकार पूर्व जन्म में किये हुए अपनेपुण्य कर्म के उदय से पुष्कल भोगों को भोगते हुए श्रीकृष्णका समय सुख से व्यतीत हो रहा था । किसी एक समय शरद् ऋतुमें सब अन्तःपुरके साथ मनोहर नाम के सरोवरमें सब लोग मनोहर जलकेली कर रहे थे । वहीं पर जल उछालते समय भगवान् नेमिनाथ और सत्यभामाके बीच चतुराईसे भरा हुआ मनोहर वार्तालाप हुआ ॥129-130॥

सत्यभामा ने कहा कि आप मेरे साथ अपनी प्रियाके समान क्रीड़ा क्यों करते हैं ? इसके उत्तरमें नेमिराजने कहा कि क्या तुम मेरी प्रिया (इष्ट) नहीं हो ? सत्यभामा ने कहा कि यदि मैं आपकी प्रिया (स्त्री) हूँ तो फिर आपके भाई (कृष्ण) किसके पास जावेंगे ? नेमिनाथ ने उत्तर दिया कि वे कामिनीके पास जावेंगे ? सत्यभामा ने कहा कि सुनूँ तो सही वह कामिनी कौन सी है ? उत्तरमें नेमिनाथ ने कहा कि क्या तुम नहीं जानती ? अच्छा अब जान जाओगी । सत्यभामा ने कहा कि सब लोग आपको सीधा कहते हैं पर आप तो बड़े कुटिल हैं । इस प्रकार जब विनोद करते-करते स्नान समाप्त हुआ तब नेमिनाथ ने सत्यभामा से कहा कि हे नीलकमल के समान नेत्रों वाली ! तू मेरा यह स्नानका वस्त्र ले । सत्यभामाने कहा कि मैं इसका क्या करूँ ? नेमिनाथ ने कहा कि इसे धो डाल । तब सत्यभामा कहने लगी कि क्या आप श्रीकृष्ण हैं ? वह श्रीकृष्ण, जिन्होंने कि नागशय्या पर चढ़कर शार्ङ्ग नाम का दिव्य धनुष अनायास ही चढ़ा दिया था और दिगदिगन्तको पूर्ण करनेवाला शंख पूरा था ? क्या आपमें वह साहस है, यदि नहीं है तो आप मुझसे वस्त्र धोनेकी बात कहते हैं ? ॥ 131-136॥

नेमिनाथ ने कहा कि 'मैं यह कार्य अच्छी तरह कर दूँगा' इतना कहकर वे गर्वसे प्रेरित हो नगरकी ओर चल पड़े और वह आश्चर्यपूर्ण कार्य करने के लिए आयुधशालामें जा घुसे । वहाँ वे नागराज के महामणियों से सुशोभित नागशय्यापर अपनी ही शय्याके समान चढ़ गये, बार बार स्फालन करनेसे जिसकी डोरी रूपी लता बड़ा शब्द कर रही है ऐसा धनुष उन्होंने चढ़ा दिया और दिशाओं के अन्तरालको रोकनेवाला

शंख फूंक दिया ॥137-139॥

उस समय उन्होंने अपने आपको महान् उन्नत समझा सो ठीक ही है क्योंकि राग और अहंकारका लेशमात्र भी प्राणीको अवश्य ही विकृत बना देता है ॥140॥

जिस समय आयुधशाला में यह सब हुआ था उस समय श्रीकृष्ण कुसुमचित्रा नाम की सभाभूमिमें विराजमान थे । वे सहसा ही यह आश्चर्यपूर्ण काम सुन कर व्यग्र हो उठे, उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो गया ॥141॥

बड़े आश्चर्य के साथ उन्होंने किंकरों से पूछा कि 'यह क्या है ?' किंकरोंने भी अच्छी तरह पता लगा कर श्रीकृष्णसे सब बात ज्योंकी त्यों निवेदन कर दी । किंकरोंके वचन सुनकर चक्रवर्ती कृष्णसे बड़ी सावधानीके साथ विचार करते हुए कहा कि आश्चर्य है, बहुत समय बाद कुमार नेमिनाथका चित्त राग से युक्त हुआ है । अब यह नवयौवन से सम्पन्न हुए हैं अतः विवाहके योग्य हैं-इनका विवाह करना चाहिए । सो ठीक ही है ऐसा कौन सकर्मा प्राणी है जिसे दुष्ट काम के द्वारा बाधा नहीं होती हो ॥142-144॥

यह कह कर उन्होंने विचार किया कि उग्रवंश रूपी समुद्रको बढ़ानेके लिए चन्द्रमा के समान, राजा उग्रसेनकी जयावती रानीसे उत्पन्न हुई राजीमति नाम की पुत्री है जो सर्वांग सुन्दर है ॥145॥

विचार के बाद ही उन्होंने राजा उग्रसेनके घर स्वयं जाकर बड़े आदरसे 'आपकी पुत्री तीन लोक के नाथ भगवान् नेमिकुमारकी प्रिया हो' इन शब्दोंमें उस माननीय कन्याकी याचना की ॥146॥

इसके उत्तरमें राजा उग्रसेनने कहा कि 'हे देव ! तीन खण्डमें उत्पन्न हुए रत्नोंके आप ही स्वामी हैं, और खास हमारे स्वामी हैं, अतः यह कार्य आपको ही करना है-आप ही इसके नाथ हैं हम लोग कौन होते हैं ?' इस प्रकार राजा उग्रसेनके वचन सुन कर श्रीकृष्ण महाराज बहुत ही हर्षित हुए । तदनन्तर उन्होंने किसी शुभ दिन में वह विवाह का उत्सव करना प्रारम्भ किया और सबसे उत्तम तथा मनोहर पाँच प्रकार के रत्नोंका विवाहमण्डप बनवाया । उसके बीच में एक वेदिका बनवाई गई थी जो नवीन मोतियोंकी सुन्दर रंगावलीसे सुशोभित थी, मंगलमय सुगन्धित फूलों के उपहार तथा वृष्टि से मनोहर थी, उस पर सुन्दर नवीन वस्त्र ताना गया था, और उसके बीच में सुवर्णकी चौकी रखी हुई थी । उसी चौकी पर नेमिकुमार ने वधू राजीमतीके साथ गीले चावलोंपर बैठने का नेंग (दस्तूर) किया ॥147-151॥

दूसरे दिन वर के हाथ में जलधारा देनेका समय था । उस दिन मायाचारियोंमें श्रेष्ठ तथा दुर्गतिको जानेकी इच्छा करनेवाले श्रीकृष्णका अभिप्राय लोभ कषायके तीव्र उदय से कुत्सित हो गया । उन्हें इस बातकी आशंका उत्पन्न हुई कि कहीं इन्द्रों के द्वारा पूजनीय भगवान् नेमिनाथ हमारा राज्य न ले लें । उसी क्षण उन्हें विचार आया कि 'ये नेमिकुमार वैराग्य का कुछ कारण पाकर भोगों से विरक्त हो जावेंगे ।' ऐसा विचार कर वे वैराग्यका कारण जुटानेका प्रयत्न करने लगे । उनकी समझमें एक उपाय आया । उन्होंने बड़े-बड़े शिकारियों से पकड़वाकर अनेक मृगोंका समूह बुलाया और उसे एक स्थानपर इकट्ठाकर उसके चारों ओर बाड़ी लगवा दी तथा वहाँ जो रक्षक नियुक्त किये थे उनसे कह दिया कि यदि भगवान् नेमिनाथ दिशाओं का अवलोकन करने के लिए आवें और इन मृगों के विषय में पूछें तो उनसे आप लोग साफ साफ कह देना कि आपके विवाहमें मारने के लिए चक्रवर्ती ने यह मृगोंका समूह बुलाया है । महापाप का बन्ध करनेवाले श्रीकृष्ण ने ऐसा उन लोगों को आदेश दिया ॥152-157॥

तदनन्तर जो नाना प्रकार के आभूषणों से देदीप्यमान हैं, जिनके शिरके बाल सजे हुए हैं, जो लाल कमलोंकी माला से अलंकृत हैं, घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलिके द्वारा जिन्होंने दिशाओं के अग्रभाग लिप्त कर दिये हैं, और जो समान अवस्था वाले, अतिशय प्रसन्न बड़े-बड़े मण्डलेश्वर राजाओं के पुत्रोंसे घिरे हुए हैं ऐसे नयनाभिराम भगवान् नेमिकुमार भी चित्रा नाम की पालकीपर आरूढ़ होकर दिशाओं का अवलोकन करने के लिए निकले । वहाँ उन्होंने घोर करुण स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर इधर-उधर दौड़ते, प्यासे, दीनदृष्टिसे युक्त तथा भय से व्याकुल हुए मृगोंको देख दयावश वहाँके रक्षकों से पूछा कि यह पशुओं का बहुत भारी समूह यहाँ एक जगह किस लिए रोका गया है ? ॥158-162॥

उत्तर में रक्षकों ने कहा कि 'हे देव ! आपके विवाहोत्सव में व्यय करने के लिए महाराज श्रीकृष्ण ने इन्हें बुलाया है' ॥163॥

यह सुनते ही भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे 'कि ये पशु जंगल में रहते हैं, तृण खाते हैं और कभी किसीका कुछ अपराध नहीं करते हैं फिर भी लोग इन्हे अपने भोगके लिए पीडा पहुँचाते हैं । ऐसे लोगों को धिक्कार है । अथवा जिनके चित्तमें गाढ़ मिथ्यात्व भरा हुआ है ऐसे मूर्ख तथा दयाहीन प्राणी अपने नश्वर प्राणों के द्वारा जीवित रहने के लिए क्या नहीं करते हैं ? देखों, दुर्बुद्धि श्रीकृष्ण ने मुझपर अपने

राज्य-ग्रहणकी आशंकाकर ऐसा कपट किया है। यथार्थमें दुष्ट मनुष्यों की चेष्टा कष्ट देनेवाली होती है'। ऐसा विचारकर वे विरक्त हुए और लौटकर अपने घर आ गये। रत्नत्रय प्रकट होनेसे उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उन्हें समझाया, अपने पूर्व भवों का स्मरण कर वे भय से काँप उठे। उसी समय इन्होंने आकर दीक्षाकल्याणका उत्सव किया ॥164-168॥

तदनन्तर देवगुरू नामक पालकीपर सवार होकर वे देवों के साथ चल पड़े। सहस्राम्रवन में जाकर तेलाका नियम लिया और श्रावण शुल्का षष्ठी के दिन सांयकाल के समय, कुमार-काल के तीन सौ वर्ष बीत जानेपर एक हजार राजाओं के साथ-साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें चौथा-मनः-पर्यय ज्ञान हो गया और केवलज्ञान भी निकट कालमें हो जावेगा ॥169-171॥

जिस प्रकार संध्या सूर्य के पीछे-पीछे अस्ताचलपर चली जाती है उसी प्रकार राजीमती भी उनके पीछे-पीछे तपश्चरणके लिए चली गई सो ठीक ही है क्योंकि शरीर की बात तो दूर रही, वचन मात्रसे भी दी हुई कुलस्त्रियोंका यही न्याय है ॥172॥

अन्य मनुष्य तो अपने दुखसे भी विरक्त हुए नहीं सुने जाते पर जो सज्जन पुरुष होते हैं वे दूसरेके दुःखसे ही महाविभूतिका त्याग कर देते हैं ॥173॥

बलदेव तथा नारायण आदि मुख्य राजा और इन्द्र आदिदेव, सब अनेक स्तवनोंके द्वारा उन भगवान् की स्तुतिकर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥174॥

पारणा के दिन उन सज्जनोत्तम भगवान् ने द्वारावती नगरी में प्रवेश किया। वहाँ सुवर्गके समान कान्तिवाले तथा श्रद्धा आदि गुणों से सम्पन्न राजा वरदत्तने पडिगाहन आदि नवधा भक्तिकर उन्हें मुनियों के ग्रहण करने योग्य-शुद्ध प्रासुक आहार दिया तथा पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥175-176॥

उसके घर देवों के हाथ से छोड़ी हुई साढ़े बारह करोड़ रत्नों की वर्षा हुई, फूल बरसे, मन्दता आदि तीन गुणों से युक्त वायु चलने लगी, मेघोंके भीतर छिपे देवों के द्वारा ताडित दुन्दुभियोंका सुन्दर शब्द होने लगा और आपने बहुत अच्छा दान दिया यह घोषणा होने लगी ॥ 177-178॥

इस प्रकार तपस्या करते हुए जब उनकी छद्मस्थ अवस्थाके छप्पन दिन व्यतीत हो गये तब एक दिन वे रैवतक (गिरनार) पर्वतपर तेलाका नियम लेकर किसी बड़े भारी बाँस के वृक्ष के नीचे विराजमान हो गये। निदान, आसौज कृष्ण पडिमाके दिन चित्रा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय उन्हें समस्त पदार्थों को विषय करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। देवों ने केवलज्ञान कल्याणका उत्सवकर उनकी पूजा की ॥ 179-181॥

उनकी सभा में वरदत्त को आदि लेकर ग्यारह गणधर थे, चार सौ श्रुतज्ञानरूपी समुद्र के पारगामी पूर्वोंके जानकार थे, ग्यारह हजार आठ सौ शिक्षक थे, पन्द्रह सौ तीन ज्ञान के धारक थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, ग्यारह सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे, नौ सौ मनःपर्ययज्ञानी थे और आठ सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर उनकी सभा में अठारह हजार मुनिराज थे। यक्षी, राजीमती, कात्यायनी आदि सब मिला कर चालीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यन्च थे। इस तरह बारह सभाओं से घिरे हुए भगवान् नेमिनाथ, पापोंको नष्ट करने वाले, धर्मोपदेश रूपी सूर्यकी किरणोंके प्रसारसे भव्य जीव रूपी कमलों को बार-बार विकसित करने हुए समस्त देशों में घूमे थे। अन्त में कृतकृत्य भगवान् द्वारावती नगरी में आकर रैवतक गिरिके उद्यानमें विराजमान हो गये। अन्तिम नारायण कृष्ण तथा बलदेवने जब यह समाचार सुना तब वे अपनी समस्त विभूतिके साथ उनके पास गये। वहाँ जाकर उन दोनोंने वन्दना की, धर्म का स्वरूप सुना और प्रसन्नता का अनुभव किया ॥182-190॥

भगवान् नेमिनाथ ने जीव के सद्भाव का निरूपण किया ॥191-197॥

उसे सुन कर जो भव्य जीव थे, उन्होंने जैसा भगवान् ने कहा था वैसा ही मान लिया परन्तु जो अभव्य अथवा दूरभव्य थे वे मिथ्यात्वके उदय से दूषित होने के कारण संसार को बढ़ानेवाली अपनी अनादि वासना नहीं छोड़ सके। तदनन्तर देवकीने वरदत्त गणधरसे पूछा कि हे भगवन् ! मेरे घर पर दो दो करके छह मुनिराज भिक्षाके लिए आये थे उन छहोंमें मुझे कुटुम्बियों जैसा स्नेह उत्पन्न हुआ था सो उसका कारण क्या है ? ॥198-200॥

इस प्रकार पूछने पर गणधर भी उस कथा को इस प्रकार कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी मथुरा नगर में शौर्य देशका स्वामी शूरसेन नाम का राजा रहता था। उसी नगर में भानुदत्त सेठके सात पुत्र हुए थे। उनकी माताका नाम यमुनादत्ता था। उन सात

पुत्रों में सुभानु सबसे बड़ा था, उससे छोटा भानुकीर्ति, उससे छोटा भानुशूर, पाँचवा शूरदेव, उससे छोटा शूरदत्त, सातवाँ शूरसेन था । इन सातों पुत्रोंसे माता-पिता दोनों ही सुशोभित थे और वे अपने पुण्य कर्म के फलस्वरूप गृहस्थ धर्म को प्राप्त हुए थे । किसी दूसरे दिन आचार्य अभयनन्दीसे धर्म का स्वरूप सुन कर राजा शूरसेन और सेठ भानुदत्त दोनोंने उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया । इसी प्रकार सेठकी स्त्री यसुनादत्ताने भी जिनदत्ता नाम की आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली ॥201-206॥

माता-पिता के चले जानेपर सेठके सातों पुत्र सप्त व्यसनोंमें आसक्त हो गये । उन्होंने पापमें पड़कर अपना सब मूलधन नष्ट कर दिया और ऐसी दशामें राजा ने भी उन्हें अपने देशसे बाहर निकाल दिया ॥207॥

अब वे अवन्तिदेशमें पहुँचे और उज्जयिनी नगरी के श्मशानमें छोटे भाई शूरसेनको बैठा कर बाकी छह भाई चोरी करने के लिए नगरी में प्रविष्ट हुए ॥208॥

उन छहों भाइयोंके चले जानेपर उस श्मशानमें एक घटना और घटी जो कि इस प्रकार है-उस समय उज्जयिनीका राजा वृषभध्वज था, उसके एक दृढ़प्रहार नाम का चतुर सहस्रभट योद्धा था, उसकी स्त्री का नाम वप्रश्री था और उन दोनोंके वज्रमुष्टि नाम का पुत्र था ॥ 209-210॥

उसी नगर में विमलचन्द्र सेठकी विमला स्त्रीसे उत्पन्न हुई मंगी नाम की पुत्री थी, वह वज्रमुष्टिकी प्रिया हुई थी । किसी एक दिन बसन्त ऋतुमें उस समयका सुख प्राप्त करने की इच्छा से सब लोग राजा के साथ वन में जानेके लिए तैयार हुए । मंगी भी जानेके लिए तैयार हुई । उसने माला के लिए कलशमें हाथ डाला परन्तु उसकी सास वप्रश्रीने बहूकी ईर्ष्यासे एक काला साँप माला के साथ उस कलशमें पहलेसे ही रख छोड़ा था सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन सा कार्य है जिसे स्त्रियाँ नहीं कर सकें ॥211-213॥

वसन्त ऋतुके तीव्र विषवाले साँपने उस मंगीको हाथ डालते ही काट खाया जिससे उसके समस्त शरीर में विष फैल गया और वह उसी समय निश्चेष्ट हो गई ॥214॥

वप्रश्री, बहूको पयालसे लपेट कर श्मशानमें छोड़ आई । जब वज्रमुष्टि वनक्रीड़ा समाप्त होने पर लौट कर आया तो उसने आकुल होकर अपनी माँसे पूछा कि मंगी कहाँ है ? माताने झूटमूठ कुछ उत्तर दिया परन्तु उससे वह संतुष्ट नहीं हुआ । मंगीके नहीं मिलनेसे वह बहुत दुःखी हुआ और मंगी तीक्ष्ण तलवार लेकर ढूँढ़नेके लिए रात्रिमें ही चल पड़ा ॥215-216॥

उस समय श्मशानमें वरधर्म नाम के मुनिराज योग धारण कर विराजमान थे । वज्रमुष्टिने भक्ति से हाथ जोड़ कर उनके दर्शन किये और कहा कि हे पूज्य ! यदि मैं अपनी प्रियाको देख सकूंगा तो सहस्रदल वाले कमलोंसे आपकी पूजा करूँगा । ऐसी प्रतिज्ञा कर वज्रमुष्टि आगे गया । आगे चलकर उसने जिसे कुछ थोड़ी सी चेतना बाकी थी, ऐसी विषसे दूषित अपनी प्रिया देखी । वह शीघ्र ही पयाल हटाकर उसेमुनिराज के समीप ले आया ॥217-219॥

और मुनिराज के चरण-कमलोंके स्पर्श रूपी ओषधिसे उसने उसे विषरहित कर लिया । मंगीने भी उठकर अपने पतिका आनन्द बढ़ाया ॥ 220॥

तदनन्तर गुरुदेव के ऊपर जिसका मन अत्यन्त प्रसन्न है ऐसा वज्रमुष्टि इधर सहस्रदल कमल लानेके लिए चला गया । उधर वृक्षोंसे छिपा हुआ शूरसेन यह सब काम देख रहा था ॥221॥

वह मंगी की परीक्षा करने के लिए उसके पास आया और उसने उसे अपना शरीर दिखाकर मीठी बातों, चेष्टाओं, लीलापूर्ण विलोकनों और हँसी मजाक आदिसे शीघ्र ही अपने वश कर लिया । वह शूरसेनने कहने लगी कि मैं आपके साथ चलूँगी, आप मुझे लेकर चलिए । मंगीकी बात सुनकर उसने स्पष्ट कहा कि मैं तुम्हारे पतिसे डरता हूँ इसलिए तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए । उत्तरमें मांगीने कहा कि तुम डरो मत, वह नीच डरपोंक तुम्हारा क्या कर सकता है ? फिर भी जिससे तुम्हारी कुछ हानि न हो वह काम मैं किये देती हूँ ॥ 222-224॥

इस प्रकार इन दोनोंकी परस्पर बात-चीत हो रही थी कि उसी समय हाथमें कमल लिये वज्रमुष्टि आ गया । उसने अपनी तलवार तो मंगीके हाथमें दे दी और स्वयं वह भक्ति से मुनिराज के दोनों चरण-कमलोंकी पूजा करने के लिए नम्रीभूत हुआ । उसी समय उसकी प्रियाने उसपर प्रहार करने के लिए तलवार उठाई परन्तु शूरसेनने उसके हाथसे उसी वक्त तलवार छीन ली । इस कर्मसे शूरसेनके हाथकी अंगुलियाँ कट-कट कर जमीन पर गिर गई ॥226-228॥

यह देखकर वज्रमुष्टिने कहा कि हे प्रिये ! डरो मत । इसके उत्तरमें मंगी ने झूठमूठ ही कह दिया कि हाँ, मैं डर गई थी ॥229॥

जिस समय यह सब हो रहा था उसी समय शूरसेनके छह भाई चोरीका धन लेकर आ गये और उससे कहने लगे कि हे भाई ! तू अपना हिस्सा ले ले ॥230॥

परन्तु, वह भव्य अत्यन्त विरक्त हो चुका था अतः कहने लगा कि मुझे धनसे प्रयोजन नहीं है, मैं तो संसार से बहुत ही डर गया हूँ इसलिए संयम धारण करूँगा ॥231॥

उसकी बात सुनकर भाइयोंने कहा कि तेरे तप ग्रहण करनेका क्या कारण है ? सो कह । इस प्रकार भाइयोंके कहनेपर उसने अपने हाथकी कटी हुई अंगुलियोंका घाव दिखाकर मंगी तथा अपने बीचकी सब चेष्टाएँ कह सुनाई । उन्हें सुनकर सुभानु इस प्रकार स्त्रियोंकी निन्दा करने लगा ॥232-233॥

कि पर पुरुषमें आसक्तिको प्राप्त हुई स्त्रियाँ ही निन्दाका स्थान हैं । ये वर्ण मात्रसे सुन्दर दिखती हैं और दूसरे पुरुषोंको अत्यन्त राग युक्त कर लेती हैं । ये बनावटी प्रेमसे ही रागी मनुष्यों के नेत्रोंको प्रिय दिखती हैं और अनेक प्रकार के आभूषणोंसे रमणीय चित्र विचित्र वेष धारण करती हैं ॥234-235॥

ये विषय-सुख करने के लिए तो बड़ी मधुर मालूम होती हैं परन्तु अन्त में किंपाक फलके समूह के समान जान पड़ती हैं । आचार्य कहते हैं कि ये स्त्रियाँ किन्हीं नहीं नष्ट कर सकती हैं अर्थात् सभीको नष्ट कर सकती हैं ॥236॥

ये स्त्रियाँ केवल अपने पुत्रोंकी ही माताएँ नहीं हैं किन्तु दोषोंकी भी माताएँ हैं और जिस प्रकार बुरी शिक्षासे प्राप्त हुई बुरी विद्याएँ दुःख देती हैं उसी प्रकार दुःख देती हैं ॥337॥

ये स्त्रियाँ यद्यपि कोमल हैं, शीतल हैं, चिकनी हैं और प्रायः स्पर्शका सुख देनेवाली हैं तो भी सर्पिणियोंके समान प्राण हरण करनेवाली तथा पाप रूप हैं ॥238॥

साँपोंका विष तो उनके दाँतोंके अन्त में ही रहता है फिर भी वह किसीको मारता है और किसीको नहीं मारता है किन्तु स्त्री का विष उसके सर्व शरीर में रहता है वह उनका सहभावी होने के कारण दूर भी नहीं किया जा सकता और वह हमेशा मारता ही रहता है ॥239॥

पापी मनुष्य दूसरे प्राणियोंका अपकार करते अवश्य हैं परन्तु उनके प्राण रहते पर्यन्त ही करते हैं मरनेके बाद नहीं करते पर दयाके साथ द्वेष रखनेवाली स्त्रियाँ हिंसाके समान मरणोत्तर कालमें भी अपकार करती रहती हैं ॥240॥

जिन नीतिकारोंने अलगसे विषकन्याओंकी रचना की है उन्हें यह मालूम नहीं रहा कि सभी स्त्रियाँ उत्पत्ति मात्रसे अथवा स्त्रीत्व जाति मात्रसे विषकन्याएँ होती हैं ॥241॥

ये स्त्रियाँ कुटिलताकी अन्तिम सीमा हैं, इनकी क्रूरताका पार नहीं है ये सदा पाँच पाप रूप रहती हैं और इनकी चेष्टाएँ सदा तलवार उठाये रखनेवाले पुरुषके समान दुष्टता पूर्ण रहती हैं फिर ये अनार्थ अर्थात् म्लेच्छ क्यों न कही जावें ॥242॥

इस प्रकार सुभानुने अपने भाइयोंके साथ संसार से विरक्त होकर अपना सब कमाया हुआ धन स्त्रियों के लिए दे दिया और उन्हीं वरधर्म मुनिराजसे दीक्षा धारण कर ली ॥243॥

उनकी स्त्रियोंने भी जिनदत्ता नामक आर्यिकाके समीप तप ले लिया सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्य जीवों के तप ग्रहण करने में कौन सा हेतु नहीं हो जाता अर्थात् वे अनायास ही तप ग्रहण कर लेते हैं ॥244॥

दूसरे दिन ये सातों ही भाई उज्जयिनी नगरी के उपवन में पधारे तब वज्रमुष्टिने पास जाकर उन्हें विधि पूर्वक प्रणाम किया और पूछा कि आप लोगोंने यह दीक्षा किस कारणसे ली है ? उन्होंने दीक्षा लेनेका जो यथार्थ कारण था वह बतला दिया । इसी प्रकार वज्रमुष्टिकी स्त्री मंगीने भी उन आर्यिकाओंसे दीक्षाका कारण पूछा और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उन्हींके समीप दीक्षा धारण कर ली । वज्रमुष्टि वरधर्म मुनिराजका शिष्य बन गया । सुभानु आदि सातों मुनिराज आयु के अन्त में संन्यासमरण कर प्रथम स्वर्ग में त्रायस्त्रिंश जातिके देव हुए ॥ 245-248॥

वहाँ दो सागर प्रमाण उनकी आयु थी । वहाँ से चयकर, अपने पुण्य प्रभाव से धातकीखण्ड द्वीप में भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें जो नित्यालोक नाम का नगर है उसके राजा चन्द्रचूलकी मनोहारी रानीसे सुभानुका जीव चित्रांगद नाम का पुत्र हुआ ॥ 249-250॥

बाकी छह भाइयोंके जीव भी इन्हीं चन्द्रचूल राजा और मनोहरी रानी के दो - दो करके तीन वारमें छह पुत्र हुए। गरुडध्वज, गरुडवाहन, मणिचूल, पुष्पचूल, गगननन्दन और गगनचर ये उनके नाम थे। उसी धातकीखण्डद्वीप के पूर्व भरत क्षेत्र में विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें एक मेघपुर नाम का नगर है। उसमें धनंजय राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम सर्वश्री था, उन दोनोंके धनश्री नाम की पुत्री थी जो सुन्दरतामें मानो दूसरी लक्ष्मी ही थी। उसी विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीमें एक नन्दपुर नाम का नगर है उसमें शत्रुओं के लिए सिंह के समान राजा हरिषेण राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम श्रीकान्ता था और उन दोनोंके हरिवाहन नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह गुणों से प्रसिद्ध हरिवाहन नातेमें धनश्रीके भाईका साला था। उसी भरतक्षेत्र के अयोध्यानगर में धनश्रीका स्वयंवर हुआ उसमें धनश्रीने बड़े प्रेमसे हरिवाहनके गलेमें वरमाला डाल दी। उसी अयोध्यामें पुष्पदन्त नाम का चक्रवर्ती राजा था। उसकी प्रीतिकरी स्त्री थी और उन दोनोंके पापकार्य में पण्डित सुदन्त नाम का पुत्र था। सुदन्तने हरिवाहनको मार कर धनश्रीको स्वयं ग्रहण कर लिया ॥251-257॥

यह सब देखकर चित्रांगद आदि सातों भाई विरक्त हो गये और उन्होंने श्रीभूतानन्द तीर्थकरके चरणमूल में जाकर संयम धारण कर लिया। आयु का अन्त होने पर वे सब चतुर्थ स्वर्ग में सामानिक जातिके देव हुए। वहाँ सात सागर की उनकी आयु थी। उसके बाद वहाँसे च्युत होकर इसी भरतक्षेत्रके कुरूजांगल देशसम्बन्धी हस्तिनापुर नगर में सेठ श्वेतवाहनके उसकी स्त्री बन्धुमतीसे सुभानुका जीव शंख नाम का पुत्र हुआ। वह सुभानु धन - सम्पदामें स्वयं कुबेर था। उसी नगर में राजा गंगदेव रहता था। उसकी स्त्री का नाम नन्दयशा था, सुभानुके बाकी छह भाइयोंके जीव उन्हीं दोनोंके दो - दो कर तीन बारमें छह पुत्र हुए। गंग, गंगदेव, गंगमित्र, नन्द, सुनन्द, और नन्दिषेण ये उनके नाम थे। ये छहों भाई परस्पर में बड़े स्नेहसे रहते थे। नन्दयशाके जब सातवां गर्भ रहा तब राजा उससे उदास हो गया, रानीने राजाकी इस उदासीका कारण गर्भ में आया बालक ही समझा इसलिए उसने रेवती धायको आज्ञा दे दी कि तू इस पुत्रको अलग कर दे ॥258-264॥

रेवती भी उत्पन्न होते ही वह पुत्र नन्दयशाकी बड़ी बहिन बन्धुमतीके लिए सौंप आई। उसका नाम निर्नामक रक्खा गया। किसी एक दिन ये सब लोग नन्दनवन में गये, वहाँपर राजा के छहों पुत्र एक साथ खा रहे थे, यह देखकर शंखने निर्नामकसे कहा कि तू भी इनके साथ खा शंखके कहनेसे निर्नामक उनके साथ खानेके लिए बैठा ही था कि नन्दयशा उसे देखकर क्रोध करने लगी और यह किसका लड़का है, यह कहकर उसे एक लात मार दी। इस प्रकरणसे शंख और निर्नामक दोनोंको बहुत शोक हुआ। किसी एक दिन शंख और निर्नामक दोनों ही राजा के साथ-साथ अवधिज्ञानी द्रुमसेन नामक मुनिराजकी वन्दनाके लिए गये। दोनोंने मुनिराजकी वन्दना की, धर्मश्रवण किया और तदनन्तर शंखने मुनिराजसे पूछा कि नन्दयशा निर्नामकसे अकारण ही क्रोध क्यों करती है ? इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे कि सुराष्ट्र देशमें एक गिरिनगर नाम का नगर है। उसके राजाका नाम चित्ररथ था। चित्ररथके एक अमृत - रसायन नाम का रसोइया था। वह मांस पकानेमें बहुत ही कुशल था इसलिए मांसलोभी राजा ने सन्तुष्ट होकर उसे बारह गाँव दे दिये थे। एक दिन राजा चित्ररथने सुधर्म नामक मुनिराज के समीप आगमका उपदेश सुना ॥265-272॥

उसकी श्रद्धा करनेसे राजा को रत्नत्रयकी प्राप्ति हो गई। जिसके फलस्वरूप वह मेघरथ पुत्र के लिए राज्य देकर दीक्षित हो गया और राजपुत्र मेघरथ भी श्रावक बन गया ॥273॥

तदनन्तर राजा मेघरथने रसोइयाके पास एकही गाँव बचने दिया, बाकी सब छीन लिये। 'इन मुनिके उपदेश से ही राजा ने मांस खाना छोड़ा है और उनके पुत्रने हमारे गाँव छीने हैं' ऐसा विचार कर वह रसोइया उक्त मुनिराजसे द्वेष रखने लगा। एकदिन उस रसोइयाने सब प्रकार के मसालोंसे तैयार की हुई कड़वी तुमड़ीका आहार उन मुनिराज के लिए करा दिया। जिससे गिरनार पर्वतपर जाकर उनका प्राणान्त हो गया। वे समाधिमरण कर अपराजित नामक कल्पातीत विमान में वहाँ की जघन्य आयु पाकर बड़ी - बड़ी ऋद्धियोंके धारक अहमिन्द्र हुए। रसोइया आयु के अन्त में तीसरे नरक गया और वहाँसे निकलकर अनेक दुःख भोगता हुआ चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा ॥274-277॥

तदनन्तर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी मंगलदेशमें पलाशकूट नगर के यक्षदत्त गृहस्थके उसकी यक्षदत्ता नाम की स्त्रीसे यक्ष नाम का पुत्र हुआ। कुछ समय बाद उन्हीं यक्षदत्त और यक्षदत्ताके एक यक्षिल नाम का दूसरा पुत्र भी उत्पन्न हुआ। उन दोनों भाइयोंमें बड़ा भाई अपने कर्मोंके अनुसार निरनुकम्प - निर्दय था इसलिए लोग उसे उसकी क्रियाओं के अनुसार निरनुकम्प कहते थे और छोटा भाई

सानुकम्प था - दया सहित था इसलिए लोग उसे सानुकम्प कहा करते थे ॥278-280॥

किसी एक दिन दोनों भाई गाड़ीमें बैठकर कहीं जा रहे थे । मार्ग में एक अन्धा साँप बैठा था । सानुकम्पके रोकनेपर भी दया से दूर रहनेवाले निरनुकम्पने उस अन्धे साँपपर बर्तनोंसे भरी गाड़ी बैलोंके द्वारा चला दी । उस गाड़ीके भार से साँप कट गया और अकामनिर्जरा करता हुआ मर गया ॥281-282॥

मरकर श्वेतविका नाम के नगर में वहाँके राजा वासवके उसकी रानी वसुन्धरासे नन्दयशा नाम की पुत्री हुआ ॥283॥

छोटे भाई सानुकम्पने निरनुकम्प नामक अपने बड़े भाईको फिर भी समझाया कि आपके लिए इस प्रकार दूसरोंको दुःख देनेवाला कार्य नहीं करना चाहिए' इस प्रकार समझाये जानेपर वह शान्तिको प्राप्त हुआ ॥284॥

वही निरनुकम्प आयु के अन्त में मरकर यह निर्नामक हुआ है । पूर्वभवंमें उपार्जन किये हुए पापकर्म के उदय से ही नन्दयशाका निर्नामकके प्रति क्रोध रहता है । राजा द्रुमसेनके यह वचन सुनकर राजा के छहों पुत्र, शंख तथा निर्नामक सब विरक्त हुए और सभीने दीक्षा धारण कर ली । इसी प्रकार पुत्रों के स्नेहसे उत्पन्न हुई इच्छा से रानी नन्दयशा तथा रेवती धायने भी सुव्रता नामक आर्यिकाके समीप संयम धारण कर लिया । किसी एक दिन उन दोनों आर्यिकाओंने मूर्खतावश निदान किया । नन्दयशाने तो यह निदान किया कि 'आगामी जन्ममें भी ये मेरे पुत्र हों' और रेवतीने निदान किया कि 'मैं इनका पालन करूँ' । तदनन्तर तपश्चर्या कर और अपनी योग्यताके अनुसार आराधनाओंकी आराधनाकर आयु के अन्त में वे सब महाशुक् स्वर्ग में सामानिक जातिके देव हुए । वहाँ सोलह सागर की उनकी आयु थी और सब दिव्य भोगों के वशीभूत रहते थे ॥285-290॥

वहाँसे च्युत होकर शंखका जीव हलका धारण करनेवाला बलदेव हुआ है और नन्दयशा जीव मृगावती देश के दशार्णपुर नगर के राजा देवसेनके रानी धनदेवीसे देवकी नाम की पुत्री पैदा हुई है । निदान - बन्धके कारण ही तू स्त्रीपर्यायको प्राप्त हुई है ॥291-292॥

रेवतीका जीव मलय देशके भद्रिलपुर नगर में सुदृष्टि सेठकी अलका नाम की सेठानी हुई है । पहलेके छहों पुत्रों के जीव दो दो करके तीन बारमें तेरे छह पुत्र हुए । उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कंसके भयके कारण नैगमर्षि देवने उन्हें अलका सेठानीके घर रख दिया था इसलिए अलकाने ही उन पुत्रोंका पालन किया है । देवदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु ये उन छहों पुत्रों के नाम हैं, ये सभी इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे ॥293-296॥

ये सब नई अवस्था में ही दीक्षा लेकर भिक्षाके लिए नगर में आये थे इसलिए इन्हें देखकर तेरा पूर्वजन्मसे चला आया स्नेह इनमें उत्पन्न हो गया है ॥297॥

पूर्व जन्ममें जो तेरा निर्नामक नाम का पुत्र था उसने तपश्चरण करते समय स्वयंभू नारायणका ऐश्वर्य देखकर निदान किया था अतः वह कंसका मारनेवाला श्री कृष्ण हुआ है ॥298॥

गणधर देव देवकीसे कहते हैं कि 'हे देवकी ! तू कहाँ से आई ? तेरे ये पुत्र कहाँ से आये ? और बिना कारण ही इनके साथ यह सम्बन्ध कैसे आ मिला ? इसलिए जान पड़ता है कि कर्म का उदय बड़ा विचित्र है और योगियोंके द्वारा भी अगम्य है' ! इस प्रकार स्वभावसे ही समस्त भव्य जीवोंका उपकार करनेवाले गणधर भगवान् ने यह सब कथा कही । कथा सुनकर देवकीने उन्हें बड़ी भक्ति से वन्दना की ॥ 299-300॥

तदनन्तर - भक्ति से भरी सत्यभामाने भी, अक्षरावधिको धारण करनेवाले गणधर भगवान् से अपने पूर्व भवोंका सम्बन्ध पूछा ॥301॥ तब गणधर भगवान् भी उसका अभीष्ट कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि कृतकृत्य मनुष्योंका अनुग्रहको छोड़कर और दूसरा कार्य नहीं रहता है ॥302॥

वे कहने लगे कि शीतलनाथ भगवान् के तीर्थ में जब धर्म का विच्छेद हुआ तब भद्रिलपुर नगर में राजा मेघरथ राज्य करता था, उसकी रानीका नाम नन्दा था । उसी समय उस नगर में भूतिशर्मा नाम का एक श्रेष्ठ ब्राह्मण था, उसकी कमला नाम की स्त्री थी और उन दोनोंके मुण्डशालायन नाम का पुत्र था । मुण्डशालायन यद्यपि वेदवेदांगका पारगामी था परन्तु साथ ही उसकी बुद्धि हमेशा भोगोंमें आसक्त रहती थी इसलिए वह कहा करता था कि तप का क्लेश उठाना व्यर्थ है, जिनके पास धन नहीं है ऐसे साहसी मूर्ख मनुष्योंने ही परलोक के लिए इस तप के क्लेशकी कल्पना की है । वास्तवमें पृथिवीदान - सुवर्ण - दान आदिसे ही इष्ट सुख प्राप्त होता है । इस प्रकार उसने अनेक कुदृष्टान्त और कुहेतुओं के बतलानेमें निपुण वाक्योंके द्वारा कायक्लेशके सहनेमें असमर्थ राजा को झूठमूठ उपदेश दिया । राजा को ही

नहीं, अन्य दुर्बुद्धि मनुष्यों के लिए भी वह अपने जीवन भर ऐसा ही उपदेश देता रहा। अन्त में मर कर वह सातवें नरक गया। वहाँसे निकल कर तिर्यन्च हुआ। इस तरह नरक और तिर्यन्च गतिमें घूमता रहा ॥303-308॥

अनुक्रम से वह गन्धमादन पर्वत से निकली हुई गन्धवती नदी के समीपवर्ती भल्लंकी नाम की पल्लीमें अपने पापकर्म के उदय से काल नाम का भील हुआ। उस भीलने किसी समय वरधर्म नामक मुनिराज के पास जाकर मधु आदि तीन मकारोंका त्याग किया था। उसके फलस्वरूप वह विजयार्थ पर्वत पर अलकानगरी के राजा पुरबल और उनकी रानी ज्योतिर्मालाके हरिबल नाम का पुत्र हुआ। उसने अनन्तवीर्य नाम के मुनिराज के पास द्रव्य - संयम धारण कर लिया जिसके प्रभाव से वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर उसी विजयार्थ पर्वत पर रथनूपुर नगर के राजा सुकेतुके उनकी स्वयंप्रभा रानीसे तू सत्यभामा नाम की पुत्री हुई। एक दिन तेरे पिताने निमित्त आदिके जानने में कुशल किसी निमित्तज्ञानीसे पूछा कि मेरी यह पुत्री किसकी पत्नी होगी? इसके उत्तरमें उस श्रेष्ठ निमित्तज्ञानीने कहा था कि यह अर्धवक्रवर्तीकी महादेवी होगी। इस प्रकार गणधरके द्वारा कहे हुए अपने भव सुनकर सत्यभामा बहुत सन्तुष्ट हुई ॥309-315॥

अथानन्तर - महादेवी रूक्मिणीने नमस्कार कर अपने भवान्तर पूछे और जिनकी समस्त चेष्टाएँ परोपकारके लिए ही थीं ऐसे गणधर भगवान् कहने लगे ॥316॥

कि भरत क्षेत्र सम्बन्धी मगध देशके अन्तर्गत एक लक्ष्मीग्राम नाम का ग्राम है। उसमें सोम नाम का एक ब्राह्मण रहता था, उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मीमति था। किसी एक दिन लक्ष्मीमति ब्राह्मणी, आभूषणादि पहिन कर दर्पण देखनेके लिए उद्यत हुई ही थी कि इतनेमें समाधिगुप्त नाम के मुनि भिक्षाके लिए आ पहुँचे। 'इसका शरीर पसीना तथा मैलसे लिप्त है और यह दुर्गन्ध दे रहा है' इस प्रकार क्रोध करती हुई लक्ष्मीमतिये घृणासे युक्त होकर निन्दाके वचन कहे ॥317-319॥

मुनि - निन्दाके पापसे उसका समस्त शरीर उदुम्बर नामक कुष्ठसे व्याप्त हो गया इसलिए वह जहाँ जाती थी वहीं पर लोग उसे कठोर शब्द कह कर कुत्तीके समान ललकार कर भगा देते थे ॥320॥

वह सूने मकानमें पड़ी रहती थी, अन्त में हृदय में पतिका स्नेह रख बड़े दुःखसे मरी और उसी ब्राह्मणके घर दुर्गन्ध युक्त छछूँदर हुई ॥ 321 ॥

वह पूर्व पर्यायके स्नेहके कारण बार - बार पतिके ऊपर दौड़ती थी इसलिए उसने क्रोधित होकर उसे पकड़ा और बाहर ले जाकर बड़ी दुष्टतासे दे पटका जिससे मर कर उसी ब्राह्मणके घर साँप हुई ॥322॥

फिर मरकर अपने पापकर्म के उदय से वहीं गधा हुई, वह बार - बार ब्राह्मणके घर आता था इसलिए ब्राह्मणोंने कुपित होकर उसे लाठी तथा पत्थर आदिसे ऐसा मारा कि उसका पैर टूट गया, घावोंमें कीड़े पड़ गये जिनसे व्याकुल होकर वह कुएँ में पड़ गया और दुःखी होकर मर गया ॥323-324॥

फिर अन्धा साँप हुआ, फिर मरकर अन्धा सुअर हुआ, उस सुअरको गाँवके कुत्तोंने खा लिया जिससे मरकर मन्दिर नामक गाँवमें नदी पार करानेवाले मत्स्य नामक धीवरकी मण्डूकी नाम की स्त्रीसे पूतिका नाम की पापिनी पुत्री हुई। उत्पन्न होते ही उसका पिता मर गया और माता भी चल बसी इसलिए मातामही (नानी) ने उसका पोषण किया। वह सब प्रकारसे अशुभ थी और सबलोग उससे घृणा करते थे। किसी एक दिन वह नदी के किनारे बैठी थी वहींपर उसे उन समाधिगुप्त मुनिराज के दर्शन हुए जिनकी कि उसने लक्ष्मीमतिपर्यायमें निन्दा की थी। वे मुनि प्रतिमायोगसे अवस्थित थे, पूतिका की काललब्धि अनुकूल थी इसलिए वह शान्तभावको प्राप्तकर रात्रिभर मुनिराज के शरीरपर बैठनेवाले मच्छर आदिको दूर हटाती रही। जब प्रातःकाल के समय प्रतिमायोग समाप्तकर मुनिराज विराजमान हुए तब वह उनके चरणकमलोंके समीप जा पहुँची और उनका कहा हुआ धर्मोपदेश सुनने लगी। धर्मोपदेशसे प्रभावित होकर उस बुद्धिमतीने पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया। दूसरे दिन वह जिनेन्द्र भगवान् की पूजा (दर्शन) करने के लिए जा रही थी कि उसी समय उसे एक आर्यिकाके दर्शन हो गये। वह उन्हीं आर्यिकाके साथ दूसरे गाँव तक चली गई। वहींपर उसे भोजन भी प्राप्त हो गया। इस तरह वह प्रतिदिन ग्रामान्तरसे लाये हुए भोजनसे प्राण रक्षा करती और पाप के भय से अपने आचारकी रक्षा करती हुई किसी पर्वत की गुफामें रहने लगी। एक दिन एक श्राविका आर्यिकाके पास आई। आर्यिकाने उससे कहा कि पूतिका नीच कुलमें उत्पन्न होकर भी इस तरह सदाचारका पालन करती है यह आश्चर्य की बात है। आर्यिकाकी बात सुनकर उस श्राविकाको बड़ा कौतुक हुआ। जब पूतिका पूजा

(दर्शन) कर चुकी तब वह स्नेहवश उसके पास आकर उसकी प्रशंसा करने लगी । इसके उत्तरमें पूतिकाने कहा कि हे माता ! मैं तो महापापिनी हूँ, मुझे आप पुण्यवती क्यों कहती हैं ? यह कह, उसने समाधिगुप्त मुनिराजसे जो अपने पूर्वभव सुने थे वे सब कह सुनाये । वह श्राविका पूतिकाल की पूर्वभवकी सखी थी । पूतिकाके मुखसे यह जानकर उसने कहा कि 'यह जीव पाप का भय होनेसे ही जैनमार्ग-जैनधर्म को प्राप्त होता है । इस संसार में पूर्वभव से अर्जित पापकर्म के उदय से विरूपता, रोगीपना, दुर्गन्धता तथा निर्धनता आदि किन्हीं नहीं प्राप्त होती ? अर्थात् सभीको प्राप्त होती है इसलिए तू शोक मतकर, तेरे द्वारा ग्रहण किये हुए व्रत शील तथा उपवास आदि पर - जन्म के लिए दुर्लभ पाथेय (संबल) के समान हैं तू अब भय मत कर ।' इस प्रकार उस श्राविकाने उसे खूब उत्साह दिया । तदनन्तर - समाधिमरणकर वह अच्युतेन्द्रकी अतिशय प्यारी देवी हुई । पचपन पल्य तक वह अखण्ड सुख का उपभोग करती रही । वहाँसे च्युत होकर विदर्भ देशके कुण्डलपुर नगर में राजा वासबकी रानी श्रीमतीसे तू रूक्मिणी नाम की पुत्री हुई ॥325-341॥

तदनन्तर कोशल नाम की नगरी में राजा भेषज राज्य करते थे । उनकी रानीका नाम मद्री था; उन दोनोंके एक तीन नेत्रवाला शिशुपाल नाम का पुत्र हुआ । मनुष्योंमें तीन नेत्रका होना अभूतपूर्व था इसलिए राजा ने निमित्तज्ञानीसे पूछा कि इसका क्या फल है ? तब परोक्षकी बात जाननेवाले निमित्तज्ञानीने साफ - साफ कहा कि जिसके देखने से इसका तीसरा नेत्र नष्ट हो जावेगा । यह उसीके द्वारा मारा जावेगा । इसमें संशय नहीं है ॥342-344॥

किसी एक दिन राजा भेषज, रानी मद्री, शिशुपाल तथा अन्य लोग बड़ी उत्सुकताके साथ श्रीकृष्णके दर्शन करने के लिए द्वारावती नगरी गये थे वहाँ श्रीकृष्णके देखते ही शिशुपालका तीसरा नेत्र अदृश्य हो गया सो ठीक ही है क्योंकि द्रव्योंकी शक्तियाँ विचित्र हुआ करती हैं ॥ 345-346॥

यह देख मद्रीको निमित्तज्ञानीकी बात याद आ गई इसलिए उसने डरकर श्रीकृष्णसे याचना की कि 'हे पूज्य ! मेरे लिए पुत्रभिक्षा दीजिये' ॥347॥

श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि 'हे अम्ब ! सौ अपराध पूर्ण हुए बिना इसे मुझसे भय नहीं है अर्थात् जब तक सौ अपराध नहीं हो जावेंगे तब तक मैं इसे नहीं मारूँगा' इसप्रकार श्रीकृष्णसे वरदान पाकर मद्री अपने नगरको चली गई ॥348॥

इधर वह शिशुपाल बाल - अवस्था में ही सूर्य के समान देदीप्यमान होने लगा क्योंकि जिस प्रकार सूर्य का मण्डल विशुद्ध होता है उसी प्रकार उसका मण्डल-मन्त्री आदिका समूह भी विशुद्ध था - विद्वेष रहित था, जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार शिशुपाल भी उदित होते ही निरन्तर शत्रुरूपी अन्धकार को नष्ट कर देता था, जिस प्रकार सूर्य पद्म अर्थात् कमलों को आनन्दित करता है उसी प्रकार शिशुपाल भी पद्म अर्थात् लक्ष्मी को आनन्दित करता था, जिस प्रकार सूर्यकी किरण तीक्ष्ण अर्थात् उष्ण होती है उसी प्रकार उसका महसूल भी तीक्ष्ण अर्थात् भारी था, जिस प्रकार सूर्य क्रूर अर्थात् उष्ण होता है उसी प्रकार शिशुपाल भी क्रूर अर्थात् दुष्ट था, जिस प्रकार सूर्य प्रतापवान् अर्थात् तेज से सहित होता है उसी प्रकार शिशुपाल भी प्रतापवान् अर्थात् सेना और कोशसे उत्पन्न हुए तेज से युक्त था और जिस प्रकार सूर्य अन्य पदार्थों के तेज को छिपाकर भूभूत अर्थात् पर्वत के मस्तकपर - शिखर पर अपने पाद अर्थात् किरण स्थापित करता है उसी प्रकार शिशुपाल भी अन्य लोगों के तेज को आच्छादितकर राजाओं के मस्तकपर अपने पाद अर्थात् चरण रखता था । वह आक्रमणकी इच्छा रखनेवाले पराक्रम से अपने आपको सब राजाओं में श्रेष्ठ समझने लगा और सिंह के समान, श्रीकृष्णके ऊपर भी आक्रमण कर उन्हें अपनी इच्छानुसार चलानेकी इच्छा करने लगा ॥349-351॥

इस प्रकार अहंकारी, समस्त संसार में फैलनेवाले यशसे उपलक्षित और अपनी आयुको समर्पण करनेवाले उस शिशुपालने श्रीकृष्णके सौ अपराध कर डाले ॥352॥

वह अपने आपको ऊँचा - श्रेष्ठ बनाकर सबका शिरोमणि समझता था, सदा करने योग्य कार्योंकी पक्षसे सहित रहता था और श्रीकृष्णको भी ललकारकर उनकी लक्ष्मी छीननेका उद्यम करता था ॥353॥

शान्त हुआ भी शत्रुओं का समूह पापोंके समूह के समान नष्ट कर ही देता है इसलिए विजयकी इच्छा रखनेवाले राजा को मुमुक्षुके समान, शत्रु को नष्ट करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥354॥

गणधर भगवान्, महारानी रूक्मिणीसे कहते हैं कि इस प्रकार समय बीत रहा था कि इसी बीच में तेरा पिता तुझे बड़ी प्रसन्नतासे शिशुपालको देनेके लिए उद्यत हो गया । जब युद्धकी चाह रखनेवाले नारदने यह बात सुनी तो वह श्रीकृष्णको सब समाचार बतला आया

। श्रीकृष्णने छह प्रकारकी सेना के साथ जाकर उस बलवान् शिशुपालको मारा और तुझे लेकर महादेवीके पट्टपर नियुक्त किया । गणधर भगवान् के यह वचन सुनकर रूक्मिणीको बड़ा हर्ष हुआ । आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि इस तरह रूक्मिणीकी कथा सुनकर दुर्बुद्धिके सिवाय ऐसा कौन मनुष्य होगा जो कि महामुनियोंको मलिन देखकर उनसे घृणा करेगा ॥355-358॥

अथानन्तर-रानी जाम्बवतीने भी बड़े आदरके साथ नमस्कार कर गणधर भगवान् से अपने पूर्वभव पूछे और गणधर भगवान् भी इस प्रकार कहने लगे कि इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है । उसके वीतशोक नगर में दमक नाम का वैश्य रहता था ॥359-360॥

उसकी स्त्री का नाम देवमति था, और उन दोनोंके एक देविला नाम की पुत्री थी । वह पुत्री वसुमित्र के लिए दी गई थी परन्तु कुछ समय बाद विधवा हो गई जिससे विरक्त होकर उसने जिनदेव नामक मुनिराज के पास जाकर व्रत ग्रहण कर लिये और आयु के अन्त में वह मरकर मेरु पर्वत के नन्दनवन में व्यन्तर देवी हुई ॥361-362॥

तदनन्तर वहाँ की चौरासी हजार वर्षकी आयु समाप्त होने पर वह वहाँ से चयकर पुष्कलावती देशके विजयपुर नामक नगर में मधुषेण वैश्यकी बन्धुमती स्त्रीसे अतिशय सुन्दरी बन्धुयशा नाम की पुत्री हुई । उसका अभ्युदय दिनोंदिन बढ़ता ही जाता था । वहींपर उसकी जिनदेवकी पुत्री जिनदत्ता नाम की एक सखी थी उसके साथ उसने उपवास किये, जिसके फलस्वरूप मरकर प्रथम स्वर्ग में कुबेरकी देवांगना हुई ॥363-365॥

वहाँसे चयकर पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रनामक वैश्य और उसकी सुभद्रा स्त्रीके सुमति नाम की उत्तम पुत्री हुई । उसने वहाँ सुव्रता नाम की आर्थिकाके लिए आहार दान देकर रत्नावली नाम का उपवास किया, जिससे ब्रह्म स्वर्ग में श्रेष्ठ अप्सरा हुई । बहुत दिन बाद वहाँसे चयकर इसी जम्बूद्वीप के विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणीपर जाम्बव नाम के नगर में राजा जाम्बव और रानी जम्बुषेणाके तू जाम्बवती नाम की पुत्री हुई । उसी विजयार्थ पर्वतपर पवनवेग तथा श्यामलाका पुत्र नमि रहता था वह रिश्तेमें भाईका साला था और तुझे चाहता था । एक दिन वह ज्योतिर्वनमें बैठा था वहाँ तेरे प्रति तीव्र इच्छा होने के कारण उसने कहा कि यदि जाम्बवती मुझे नहीं दी जावेगी तो मैं उसे छीनकर ले लूँगा । यह सुनकर तेरे पिता जाम्बवको बड़ा क्रोध आ गया । उसने उसे खानेके लिए माक्षिकलक्षिता नाम की विद्या भेजी । उस समय वहाँ किन्नरपुर का राजा नमिकुमारका मामा यक्षमाली विद्याधर विद्यमान था उसने वह विद्या छेद डाली ॥366-372॥

अपनी सब विद्याओं के छेदी जानेकी बात सुनकर राजा जाम्बवने अपना जम्बु नाम पुत्र भेजा । सेना के साथ आक्रमण करता हुआ जम्बुकुमार जब वहाँ पहुँचा तो वह नमि डरकर अपने मामाके साथ अपने स्थानसे भाग खड़ा हुआ सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य बिना विचारके किये जाते हैं उनका फल पराभवके सिवाय और क्या हो सकता है ? ॥373-374॥

नारद, यह सब जानकर शीघ्र ही कृष्णके पास गया और जाम्बवतीके अतिशय सुन्दररूप का वर्णन करने लगा । यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा कि मैं उस सतीको हठात् (जबरदस्ती) हरण करूँगा । यह कहकर वे अपनी सेना रूपी सम्पत्तिके साथ चल पड़े और विजयार्थ पर्वत के समीपवर्ती वन में ठहर गये । बलदेव उनके साथ थे ही । यह कार्य अत्यन्त कठिन है ऐसा जानकर उन्होंने उपवासका नियम लिया और रात्रिके समय मन में विचार किया कि यह कार्य किसके द्वारा सिद्ध होगा । देखो, जिसने तीन खण्ड वशकर लिये ऐसे श्रीकृष्णका भी भविष्य वहाँ खण्डित दिखने लगा परन्तु उस विद्याधर राजा के विरोधी श्रीकृष्णका पुण्य भी कुछ वैसा ही प्रबल था ॥375-378॥

कि जिससे पूर्व जन्मका यक्षिल नाम का छोटा भाई, जो तपकर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ था, आया और कहने लगा कि 'मैं ये दो विद्याएँ देता हूँ इन्हें तुम सिद्ध करो' इस प्रकार कह कर तथा विद्याएँ सिद्ध करने की विधि बतला कर वह स्वर्ग चला गया । इधर श्रीकृष्ण क्षीरसागर बनाकर उसमें नागशय्यापर आरूढ़ हुए और विधि पूर्वक चार माह तक विद्याएँ सिद्ध करते रहे । अन्त में बलदेव को सिंहवाहिनी और श्रीकृष्णको गरुड़वाहिनी विद्या सिद्ध हो गई । तदनन्तर उन विद्याओं पर आरूढ़ होकर श्रीकृष्णने युद्धमें जाम्बवको जीता और उसकी पुत्री तुझ जाम्बवती को ले आये । घर आकर उन्होंने तुझे बड़ी प्रीतिके साथ महादेवीके पद पर नियुक्त किया ॥ 379-382॥

यद्यपि पूर्व जन्मका वृत्तान्त अस्पष्ट था तो भी वक्ता विशेषके मुखसे सुननेके कारण वह सबका सब जाम्बवतीको प्रत्यक्षके समान स्पष्ट हो गया ॥383॥

अथानन्तर - इन्हीं गणनायक मुनिराजको नमस्कार कर सुसीमा नाम की पट्टरानी अपने पूर्व भवोंका सम्बन्ध पूछने लगी ॥384॥

तब शिष्यजनों के अकारण बन्धु गणधर भगवान् अपने वचन रूपी किरणोंके समूह से उसके मनरूपी कमल को प्रफुल्लित करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥385॥

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वार्ध भागके पूर्व विदेह में एक अतिशय प्रसिद्ध मंगलावती नाम का देश है जो प्राणियोंके भोगोपभोगका एक ही साधन है । उसमें रत्नसंचय नाम का एक नगर है । उसमें राजा विश्वदेव राज्य करता था और उसके शोभासम्पन्न अनुन्दरी नाम की रानी थी ॥386-387॥

किसी एक दिन अयोध्याके राजा ने राजा विश्वदेव को मार डाला इसलिए अत्यन्त शोकके कारण मंत्रियोंके निषेध करनेपर भी वह रानी अग्निमें प्रवेश कर जल मरी । मर कर वह विजयार्थ पर्वत पर दश हजार वर्षकी आयु वाली व्यन्तर देवी हुई । वहाँ की आयु पूर्ण होने पर वह अपने कर्मोंके अनुसार संसार में भ्रमण करती रही । तदनन्तर किसी समय इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी शालिग्राममें यक्षकी स्त्री देवसेना के यक्षदेवी नाम की बुद्धिमती पुत्री हुई ॥388-390॥

किसी एक दिन उसने धर्मसेन मुनिके पास जाकर व्रत ग्रहण किये और एक महीनेका उपवास करनेवाले मुनिराजको उसने आहार दिया ॥ 391॥

यक्षदेवी किसी दिन क्रीड़ा करने के लिए वन में गई थी । वहाँ अचानक बड़ी वर्षा हुई । उसके भय से वह एक गुफामें चली गई । वहाँ एक अजगरने उसे निगल लिया जिससे हरिवर्ष नामक भोग - भूमिमें उत्पन्न हुई । वहाँ के भोग भोगकर नागकुमारी हुई । फिर वहाँसे चय कर विदेह क्षेत्रके पुष्कलावती देश - सम्बन्धी पुण्डरीकिणी नगरी में राजा अशोक और सोमश्री रानी के श्रीकान्ता नाम की पुत्री हुई । किसी एक दिन उसने जिनदत्ता आर्यिकाके पास दीक्षा लेकर अच्छे - अच्छे व्रतों का पालन किया, चिरकाल तक तपस्या की और कनकावली नाम का घोर उपवास किया ॥391-395॥

इन सबके प्रभाव से वह माहेन्द्र स्वर्ग में देवी हुई, वहाँ देवों के भोग भोगकर आयु के अन्त में कहाँसे च्युत हुई और सुराष्ट्रवर्धन राजाकी रानी सुज्येष्ठाके अच्छे लक्षणोंवाली तू पुत्री हुई है और श्रीकृष्णकी पट्टरानी होकर आनन्दसे बढ़ रही है ॥396-397॥

इस प्रकार अपने भवान्तरोंका सम्बन्ध सुनकर सुसीमा रानी हर्षको प्राप्त हुई सो ठीक ही है क्योंकि अपनी उत्तरोत्तर वृद्धि को सुन कर कौन संतोषको प्राप्त नहीं होता ? ॥398॥

अथानन्तर - महारानी लक्ष्मणा भी मुनिराजको नमस्कार कर अपने भव सुननेकी इच्छा करने लगी और इसका अनुग्रह करने की इच्छा रखनेवाले मुनिराज भी इस प्रकार कहने लगे । इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में एक पुष्कलावती नाम का देश है । उसके अरिष्टपुर नगर में राजा वासव राज्य करता था । उसकी वसुमती नाम की रानी थी और उन दोनोंके समस्त गुणों की खान स्वरूप सुषेण नाम का पुत्र था । किसी कारणसे राजा वासवने विरक्त होकर सागरसेन मुनिराज के समीप दीक्षा ले ली परन्तु रानी वसुमती पुत्र के प्रेमसे मोहित होने के कारण गृहवास छोड़ने के लिए समर्थ नहीं हो सकी इसलिए कुचेष्टासे मरकर भीलनी हुई । एक दिन उसने नन्दिवर्धन नामक चारण मुनिके पास जाकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये ॥399-403॥

मर कर वह आठवें स्वर्ग में इन्द्र की प्यारी नृत्यकारिणी हुई । वहाँसे चयकर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीपर चन्द्रपुर नगर के राजा महेन्द्रकी रानी अनुन्दरीके नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली कनकमाला नाम की पुत्री हुई और सिद्धविद्य नाम के स्वयंवरमें माला डालकर उसने हरिवाहनको अपना पति बनाया ॥404-406॥

किसी एक दिन उसने सिद्धकूटपर विराजमान यमधर नामक गुरुके पास जाकर अपने पहले भवोंकी परम्परा सुनी । तदनन्तर मुक्तावली नाम का उपवासकर तीसरे स्वर्ग की प्रिय इन्द्राणी हुई । वहाँ नौ कल्पकी उसकी आयु थी, आयु के अन्त में वहाँसे चयकर सुप्रकारनगर के स्वामी राजा शम्बरकी श्रीमती रानीसे पुत्री हुई है । तू भी पद्म और ध्रुवसेनकी छोटी बहिन है, गुणोंमें ज्येष्ठ है, सर्व लक्षणों से युक्त है और लक्ष्मणा तेरा नाम है । किसी एक दिन पवनवेग नाम का विद्याधर श्रीकृष्णके समीप जाकर कहने लगा कि हे चक्रपते ! विद्याधरोंके राजा शम्बरके एक लक्ष्मणा नाम की पुत्री है जो आकाश में निर्मल चन्द्रमाकी कलाकी तरह सुशोभित है, कामको उद्दीपित करनेवाली है और आपके योग्य है । पवनवेग के वचन सुनकर श्रीकृष्णने 'तो तूही उसे ले आ' यह कहकर उसे ही भेजा और वह भी शीघ्र ही जाकर तेरे माता - पिताकी स्वीकृतिसे तुझे ले आया तथा श्रीकृष्णको समर्पित कर दी ॥407-413॥

कृष्णने भी महादेवीका पट्ट बाँधकर तुझे इस प्रकार सन्मानित किया है इस तरह अपने भवान्तर सुनकर लक्ष्मणा बहुत ही प्रसन्न हुई ॥

तदनन्तर - श्रीकृष्णने गान्धारी, गौरी और पद्मावतीके भवान्तर पूछे । तब गणधरदेव इस प्रकार कहने लगे ॥415॥

इसी जम्बूद्वीप में एक सुकोशल नाम का देश है । उसकी अयोध्या नगरी में रूद्र नाम का राजा राज्य करता था और उसकी विनयश्री नाम की मनोहर रानी थी । किसी एक दिन उस रानीने सिद्धार्थ नामक वन में बुद्धार्थ नामक मुनिराज के लिए आहार दान दिया जिससे अपनी आयु पूरी होने पर उत्तरकुरू नामक उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुई । वहाँ के भोग भोगकर च्युत हुई तो चन्द्रमाकी चन्द्रवती नाम की देवी हुई । आयु समाप्त होने पर वहाँसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीप के विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीपर गगनवल्लभ नगर में विद्याधरों के कान्तिमान् राजा विद्युद्वेगकी रानी विद्युद्वेगा के सुरूपा नाम की पुत्री हुई । वह विद्या और पराक्रम से सुशोभित, नित्यालोक पुरके स्वामी राजा महेन्द्रविक्रमके लिए दी गई । किसी एक दिन वे दोनों दम्पति चैत्यालयोंमें जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने के लिए उत्सुक होकर सुमेरू पर्वत पर गये ॥416-421॥

वहाँपर विराजमान किन्हीं चारणऋद्धिधारी मुनिके मुखरूपी चन्द्रमासे झरे हुए अमृतके समान धर्म का दोनों कानोंसे पानकर वे दोनों ही परमतृप्तिको प्राप्त हुए ॥422॥

उन दोनों में से राजा महेन्द्रविक्रमने तो उन्हीं चारण मुनिराज के समीप दीक्षा ले ली और रानी सुरूपाने सुभद्रा नामक आर्यिकाके चरणमूलमें जाकर संयम धारण कर लिया ॥423॥

आयु पूरीकर सौधर्म स्वर्ग में देवी हुई, जब वहाँकी एक पत्न्य प्रमाण आयु पूरी हुई तो वहाँसे चयकर गान्धार देश की पुष्करावती नगरी के राजा इन्द्रगिरि की मेरूमती रानीसे गान्धारी नाम की पुत्री हुई है। राजा इन्द्रगिरि इसे अपनी बूआके लड़केको देना चाहता था, जब यह बात जगत् को अप्रिय पापबुद्धि नारदने सुनी तब शीघ्र ही उसने तुम्हें इसकी खबर दी । सुनते ही तू भी प्रेमके वश हो गया और सेना सजाकर युद्धके लिए चल पड़ा । युद्धमें राजा इन्द्रगिरि और उसके सहायक अन्य राजाओं को पराजितकर इस गान्धारीको ले आया और फिर इसे महादेवीका पट्टबन्ध प्रदान कर दिया - पट्टरानी बना लिया ॥424-428॥

अथानन्तर - गणधर भगवान् कहने लगे कि अब मैं गौरीके भव कहता हूँ सो हे कृष्ण तू सुन ! इसी जम्बू द्वीप में एक पुन्नागपुर नाम का अतिशय प्रसिद्ध बड़ा भारी नगर है । उसकी रक्षा करनेवाला राजा हेमाभ था और उसकी रानी यशस्वती थी । किसी एक दिन यशोधर नाम के चरण ऋद्धिधारी मुनिराजको देखकर उसे अपने पूर्व भवोंका स्मरण हो आया । राजा के पूछनेपर वह अपने दांतोकी कान्ति से उन्हें नहलाती हुई इस प्रकार अपने पूर्वभव कहने लगी ॥429-431॥

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मेरूसे पश्चिमकी ओर जो विदेह क्षेत्र हैं उसमें एक अशोकपुर नाम का नगर है । उसमें आनन्द नाम का एक उत्तम वैश्य रहता था उसकी स्त्रीके एक आनन्दयशा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई । किसी समय आनन्दयशाने अमितसागर मुनिराज के लिए आहार दान देकर पन्चाश्रय प्राप्त किये । इस दानजन्य पुण्य के प्रभाव से वह आयु पूर्ण होने पर उत्तरकुरूमें उत्पन्न हुई, वहाँके सुख भोगनेके बाद भवनवासियोंके इन्द्र की इन्द्राणी हुई और वहाँसे च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुई हूँ । इस प्रकार रानी यशस्वतीने अपने पति राजा हेमाभके लिए बड़े हर्ष से अपने पूर्वभव सुनाये । तदनन्तर, रानी यशस्वती किसी समय सिद्धार्थ नामक वन में गई, वहाँ सागरसेन नामक मुनिराज के पास उसने उपवास ग्रहण किये । आयु के अन्त में मरकर प्रथम स्वर्ग में देवी हुई । तदनन्तर वहाँकी स्थिति पूरी होने पर इसी जम्बूद्वीपकी कौशाम्बी नगरी में सुमति नामक सेठकी सुभद्रा नाम की स्त्रीसे धार्मिकी नाम की पुत्री हुई ॥432-437॥

यहाँपर उसने जिनमति आर्यिकाके दिये हुए जिनगुणसम्पत्ति नाम के व्रतका अच्छी तरह पालन किया जिसके प्रभाव से मरकर महाशुक्र स्वर्ग में देवी हुई । बहुत समय बाद वहाँसे चयकर वीतशोकनगर के स्वामी राजा मेरूचन्द्रकी चन्द्रवती रानी के रूप, लावण्य और कान्ति आदिकी खान यह गौरी नाम की पुत्री हुई है । स्नेहसे भरे, विजयपुर नगर के स्वामी राजा विजयनन्दनने यह लाकर तुझे दी है और तू ने भी इसे पट्टरानी बनाया है । इस प्रकार गणधर भगवान् ने गौरीके भवान्तर कहे जिन्हें सुनकर श्रीकृष्ण हर्षको प्राप्त हुए ॥438-441॥

तदनन्तर - गुणों की खान, गणधर देव, लोगोंका मन हरण करने वाले पद्मावती के पूर्व भवों का सम्बन्ध इस प्रकार कहने लगे ॥442॥ इसी भरतक्षेत्रकी उज्जयिनी नगरी में राजा विजय राज्य करता था उसकी विक्रान्तिके समान अपराजिता नाम की रानी थी । उन दोनोंके विनयश्री नाम की पुत्री थी । वह हस्तशीर्षपुरके राजा हरिषेण को दी गई थी । विनयश्रीने एक बार समाधिगुप्त मुनिराज के लिए बड़े हर्ष से आहार - दान दिया था जिसके पुण्य से वह हैमवत क्षेत्र में उत्पन्न हुई । चिरकाल तक वहाँके भोग भोगकर आयु के अन्त में वह चन्द्रमाकी

रोहिणी नाम की देवी हुई। जब एक पल्य प्रमाण वहांकी आयु समाप्त हुई तब मगध देशके शाल्मलि गाँवमें रहनेवाले विजयदेवकी देविला स्त्रीसे पद्मदेवी नाम की पतिव्रता पुत्री हुई। उसने किसी समय वरधर्म नामक मुनिराज के पास 'मैं कष्टके समय भी अनजाना फल नहीं खाऊँगी' ऐसा दृढ़व्रत लिया। किसी एक समय आक्रमणकर घात करनेवाले भीलोंने उस गाँवको लूट लिया। उस समय सब लोग, भीलोंके राजा सिंहरथके डरसे पद्मदेवीको महाअटवीमें ले गये। वहाँ भूखसे पीड़ित होकर सब लोगोंने विषफल खा लिये जिससे वे शीघ्रही मर गये परन्तु व्रतभंगके डरसे पद्मदेवीने उन फलोंको छुआ भी नहीं इसलिए वह आहारके बिना ही मरकर हैमवत क्षेत्र नामक भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। आयु पूर्ण होने पर वहांसे चयकर स्वयंप्रभद्वीप में स्वयंप्रभ नामक देवकी स्वयंप्रभा नाम की देवी हुई। वहांसे चयकर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी जयन्तपुर नगर में वहांके राजा श्रीधर और रानी श्रीमतीके सुन्दर शरीरवाली विमलश्री नाम की पुत्री हुई। वह भद्रिलपुरके स्वामी राजा मेघरथकी इच्छित सुख देनेवाली रानी हुई थी। किसी समय शुद्ध बुद्धि के धारक राजा मेघनादने राज्य छोड़कर धर्म नामक मुनिराज के समीप व्रत धारण कर लिया जिससे वह सहस्रार नामक स्वर्ग में अठारह सागर की आयुवाला देदीप्यमान कान्तिका धारक इन्द्र हो गया। इधर रानी विमलश्रीने भी पद्मावती नामक आर्यिकाके पास जाकर संयम धारण कर लिया और आचाम्लवर्ध नाम का उपवास किया जिसके फलस्वरूप वह आयु के अन्त में उसी सहस्रार स्वर्ग में देवी हुई और आयु के अन्त में वहाँसे च्युत होकर अरिष्टपुर नगर के स्वामी राजा हिरण्यवर्माकी रानी श्रीमतीके यह पद्मावती नाम की पुत्री है। इसने स्नेहसे युक्त हो स्वयंवरमें रत्नमाला डालकर आपका सम्मान किया और तदनन्तर इस शीलवतीने महादेवीका पद प्राप्त किया। इस प्रकार गणधर भगवान् के मुखारविन्दसे अपने - अपने भव सुनकर श्रीकृष्णकी गौरी, गान्धारी और पद्मावती नाम की तीनों रानियाँ हर्षको प्राप्त हुई ॥ 443-459॥

इस प्रकार गुणों के भण्डार गणधर देवने स्पष्ट और मिष्ट अक्षरोंके द्वारा पूर्व भवावलीसे सुशोभित निर्णयका साक्षात् वर्णन कर दिखाया और श्रीकृष्ण भी अपनी प्यारी आठों रानियोंकी सुख - दुःखभरी कथाएँ अच्छी तरह सुनकर अन्त में प्रवृत्ति प्रदान करनेवाले संतोषको प्राप्त हुए।

वे देवियाँ भी अनेक जन्ममें कमाये हुए अपने पापोंका नाश करनेवाले श्री गणधर भगवान् के दिव्य वचन हृदय में धारण कर बहुत प्रसन्न हुई और सबने कल्याणकारी तथा बहुत भारी सुख प्रदान करनेवाले अर्हन्त भगवान् के धर्म में अपनी बुद्धि लगाई ॥461॥

'इस संसार में एक धर्म को छोड़कर दूसरा कार्य प्राणियोंका कल्याण करनेवाला नहीं है, धर्म रहित मूर्ख जीवोंका जो चरित्र है उसे धिक्कार है' इस प्रकार विचार करते हुए सब सभासदोंने पाप रहित होकर, श्री नेमिनाथ भगवान् का कहा हुआ धर्म स्वीकार किया ॥ 462॥

नमिनाथ भगवान, प्रद्युम्नकुमार, पद्म बलभद्र, कृष्ण, जरासन्ध, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती चरित

पर्व - 72

कथा :

अथानन्तर - तीनों जगत् की सभाभूमि अर्थात् समवसरण में अपने पूर्वभव जानकर बुद्धिमान् बलदेव ने सबको प्रकट करने के लिए प्रद्युम्न की उत्पत्ति का सम्बन्ध पूछा सो वरदत्त गणधर अनुग्रह की बुद्धि से इस प्रकार कहने लगे ॥1-2॥

इसी जम्बूद्वीप के मगधदेश सम्बन्धी शालिग्राम में रहनेवाले सोमदेव ब्राह्मण की एक अग्निला नाम की स्त्री थी ॥3॥

उन दोनों के अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो पुत्र थे, किसी एक दिन वे दोनों पुत्र नन्दिवर्धन नाम के दूसरे सुन्दर गाँव में गये। वहाँ उन्होंने नन्दिघोष नाम के वन में, मुनि-संघ के आभूषण-स्वरूप नन्दिवर्धन नामक मुनिराज के दर्शन किये ॥4-5॥

उन दोनों दुष्टों को आया हुआ देख, मुनिराज ने संघ के अन्य मुनियों से कहा कि 'ये दोनों मिथ्यात्व से दूषित हैं और विसंवाद करने के लिए आये हैं अतः आप लोगोंमेंसे कोई भी इनके साथ बातचीत न करें। अन्यथा इस निमित्तसे भारी उपसर्ग होगा' ॥6-7॥

शासन करने वाले गुरु के इस प्रकार के वचन सुनकर सब मुनि उस समय मौन लेकर बैठ गये ॥8॥

वे दोनों ब्राह्मण सब मुनियों को मौनी देखकर उनकी हँसी करते हुए अपने गाँव को जा रहे थे कि उन मुनियों में से एक सत्यक नाम के मुनि आहार करने के लिए दूसरे गाँवमें गये थे और लौटकर उस समय आ रहे थे। अहंकार से प्रेरित हुए दोनों ब्राह्मण उन सत्यक मुनि को देख उनके पास जा पहुँचे और कहने लगे कि 'अरे नंगे ! न तो कोई आप्त है, न आगम है, और न कोई पदार्थ ही है फिर क्यों मूर्ख बनकर

प्रत्यक्ष को नष्ट करनेवाले इस उन्मार्ग में व्यर्थ ही क्लेश उठा रहा है'। इस प्रकार उन दोनों ने उक्त मुनि का बहुत ही तिरस्कार किया। मुनि ने भी, जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमलसे निकले विवक्षित तथा अविवक्षित रूप से अनेक धर्मों का निरूपण करनेवाले, एवं प्रत्यक्ष सिद्ध द्रव्य तत्त्व का हेतु सहित कथन करनेवाले अतिशय उत्कृष्ट स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर उसका उपदेश देनेवाले आप्तकी प्रामाणिकता सिद्ध कर दिखाई तथा परोक्ष तत्त्व के विषय में भी उन्हीं आप्त के द्वारा कथित आगम की समीचीन स्थितिका निरूपण कर उन दुष्ट ब्राह्मणोंकी वाद करने की खुजली दूर की एवं विद्वज्जनों के द्वारा समर्पण की हुई उनकी विजय - पताका छीन ली। मान भंग होने से जिन्हें क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे दोनों ही पापी ब्राह्मण तीक्ष्ण शस्त्र लेकर दूसरे दिन रात्रि के समय निकले। उस समय शुद्ध चित्त के धारक वही सत्यक मुनि, एकान्त स्थान में प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे सो वे पापी ब्राह्मण उन्हें शस्त्रसे मारनेके लिए उद्यत हो गये। यह देखकर और यह अन्याय हो रहा है ऐसा विचारकर सुवर्णयक्ष ने क्रोध में आकर उन दोनों ब्राह्मणों को कीलित हुए के समान स्तम्भित कर दिया-ज्यों-का-त्यों रोक दिया ॥9-17॥

यह देखकर उनके माता, पिता, भाई आदि सब व्याकुल होकर मुनियोंकी शरण में आये। तब बुद्धिमान् यक्षने कहा कि 'यदि तुम लोग हिंसाधर्म को छोड़कर जैन-धर्म स्वीकृत करोगे तो इन दोनोंका छुटकारा हो सकता है' ॥18-19॥

यक्ष की बात सुनकर सब डर गये और कहने लगे कि हम लोग शीघ्र ही ऐसा करेंगे अर्थात् जैनधर्म धारण करेंगे। इतना कहकर उन लोगोंने मुनिराजकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम किया और झूठमूठ ही श्रावक धर्म स्वीकृत कर लिया। तदनन्तर दोनों पुत्र जब कीलित होनेसे छूट आये तब उनके माता - पिता आदिने उनसे कहा कि अब यह धर्म छोड़ देना चाहिये क्योंकि कारण वश ही इसे धारण कर लिया था। उन पुत्रोंकी काललब्धि अनुकूल थी अतः वे अपने द्वारा ग्रहण किये हुए सन्मार्ग से विचलित नहीं हुए ॥20-22॥

पुत्रों की यह प्रवृत्ति देख, उनके माता - पिता आदि उनसे क्रोध करने लगे और मरकर पाप के उदय से दीर्घकाल तक अनेक कुगतियोंमें भ्रमण करते रहे। उधर उन दोनों ब्राह्मण - पुत्रों ने व्रतसहित जीवन पूरा किया इसलिए मरकर सौधर्म स्वर्ग में पाँच पल्यकी आयुवाले पारिषद जातिके श्रेष्ठ देव हुए ॥23-24॥

वहाँ पर उन्होंने अनेक उत्तम सुख भोगे। तदनन्तर इसी जम्बूद्वीप के कोशल देश सम्बन्धी अयोध्या नगरी में शत्रुओं को जीतनेवाला अरिंजय नाम का पराक्रमी राजा राज्य करता था। उसी नगरी में एक अर्हद्वास नाम का सेठ रहता था उसकी स्त्री का नाम वप्रश्री था। वे अग्निभूति और वायुभूतिक जीव पाँचवें स्वर्ग से चयकर उन्हीं अर्हद्वास और वप्रश्रीके क्रमशः पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के पुत्र हुए। किसी एक दिन राजा अरिंजय, सिद्धार्थ नामक वन में विराजमान महेन्द्र नामक गुरुके समीप गया। वहाँ उसने अनेक लोगों के साथ धर्म का उपदेश सुना जिससे उसकी बुद्धि अत्यन्त पवित्र हो गई और उसने भार धारण करने में समर्थ अरिन्दम नामक पुत्र के ऊपर राज्य भार रखकर अर्हद्वास आदिके साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय पूर्णभद्र नामक श्रेष्ठि - पुत्र ने मुनिराज से पूछा कि हमारे पूर्वभवके माता - पिता इस समय कहाँ पर हैं? उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि तेरे पिता सोमदेवने जिनधर्म से विरुद्ध होकर बहुत पाप किये थे अतः वह मरकर रत्नप्रभा पृथिवीके सर्पावर्त नाम के विलमें नारकी हुआ था और वहाँ से निकलकर अब इसी नगर में काकजंघ नाम का चाण्डाल हुआ है। इसी तरह तेरी माता अग्निलाका जीव मरकर उसी चाण्डालके घर कुत्ती हुआ है। मुनिराज के वचन सुनकर पूर्णभद्र ने उन दोनों जीवों को संबोधा जिससे उपशम भावको प्राप्त होकर दोनोंने विधिपूर्वक संन्यास धारण किया और उसके फलस्वरूप काकजंघ तो नन्दीश्वरद्वीप में कुबेर नाम का व्यन्तर देव हुआ। और कुत्ती उसी नगर के स्वामी अरिन्दम नामक राजाकी श्रीमती नाम की रानीसे सुप्रबुद्धा नाम की प्यारी पुत्री हुई ॥25-34॥

जब वह पूर्ण यौवनवती होकर स्वयंवर - मण्डप की ओर जा रही थी तब उसके पूर्व-जन्म के पति कुबेर नामक यक्ष ने उसे समझाया जिससे उसने प्रियदर्शना नाम की आर्यिकाके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली और आयु के अन्त में वह सौधर्म इन्द्र की मणिचूला नाम की रूपवती देवी हुई। इधर पूर्णभद्र और उसके छोटे भाई मणिभद्र ने बड़ी दृढ़ता से श्रावक के व्रत पालन किये, सात क्षेत्रों में धन खर्च किया और आयु के अन्त में दोनों ही सौधर्म नामक स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए ॥35-37॥

वहाँ उनकी दो सागर की आयु थी, उसके पूर्ण होने पर वे इसी जम्बूद्वीप के कुरूजांगल देश सम्बन्धी हस्तिनापुर नगर के राजा अर्हद्वासकी काश्यपा नाम की रानीसे मधु और कीडव नाम के पुत्र हुए। किसी एकदिन राजा अर्हद्वासने मधुको राज्य और कीडवको युवराज पद देकर विमलप्रभ मुनिकी निर्दोष शिष्यता प्राप्त कर ली अर्थात् उनके पास दीक्षा धारण कर ली। किसी समय अमलकण्ठ नगरका राजा

कनकरथ (हेमरथ) राजा मधुकी सेवा करने के लिए उसके नगर आया था वहाँ उसकी कनकमाला नाम की स्त्रीको देखकर राजा मधु काम से पीड़ित हो गया । निदान उसने कनकमालाको स्वीकृत कर लिया -अपनी स्त्री बना लिया । इस घटना से राजा कनकरथको बहुत निर्वेद हुआ जिससे उसने द्विजटि नामक तापसके पास व्रत ले लिये । इधर मधु और क्रीडवका काल सुख से व्यतीत हो रहा था । किसी एक दिन मधुने विमलवाहन नामक मुनिराजसे अच्छी तरह धर्म का स्वरूप सुना, अपने दुराचारकी निन्दा की और क्रीडव के साथ - साथ संयम धारण कर लिया । आयु के अन्त में विधिपूर्वक आराधना कर मधु और क्रीडव दोनों ही महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र हुए । आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर बड़ा भाई मधुका जीव अपने अवशिष्ट पुण्य कर्म के उदय से शुभ स्वप्न पूर्वक रूक्मिणीके पुत्र उत्पन्न हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि दुराचारके द्वारा कमाया हुआ पाप सम्यक् चरित्रके द्वारा नष्ट हो ही जाता है ॥35-46॥

इधर राजा कनकरथका जीव तपश्चरणकर धूमकेतु नाम का ज्यौतिषी देव हुआ था । वह बालक प्रद्युम्नके पूर्वभवमें संचित किये हुए तीव्र पाप के समान जान पड़ता था । किसी दूसरे दिन वह इच्छानुसार विहार करने के लिए आकाश में वायुके समान वेगसे जा रहा था कि जब उसका विमान चरमशरीरी प्रद्युम्नके ऊपर पहुँचा तब वह ऐसा रूक गया मानो किन्हीं दूसरोंने उसे पकड़कर रोक लिया हो । यह कार्य किसने किया है ? यह जानने के लिए जब उसने उपयोग लगाया तब विभंगावधि ज्ञान से उसे मालूम हुआ कि यह हमारा पूर्वजन्मका शत्रु है । जब मैं राजा कनकरथ था तब इसने दर्पवश मेरी स्त्री का अपहरण किया था । अब इसे उसका फल अवश्य ही चखाता हूँ । ऐसा विचारकर वह वैर रूपी अग्निसे प्रज्वलित हो उठा ॥47-50॥

वह अन्तःपुरमें रहनेवाले लोगों को महानिद्रासे अचेतकर बालक प्रद्युम्नको उठा लाया और आकाशमार्गसे बहुत दूर ले जाकर सोचने लगा कि मैं इसकी ऐसी दशा करूँगा कि जिससे चिरकाल तक महादुःख भोगकर प्राण छोड़ दे - मर जावे । ऐसा विचारकर वह बालकके पुण्य से प्रेरित हुआ आकाश से नीचे उतरा और खदिर नाम की अटवीमें तक्षक शिलाके नीचे बालक को रखकर चला गया ॥51-53॥

उसी समय विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीके आभूषण स्वरूप मृतवती नामक देशके कालकूट नगरका स्वामी कालसंवर नाम का विद्याधर राजा अपनी कान्चनमाला नाम की स्त्रीके साथ जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओंकी पूजा करने के लिए जा रहा था ॥54-55॥

वह उस बड़ी भारी शिलाके समस्त अंगोंको जोरसे हिलता देख आश्चर्यमें पड़ गया । सब ओर देखनेपर उसे देदीप्यमान कान्तिका धारक बालक दिखाई दिया । देखते ही उसने निश्चय कर लिया कि 'यह सामान्य बालक नहीं है, कोई पूर्वजन्मका वैरी पापी जीव क्रोधवश इसे यहाँ रख गया है । हे प्रिये ! देख, यह कैसा बालसूर्य के समान देदीप्यमान हो रहा है । इसलिए हे सुन्दरी ! यह तेरा ही पुत्र हो, तू इसे ले ले' । इस प्रकार बालक को उठाकर विद्याधरने अपनी स्त्रीसे कहा । विद्याधरीने उत्तर दिया कि 'यदि आप इसे युवराजपद देते हैं तो ले लूँगी' । राजा ने उसकी बात स्वीकार कर ली और रानी के कानमें पड़े हुए सुवर्ण के पत्रसे ही उसका पट्टबंध कर दिया ॥56-59॥

इस प्रकार राजा कालसंवर और रानी कान्चनमाला ने उस बालक को लेकर अनेक उत्सवोंसे भरे हुए अपने नगर में प्रवेश किया और बालकका विधिपूर्वक देवदत्त नाम रक्खा ॥60॥

उस बालकके लालन - पालन तथा लीलाके विलासोंसे जिनका चित्त प्रसन्न हो रहा है और जो सदा उत्तमोत्तम सुखों का अनुभव करते रहे हैं ऐसे राजा - रानीका समय विना किसी छलसे व्यतीत होने लगा ॥61॥

इधर जिस प्रकार दावानलसे गुलाबकी वेल जलने लगती है उसी प्रकार पुत्र - विरहके कारण रूक्मिणी शोकाग्निसे जलने लगी ॥62॥

जिस प्रकार चारित्रहीन मनुष्यकी दयाभावसे रहित सम्पत्ति शोभा नहीं देती, अथवा जिस प्रकार कार्य और अकार्यके विचारमें शिथिल बुद्धि सुशोभित नहीं होती और जिस प्रकार काल पाकर जिसका पानी बरस चुका है ऐसी मेघमाला सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार वह रूक्मिणी भी सुशोभित नहीं हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि प्राण निकल जानेपर शरीर की शोभा कहाँ रहती है ? ॥63- 64॥

रूक्मिणी की भांति श्रीकृष्ण भी पुत्र के वियोगसे शोकको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि जब वृक्ष और लताका संयोग रहता है तब उन्हें नष्ट करने के लिए अलग - अलग वज्रपातकी आवश्यकता नहीं रहती ॥65॥

जिस प्रकार प्याससे पीड़ित मनुष्य के लिए जलाशयका मिलना सुखदायक होता है और मयूर के लिए मेघका आना सुखदायी होता है उसी प्रकार श्रीकृष्णको सुख देनेके लिए नारद उनके पास आया ॥66॥

उसे देखते ही श्रीकृष्णने बालकका सब वृत्तान्त सुनाकर कहा कि जिस किसी भी उपायसे जहाँ कहीं भी संभव हो आप उस बालकी खोज कीजिये ॥67॥

यह सुनकर नारद कहने लगा कि सुनो 'पूर्वविदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरी में स्वयंप्रभ तीर्थकरसे मैंने बालककी बात पूछी थी । अपने प्रश्नके उत्तरमें मैंने उनकी वाणीसे बालकके पूर्व भव जान लिये हैं, वह वृद्धिका स्थान है अर्थात् सब प्रकारसे बढ़ेगा, उसे बड़ा लाभ होगा और सोलह वर्ष बाद उसका आप दोनोंके साथ समागम हो जावेगा' । इस प्रकार नारदने जैसा सुना था वैसा श्रीकृष्ण तथा रूक्मिणीको समझा दिया ॥68- 70॥

जिस प्रकार जिनेंद्र भगवान् का जन्म होते ही देवोंकी सेना तथा मनुष्य लोक में परम हर्ष उत्पन्न होता है उसी प्रकार नारदके वचन सुनते ही रूक्मिणी तथा श्रीकृष्णको परम हर्ष उत्पन्न हुआ ॥71॥

उधर पुण्यात्मा देवदत्त (प्रद्युम्न) क्रम - क्रम से नवयौवनको प्राप्त हुआ । किसी एक समय अतिशय बलवान् प्रद्युम्न पिताकी आज्ञा से सेना साथ लेकर अपने पराक्रम से स्वयं ही अग्निराज शत्रु के ऊपर जा चढ़ा और उसे युद्धमें प्रताप रहित बना जीतकर ले आया तथा पिताको सौंप दिया ॥72- 73॥

उस समय राजा कालसंवरने, जिसका पराक्रम देख लिया है ऐसे प्रद्युम्नका श्रेष्ठ वस्तुएँ देकर बहुत भारी सम्मान किया ॥74॥

यौवन ही जिसका आभूषण है, जो स्वर्गसे पृथिवीपर अवतीर्ण हुए के समान जान पड़ता है, और जो आभूषणोंसे अत्यन्त देदीप्यमान है ऐसे प्रद्युम्नको देखकर किसी समय राजा कालसंवरकी रानी कान्चनमालाकी बुद्धि काम से आक्रान्त हो गई, वह पूर्वजन्मसे आये हुए स्नेहके कारण अनेक विकार करने लगी, तथा पापसे युक्त हो अपने मनका भाव प्रकट करती हुई कुमारसे कहने लगी कि 'हे कुमार' मैं तेरे लिए प्रज्ञप्ति नाम की विद्या देना चाहती हूँ उसे तू विधि पूर्वक ग्रहण कर' । इस प्रकार माया पूर्व चेष्टासे युक्त रानीने कहा । बुद्धिमान् प्रद्युम्नने भी 'हे माता ! मैं वैसा ही करूँगा' यह कहकर बड़े हर्ष से उससे वह विद्या ले ली और उसे सिद्ध करने के लिए सिद्धकूट चैत्यालयकी ओर गमन किया । वहाँ जाकर उसने चारणऋद्धि धारी मुनियोंको नमस्कार किया, उनसे धर्मोपदेश सुना और तदनन्तर उनके कहे अनुसार विद्या सिद्ध करने के लिए सन्जयन्त मुनिकी प्रतिमाका आश्रय लिया ॥75-80॥

उसने संजयन्त मुनिका पुराण सुना, उनकी प्रतिमाके चरणोंके आश्रय से विद्या सिद्ध की और तदनन्तर हर्षित होता हुआ वह अपने नगरको लौट आया ॥81॥

विद्या सिद्ध होनेसे उसके शरीर की शोभा दूनी हो गई थी अतः उसे देखकर रानी कान्चनमाला काम से कातर हो उठी । उसने अनेक उपायों के द्वारा कुमारसे प्रार्थना की परन्तु महाबुद्धिमान् कुमार ने उसकी इच्छा नहीं की । जब उसे इस बात का पता चला कि यह कुमार पुरुषव्रत सम्पन्न है और हमारे सहवासके योग्य नहीं है तब उसने अपने पति कालसंवरसे कहा कि यह कुमार कुचेष्टा युक्त है अतः जान पड़ता है कि यह कुलीन नहीं है-उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ नहीं है । विचार रहित कालसंवरने स्त्री की बात का विश्वास कर लिया । उसने उसी समय विद्युदंष्ट्र आदि अपने पाँच सौ पुत्रोंको बुलाकर एकान्तमें आज्ञा दी कि 'यह देवदत्त अपनी दुष्टताके कारण एकान्तमें बध करने के योग्य है अतः आप लोग इसे किसी उपायसे प्राणरहित कर डालिये' । इस प्रकार विद्याधरोंके राजा कालसंवरसे आज्ञा पाकर वे पाँच सौ कुमार अत्यन्त कुपित हो उठे । वे पहले ही उसे मारनेके लिए परस्पर सलाह कर चुके थे फिर राजाकी आज्ञा प्राप्त हो गई । 'ऐसा ही करूँगा' यह कहकर उन्होंने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और सबके सब उसे पूरा करने की इच्छा करते हुए नगरसे बाहर निकल पड़े । यही आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार हिंसा प्रधान शास्त्रसे, नीति रहित राज्यसे और मिथ्या मार्ग में स्थित तपसे निश्चित हानि होती है उसी प्रकार दुष्ट स्त्रीसे निश्चित ही हानि होती है ॥82-88॥

दोषोंके विकारोंसे युक्त स्त्रियाँ मनुष्यकी स्थिर बुद्धि को चञ्चल बना देती हैं, सीधीको कुटिल बना देती है और देदीप्यमान बुद्धि को ढक लेती हैं ॥89॥

ये पापिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंके प्रति उसी समय सन्तुष्ट हो जाती हैं और उसी समय क्रोध करने लगती हैं और इनके ऐसा करने में लाभ वा हानि इन दोके सिवाय अन्य कुछ भी कारण नहीं है ॥90॥

संसार में ऐसा कोई कार्य बाकी नहीं जिसे खोटी स्त्रियाँ नहीं कर सकती हों । हाँ, पुत्र के साथ व्यभिचारकी इच्छा करना यह एक कार्य बाकी था परन्तु कान्चनमाला ने वह भी कर लिया ॥91॥

जिन किन्हीं स्त्रियोंमें व्रत शील आदि सत्क्रियाएँ रहती हैं वे भी शुद्धि को प्राप्त नहीं होतीं फिर जिनमें सत्क्रियाएँ नहीं हैं वे अपनी अशुद्धताके परम प्रकर्षको क्यों न प्राप्त हों ? ॥92॥

जिस प्रकार कमल के पत्तोंपर पानी स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार इन स्त्रियोंका चित्त भी किन्हीं पुरुषोंपर स्थिर नहीं ठहरता । वह स्पर्श करके भी स्पर्श नहीं करनेवालेके समान उनसे पृथक् रहता है ॥93॥

सब स्त्रियों के सब दोषोंसे भरे भाव दुर्लक्ष्य रहते हैं - कष्टसे जाने जा सकते हैं । ये सन्निपातके समान दुःसाध्य तथा बहुत भारी मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥94॥

कौन किसके प्रति किस कारणसे क्या कहता है !' इस बात का विचार कार्य करनेवाले मनुष्य को अवश्य करना चाहिए । क्योंकि जो इस प्रकार का विचार करता है वह इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी कर्मोंमें कभी प्रतारणा को प्राप्त नहीं होता - ठगाया नहीं जाता ॥95॥

'यह वक्ता प्रामाणिक वचन बोलता है या नहीं' इस बातकी परीक्षा विद्वान् पुरुषको उसके आचरण अथवा ज्ञान से स्पष्ट ही करना चाहिए ॥96॥

नयों के जाननेवाले मनुष्य को पहले यह देखना चाहिये कि इसमें यह बात संभव है भी या नहीं ? इसी प्रकार जिसे लक्ष्यकर वचन कहे जावें पहिले उसके आचरण से उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए । विचार कर कार्य करनेवाले मनुष्य को शब्द अथवा **अर्थ**के द्वारा कहे हुए पदार्थ का 'यह विश्वास करने के योग्य है अथवा नहीं' इस प्रकार स्पष्ट ही परीक्षा कर लेनी चाहिए ॥97- 98॥

'यह जो कह रहा है सो भय से कह रहा है, या स्नेहसे कह रहा है, या लोभसे कह रहा है, या मात्सर्यसे कह रहा है, या क्रोध से कह रहा है, या लज्जा से कह रहा है, या अज्ञान से कह रहा है, या जानकर कह रहा है, और या दूसरों की प्रेरणासे कह रहा है, इस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य को निमित्तों की परीक्षा करनी चाहिए । जो मनुष्य इस प्रकार प्रवृत्ति करता है वह विद्वानोंमें भी विद्वान् माना जाता है ॥99-100॥ 'अच्छी और बुरी आज्ञा देने में जो शिष्ट (उत्तम) पुरुष भी भूलकर जाते हैं वह बड़े कष्टकी बात है' यह बात दुष्टा स्त्री अपने स्त्रीस्वभावके कारण नहीं समझ पाती है ॥101॥

अथानन्तर - वे विद्युद्वृष्ट आदि पाँच सौ राजकुमार प्रद्युम्नको उत्साहित कर उसी समय विहार करने के लिए वनकी ओर चल दिये । वहाँ जाकर उन्होंने प्रद्युम्नके लिए अग्निकुण्ड दिखाकर कहा कि जो इसमें कूदते हैं वे निर्भय कहलाते हैं । उनकी बात सुनकर प्रद्युम्न निर्भय हो उस अग्नि - कुण्डमें कूद पड़ा । सो ठीक ही है क्योंकि भाग्यसे प्रेरित हुआ बुद्धिमान् मनुष्य किसी कार्यका विचार नहीं करता ॥ 102-103॥

उस कुण्ड में कूदते ही वहाँ की रहनेवाली देवीने उसकी अगवानी की तथा सुवर्णमय वस्त्र और आभूषणादि देकर उसकी पूजा की । इस तरह देवीके द्वारा पूजित होकर प्रद्युम्न उस कुण्डसे बाहर निकल आया ॥104॥

इस घटना से उन सबको आश्चर्य हुआ तदनन्तर वे दुष्ट उसे उत्साहितकर फिरके चले और मेष के आकारके दो पर्वतोंके बीच में उसे घुसा दिया ॥105॥

वहाँ दो पर्वत मेष का आकार रख दोनों ओरसे उस पर गिरने लगे तब भुजाओंसे सुशोभित प्रद्युम्न उन दोनों पर्वतोंको रोककर खड़ा हो गया । यह देख वहाँ रहनेवाली देवीने संतुष्ट होकर उसे मकरके चिह्नसे चिह्नित रत्नमयी दो दिव्य कुण्डल दिये । वहाँसे निकलकर प्रद्युम्न, भाइयोंके आदेशानुसार वराह पर्वत की गुफामें घुसा । वहाँ एक वराह नाम का भयंकर देव आया तो प्रद्युम्नने एक हाथसे उसकी दाढ़ पकड़ ली और दूसरे हाथसे उसका मस्तक ठोकना शुरू किया इस तरह वह दोनों जबड़ोंके बीच में लीलापूर्वक खड़ा हो गया । रूक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नकी चेष्टा देखकर वहाँ रहनेवाली देवी ने उसे विजयघोष नाम का शंख और महाजालमें दो वस्तुएँ दी । सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा जीवों को कहाँ लाभ नहीं होता है ? ॥106-110॥

इसी तरह उसने काल नामक गुहामें जाकर महाकाल नामक राक्षसको जीता और उससे वृषभ नाम का रथ तथा रत्नमय कवच प्राप्त किया ॥111॥

आगे चलकर किसी विद्याधरने किसी विद्याधरको दो वृक्षोंके बीच में कीलित कर दिया था वह प्रद्युम्नको दिखाई दिया, वह कीलित हुआ विद्याधर असह्य वेदनासे दुःखी हो रहा था । यद्यपि उसके पास बन्धनसे छुड़ानेवाली गुटिका थी परन्तु कीलित होने के कारण वह उसका उपयोग नहीं कर सकता था । उसे देखते ही प्रद्युम्न उसके पास गया और उसके संकेत को समझ गया । उसने विद्याधरके पासकी गुटिका लेकर उसकी आँखों पर फेरा और उसे बन्धनसे मुक्त कर दिया । इस तरह उपकार करने वाले प्रद्युम्नने उस विद्याधरसे सुरेन्द्र जाल, नरेन्द्र जाल, और प्रस्तर नाम की तीन विद्याएँ प्राप्त कीं । तदनन्तर-वह प्रद्युम्न, सहस्रवक्त्र नामक नागकुमार के भवन में गया वहाँ उसने शंख

बजाया जिससे नाग और नागी दोनों ही बिलसे बाहर आये और प्रसन्न होकर उन्होंने उसके लिए मकरचिह्नसे चिह्नित ध्वजा, चित्रवर्ण नाम का धनुष, नन्दक नाम का खंग और कामरूपिणी नाम की अंगूठी दी। वहाँ से चलकर उसने एक कैथका वृक्ष हिलाया जिसके उसपर रहनेवाली देवीसे आकाश में चलनेवाली दो अमूल्य पादुकाएँ प्राप्त कीं ॥112-117॥

वहाँ से चलकर सुवर्णार्जुन नामक वृक्ष के नीचे पहुँचा और वहाँ पन्च फणवाले नागराज के द्वारा दिये हुए तपन, तापन, मोदन, विलापन और मारण नाम के पांच वाण उस पुण्यात्माको प्राप्त हुए ॥118-119॥

तदनन्तर वह क्षीरवन में गया वहाँ सन्तुष्ट हुए मर्कट देवने उसे मुकुट, औषधिमाला, छत्र और दो चमर प्रदान किये ॥120॥

इसके बाद वह कदम्बमुखी नाम की बावड़ीमें गया और वहाँके देवसे एक नागपाश प्राप्त किया। तदनन्तर इसकी वृद्धि को नहीं सहनेवाले सब विद्याधरपुत्र इसे पातालमुखी बावड़ीमें ले जाकर कहने लगे कि जो कोई इसमें कूदता है वह सबका राजा होता है। नीतिका जाननेवाला प्रद्युम्न उन सबका अभिप्राय समझ गया इसलिए उसने प्रज्ञप्ति विद्याको अपना रूप बनाकर बावड़ीमें कूदा दिया और स्वयं अपने आपको छिपाकर वहीं खड़ा हो गया ॥121-123॥

जब उसे यह मालूम हुआ कि ये सब बड़ी - बड़ी शिलाओं के द्वारा मुझे मारना चाहते थे तब वह क्रोधसे संतप्त हो उठा, उसने उसी समय विद्युदंष्ट्र आदि शत्रुओं को नागपाशसे मजबूतीके साथ बांधकर तथा नीचेकी ओर मुख कर उसी बावड़ीमें लटका दिया और ऊपरसे एक शिला ढक दी। उन सब भाइयोंमें ज्योतिप्रभ सबसे छोटा था सो प्रद्युम्नने उसे समाचार देनेके लिए नगरकी ओर भेज दिया और स्वयं वह उसी शिलापर बैठ गया सो ठीक ही है क्योंकि पापी मनुष्य अपने पापसे पराभवको प्राप्त करते ही हैं ॥124-126॥

अथानन्तर - प्रद्युम्न ने देखा कि इच्छानुसार चलनेवाले नारदजी आकाश - स्थलसे अपनी ओर आ रहे हैं ॥127॥

वह उन्हें आता देख उठकर खड़ा हो गया उसने विधिपूर्वक उनकी पूजा की, उनके साथ बातचीत की तथा नारदने उसका सब वृत्तान्त कहा। उसे सुनकर प्रद्युम्न बहुत संतुष्ट हुआ और उसपर विश्वास कर वहीं बैठ गया। शत्रुकी सेनाका आगमन देखकर वह आश्चर्यमें पड़ गया। थोड़े ही देर बाद, जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें बादलों का समूह सूर्य को घेर लेता है उसी प्रकार अकस्मात् विद्याधर राजाकी सेनाने प्रद्युम्नको घेर लिया परन्तु प्रद्युम्नने युद्ध कर उन कालसंवर आदि समस्त विद्याधरोंको पराजित कर दिया। तदनन्तर - उसने राजा कालसंवरके लिए उनके पुत्रोंका समस्त वृत्तान्त सुनाया, शिला हटाकर नागपाश दूर किया और सबको बन्धन रहित किया, इसी तरह नारदके आनेका कारण भी विस्तारके साथ कहा। तत्पश्चात् वह राजा कालसंवरकी अनुमति लेकर वृषभ नामक रथपर सवार हो नारदके प्रति रवाना हुआ। बीच में नारदजीके द्वारा कहे हुए अपने पूर्वभवोंका सम्बन्ध सुनता हुआ वह हस्तिनापुर जा पहुँचा। वहाँके राजा दुर्योधनकी जलधि नाम की रानीसे उत्पन्न हुई एक उदधिकुमारी नाम की उत्तम कन्या थी। भानुकुमार को देनेके लिए उसका महाभिषेक रूप उत्सव हो रहा था। उसे देख प्रद्युम्नने प्रस्तर विद्यासे उत्पन्न एक शिलाके द्वारा नारदजीको तो रथपर ही ढक दिया और आप स्वयं रथसे उतर कर पृथिवी तलपर आ गया और उन लोगोंकी बहुत प्रकारकी हँसी कर वहाँसे आगे बढ़ा ॥128-136॥

चलते - चलते वह मथुरा नगर के बाहर पहुँचा, वहाँपर पाण्डव लोग अपनी प्यारी पुत्री भानुकुमार को देनेके लिए जा रहे थे उन्हें देख, उसने धनुष हाथमें लेकर एक भीलका रूप धारण कर लिया और उन सबका नाना प्रकार का तिरस्कार किया। तदनन्तर वहाँसे चलकर द्वारिका पहुँचा ॥137-138॥

वहाँ उसने नारदजीको तो पहलेके ही समान विद्याके द्वारा रथपर अवस्थित रक्खा और स्वयं अकेला ही नीचे आया। वहाँ आकर उसने विद्याके द्वारा एक वानरका रूप बनाया और नन्दन वनके समान सत्यभामाका जो वन था उसे तोड़ डाला, वहाँ की बावड़ीका समस्त पानी अपने कमण्डलुमें भर लिया। फिर कुछ दूर जाकर उसने अपने रथमें उल्टे मेढे तथा गधे जोते और स्वयं मायामयी रूप धारण कर लिया ॥ 139-141॥

इस क्रियासे उसने नगर के गोपुरमें आने जानेवाले लोगों को खूब हँसाया। तदनन्तर नगर के भीतर प्रवेश किया ॥142॥

और अपनी विद्याके बलसे शाल नामक वैद्यका रूप बनाकर घोषणा करना शुरू कर दी कि मैं कटे हुए कानोंका जोड़ना आदि कर्म जानता हूँ ॥143॥

इसके बाद भानुकुमार को देनेके लिए कुछ लोग अपनी कन्याएँ लाये थे उनके पास जाकर उसने उनकी अनेक प्रकारसे हँसी की। पश्चात् एक ब्राह्मण का रूप बनाकर सत्यभामाके महलमें पहुँचा वहाँ भोजनके समय जो ब्राह्मण आये थे उन सबको उसने अपनी घृष्टतासे बाहर

कर दिया और स्वयं भोजन कर दक्षिणा ले ली ॥144-145॥

तदनन्तर क्षुल्लकका वेष रखकर अपनी माता रूक्मिणीके यहाँ पहुँचा और कहने लगा कि हे सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाली ! मैं भूखा हूँ, मुझे अच्छी तरह भोजन करा । इस तरह प्रार्थना कर अनेक तरह के भोजन खाये परन्तु तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ तब फिर व्याकुलताको प्रकट करता हुआ कहने लगा कि हे देवि ! मुझे संतुष्ट कर, पेट भर भोजन दे ! तदनन्तर उसके द्वारा दिये हुए महामोदक खाकर संतुष्ट हो गया । भोजनके पश्चात् वह कुछ शान्तचित्त होकर वहीं पर सुख से बैठ गया ॥146-148॥

उसी समय रूक्मिणीने देखा कि असमयमें ही चम्पक तथा अशोकके फूल फूल गये हैं और सारा का सारा वन भ्रमरों तथा कोकिलाओं के मनोहर कूजनसे शब्दायमान हो रहा है । यह देख वह आश्चर्यसे चकित बड़े हर्ष से पूछने लगी कि हे भद्र ! क्या आप मेरे पुत्र हैं और नारदके द्वारा कहे हुए समय पर आये हैं । माताका ऐसा प्रश्न सुनते ही प्रद्युम्नने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और उसके चरण-नखोंकी किरण रूप मंजरीको शिरपर रखकर उसे अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया । माताके साथ भोजन किया, उसकी इच्छानुसार बाल - काल की क्रीड़ाओंसे उसे परम प्रसन्नता प्राप्त कराई और पूर्व जन्ममें उपार्जित अपूर्व पुण्य कर्म के उदयके समान वहीं ठहर गया ॥ 149-153॥

उसी समय एक नाई रूक्मिणीके पास आया और कहने लगा कि श्रीकृष्णके प्रश्न करनेपर श्रीविनयन्धर नाम के मुनिराजसे सत्यभामा और तुम दोनोंने अपने पुत्रकी उत्पत्ति जानकर परस्पर शर्त की थी कि हम दोनों में जिसके पहले पुत्र होगा वह पुत्र, अपने विवाहके समय दूसरीके शिर के बाल हरणकर स्नान करेगा । इसलिए हे देवी ! आप उस शर्तका स्मरणकर भानुकुमार के स्नानके लिए अपने केश मुझे दीजिये । आज विवाहके दिन सत्यभामाने मुझे शीघ्र ही भेजा है' । नाईकी बात सुनकर प्रद्युम्नने मातासे पूछा कि 'यह क्या बात है ?' वह कहने लगी कि 'तुम्हारा और भानुकुमारका जन्म एक साथ हुआ था । हम दोनोंने श्रीकृष्णको दिखानेके लिए तुम दोनोंको भेजा था परन्तु उस समय वे सो रहे थे इसलिए तू उनके चरणोंके समीप रख दिया गया था और वह उनके शिरके समीप रखा गया था । जब वे जागे तो उनकी दृष्टि सबसे पहले तुझपर पड़ी इसलिए उन्होंने तुझे ही जेठापन प्रदान किया था-तू ही बड़ा है यह कहा था' । माताके वचन सुनकर प्रद्युम्नने उस नाईको विकृतिकी खान बना दी - उसकी बुरी चेष्टा कर दी और उसके साथ जो सेवक आये थे उन सबको नीचे शिरकर गोपुर में उल्टा लटका दिया तथा श्रीकृष्णका रूप बनाकर उनके विदूषकको खूब डाटा । तदनन्तर मार्ग में सो रहा और जगानेपर अपने पैर लम्बेकर जर नामक प्रतीहारीको खूब ही धौंस दी ॥154-161॥

फिर मेष का रूप बनाकर बाबा वासुदेव को टक्कर द्वारा गिरा दिया और सिंह बनकर बलभद्रको निगलकर अदृश्य कर दिया । तदनन्तर - माताके पास आकर बोला कि 'हे माता ! तू यहीं पर सुख से रह' यह कहकर उसने अपनी विद्यासे ठीक रूक्मिणीके ही समान मनोहर रूप बनाया और उसे विमान में बैठाकर शीघ्रता से बलभद्र तथा कृष्णके पास ले जाकर बोला कि मैं रूक्मिणीको हरकर ले जा रहा हूँ, यदि सामर्थ्य हो तो छुड़ा लो ! यह सुनकर असमयमें आये हुए यमराजकी उपमा धारण करनेवाले श्रीकृष्ण भी उसे छुड़ानेके लिए सामने जा पहुँचे परन्तु भीलका रूप धारण करनेवाले प्रद्युम्नने नरेन्द्रजाल नामक विद्याकी मायासे उन्हें जीत लिया और इस तरह वह शत्रु रहित होकर खड़ा रहा ॥162-165॥

उसी समय नारदने आकर हँसते हुए, बलभद्र तथा श्रीकृष्णसे कहा कि जिसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हैं ऐसे पुत्रका आज आप दोनोंको दर्शन हो रहा है ॥166॥

उसी समय प्रद्युम्नने भी अपना असली रूप प्रकट कर दिया तथा बलभद्र और श्रीकृष्णको उनके चरण - कमलोंमें अपना शिर झुकाकर नमस्कार किया ॥167॥

तदनन्तर चक्रवर्ती श्रीकृष्ण महाराजने बड़े प्रेमसे प्रद्युम्नका आलिंगन किया, उसे अपने हाथी के स्कन्धपर बैठाया और फिर बड़े प्रेमसे नगर में प्रवेश किया ॥168॥

वहाँ जाकर प्रद्युम्नने अपने पुण्योदयसे, सत्यभामाके पुत्र भानुकुमार के लिए जो कन्याएँ आई थी उनके साथ सर्वकी सम्मतिसे विवाह किया ॥169॥

इस प्रकार काल सुख से बीतने लगा । किसी एक दिन सबने सुना कि प्रद्युम्नका पूर्वजन्मका भाई स्वर्गसे आकर श्रीकृष्णका पुत्र होगा । यह सुनकर सत्यभामाने अपने पतिसे याचना की कि जिस प्रकार वह पुत्र मेरे ही उत्पन्न हो ऐसा प्रयत्न कीजिये ॥170-171॥

जब रूक्मिणीने यह सुना तो उसने बड़े आदरके साथ प्रद्युम्नसे कहा कि तुम्हारे पूर्वभवके छोटे भाई - को जाम्बवती प्राप्त कर सके ऐसा प्रयत्न करो ॥172॥

प्रद्युम्नने भी जाम्बवतीके लिए इच्छानुसार रूप बनाने वाली अंगूठी दे दी उसे पाकर जाम्बवती ने सत्यभामाका रूप बनाया और पतिके साथ संयोगकर स्वर्गसे च्युत हुए क्रीडवके जीव को प्राप्त किया, उत्पन्न होने पर उसका शम्भव नाम रक्खा गया । उसी समय सत्यभामाने भी सुभानु नाम का पुत्र प्राप्त किया । इधर शम्भव और सुभानुमें जब परस्पर ईर्ष्या बढ़ी तो गान्धर्व आदि विवादोंमें शम्भवनें सुभानु को जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने पूर्वभवमें पुण्य उपार्जन किया है उन्हें सब जगह विजय प्राप्त होना कठिन नहीं है ॥173-175॥ इसके बाद रूक्मिणी और सत्यभामा ईर्ष्या छोड़कर परस्परकी प्रीतिक अनुभव करने लगीं ॥176॥

इस प्रकार गणधर भगवान् के द्वारा कहा हुआ सब चरित सुनकर समस्त सभाने हाथ जोड़कर उनके चरण - कमलोंमें नमस्कार किया ॥ 177॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन, श्रीकृष्णके स्नेहने जिनका चित्त वशकर लिया है ऐसे बलदेवने हाथ जोड़कर भगवान् नेमिनाथको नमस्कार किया और पूछा कि हे भगवन् श्रीकृष्णका यह वैभवशाली निष्कण्टक राज्य कितने समय तक चलता रहेगा ? कृपाकर आप यह बात मेरे लिए कहिये ॥178-179॥

उत्तर में भगवान् नेमिनाथ ने कहा कि भद्र ! बारह वर्ष के बाद मदिराका निमित्त पाकर यह द्वावाती पुरी द्वीपायनके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जायगी । जरत्कुमारके द्वारा श्रीकृष्णाका मरण होगा । यह एक सागर की आयु लेकर प्रथमभूमिमें उत्पन्न होगा और अन्त में वहाँसे निकलकर इसी भरत क्षेत्र में तीर्थकर होगा । तू भी इसके वियोगसे छह माह तक शोक करता रहेगा और अन्त में सिद्धार्थदेव के सम्बोधनसे समस्त दुःख छोड़कर दीक्षा लेगा तथा माहेन्द्र स्वर्ग में देव होगा ॥180-183॥

वहाँपर सात सागर की उत्कृष्ट आयु पर्यन्त भोगों का उपभोगकर इसी भरत क्षेत्र में तीर्थकर होगा तथा कर्मरूपी शत्रुओं को जलाकर शरीरसे मुक्त होगा ॥184॥

श्री तीर्थकर भगवान् का यह उपदेश सुनकर द्वीपायन तो उसी समय संयम धारणकर दूसरे देश को चला गया तथा जरत्कुमार कौशाम्बीके वन में जा पहुँचा । जिसने पहले ही नरकायुका बन्ध कर लिया था ऐसे श्रीकृष्णने सम्यग्दर्शन प्राप्तकर तीर्थकर प्रकृतिके बन्धमें कारणभूत सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया तथा स्त्री बालक आदि सबके लिए घोषणा कर दी कि मैं तो दीक्षा लेने में समर्थ नहीं हूँ परन्तु जो समर्थ हों उन्हें मैं रोकता नहीं हूँ ॥185-187॥

यह सुनकर प्रद्युम्न आदि पुत्रों तथा रूक्मिणी आदि देवियोंने चक्रवर्ती श्रीकृष्ण एवं अन्य बन्धुजनोंसे पूछकर उनकी आज्ञानुसार संयम धारण कर लिया ॥188॥

द्वीपायन द्वारिका - दाहका निदान अर्थात् कारण था जब वहाँसे अन्यत्र चला गया तब जाम्बवतीके पुत्र शम्भव तथा प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धने भी संयम धारण कर लिया और प्रद्युम्नमुनिके साथ गिरनार पर्वत की ऊँची तीन शिखरोंपर आरूढ़ होकर सब प्रतिमा योगके धारक हो गये ॥189-190॥

उन तीनोंने शुल्कध्यानको पूराकर घातिया कर्मों का नाश किया और नव केवललब्धियाँ पाकर मोक्ष प्राप्त किया ॥191॥

अथानन्तर - किसी दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथ ने वहाँसे विहार किया । उस समय पुण्यकी घोषणा करनेवाले यक्षके द्वारा धारण किया हुआ धर्मचक्र उनके आगे चल रहा था, पैर रखनेकी जगह तथा आगे और पीछे अलग-अलग सात सात कमलोंके द्वारा उनकी शोभा बढ़ रही थी, छत्र आदि आठ प्रातिहार्य अलग सुशोभित हो रहे थे, आकाशमार्ग में चलनेवाले समस्त देव तथा विद्याधर उनकी सेवा कर रहे थे, देव और विद्याधरोंके सिवाय अन्य शिष्य जन पृथिवीपर ही उनके पीछे - पीछे जा रहे थे, पवनकुमार देवों ने पृथिवी की सब धूली तथा कण्टक दूर कर दिये थे और मेघकुमार देवों ने सुगन्धित जल बरसाकर भूमिको उत्तम बना दिया था, इत्यादि अनेक आश्चर्योंसे सम्पन्न एवं समस्त प्राणियोंका मन हरण करनेवाले भगवान् नेमिनाथ धर्माभूतकी वर्षा करते हुए समस्त देशोंमें विहार करने के बाद पल्लव देशमें पहुँचे ॥192-196॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि यहाँ पर ग्रन्थके विस्तारसे डरनेवाले शिष्योंकी आयु और बुद्धि के अनुरोधसे पाण्डवोंका भी कुछ वर्णन किया जाता है ॥197॥

कम्पिला नाम की नगरी में राजा द्रुपद राज्य करता था उसकी देवीका नाम दृढरथा था और उन दोनोंके द्रौपदी नाम की पुत्री थी । वह द्रौपदी स्त्रियोंमें होनेवाले समस्त गुणों से प्रशंसनीय थी तथा सबको प्यारी थी । उसे पूर्ण यौवनवती देखकर पिताने मन्त्रचर्चाके द्वारा मन्त्रियों से पूछा कि यह कन्या किसे देनी चाहिये । मन्त्रियोंने कहा कि यह कन्या अतिशय बलवान् पाण्डवोंके लिए देनी चाहिये ॥

198-200॥

पाण्डवोंकी प्रशंसा करते हुए मन्त्रियोंने कहा कि राजा दुर्योधन इनका जन्मजात शत्रु है उसने इन लोगों को मारनेके लिए किसी उपायसे लाक्षाभवन (लाखके बने घर) में प्रविष्ट कराया था ॥201॥

परन्तु अपने पुण्य के उदय से प्रेरित हुए ये लोग दुर्योधनकी यह चालाकी जान गये इसलिए जलमें खड़े हुए किसी वृक्ष के नीचे रहनेवाले पिशाचको स्वयं हटाकर भाग गये और अपने कुटुम्बी जनोंसे प्राप्त दुःखका अनुभव करने के लिए देशान्तरको चले गये हैं । इधर गुप्तचरके मुखसे इनके विषयकी यह बात सुनी गई है कि पौदनपुरके राजा चन्द्रदत्त और उनकी रानी देविलाके इन्द्रवर्मा नामक पुत्रको पाण्डवोंने समस्त कलाओं और गुणोंमें निपुण बनाया है तथा उसकी प्रतिद्वन्द्वी स्थूणगन्धको नष्टकर उसके लिए राज्य प्रदान किया है । सो वे पाण्डव यहाँ भी अवश्य ही आवेंगे । अतः अपने लिए द्रौपदीका स्वयंवर करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे किसी के साथ विरोध नहीं होगा । मन्त्रियोंके उक्त वचन सुनकर राजा ने बसन्त ऋतुमें स्वयंवर - मण्डप बनवाया जिसमें सब राजा लोग आये । पाण्डव भी आये, उनमें भीम तो भोजन बनाने तथा मदोन्मत्त हाथीको हाथसे ताड़ित करनेसे प्रकट हुआ, अर्जुन मत्स्यभेद तथा धनुष चढ़ानेके साहस से प्रसिद्ध हुआ एवं अन्य लोग नारदके आगमनसे प्रकट हुए । जब सब लोग निश्चित रूप से स्वयंवर - मण्डपमें आकर विराजमान हो गये तब अर्हन्त भगवान् की महा पूजाकर रत्नों से सजी हुई द्रौपदी स्वयंवर - मंडपमें प्रविष्ट हुई । सिद्धार्थ नामक पुरोहित कुल - रूप आदि गुणोंका वर्णन करता हुआ समस्त राजाओं का अनुक्रम से परिचय दे रहा था । क्रम - क्रम से द्रौपदी समस्त राजाओं को उल्लंघन करती हुई आगे बढ़ती गई । अन्त में उसने अपनी निर्मल माला के द्वारा अर्जुनको सम्मानित किया ॥202-211॥

यह देखकर द्रुपद आदि उग्रवंश में उत्पन्न हुए राजा कुरूवंशी तथा अन्य अनेक राजा 'यह सम्बन्ध अनुकूल सम्बन्ध है' यह कहते हुए संतोषको प्राप्त हुए ॥212॥

इस प्रकार अनेक कल्याणोंको प्राप्तकर वे पाण्डव अपने नगर में गये और सुख पूर्वक बड़े लम्बे समयको क्षणभरके समान व्यतीत करने लगे ॥213॥

तदनन्तर अर्जुनके सुभद्रासे अभिमन्यु नाम का पुत्र हुआ और द्रौपदीके अनुक्रमसे पान्चाल नाम के पाँच पुत्र हुए ॥214॥

यहाँ युधिष्ठिरका राजा दुर्योधनके साथ जुआ खेला जाना, भुजंगशैल नामक नगरी में कीचकोंका मारा जाना, पाण्डवका विराट नगरी के राजा विराट का सेवक बनकर रहना, अर्जुनके द्वारा राजा विराट की बहुत भारी गायोंके समूह का लौटाया जाना, तथा अर्जुनके अनुज सहदेव और नकुलके द्वारा उसी सुख - सम्पन्न राजा विराटकी कुछ गायोंका वापिस लौटाना, आदि जो घटनाएँ हैं उनका आगम के अनुसार पुराण के जाननेवाले लोगों को विस्तारसे कथन करना चाहिए ॥215-217॥

अथानन्तर - कुरूक्षेत्र में पाण्डवोंका कौरवोंके साथ युद्ध हुआ उसमें युधिष्ठिर दुर्योधन राजा को जीतकर समस्त देशका स्वामी हो गया और छोटे भाइयोंके साथ विभागकर राज्यलक्ष्मी का उपभोग करता हुआ सबको प्रसन्न करने लगा ॥218-219॥

इस प्रकार वे सब पाण्डव अपने द्वारा किये हुए पुण्य कर्म के उदय से उत्पन्न सम्पूर्ण सुख का विना किसी आकुलताके निरन्तर उपभोग करने लगे ॥220॥

तदनन्तर - 'द्वारावती जलेगी, कौशाम्बी-वन में जरत्कुमारके द्वारा श्रीकृष्णकी मृत्यु होगी और उनके बड़े भाई बलदेव संयम धारण करेंगे' इस प्रकार द्वारावतीमें नेमिनाथ भगवान् ने जो कुछ कहा था वह सब वैसा ही हुआ सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते हैं ॥221-222॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि वैसे लोकोत्तर पुरुषोंकी वैसी दशा हुई इसलिए अशुभ कर्मोंकी गति

को बार - बार धिक्कार हो और निश्चयसे इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इन कर्मों को निर्मूल करते हैं - उखाड़ कर नष्ट कर देते हैं ॥223॥

मथुराके स्वामी पाण्डव, यह सब समाचार सुनकर वहाँ आये । वे सब, स्वामी - श्रीकृष्ण तथा अन्य बन्धुजनों के वियोगसे बहुत विरक्त हुए और राज्य छोड़कर मोक्ष के लिए महाप्रस्थान करने लगे । उन भक्त लोगोंने नेमिनाथ भगवान् के पास जाकर उस समयके योग्य नमस्कार

आदि सत्कर्म किये तथा संसार से भयभीत होकर अपने पूर्वभव पूछे । उत्तरमें अचिन्त्य वैभवके धारक भगवान् भी इस प्रकार कहने लगे ॥ 224-226 ॥

उन्होंने कहा कि इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी अंगदेशमें एक चम्पापुरी नाम की नगरी है उसमें कुरूवंशी राजा मेघवाहन राज्य करता था । उसी नगरी में एक सोमदेव नाम का ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम सोमिला था । उन दोनोंके सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति ये वेदांगोंके पारगामी परम ब्राह्मण तीन पुत्र हुए थे । इन तीनों भाइयोंके मामा अग्निभूति थे उसकी अग्निला नाम की स्त्रीसे धनश्री, मित्रश्री और नागश्री नाम की तीन प्रिय पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थीं । अग्निभूति और अग्निलाने शुभ लक्षणोंवालीये तीनों कन्याएँ अपने तीनों भानेजोंके लिए यथा क्रम से दे दीं ॥227-230 ॥

तदनन्तर - बुद्धिमान् सोमदेवने किसी कारणसे विरक्त होकर जिन - दीक्षा ले ली । किसी एक दिन भिक्षाके समय धर्मरूचि नाम के तपस्वी मुनिराजको अपने घर में प्रवेश करते देखकर दयालुता वश सोमदत्तने उनका पडिगाहन किया और छोटे भाईकी पत्नीसे कहा कि हे नागश्री ! तू इनके लिए बड़े आदरके साथ भिक्षा दे दे । नागश्रीने मन में सोचा कि 'यह सदा सभी कार्यके लिए मुझे ही भेजा करता है' यह सोचकर वह बहुत ही क्रुद्ध हुई और उसी क्रुद्धावस्थामें उसने उन तपस्वी मुनिराज के लिए विष मिला हुआ आहार दे दिया जिससे संन्यास धारण कर तथा चारों आराधनाओं की आराधना कर उक्त मुनिराज सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान में जा पहुंचे ॥231-234 ॥ जब सोमदत्त आदि तीनों भाइयोंको नागश्रीके द्वारा किये हुए इस अकृत्यका पता चला तो उन्होंने वरूणार्यके समीप जाकर मोक्ष प्रदान करनेवाली दीक्षा धारण कर ली ॥235 ॥

यह देख, नागश्रीको छोड़कर शेष दो ब्राह्मणियोंने भी गुणवती आर्यिकाके समीप संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन और दुर्जनोका चरित्र ऐसा ही होता है ॥236 ॥

इस प्रकार ये पाँचों ही जीव, आयु के अन्त में आराधनाओंकी आराधना कर आरण और अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर की आयु वाले सामानिक देव हुए ॥237 ॥

वहाँ उन्होंने चिरकाल तक प्रवीचार सहित भोगों का उपभोग किया । इधर नागश्री भी पाप के कारण पाँचवें नरकमें पहुँची, वहाँके दुःख भोगकर आयु के अन्त में निकली और वहाँसे च्युत होकर स्वयंप्रभ द्वीप में दृष्टिविष नाम का सर्प हुई । फिर मरकर दूसरे नरक गई वहाँ तीन सागर की आयु पर्यन्त दुःख भोगकर वहाँसे निकली और दो सागर तक त्रस तथा स्थावर योनियोंमें भ्रमण करती रही । इस प्रकार संसार - सागरमें भ्रमण करते - करते जब उसके पाप का उदय कुछ मन्द हुआ तब चम्पापुर नगर में चाण्डाली हुई ॥238-241 ॥

किसी एक दिन उसने समाधिगुप्त नामक मुनिराज के पास जाकर उन्हें नमस्कार किया, उनसे धर्म - श्रवण किया, और मधु - मांसका त्याग किया । इनके प्रभाव से वह मरकर उसी नगर में सुबन्धु सेठकी धनदेवी स्त्रीसे अत्यन्त दुर्गन्धित शरीरवाली पुत्री हुई । माता - पिताने उसका 'सुकुमारी' यह सार्थक नाम रक्खा । इसी नगर में एक धनदत्त नाम का सेठ रहता था उसकी अशोकदत्ता स्त्रीसे जिनदेव और जिनदत्त नाम के दो पुत्र हुए थे । जिनदेव के कुटुम्बी लोग उसका विवाह सुकुमारीके साथ करना चाहते थे परन्तु जब उसे इस बात का पता चला तो वह सुकुमारीकी दुर्गन्धतासे घृणा करता हुआ सुव्रत नामक मुनिराजका शिष्य हो गया अर्थात् उनके पास उसने दीक्षा धारण कर ली ॥242-246 ॥

तदनन्तर छोटे भाई जिनदत्तको उसके बन्धुजनोंने बार - बार प्रेरणा की कि बड़े लोगोंकी कन्या का अपमान करना ठीक नहीं है । इस भय से उसने उसे विवाह तो लिया परन्तु क्रुद्ध सर्पिणीके समान वह कभी स्वप्न में भी उसके पास नहीं गया । इस प्रकार पतिके विरक्त होनेसे सुकुमारी अपनी पुण्यहीनताकी सदा निन्दा करती रहती थी ॥247-248 ॥

किसी दूसरे दिन उसने उपवास किया, उसी दिन उसके घर अन्य अनेक आर्यिकाओं के साथ सुव्रता और क्षान्ति नाम की आर्यिकाएँ आई उसने उन्हें वन्दना कर प्रधान आर्यिकासे पूछा कि इन दोनों आर्यिकाओंने किस कारण दीक्षा ली है ? यह बात आप मुझसे कहिए । सुकुमारीका प्रश्न सुनकर क्षान्ति नाम की आर्यिका कहने लगी कि हे शुभ नामवाली ! सुन, ये दोनों ही पूर्वजन्ममें सौधर्म स्वर्गके इन्द्रोंकी विमला और सुप्रभा नाम की प्रिय देवियां थीं । किसी एक दिन ये दोनों ही सौधर्म इन्द्रके साथ जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने के लिए नन्दीश्वर द्वीप में गई थीं । वहाँ इनका चित्त विरक्त हुआ इसलिए इन दोनोंने परस्पर ऐसा विचार स्थिर किया कि हम दोनों इस पर्यायके बाद मनुष्य पर्याय पाकर तप करेंगी । आयु के अन्त में वहाँसे च्युत होकर ये दोनों, साकेत नगर के स्वामी श्रीषेण राजाकी श्रीकान्ता

रानीसे हरिषेणा और श्रीषेणा नाम की पुत्रियां हुई हैं। यौवन अवस्था प्राप्तकर ये दोनों विवाहके लिए स्वयम्बर - मंडपके भीतर खड़ी थीं कि इतनेमें ही इन्हें अपने पूर्वभव तथा पूर्वभवमें की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण हो आया। उसी समय इन्होंने समस्त बन्धुवर्ग तथा राजकुमारोंका त्यागकर दीक्षा धारण कर ली। इस प्रकार क्षान्ति आर्यिकाके वचन सुनकर सुकुमारी बहुत विरक्त हुई और अपने कुटुम्बीजनोकी संमति लेकर उसने उन्हीं आर्यिकाके पास दीक्षा धारण कर ली। किसी दूसरे दिन वन में वसन्तसेना नाम की वेश्या आई थी, उसे बहुतसे व्यभिचारी मनुष्य घेरकर उससे प्रार्थना कर रहे थे। यह देखकर सुकुमारीने निदान किया कि मुझे भी ऐसा ही सौभाग्य प्राप्त हो। आयु के अन्त में मरकर वह, पूर्वजन्ममें जो सोमभूति नाम का ब्राह्मण था और तपश्चरणके प्रभाव से अच्युत स्वर्ग में देव हुआ था उसकी देवी हुई ॥249-259॥

वहां की उत्कृष्ट आयु बिताकर उन तीनों भाइयोंके जीव वहांसे च्युत होकर रत्नत्रयके समान तुम प्रसिद्ध पुरुषार्थके धारक युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन हुए हो। तथा धनश्री और मित्रश्रीके जीव प्रशंसनीय पराक्रमके धारक नकुल एवं सहदेव हुए हैं। इनकी कान्ति चन्द्रमा और सूर्य के समान है। सुकुमारीका जीव काम्पिल्य नगर में वहांके राजा द्रपद और रानी दृढरथाके द्रौपदी नाम की पुत्री हुई है। इस प्रकार नेमिनाथ भगवान् के द्वारा कहे हुए अपने भवान्तर सुनकर पाण्डवोंने अनेक लोगों के साथ संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका बन्धुपना यही है। गुणरूपी आभूषणको धारण करनेवाली कुन्ती सुभद्रा तथा द्रौपदीने भी राजिमति गणिनीके पास उत्कृष्ट दीक्षा धारण कर ली। अन्त में तीनोंके जीव सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए और वहांसे च्युत होकर निःसन्देह समस्त कर्ममलसे रहित हो मोक्ष प्राप्त करेंगे। जिन्हें अनेक उत्तमोत्तम ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और जो अतिशय भक्ति से युक्त हैं ऐसे पाँचों पाण्डव कितने ही वर्षों तक नेमिनाथ भगवान् के साथ विहार करते रहे और अन्त में शत्रुञ्जय पर्वतपर जाकर आतापन योग लेकर विराजमान हो गये। दैवयोगसे वहां दुर्योधनका भानजा 'कुर्यवर' आ निकला वह अतिशय दुष्ट था, पाण्डवोंको देखते ही उसे अपने मामाके वधका स्मरण हो आया जिससे क्रुद्ध होकर उस पापीने उनके शरीरोंपर अग्निसे तपाये हुए लोहेके मुकुट आदि आभूषण रखकर उपसर्ग किया। उन पाँचों भाइयोंमें कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो क्षपकश्रेणी चढ़कर शुक्ल ध्यान रूपी अग्निके द्वारा कर्मरूपी ईन्धनको जलाते हुए मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए और नकुल तथा सहदेव सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। इधर भट्टारक नेमिनाथ स्वामी भी गिरनार पर्वत पर जा विराजमान हुए ॥260-271॥

उन्होंने छह सौ निन्यानवे वर्ष नौ महीना और चार दिन विहार किया। फिर विहार छोड़कर पांच सौ तैंतीस मुनियों के साथ एक महीने तक योग निरोधकर आषाढ शुक्ल सप्तमी के दिन चित्रा नक्षत्र में रात्रिके प्रारम्भमें ही चार अघातिया कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त किया ॥ 272-274॥

उसी समय इन्द्रादि देवों ने आकर बड़ी भक्ति से विधिपूर्वक उनके पंचम कल्याणका उत्सव किया और तदनन्तर वे सब अपने - अपने स्थान को चले गये ॥275॥

जो दूरसे ही आकाश में अपनी - अपनी सवारियों से नीचे उतर पड़े हैं, जिन्होंने शीघ्र ही अपने मस्तक झुका लिये हैं, जिनके मुख स्तुतियोंके पढ़नेसे शब्दायमान हो रहे हैं, जिन्होंने दोनों हाथ जोड़ लिये हैं और जिनका चित्त अत्यन्त स्थिर है ऐसे इन्द्र आदि श्रेष्ठदेव जिनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं तथा जिन्होंने अपने तेज से हृदयका समस्त अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे श्रीमान् नेमिनाथ भगवान् केवलज्ञान की प्राप्तिके लिए हम सबका शीघ्र ही कल्याण करें ॥276॥

श्रीनेमिनाथ भगवान् का जीव पहले चिन्तागति विद्याधर हुआ, फिर चतुर्थ स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से आकर अपराजित राजा हुआ, फिर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ, वहाँसे आकर सुप्रसिद्ध राजा हुआ, फिर जयन्त विमान में अहमिन्द्र हुआ और उसके बाद इसी जम्बूद्वीप में महान् वैभवको धारण करनेवाला, हरिवंशरूपी आकाशका निर्मल चन्द्रमास्वरूप नेमिनाथ तीर्थकर हुआ ॥277॥

यद्यपि भगवान् नेमिनाथ की वह लक्ष्मी थी कि जिसके द्वारा उनके चरणकमलोंकी समस्त देव पूजा करते थे, उनकी वह कुमारावस्था थी कि जिसका सौन्दर्यरूपी ऐश्वर्य अपरिमित था, और वह कन्या राजीमति थी कि जिसकी अत्यन्त स्तुति हो रही थी तथापि इन बुद्धिमान् भगवान् ने इन सबको जीर्ण तृणके समान छोड़कर संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा क्या कारण है कि जिससे भगवान् नेमिनाथ धर्मचक्रके चारों ओर नेमिपनाको - चक्रधारापनाको धारण न करें ? ॥278॥

बलदेवका जीव पहले सुभानु हुआ था, फिर पहले स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से च्युत होकर विद्याधरों का राजा हुआ, फिर चतुर्थ स्वर्ग में देव

हुआ, इसके बाद शंख नाम का सेठ हुआ, फिर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ, फिर नौवाँ बलभद्र हुआ, उसके बाद देव हुआ, और फिर तीर्थकर होगा ॥279॥

कृष्णका जीव पहले अमृतरसायन हुआ, फिर तीसरे नरकमें गया, उसके बाद संसार - सागरमें बहुत भारी भ्रमण कर यक्ष नाम का गृहस्थ हुआ फिर निर्नामा नाम का राजपुत्र हुआ, उसके बाद देव हुआ और उसके पश्चात् बुरा निदान करने के कारण अपने शत्रु जरासन्धको मारनेवाला, चक्ररत्नका स्वामी कृष्ण नाम का नारायण हुआ, इसके बाद प्रथम नरकमें उत्पन्न होने के कारण बहुत दुःखोंका अनुभव कर रहा है और अन्त में वहाँसे निकलकर समस्त अनर्थोंका विघात करनेवाला तीर्थकर होगा ॥280-281॥

कृष्ण के जीव ने चाण्डाल अवस्था में मुनिके साथ द्रोह किया था इसलिए वह दुर्बुद्धि नरक गया और उसी कारणसे तपश्चरणके द्वारा राज्यलक्ष्मी पाकर अन्त में उसके विनाशको प्राप्त हुआ इसलिए आचार्य कहते हैं कि परिग्रहका त्याग करनेवाले मुनियोंका पाप - बुद्धिसे थोड़ा भी अपकार मत करो ॥282॥

जिस प्रकार सिंह हरिणको मार डालता है उसी प्रकार जिसने चाणूरमल्लको मार डाला था, जिस प्रकार वज्र कंस (कांसे) के टुकड़े - टुकड़े कर डालता है उसी प्रकार जिसने कंसके (मथुराके राजाके) टुकड़े - टुकड़े कर डाले थे और जिसप्रकार मृत्यु बालकका हरण कर लेती है उसी प्रकार जिसने युद्धमें शिशुपाल का हरण किया था - उसे पराजित किया था । ऐसा श्रीकृष्ण नारायण भला प्रतापी मनुष्योंमें सबसे मुख्य क्यों न हो ? ॥283॥

जिस प्रकार सिंह बलवान् हाथीको जीतकर गरजता है उसी प्रकार शूरवीरता के सागर श्रीकृष्णने अतिशय बलवान् जरासन्धको जीतकर गरजना की थी, इन्होंने अपने समस्त शत्रुओं को जीत लिया था इसलिए ये विश्वविजयी कहलाये थे तथा जिस प्रकार इन्होंने बाल अवस्था में गायोंकी रक्षा की थी इसलिए गोप कहलाये थे उसी प्रकार इन्होंने तरूण अवस्था में भी हाथमें केवल एक दण्ड धारणकर किसी के द्वारा अविजित इस तीन खण्ड की अखण्ड भूमिकी रक्षा की थी इसलिए बादमें भी वे गोप (पृथिवीके रक्षक) कहलाते थे ॥284॥

देखो, कहाँ तो श्रीकृष्णको बड़े - बड़े समस्त शत्रुओं का नाश करनेसे उस आश्चर्यकारी लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी और कहां समस्त जगत् से जुदा रहकर निर्जन वन में उनका समूल नाश हुआ सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार किसे क्या नहीं प्राप्त होता है ? यथार्थमें संसाररूपी चक्र पहियेकी हालकी तरह घूमा ही करता है ॥285॥

देखो, श्रीकृष्णने पहले नरक आयु का बन्ध कर लिया था और उसके बाद सम्यग्दर्शन तथा तीर्थकर नाम - कर्म प्राप्त किया था इसीलिए उन्हें राज्य का भार धारण करने के बाद नरक जाना पड़ा । आचार्य कहते हैं कि हे बुद्धिमान् जन ! यदि आप लोग सुख के अभिलाषी हैं तो पद - पदपर आयु बन्धके लिए अखण्ड प्रयत्न करो अर्थात् प्रत्येक समय इस बात का विचार रखो कि अशुभ आयु का बन्ध तो नहीं हो रहा है ॥286॥

इन्हीं नेमिनाथ भगवान् के तीर्थ में ब्रह्मदत्त नाम का बारहवाँ चक्रवर्ती हुआ था वह ब्रह्मा नामक राजा और चूड़ादेवी रानीका पुत्र था, उसका शरीर सात धनुष ऊँचा था और सात सौ वर्षकी उसकी आयु थी । वह सब चक्रवर्तियोंमें अन्तिम चक्रवर्ती था - उसके बाद कोई चक्रवर्ती नहीं हुआ ॥287-288॥

भगवान् पार्श्वनाथ चरित

पर्व - 73

कथा :

अथानन्तर-धरणेन्द्र और भक्तिवश पद्मावती के द्वारा किया हुआ छत्रधारण-इन दोनों का निषेध जिनकी केवल महिमा से ही हुआ था वे पार्श्वनाथ स्वामी हम सबकी रक्षा करें । भावार्थ-तपश्चरण के समय भगवान् पार्श्वनाथ के ऊपर कमठके जीवने जो उपसर्ग किया था उसका निवारण धरणेन्द्र और पद्मावती ने किया था परन्तु इसी उपसर्ग के बीच उन्हें केवलज्ञान हो गया उसके प्रभाव से उनका सब उपसर्ग दूर गया और उनकी लोकोत्तर महिमा बढ़ गई । केवलज्ञान के समय होनेवाले माहात्म्य से धरणेन्द्र और पद्मावती का कार्य अपने आप समाप्त हो गया था ॥1॥

हे भगवन् ! यद्यपि आपका धर्मरूपी श्वेत छत्र समस्त संसार में फैलनेवाली छाया को उत्पन्न करता है तो भी आश्चर्य है कि कितने ही लोग पाप रूपी घाम से संतप्त रहते हैं ॥2॥

सर्व भाषा रूप परिणमन करनेवाली, सत्य तथा सबका उपकार करनेवाली आपकी दिव्य-ध्वनि को संतुष्ट हुए सज्जन लोग ही सुनते हैं-
दुर्जन लोग उसे कभी नहीं सुनते ॥3॥

हे देव ! अन्य तीर्थकरों का माहात्म्य प्रकट नहीं है परन्तु आपका माहात्म्य अतिशय प्रकट है इसलिए आपकी कथा अच्छी तरह कहने के योग्य है ॥4॥

आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो ! चूंकि आपकी धर्म-युक्त कथा कुमार्ग का निवारण और सन्मार्ग का प्रसारण करनेवाली है अतः मोक्षगामी भव्य जीवों के लिए उसे अवश्य कहूँगा ॥5॥

इसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में एक सुरम्य नाम का बड़ा भारी देश है और उसमें बड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है ॥6॥

उस नगर में पराक्रम आदि से प्रसिद्ध अरविन्द नाम का राजा राज्य करता था उसे पाकर प्रजा ऐसी सन्तुष्ट थी जैसी कि प्रजापति भगवान् आदिनाथ को पाकर संतुष्ट थी । उसी नगर में वेद-शास्त्र को जाननेवाला एक विश्वभूति नाम का ब्राह्मण रहता था उसे प्रसन्न करनेवाली दूसरी श्रुति के समान अनुन्धरी नाम की उसकी ब्राह्मणी थी ॥7-8॥

उन दोनों के कमठ और मरुभूति नाम के दो पुत्र थे जो विष और अमृत से बनाये हुए के समान थे अथवा दूसरे पाप और धर्म के समान जान पड़ते थे ॥9॥

कमठ की स्त्री का नाम वरुणा था और मरुभूति की स्त्री का नाम वसुन्धरी था । ये दोनों राजा के मन्त्री थे और इनमें छोटा मरुभूति नीतिका अच्छा जानकार था ॥10॥

नीच तथा दुराचारी कमठ ने वसुन्धरी के निमित्त से सदाचारी एवं सज्जनों के प्रिय मरुभूति को मार डाला ॥11॥

मरुभूति मर कर मलय देश के कुब्जक नामक सल्लकी के बड़े भारी वन में वज्रघोष नाम का हाथी हुआ । वरुणा मरकर उसी वन में हथिनी हुई और वज्रघोष के साथ क्रीडा करने लगी । इस प्रकार दोनों का बहुत भारी समय प्रीति-पूर्वक व्यतीत हो गया ॥12-13॥

किसी एक समय राजा अरविन्द ने विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया और संयम धारणकर सब संघ के साथ वन्दना करने के लिए सम्मेद-शिखर की ओर प्रस्थान किया । चलते-चलते वे उसी वन में पहुँचे और सामायिक का समय होने पर प्रतिमा योग धारणकर विराजमान हो गये सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य अपने नियम का थोड़ा भी उल्लंघन नहीं करते हैं ॥14-15॥

उन्हें देखकर, जिसके दोनों कपोल तथा ललाट से मद झर रहा है ऐसा वह मदोद्धत महा-हाथी, उन प्रतिमायोग के धारक अरविन्द मुनिराज को मारने के लिए उद्यत हुआ ॥16॥

परन्तु उनके वक्षःस्थल पर जो वत्स का चिह्न था उसे देखकर उसके हृदय में अपने पूर्व-भव का सम्बन्ध साक्षात् दिखाई देने लगा ॥17॥ मुनिराज में पूर्व-जन्म का स्नेह होने के कारण वह महाहाथी चुपचाप खड़ा हो गया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यन्व भी तो बन्धुजनों में मैत्री-भाव का पालन करते हैं ॥18॥

उस हाथी ने उन मुनिराज से हेतु पूर्वक धर्म का स्वरूप अच्छी तरह जानकर प्रोषधोपवास आदि श्रावक के व्रत ग्रहण किये ॥19॥

उस समय से वह हाथी पाप से डरकर दूसरे हाथियों के द्वारा तोड़ी हुई वृक्ष की शाखाओं और सूखे पत्तों को खाने लगा ॥20॥

पत्थरों पर गिरने से अथवा हाथियों के समूह के संघटन से जो पानी प्रासुक हो जाता था उसे ही वह पीता था तथा प्रोषधोपवास के बाद पारणा करता था । इस प्रकार चिरकाल तक तपश्चरण करता हुआ वह महाबलवान् हाथी अत्यन्त दुर्बल हो गया । किसी एक दिन वह पानी पीने के लिए वेगवती नदी के दह में गया था कि वहाँ कीचड़ में गिर गया । यद्यपि कीचड़ से निकलनेके लिए उसने बहुत भारी उद्यम किया परन्तु समर्थ नहीं हो सका । वहीं पर दुराचारी कमठ का जीव मर कर कुक्कुट साँप हुआ था उसने पूर्व पर्याय के वैर के कारण उस हाथी को काट खाया जिससे वह मरकर सहस्रार स्वर्ग में सोलह सागर की आयु वाला देव हुआ ॥21-24॥

यथायोग्य रीति से वहाँ के भोग भोग कर वह आयु के अन्त में वहाँ से च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में जो पुष्कलावती देश है उसके विजयार्ध पर्वत पर विद्यमान त्रिलोकोत्तम नामक नगर में वहाँ के राजा विद्युद्गति और रानी विद्यन्माला के रश्मिवेग नाम का पुत्र हुआ । जिसके संसार की अवधि अत्यन्त निकट रह गई है ऐसे उस बुद्धिमान् रश्मिवेग ने सम्पूर्ण यौवन पाकर समाधिगुप्त मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली तथा सर्वतोभद्र आदि श्रेष्ठ उपवास धारण किये ॥25-28॥

किसी एक दिन वह हिमगिरि पर्वत की गुहा में योग धारण कर विराजमान था कि इतने में जिस कुक्कुट सर्प ने वज्रघोष हाथी को काटा

था वही पापी धूमप्रभा नरक के दुःख भोग कर निकला और वहीं पर अजगर हुआ था । उन मुनिराज को देखते ही अजगर क्रोधित हुआ और उन्हें निगल गया जिससे उनका जीव अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में बाईस सागर की आयुवाला देव हुआ । वहाँ की आयु समाप्त होने पर वह पुण्यात्मा, जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में पद्मनामक देश सम्बन्धी अश्वपुर नगर में वहाँ के राजा वज्रवीर्य और रानी विजयाके वज्रनाभि नाम का पुत्र हुआ ॥29-32॥

पुण्य के द्वारा रक्षित हुआ वज्रनाभि, चक्रवर्ती की अखण्ड लक्ष्मी का उपभोग कर भी संतुष्ट नहीं हुआ इसलिए मोक्षलक्ष्मी का उपभोग करने के लिए उद्यत हुआ ॥33॥

उसने क्षेमकर भट्टारक के मुख-कमल से निकले हुए धर्मरूपी अमृत-रस का पानकर अन्य समस्त रसों की इच्छा छोड़ दी तथा अपने राज्य पर पुत्र को स्थापित कर अनेक राजाओं के साथ समस्त जीवों पर अनुकम्पा करनेवाला संयम अच्छी तरह धारण कर लिया ॥34-35॥ कमठ का जीव, जो कि पहले अजगर हुआ था मरकर छठवें नरकमें उत्पन्न हुआ और वहाँ बाईस सागर तक अत्यन्त दुःख भोगता रहा ॥ 36॥

चिरकाल बाद वहाँ से निकल कर कुरंग नाम का भील हुआ । यह भील उस वन में उत्पन्न हुए समस्त जीवों को कम्पित करता रहता था ॥ 37॥

किसी एक दिन शरीर सम्बन्धी बल से शोभायमान तथा शरीर से स्नेह छोड़ने वाले तपस्वी चक्रवर्ती वज्रनाभि आर्तध्यान छोड़कर उस वन में आतापन योग से विराजमान थे । उन्हें देखने ही जिसका वैर भड़क उठा है ऐसे पापी भील ने उन मुनिराज पर कायर जनों के द्वारा असहनीय अनेक प्रकार का भयंकर उपसर्ग किया ॥38-39॥

उक्त मुनिराज का जीव धर्म-ध्यान में प्रवेशकर तथा अच्छी तरह आराधनाओं की आराधना कर सुभद्र नामक मध्यम-ग्रैवेयक के मध्यम विमान में सम्यग्दर्शन का धारक श्रेष्ठ अहमिन्द्र हुआ ॥40॥

वहाँ वह सत्ताईस सागर की आयु तक दिव्य-भोग भोगता रहा । आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर इसी जम्बूद्वीप के कौसल देश सम्बन्धी अयोध्या नगर में काश्यप गोत्री इक्ष्वाकुवंशी राजा वज्रबाहु और रानी प्रभंकरी के आनन्द नाम का प्रिय पुत्र हुआ । बड़ा होने पर वह महावैभव का धारक मण्डलेश्वर राजा हुआ ॥41-43॥

किसी एक दिन उसने अपने स्वामिहित नामक महामन्त्री के कहने से वसन्तऋतु की अष्टाह्निकाओं में पूजा कराई । उसे देखने के लिए वहाँ पर विपुलमति नाम के मुनिराज पधारे । आनन्द ने उनकी बड़ी विनय से वन्दना की तथा उनसे सब जीवों को सुख देनेवाला समीचीन धर्म का स्वरूप सुना और तदनन्तर कहा कि हे भगवन् ! मुझे कुछ संशय हो रहा है उसे आपसे सुनना चाहता हूँ ॥44-46॥

उसने पूछा कि जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा तो अचेतन है उसमें भला बुरा करने की शक्ति नहीं है फिर उसकी की हुई पूजा भक्तजनों को पुण्य रूप फल किस प्रकार प्रदान करती है ॥47॥

इसके उत्तर में मुनिराज ने हेतु सहित निम्न प्रकार वचन कहे कि हे राजन् ! सुन, यद्यपि जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा और जिनेन्द्र मन्दिर अचेतन हैं तथापि भव्य जीवों के पुण्य-बन्ध के ही कारण हैं । यथार्थ में पुण्य-बन्ध परिणामों से होता है और उन परिणामों की उत्पत्ति में जिनेन्द्र की प्रतिमा तथा मन्दिर कारण पड़ते हैं । जिनेन्द्र भगवान् रागादि दोषों से रहित हैं, शास्त्र तथा आभूषण आदि से विमुक्त हैं, उसके मुख की शोभा प्रसन्न चन्द्रमा के समान निर्मल है, लोक-अलोक के जाननेवाले हैं, कृतकृत्य हैं, जटा आदि से रहित हैं तथा परमात्मा हैं इसलिए उनके मन्दिरों और उनकी प्रतिमाओं का दर्शन करने वाले लोगों के शुभ परिणामों में जैसी प्रकर्षता होती है वैसी अन्य कारणों से नहीं हो सकती क्योंकि समस्त कार्यों की उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणों से होती है इसलिए जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा पुण्य-बन्ध के कारणभूत शुभ परिणामों का कारण है यह बात अच्छी तरह जान लेने के योग्य है ॥48-53॥

इसी उपदेश के समय उक्त मुनिराज ने तीनों-लोकों सम्बन्धी चैत्यालयों के आकार आदि का वर्णन करना चाहा और सबसे पहले उन्होंने सूर्य के विमान में स्थित जिन-मन्दिर की विभूति का अच्छी तरह वर्णन किया भी । उस असाधारण विभूति को सुनकर राजा आनन्द को बहुत ही श्रद्धा हुई । वह उस समय से प्रतिदिन आदि और अन्त समय में दोनों हाथ जोड़कर तथा मुकुट झुकाकर सूर्य के विमान में स्थित जिन प्रतिमाओं की स्तुति करने लगा । यही नहीं, उसने कारीगरों के द्वारा मणि और सुवर्ण का एक सूर्य-विमान भी बनवाया और उसके भीतर फैलती हुई कान्ति का धारक जिन-मन्दिर बनवाया । तदनन्तर उसने शास्त्रोक्त विधि से भक्ति-पूर्वक आष्टाह्निक पूजा की ।

चतुर्मुख, रथावर्त, सबसे बड़ी सर्वतोभद्र और दीनों के लिए मन-चाहा दान देनेवाली कल्पवृक्ष पूजा की। इस प्रकार उस राजा को सूर्य की पूजा करते देख उसकी प्रामाणिकता से अन्य लोग भी स्वयं भक्ति-पूर्वक सूर्य-मण्डल की स्तुति करने लगे। आचार्य कहते हैं कि इस लोक में उसी समय से सूर्य की उपासना चल पड़ी है ॥54-60॥

अथानन्तर-किसी एक दिन राजा आनन्द ने यौवन चाहनेवाले लोगों के हृदय को दो-टूक करने वाला सफेद बाल अपने शिर पर देखा। इस निमित्त से उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। विरक्त होते ही उसने बड़े पुत्र के लिए अभिषेक पूर्वक अपना राज्य दे दिया और समुद्रगुप्त मुनिराज के समीप राजसी भाव छोड़कर अनेक राजाओं के साथ निःस्पृह (निःस्वार्थ) तप धारण कर लिया। शुभ-लेश्या के द्वारा उसने चारों आराधनाओं की आराधना की विशुद्धता प्राप्त कर ग्यारह-अंगों का अध्ययन किया, तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्ध में कारणभूत सोलह-कारण भावनाओं का चिन्तन किया, शास्त्रानुसार सोलह-कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका बन्ध किया और चिरकाल तक घोर तपश्चरण किया। आयु के अन्त में, जिसकी अन्तरात्मा अत्यन्त शान्त हो गई है, जो धीर वीर है, धर्म-ध्यान के अधीन है और आकुलता-रहित है ऐसा वह आनन्द मुनि प्रायोपगमन संन्यास लेकर क्षीरवन में प्रतिमा-योग से विराजमान हुआ ॥61-66॥ पूर्व जन्म के पापी कमठ का जीव नरक से निकलकर उसी वन में सिंह हुआ था सो उसने आकर उन मुनि का कण्ठ पकड़ लिया ॥67॥ इस प्रकार सिंह का उपसर्ग सहकर चार आराधना रूपी धन को धारण करने वाला वह मुनि प्राण-रहित हो अच्युत स्वर्ग के प्राणत विमान में इन्द्र हुआ ॥68॥

वहाँ पर उसकी बीस सागर की आयु थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल-लेश्या थी, वह दश माह बाद श्वास लेता था, और बीस हजार वर्ष बाद मानसिक अमृताहार ग्रहण करता था। उसके मानसिक स्त्री-प्रवीचार था, पांचवीं पृथिवी तक अवधिज्ञान का विषय था, उतनी दूरी तक ही उसकी कान्ति, विक्रिया और बल था, सब ऋद्धियों के धारक सामानिक आदि देव उसकी पूजा करते थे, और वह इच्छानुसार काम प्रदान करने वाली अनेक देवियों के द्वारा उत्पादित सुख की खान था। इस प्रकार समस्त विषय-भोग प्राप्तकर वह निरन्तर उनका अनुभव करता रहता था और उन्हीं में सतृष्ण रहकर लीला-पूर्वक बहुत लम्बे समय को एक कला की तरह व्यतीत करता था ॥69-73॥

जिस समय उसकी आयु के अन्तिम छह माह रह गये और वह इस पृथिवी पर आने के लिए सन्मुख हुआ उस समय इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र सम्बन्धी काशी देश में बनारस नाम का एक नगर था। उसमें काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ब्राह्मी था। देवों ने रत्नों की धारा बरसाकर उसकी पूजा की थी। रानी ब्राह्मी ने वैशाखकृष्ण द्वितीया के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सोलह शुभ स्वप्न देखे और उसके बाद अपने मुख-कमल में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातःकाल के समय बजनेवाले नगाड़ों के शब्दों से उसकी आँख खुल गई और मंगलाभिषेक से संतुष्ट होकर तथा वस्त्राभरण पहिन कर वह राजा के समीप इस प्रकार पहुँची मानो चाँदनी रात चन्द्रमा के समीप पहुँची हो ॥74-78॥

आदर-पूर्वक वह महाराज के आधे सिंहासन पर बैठी और अपने द्वारा देखे हुए सब स्वप्न यथा-क्रम से कहने लगी ॥79॥

महाराज विश्वसेन अवधिज्ञानी थे ही, अतः स्वप्न सुनकर इस प्रकार उनका फल कहने लगे। वे बोले कि हाथी के स्वप्न से पुत्र होगा, बैल के देखने से वह तीनों लोकों का स्वामी होगा, सिंह के देखने से अनन्त वीर्य का धारक होगा, लक्ष्मी का अभिषेक देखने से उसे मेरु पर्वत पर अभिषेक की प्राप्ति होगी, दो मालाओं को देखने से वह गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मरूप तीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाला होगा, चन्द्रमण्डल के देखने से वह तीन-लोक का चन्द्रमा होगा, सूर्य के देखने से तेजस्वी होगा, मत्स्यों का जोड़ा देखने से सुखी होगा, कलश देखने से निधियों का स्वामी होगा, सरोवर के देखने से समस्त लक्षणों से युक्त होगा, समुद्र के देखने से सर्वज्ञ होगा, सिंहासन के देखने से समस्त लोगों के द्वारा पूजनीय होगा, विमान देखने से स्वर्ग से अवतार लेनेवाला होगा, नागेन्द्र का भवन देखने से तीन-ज्ञान का धारक होगा, रत्नों की राशि देखने से गुणों से आलिङ्गित होगा, निर्धूम अग्नि के देखने से पापों को जलानेवाला होगा और हे कृशोदर ! मुखकमल में हाथी का प्रवेश देखने से सूचित होता है कि देवों के द्वारा पूजित होनेवाला वह पुत्र आज तेरे उदर में आकर विराजमान हुआ है। इस प्रकार वह मृगनयनी पति से स्वप्नों का फल सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुई ॥80-87॥

उसी समय समस्त इन्द्रों ने आकर बड़े हर्ष से स्वर्गावतरण की वेला में भगवान् के माता-पिता का कल्याणाभिषेक कर उत्सव किया ॥88॥ उस समय महाराज विश्वसेन का राजमन्दिर अपनी सम्पदा के द्वारा स्वर्गलोक का भी उल्लंघन कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा

जीवों का समागम कौन-सा कल्याण नहीं करता है ? अर्थात् सभी कल्याण करता है ॥89॥

नौ माह पूर्ण होने पर पौषकृष्ण एकादशी के दिन अनिलयोग में वह पुत्र उत्पन्न हुआ ॥90॥

उसी समय अपने आसनों के कम्पायमान होने से सौधर्म आदि सभी इन्द्रों ने तीर्थकर भगवान् के जन्म का समाचार जान लिया तथा सभी ने आकर सुमेरू पर्वत के मस्तक पर उनके जन्म-कल्याण की पूजा की, पार्श्वनाथ नाम रक्खा और फिर उन्हें माता-पिता के लिए समर्पित कर दिया ॥91-92॥

श्री नेमिनाथ भगवान् के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर मृत्यु को जीतने वाले भगवान् पार्श्वनाथ उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु सौ वर्ष की थी जो कि उसी पूर्वोक्त अन्तराल में शामिल थी। उनके शरीर की कान्ति धान के छोटे पौधे के समान हरे रंग की थी, वे समस्त लक्षणों से सुशोभित थे, नौ हाथ ऊँचा उनका शरीर था, वे लक्ष्मीवान् थे और उग्र वंश में उत्पन्न हुए थे, सोलह वर्ष बाद जब भगवान् नव यौवन से युक्त हुए तब वे किसी समय क्रीड़ा करने के लिए अपनी सेना के साथ नगर से बाहर गये। वहाँ आश्रम के वन में इनकी माता का पिता, महीपाल नगर का राजा महीपाल अपनी रानी के वियोग से तपस्वी होकर तपकर रहा था, वह पन्चाग्नियों के बीच में बैठा हुआ तपश्चरण कर रहा था। देवों के द्वारा पूजित भगवान् पार्श्वनाथ उसके समीप जाकर उसे नमस्कार किये बिना ही अनादर के साथ खड़े हो गये। यह देख, वह खोटा साधु, बिना कुछ विचार किये ही क्रोध से युक्त हो गया। वह मन में सोचने लगा कि 'मैं कुलीन हूँ- उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, तपोवृद्ध हूँ-तप के द्वारा बड़ा हूँ, और इसकी माता का पिता हूँ फिर भी यह अज्ञानी कुमार अहंकार से विह्वल हुआ मुझे नमस्कार किये बिना ही खड़ा है' ऐसा विचार कर वह अज्ञानी बहुत ही क्षोभ को प्राप्त हुआ और बुझती हुई अग्नि में डालने के लिए वहाँ पर पड़ी हुई लकड़ी को काटने की इच्छा से उसने लकड़ी काटने के लिए अपना मजबूत फरसा ऊपर उठाया ही था कि अवधिज्ञानी भगवान् पार्श्वनाथ ने 'इसे मत काटो, इसमें जीव है' यह कहते हुए मना किया परन्तु उनके मना करने पर भी उसने लकड़ी काट ही डाली। इस कर्म से उस लकड़ी के भीतर रहनेवाले सर्प और सर्पिणी के दो-दो टुकड़े हो गये। यह देखकर सुभौम कुमार कहने लगा कि तू 'मैं गुरु हूँ, तपस्वी हूँ' यह समझकर यद्यपि भारी अहंकार कर रहा है परन्तु यह नहीं जानता कि इस कुतप से पापास्त्रव होता है या नहीं। इस अज्ञान तप से तुझे इस लोक में दुःख हो रहा है और परलोक में भी दुःख प्राप्त होगा।' सुभौमकुमार के यह वचन सुनकर वह तपस्वी और भी कुपित हुआ तथा इस प्रकार उत्तर देने लगा ॥93-105॥

कि 'मैं प्रभु हूँ, यह मेरा क्या कर सकता है' इस प्रकार की अवज्ञा से मेरे तप का माहात्म्य बिना जाने ही तू ऐसा क्यों बक रहा है ?

पन्चाग्नि के मध्य में बैठना, वायु भक्षण कर ही जीवित रहना, ऊपर भुजा उठाकर चिरकाल तक एक ही पैर से खड़े रहना, और उपवास कर अपने आप गिरे हुए पत्ते आदि से पारण करना। इस प्रकार शरीर को सन्तापित करनेवाला तपस्वियों का तप बहुत ही कठिन है, इस तपश्चरण से बढ़कर दूसरा तपश्चरण हो ही नहीं सकता। उस तपस्वी के ऐसे वचन सुन सुभौम-कुमार हँसकर कहने लगा कि मैं न तो आपको गुरु मानता हूँ और न आपका तिरस्कार ही करता हूँ किन्तु जो आप्त तथा आगम आदि को छोड़कर मिथ्यात्व एवं क्रोधादि चार कषायों के वशीभूत हो पृथिवीकायिक आदि छह काय के जीवों की हिंसा में मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से प्रवृत्ति करते हैं और इस तरह अनाप्त के कहे हुए मत का आश्रय लेकर निर्वाण की प्रार्थना करते हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं सो उनकी यह इच्छा चावल पाने की इच्छा से धान के छिलके कूटने के प्रयास के समान है, अथवा जल मथकर घी प्राप्त करने की इच्छा के समान है, अथवा अन्ध-पाषाण के समूह को जलाकर सुवर्ण करने की इच्छा के समान है, अथवा जिस प्रकार कोई अन्धा मनुष्य दावानल के डर से भागकर अग्नि में जा पड़े उसके समान है। ज्ञानहीन मनुष्य का काय-क्लेश भावी दुःख का कारण है। यह बात मैं, आप पर बहुत भारी स्नेह होने के कारण कह रहा हूँ' ॥106-114॥

इस प्रकार सुभौम-कुमार के कहे वचन, विपरीत बुद्धिवाले उस तापस ने समझ तो लिये परन्तु पूर्व वैर का संस्कार होने से, अथवा अपने पक्ष का अनुराग होने से अथवा दुःखमय संसार से आने के कारण अथवा स्वभाव से ही अत्यन्त दुष्ट होने के कारण उसने स्वीकार नहीं किये प्रत्युत, यह सुभौमकुमार अहंकारी होकर मेरा इस तरह तिरस्कार कर रहा है, यह सोचकर वह भगवान् पार्श्वनाथ पर अधिक क्रोध करने लगा। इसी शल्य से वह मरकर शम्बर नाम का ज्योतिषी देव हुआ सो ठीक ही है क्योंकि क्रोधी मनुष्यों की तप से ऐसी ही गति होती है। इधर सर्प और सर्पिणी कुमार के उपदेश से शान्त-भाव को प्राप्त हुए और मरकर बहुत भारी लक्ष्मी को धारण करनेवाले धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। तदनन्तर भगवान् पार्श्वनाथ का जब तीस वर्ष प्रमाण कुमारकाल बीत गया तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने

भगली देश में उत्पन्न हुए घोड़े आदि की भेंट के साथ अपना दूत भगवान् पार्श्वनाथ के समीप भेजा । भगवान् पार्श्वनाथ ने भेंट लेकर उस श्रेष्ठ दूत का हर्ष-पूर्वक बड़ा सम्मान किया और उससे अयोध्या की विभूति पूछी । इसके उत्तर में दूत ने सबसे पहले भगवान् वृषभदेव का वर्णन किया और उसके पश्चात् अयोध्या नगर का हाल कहा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् लोग अनुक्रम को जानते ही हैं । दूत के वचन सुनकर भगवान् विचारने लगे कि मुझे तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध हुआ है इससे क्या लाभ हुआ ? भगवान् वृषभदेव को ही धन्य है कि जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया । ऐसा विचार करते ही उन्होंने अपने अतीत भवों की परम्परा का साक्षात्कार कर लिया-पिछले सब देख लिये ॥115-124॥

मतिज्ञानावरण कर्म के बढ़ते हुए क्षयोपशमके वैभव से उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया और लौकान्तिक देवों ने आकर उन्हें सम्बोधित किया । उसी समय इन्द्र आदि देवों ने आकर प्रसिद्ध दीक्षा-कल्याणकका अभिषेक आदि महोत्सव मनाया ॥125-226॥

तदनन्तर भगवान्, विश्वास करने योग्य युक्तियुक्त वचनोंके द्वारा भाई बन्धुओं को विदाकर विमला नाम की पालकीपर सवार हो अश्ववन में पहुँचे । वहाँ अतिशय धीर वीर भगवान् तैलाका नियम लेकर एक बड़ी शिलातल पर उत्तराभिमुख हो पर्यकासनसे विराजमान हुए । इस प्रकार पौषकृष्ण एकादशी के दिन प्रातःकाल के समय उन्होंने सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा-रूपी लक्ष्मी स्वीकृत कर ली । वह दीक्षा-लक्ष्मी क्या थी ? मानो कार्य सिद्ध करनेवाली मुक्ति रूपी कन्याकी माननीय दूती थी ॥127-130॥ भगवान् ने पन्च मुष्टियों के द्वारा उखाड़कर जो केश दूर फेंक दिये थे इन्द्र ने उनकी पूजा की तथा बड़े आदरसे ले जाकर उन्हें क्षीरसमुद्रमें डाल दिया ॥131॥

जिन्होंने दीक्षा लेते ही सामायिक चारित्र प्राप्त किया है और विशुद्धताके कारण प्राप्त हुए चतुर्थ-मनःपर्ययज्ञान से देदीप्यमान हैं ऐसे भगवान् पारणाके दिन आहार लेने के लिए गुल्मखेट नाम के नगर में गये ॥132॥

वहाँ श्यामवर्ण वाले धन्य नामक राजा ने अष्ट मंगल द्रव्यों के द्वारा पडगाहकर उन्हें शुद्ध आहार दिया और आहार देकर इस क्रियाके योग्य उत्तम फल प्राप्त किया ॥133॥

इस प्रकार अत्यन्त विशुद्धि को धारण करनेवाले भगवान् ने छद्मस्थ अवस्थाके चार माह व्यतीत किये । तदनन्तर जिस वन में दीक्षा ली थी उसी वन में जाकर वे देवदारु नामक एक बड़े वृक्ष के नीचे विराजमान हुए । वहाँ तैलाका नियम लेनेसे उनकी विशुद्धता बढ़ रही थी, उनके संसारका अन्त निकट आ चुका था और उनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी, इस प्रकार वे सात दिनका योग लेकर धर्मध्यानको बढ़ाते हुए विराजमान थे । इसी समय कमठका जीव शम्बर नाम का असुर आकाशमार्गसे जा रहा था कि अकस्मात् उसका विमान रूक गया । जब उसने विभंगावधि ज्ञान से इसका कारण देखा तो उसे अपने पूर्वभवका सब वैर-बन्धन स्पष्ट दिखने लगा । फिर क्या था, क्रोधवश उसने महा गर्जना की और महावृष्टि करना शुरू कर दिया । इस प्रकार यमराज के समान अतिशय दुष्ट उस दुर्बुद्धिने सात दिन तक लगातार भिन्न-भिन्न प्रकार के महा उपसर्ग किये । यहाँ तक कि छोटे-छोटे पहाड़ तक लाकर उनके समीप गिराये ॥134-138॥

अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र अपनी पत्नीके साथ पृथिवीतलसे बाहर निकला उस समय वह धरणेन्द्र, जिसपर रत्न चमक रहे हैं ऐसे फणारूपी मण्डपसे सुशोभित था । धरणेन्द्र भगवान् को फणाओं के समूह से आवृतकर खड़ा हो गया और उसकी पत्नी मुनिराज पार्श्वनाथ के ऊपर बहुत ऊँचा वज्रमय छत्र तानकर स्थित हो गयी । आचार्य कहते हैं कि देखो, स्वभाव से ही क्रूर रहने वाले सर्पसर्पिणीने अपने ऊपर किया उपकार याद रखा सो ठीक ही है, क्योंकि दयालु पुरुष अपने ऊपर किये उपकार को कभी नहीं भूलते ॥ 139-141॥

तदनन्तर भगवान् के ध्यान के प्रभाव से उनका मोहनीय कर्म क्षीण हो गया इसलिए वैरी कमठका सब उपसर्ग दूर हो गया ॥142॥

मुनिराज पार्श्वनाथ ने द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा अवशिष्ट तीन घातिया कर्मों को और भी जीत लिया जिससे उन्हें चैत्रकृष्ण त्रयोदशीके दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में लोक-अलोकको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान प्राप्त हो गया और इस कारण उनका अभ्युदय बहुत भारी हो गया ॥143-144॥

उसी समय इन्द्रों ने केवलज्ञान की पूजा की । शम्बर नाम का ज्यौतिषीदेव भी काललब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विशुद्धता प्राप्त कर ली । यह देख, उस वन में रहनेवाले सात सौ तपस्वियोंने मिथ्यादर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदरके साथ प्रदक्षिणा देकर भगवान् पार्श्वनाथ के चरणोंमें नमस्कार करने लगे । आचार्य कहते हैं कि

पापी कमठके जीव का कहाँ तो निष्कारण वैर और कहाँ ऐसी शान्ति ? सच कहा है कि महापुरुषोंके साथ मित्रता तो दूर रही शत्रुता भी वृद्धिका कारण होती है ॥145-148॥

भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरणमें स्वयंभूको आदि लेकर दश गणधर थे, तीन सौ पचास मुनिराज पूर्वके ज्ञाता थे, दश हजार नौ सौ शिक्षक थे, एक हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, एक हजार केवलज्ञानी थे, इतने ही विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, सात सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे, और छह सौ वादी थे । इस प्रकार सब मिलाकर शीघ्र ही मोक्ष जानेवाले सोलह हजार मुनिराज उनके समवसरण में थे ॥

149-152॥

सुलोचनाको आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यन्च थे । इस प्रकार बारह सभाओं के साथ धर्मोपदेश करते हुए भगवान् ने पांच माह कम सत्तर वर्ष तक विहार किया । अन्त में जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया तब वे विहार बन्दकर सम्मेदाचलकी शिखर पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये । श्रावणशुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में शुक्लध्यान के तीसरे और चौथे भेदोंका आश्रय लेकर वे अनुक्रम से तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में स्थित रहे फिर यथा-क्रम से उस समयके योग्य कार्य कर समस्त कर्मों का क्षय हो जानेसे मोक्षमें अविचल विराजमान हो गये । उसी समय इन्द्रों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणकका उत्सव कर उनकी वन्दना की । आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उनके निर्मल गुणों से समृद्ध होने के कारण हम भी इन भगवान् पार्श्वनाथको नमस्कार करते हैं ॥

153-159॥

जो समुद्र के समान आदि मध्य और अन्त में गम्भीर रहते हैं ऐसे सज्जनोंका यदि कोई उदाहरण हो सकता है तो क्षमावानोंमें गिनती करने के योग्य भगवान् पार्श्वनाथ ही हो सकते हैं ॥160॥

'भगवन्' ! जन्माभिषेकके समय सुमेरूपर्वत पर अपने उच्छ्वास और निःश्वाससे उत्पन्न वायुके द्वारा आपने इन्द्रोंको भी अच्छी तरह बार-बार झूला झुला दिया था फिर भला यह शम्बर जैसा क्षुद्रदेव आपका क्या कर सकता है ? जिस प्रकार मच्छ समुद्रमें उछल-कूदकर उसे पीड़ित करता है परन्तु स्वयं उसी समुद्रसे जीवित रहता है-उससे अलग होते ही छटपटाने लगता है उसी प्रकार इस क्षुद्रदेवने आपको पीड़ा पहुँचाई है तो भी यह अन्त में आपकी ही शान्तिसे अभ्युदयको प्राप्त हुआ है' इस प्रकार जिनकी स्तुति की गई वे पार्श्वनाथ स्वामी हम सबकी रक्षा करें ॥161॥

'हे प्रभो ! अकम्प हुआ आपका ज्ञान अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त है उसे समुद्रकी उपमा कैसे दी जा सकती है क्योंकि समुद्र तो महावायुके चलनेपर चंचल हो जाता है और उसमें भरा हुआ पानी नीला है इस प्रकार समुद्र दूरसे ही आपके ज्ञान को नहीं पा सकता है । इसी तरह आपका ध्यान भी अकम्प है तथा अत्यन्त शुक्लता को प्राप्त है उसे भी समुद्रकी उपमा नहीं दी जा सकती है । हे नाथ ! आप सुमेरु पर्वत के समान अचल हैं फिर भला श्वासोच्छ्वासकी वायुके समान इस क्षुद्रदेवसे आपको क्या क्षोभ हो सकता है ?' इस प्रकार अनेक स्तुतियोंके स्वामी पार्श्वनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें ॥162॥

हे स्वामिन् ! धैर्य आदि बड़े-बड़े गुणों से यद्यपि सभी तीर्थंकर समान हैं तथापि सबको संतुष्ट करनेवाले आपके गुण संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं वे सब एक कमठके कारण ही प्रसिद्ध हुए हैं । सो ठीक ही है क्योंकि अपकार करनेवाले शत्रुसे महापुरुषोंकी जो ख्याति होती है वह उपकार करनेवाले मित्रसे कभी नहीं होती ? ॥163॥

हे देव ! आपने शान्तचित्त रहकर शम्बर देव की विक्रिया दूर कर दी उससे आपको न कोई बाधा हुई, न क्रोध आया और न भय ही उत्पन्न हुआ इस कारण 'आप सहनशील हैं' इस प्रकार विद्वज्जन आपकी स्तुति नहीं करते किन्तु आपका माहात्म्य और शान्ति आश्चर्यजनक है इसलिए आपकी स्तुति की जानी चाहिये । इस प्रकार जिनकी स्तुति की गई थी वे पार्श्वनाथ भगवान् हम सबके संसारका उच्छेद करनेवाले हों ॥164॥

देखो, ये धरणेन्द्र और पद्मावती दोनों ही बड़े कृतज्ञ हैं, और बड़े धर्मात्मा हैं इस प्रकार संसार में स्तुतिको प्राप्त हुए हैं परन्तु तीनों लोगों के कल्याणकी एकमात्र भूमि स्वरूप आपका ही यह उपकार है ऐसा समझना चाहिये । यदि ऐसा न माना जाय और दोनोंने ही पर्वतोंका पटकना आदि बन्द किया है ऐसा माना जाय तो फिर यह भी खोजना पड़ेगा कि पहले उपद्रव किसके द्वारा नष्ट हुए थे ? इस प्रकार जिनकी सारभूत स्तुति की जाती है वे पार्श्वनाथ भगवान् हम सबकी रक्षा करें ॥165॥

हे विभो ! पर्वतका फटना, धरणेन्द्रका फणामण्डलका मण्डप तामना, पद्मावतीके द्वारा छत्र लगाया जाना, घातिया कर्मों का क्षय होना, केवलज्ञान की प्राप्ति होना, धातुरहित परमौदारिक शरीर की प्राप्ति होना, जन्म-मरण रूप संसारका विघात होना, शम्बरदेवका भयभीत होना, आपके तीर्थकर नाम-कर्म का उदय होना और समस्त विघ्नोंका नष्ट होना ये सब कार्य जिनके एक साथ प्रकट हुए थे ऐसे उग्र वंशके शिरोमणि भगवान् पार्श्वनाथ सदा यमराजका भय नष्ट करें-जन्ममरणसे हमारी रक्षा करें ॥166॥

'यह शान्ति, क्या भगवान् के ध्यानसे हुई है ? वा धरणेन्द्रसे हुई है ? अथवा पद्मावतीसे हुई है ? अथवा भगवान् की क्षमासे हुई है ? अथवा इन्द्रसे हुई है ? अथवा स्वयं अपनेआप हुई है ? अथवा मन्त्रके विस्तारसे हुई है ? अथवा शत्रु के भयभीत हो जानेसे हुई है ? अथवा भगवान् के पुण्योदय से हुई है ? अथवा समय पाकर शान्त हुई है ? अथवा घातिया कर्मों का क्षय होनेसे हुई है' इस प्रकार अर्ध हाथ में लिये हुए देव लोग, शंवरदेव के द्वारा किये हुए जिनके विघ्नोंकी शान्तिकी आशंका कर रहे हैं ऐसे धीर वीरोंमें अग्रगण्य भगवान् पार्श्वनाथ हमारे पाप नष्ट करें ॥167॥

कानोंको सुख देनेवाले, हृदयको प्रिय लगनेवाले, हित करनेवाले और हेतुसे युक्त जिनके वचन सुनकर शम्बरदेवने परम्परागत वैरसे उत्कट मिथ्यात्वको विष के समान छोड़ दिया, स्वयं आकर जिनकी स्तुति की और उस प्रकार का क्रूर होने पर भी वह कल्याणको प्राप्त हुआ तथा जो इन्द्रके द्वारा धारण किये हुए सिंहासनके अग्रभाग पर विराजमान होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए ऐसे भगवान् पार्श्वनाथ हमारे विघ्नोंके समूहको नष्ट करें ॥168॥

पार्श्वनाथका जीव पहले मरूभूति मंत्री हुआ, फिर सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से आकर विद्याधर हुआ, फिर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ, वहाँसे आकर वज्रनामि चक्रवर्ती हुआ, फिर मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ, वहाँ से आकर राजाओं के गुणों से सुशोभित आनन्द नाम का राजा हुआ, फिर आनत स्वर्ग में इन्द्र हुआ और तदनन्तर घातिया कर्मोंके समूहको नष्ट करनेवाला भगवान् पार्श्वनाथ हुआ ॥169॥ कमठका जीव पहले कमठ था, फिर कुक्कुट सर्प हुआ, फिर पाँचवें नरक गया, फिर अजगर हुआ, फिर नरक गया, फिर भील होकर नरक गया, फिर सिंह होकर नरक गया और फिर महीपाल राजा होकर शम्बर देव हुआ ॥170॥

भगवान महावीर, सती चंदना, राजा श्रेणिक, अभयकुमार, राजा चेटक, चेलना, जीवन्धर चरित

पर्व - 74

कथा :

अथानन्तर – सार्थक नाम को धारण करनेवाले श्रीमान् वर्धमान जिनेन्द्र, घातिया कर्मोंके नाशसे प्राप्त हुई वृद्धि मुझे दें ॥1॥

जिनके वचनों से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसे आप तत्त्वार्थ का निर्णय करनेसे सन्मति नाम को प्राप्त हुए और देवों के आगमनसे पूज्य होकर आप अकलंक हुए हैं ॥2॥

आपका नाम वीरसेन है, रुद्रके द्वारा आप महावीर कहलाये हैं, ऋद्धिधारी मुनियोंकी सेना के नायक हैं । गणधरदेव आपके चरण – कमलोंकी पूजा करते हैं, तथा अनेक मुनिराज आपका ध्यान करते हैं ॥3॥

हे देव ! लोक और अलोक के देखनेमें आपका ही केवलज्ञानरूपी प्रकाश मुख्य गिना जाता है जिसे आपका केवलज्ञान नहीं देख सका ऐसा क्या कोई फुटकर पदार्थ भी इस संसार में है ? ॥4॥

हे नाथ ! आपका रूप ही आपके क्रोधादिकके अभावको सूचित करता है सो ठीक ही है क्योंकि बहुमूल्य मणियोंकी कालिमाके अभावको कौन कहता है ? भावार्थ – जिस प्रकार मणियोंकी निर्मलता स्वयं प्रकट हो जाती है उसी प्रकार आपका शान्ति भाव भी स्वयं प्रकट हो रहा है ॥5॥

हे प्रभो ! अन्य अनेक कुतीर्थोंका उल्लंघनकर आपका तीर्थ अब भी चल रहा है इसलिए स्तुतिके अनन्तर आपका पुराण कहा जाता है ॥ 6॥

यह महापुराण एक महासागरके समान है इसके पार जानेके लिए कुछ कहने की इच्छा करनेवाले हम लोगों को श्रीजिनसेन स्वामी का अनुगामी होना चाहिये ॥7॥

यह पुराण रूपी महासागर अगाध और अपार है तथा मेरी बुद्धि थोड़ी और पारसहित है फिर भी मैं इस बुद्धि के द्वारा इस पुराणरूपी महासागरको पार करना चाहता हूँ ॥8॥

यद्यपि मेरी बुद्धि छोटी है और यह पुराण बहुत बड़ा है तो भी जिस प्रकार छोटी - सी नावसे समुद्र के पार हो जाते हैं उसी प्रकार मैं भी इस छोटी - सी बुद्धिसे इसके पार हो जाऊँगा ॥9॥

सबसे पहले कथा और कथाके कहनेवाले वक्ताका वर्णन किया जाता है क्योंकि यदि ये दोनों ही निर्दोष हों तो उनसे पुराणमें कोई दोष नहीं आता है ॥10॥

वाले पुरुषों के कानोंको कड़ुवी लगनेवाली अन्य कथाओंसे क्या प्रयोजन है ? ॥11॥

कथक - कथा कहनेवाला वह कहलाता है जो कि रागादि दोषोंसे रहित हो और अपने दिव्य वचनों के द्वारा निरपेक्ष होकर भव्य जीवोंका उपकार करता हो ॥12॥

ये दोनों ही अर्थात् कथा और कथक, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए इसी महापुराणमें है अन्य मिथ्या पुराणोंमें नहीं हैं इसलिए विद्वानोंके द्वारा यही पुराण ग्रहण करने के योग्य है ॥13॥

अथानन्तर - सब द्वीपोंके मध्य में रहनेवाले इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारेपर पुष्कलावती नाम का देश है उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में एक मधु नाम का वन है । उसमें पुरुरवा नाम का एक भीलों का राजा रहता था । उसकी कालिका नाम की अनुराग करनेवाली स्त्री थी सो ठीक ही है क्योंकि विधाता प्राणियोंका अनुकूल ही समागम करता है ॥14-16॥

किसी एक दिन दिग्भ्रम हो जानेके कारण सागरसेन नाम के मुनिराज उस वन में इधर - उधर भ्रमण कर रहे थे । उन्हें देख, पुरुरवा भील मृग समझकर उन्हें मारनेके लिए उद्यत हुआ परन्तु उसकी स्त्रीने यह कहकर मना कर दिया कि 'ये बनके देवता घूम रहे हैं इन्हें मत मारो' ॥17-18॥

वह पुरुरवा भील उसी समय प्रसन्नचित्त होकर उन मुनिराज के पास गया और श्रद्धाके साथ नमस्कारकर तथा उनके वचन सुनकर शान्त हो गया ॥19॥

जिस प्रकार ग्रीष्मऋतु में प्यासा मनुष्य शीतल जलसे भरे हुए तालाबको पाकर शान्त होता है अथवा जिस प्रकार संसार - दुःखके कारणोंसे डरनेवाला जीव, जिनेन्द्र भगवान् का मत पाकर शान्त होता है अथवा जिस प्रकार शास्त्राभ्यास करनेवाला विद्यार्थी किसी बड़े प्रसिद्ध गुरुकुलको पाकर शान्त होता है उसी प्रकार वह भील भी सागरसेन मुनिराजको पाकर शान्त हुआ था । उसने उक्त मुनिराजसे मधु आदि तीन प्रकार के त्यागका व्रत ग्रहण किया और जीवन पर्यन्त उसका बड़े आदरसे अच्छी पालन किया । आयु समाप्त होने पर वह सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की उत्तम आयुको धारण करनेवाला देव हुआ ॥20-22॥

इसी जम्बूद्वीप के भरत - क्षेत्र सम्बन्धी आर्यक्षेत्रके मध्यभाग में स्थित तथा सदा अच्छी स्थिति को धारण करनेवाला एक कोसल नाम का प्रसिद्ध देश है ॥23॥

उस देशमें कभी किसीको वाधा नहीं होती थी इसलिए अरक्षा थी परन्तु वह अरक्षा रक्षकोंके अभावसे नहीं थी । इसी तरह वहाँपर कोई दातार नहीं थे, दातारोंका अभाव कृपणतासे नहीं था परन्तु संतुष्ट रहनेके कारण कोई लेनेवाले नहीं थे इसलिए था ॥24॥

वहाँ कठोरता स्त्रियों के स्तनोंमें ही थी, वहाँ रहनेवाले किसी मनुष्य के चित्तमें कठोरता - क्रूरता नहीं थी । इसी तरह मुझे कुछ देओ, यह शब्द माँगनेके लिए नहीं निकलता था । और हमारी रक्षा करो यह शब्द भय से निकलता था ॥25॥

इसी प्रकार कलंक और क्षीणता ये दो शब्द चन्द्रमा के वाचक राजा में ही पाये जाते थे अन्य किसी राजा में नहीं पाये जाते थे । निराहार रहना तपस्वियोंमें ही था अन्यमें नहीं ॥26॥

पीड़ा अर्थात् पेला जाना तिल अलसी तथा ईखमें ही था अन्य किसी प्राणीमें पीड़ा अर्थात् कष्ट नहीं था । शिरका काटना बढ़ी हुई धानके पौधोंमें ही था किसी दूसरेमें नहीं । बन्ध और मोक्ष की चर्चा आगममें ही सुनाई देती थी किसी अपराधीमें नहीं । इन्द्रियोंका निग्रह विरागी लोगोंमें ही था किन्हीं दूसरे लोगोंमें नहीं । जड़ता जलमें ही थी किन्हीं अन्य मनुष्योंमें जड़ता - मूर्खता नहीं थी, तीक्ष्णता सुई आदि में ही थी वहाँके मनुष्योंमें उग्रता नहीं थी, वक्रता तालियोंमें ही थी किसी अन्य कार्य में कुटिलता - मायाचारिता नहीं थी । वहाँके गोपाल भी अचतुर नहीं थे, स्त्रियाँ तथा बालक भी डरपोक नहीं थे, बौने भी धूर्त नहीं थे, चाण्डाल भी दुराचारी नहीं थे । वहाँ ऐसी कोई भूमि नहीं थी जो कि ईखोंसे सुशोभित नहीं हो, ऐसा कोई पर्वत नहीं था जिसपर चन्दन न हों, ऐसा कोई सरोवर नहीं था जिसमें कमल न हों और ऐसा कोई वन नहीं था जिसमें मीठे फल न हों ॥27-31॥

उस देशके मध्यभाग में हृदयको ग्रहण करनेवाली विनीता (अयोध्या) नाम की नगरी थी जो कि विनीत स्त्रीके समान मनुष्यों को उत्तम सुख प्रदान करती थी ॥32॥

वह नगरी अपनी नगर - रचनाकी कुशलता दिखानेके लिए अथवा तीर्थकरोंमें अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिए इन्द्र ने ही सबसे पहले बनाई थी ॥33॥

जिस प्रकार विनय से मुनिकी बुद्धि सुशोभित होती है, स्वामीसे सेना शोभायमान होती है और मणिसे मेखला सुशोभित होती है, उसी प्रकार मध्यभाग में बने हुए परकोटसे वह नगरी सुशोभित थी ॥34॥

खाईसे घिरा हुआ इस नगरी का कोट, केवल इसकी शोभाके लिए ही था क्योंकि इसका बनाने वाला इन्द्र था और स्वामी चक्रवर्ती था फिर भला इसे भय किससे हो सकता था ? ॥35॥

वहाँ पर प्रतिदिन घर - घर में जिनकी पूजा होती थी क्योंकि गृहस्थोंके सब मांगलिक कार्य जिन - पूजापूर्वक ही होते थे ॥36॥

वहाँपर बिना विद्याभ्यासके बालक - अवस्था व्यतीत नहीं होती थी, विना भोगों के यौवन व्यतीत नहीं होता था, बिना धर्मके बुढ़ापा व्यतीत नहीं होता था और विना समाधिके मरण नहीं होता था ॥37॥

वहाँपर किसीका भी ज्ञान क्रियारहित नहीं था, क्रिया फलरहित नहीं थी, फल बिना उपभोगके नहीं था और भोग **अर्थ** तथा धर्म दोनोंसे रहित नहीं था ॥38॥

यदि वहाँके रहनेवाले लोगोंसे मन्त्री आदि प्रधान प्रकृतिका पृथक्करण होता था तो केवल स्वामित्वसे ही होता था आभूषणादि उपकरणों से नहीं होता था ॥39॥

वहाँके उत्तम मनुष्य स्वर्गसे आकर उत्पन्न होते थे इसलिए स्वर्ग में हुई मित्रताके कारण बहुतसे देव स्वर्गसे आकर बड़ी प्रसन्नतासे उनके साथ क्रीड़ा करते थे ॥40॥

इनमें देव कौन हैं ? और मनुष्य कौन हैं ? क्योंकि रूप आदिसे सभी समान हैं इस प्रकार आये हुए विद्याधरोंके राजा उनको अलग - अलग पहिचाननेमें मोहित हो जाते थे ॥41॥

वहाँ की वेश्याओं को देखकर देवकुमार बहुत ही आश्चर्य करते थे परन्तु जाति भिन्न होने के कारण उनके साथ क्रीड़ा नहीं करते थे ॥42॥ इन्द्रियोंको अच्छे लगनेवाले जो विषय वहाँ थे वे विषय चूँकि स्वर्ग में भी नहीं थे इसलिए देवताओं के द्वारा पूज्य तीर्थकर भगवान् का जन्म वहीं होता था ॥43॥

देवों ने अपने कौशलसे जो घर वहाँ बनाये थे वे अकृत्रिम विमानोंको जीतनेके लिए ही बनाये थे, इससे बढ़कर उनका और क्या वर्णन हो सकता है ? ॥44॥

जिस प्रकार स्वर्ग की पंक्तिका स्वामी इन्द्र होता है उसी प्रकार उस नगरी का स्वामी भरत था जो कि इक्ष्वाकुवंशको बढ़ानेवाला था और भगवान् वृषभदेवका पुत्र था ॥45॥

अकम्पन आदि राजा, नमि आदि विद्याधर और मागध आदि देव अपना अभिमान छोड़कर और उत्कण्ठित होकर अपना मस्तक झुकाते हुए मालतीकी माला के समान जिसकी आज्ञाको 'यह हमारा सबसे अधिक आभूषण है' यह विचारकर धारण करते थे ॥46-47॥

अपने सत्कर्मोंकी भावनासे तथा कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले भावोंसे और भव्यत्व भाव की विशेषतासे वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी अन्तिम सीमाको प्राप्त था **अर्थ**ात् सबसे अधिक श्रेष्ठ माना जाता था ॥48॥

वह भारत भगवान् आदिनाथका ज्येष्ठ पुत्र था, सोलहवाँ मनु था, प्रथम चक्रवर्ती था और एक मुहुर्तमें ही मुक्त हो गया था (केवल ज्ञानी हो गया था) इसलिए वह किनके साथ सादृश्यको प्राप्त हो सकता था ? **अर्थ**ात् किसी के साथ नहीं, वह सर्वथा अनुपम था ॥49॥

उसकी अनन्तमति नाम की वह देवी थी जो कि ऐसी सुशोभित होती थी मानो शरीरधारिणी कीर्ति हो अथवा कमल रूपी निवासस्थानको छोड़कर आई हुई मानो लक्ष्मी ही हो ॥50॥

जिसप्रकार बुद्धि और पराक्रम से विशेष लक्ष्मी उत्पन्न होती है उसी प्रकार उन दोनोंके पुरुरवा भीलका जीव देव, मरीचि नाम का ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ ॥51॥

अपने बाबा भगवान् वृषदेवकी दीक्षाके समय स्वयं ही गुरु - भक्ति से प्रेरित होकर मरीचिने कच्छ आदि राजाओं के साथ सब परिग्रहका

त्यागकर दीक्षा धारण कर ली थी। उसने बहुत समय तक तो तपश्चरण का क्लेश सहा और क्षुधा शीत आदि परीषह भी सहे परन्तु संसार – वासकी दीर्घताके कारण पीछे चलकर वह उन्हें सहन करने के लिए असमर्थ हो गया इसलिए स्वयं ही फल तथा वस्त्रादि ग्रहण करने के लिए उद्यत हुआ। यह देख वन – देवताओंने कहा कि निर्ग्रन्थ वेष धारण करनेवाले मुनियोंका यह क्रम नहीं है। यदि तुम्हें ऐसी ही प्रवृत्ति करना है तो इच्छानुसार दूसरा वेष ग्रहण कर लो। वन – देवताओं के उक्त वचन सुनकर प्रबल मिथ्यात्वसे प्रेरित हुए मरीचिने भी सबसे पहले परिव्राजककी दीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि जिनका संसार दीर्घ होता है उनके लिए वह मिथ्यातव कर्म मिथ्यामार्ग ही दिखलाता है ॥52-56॥

उस समय उसे परिव्राजकोंके शास्त्रका ज्ञान भी स्वयं ही प्रकट हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके समान दुर्जनोंको भी अपने विषय का ज्ञान स्वयं हो जाता है ॥57॥

उसने तीर्थकर भगवान् की दिव्यध्वनि सुनकर भी समीचीन धर्म ग्रहण नहीं किया था। वह सोचता रहता था कि जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवने अपने आप समस्त परिग्रहोंका त्याग कर तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली सामर्थ्य प्राप्त की है उसी प्रकार मैं भी संसार में अपने द्वारा चलाये हुए दूसरे मतकी व्यवस्था करूँगा और उसके निमित्तसे होनेवाले बड़े भारी प्रवाभके कारण इन्द्र की प्रतीक्षा प्राप्त करूँगा – इन्द्र द्वारा की हुई पूजा प्राप्त करूँगा। मैं इच्छा करता हूँ कि मेरे यह सब अवश्य होगा ॥58- 60॥

इस प्रकार मानकर्म के उदय से वह पापी खोटे मतसे विरत नहीं हुआ और अनेक दोषोंसे दूषित होने पर भी वही वेष धारण कर रहने लगा ॥61॥

यद्यपि वह तीन दण्ड रखता था परन्तु समीचीन दण्डसे रहित था अर्थात् इन्द्रिय दमन रूपी समीचीन दण्ड उसके पास नहीं था। जिस प्रकार खोटा राजा अनेक प्रकार के दण्डोंको, सजाओं को पाता है उसी प्रकार वह भी रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें अनेक प्रकार के दण्डोंको पानेवाला था ॥62॥

वह सम्यग्ज्ञानसे रहित था अतः कमण्डलु सहित होने पर भी शौच जानेके बाद शुद्धि नहीं करता था और कहता था कि क्या जलसे आत्माकी शुद्धि होती है ॥63॥

वह यद्यपि प्रातःकाल शीतल जलसे स्नान करता था और कन्दमूल तथा फलों का भोजन करता था फिर भी परिग्रहका त्याग बतलाकर अपनी प्रसिद्धि करता था, लोगोंमें इस बातकी घोषणा करता था कि मैं परिग्रहका त्यागी हूँ ॥64॥

जिस प्रकार इन्द्रजालियाके द्वारा लाये हुए सूर्य चन्द्रमा तथा समुद्र अवास्तविक होते हैं – आभास मात्र होते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा लाये देखे हुए तत्व अवास्तविक थे – तत्वाभास थे ॥65॥

इस प्रकार कपिल आदि अपने शिष्योंके लिए अपने कल्पित तत्वका उपदेश देता हुआ सम्राट् भरतका पुत्र मरीचि चिरकाल तक इस पृथिवीपर भ्रमण करता रहा ॥66॥

आयु के अन्त में मरकर वह ब्रह्म स्वर्ग में दश सागर की आयुवाला देव हुआ। वहाँसे च्युत हुआ और अयोध्या नगरी में कपिल नामक ब्राह्मणकी काली नाम की स्त्रीसे वेदोंको जाननेवाला जटिल नाम का पुत्र हुआ ॥67- 68॥

परिव्राजकके मतमें स्थित होकर उसने पहलेकी तरह चिरकाल तक उसीके मार्गका उपदेश दिया और मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। दो सागर तक वहाँके सुख भोगकर आयु के अन्त में वह वहाँसे च्युत हुआ और इसी भरत क्षेत्रके स्थूणागार नामक श्रेष्ठ नगर में भारद्वाज नामक ब्राह्मणकी पुष्पदन्ता स्त्रीसे पुष्पमित्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥69-71॥

उसने वही पहला परिव्राजकका वेष धारणकर प्रकृति आदिके द्वारा निरूपित पच्चीस मिथ्यातत्व मूर्ख मनुष्यों की बुद्धिमें प्राप्त कराये अर्थात् मूर्ख मनुष्यों की पच्चीस तत्वोंका उपदेश दिया। यह सब होने पर भी उसकी कषाय मन्द थी अतः देवायुका बन्धकर सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की आयुवाला देव हुआ ॥72-73॥

वहाँ के सुख भोगकर वहाँ से आया और इसी भरत क्षेत्रके सूतिका नामक गाँवमें अग्निभूति नामक ब्राह्मणकी गौतमी नाम की स्त्रीसे अग्निसह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥74॥

वहाँ भी उसने परिव्राजककी दीक्षा लेकर पहलेके समान ही अपनी आयु बिताई और आयु के अन्त में मरकर देवपदको प्राप्त हुआ। वहाँ सात सागर प्रमाण उसकी आयु थी। देवों के सुख भोगकर आयु के अन्त में वह वहाँसे च्युत हुआ और इसी भरतक्षेत्रके मंदिर नामक

गाँवमें गौतम ब्राह्मणकी कौशिकी नाम की ब्राह्मणीसे अग्निमित्र नाम का पुत्र हुआ। वहाँपर भी उसने वही पुरानी परिव्राजककी दीक्षा धारणकर मिथ्याशास्त्रोंका पूर्णज्ञान प्राप्त किया। अबकी बार वह माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, फिर वहाँसे च्युत होकर उसी मंदिर नामक नगर में शालंकायन ब्राह्मणकी मंदिरा नाम की स्त्रीसे भारद्वाज नाम का जगत् प्रसिद्ध पुत्र हुआ और वहाँ उसने त्रिदण्डसे सुशोभित अखण्ड दीक्षाका आचरण किया। तदनन्तर वह माहेद्र स्वर्ग में सात सागर की आयु वाला देव हुआ। फिर वहाँसे च्युत होकर कुमारग के प्रकट करने के फलस्वरूप समस्त अधोगतियोंमें जन्म लेकर उसने भारी दुःख भोगे। इस प्रकार त्रस स्थावर योनियोंमें असंख्यात वर्ष तक परिभ्रमण करता हुआ बहुत ही श्रान्त हो गया – खेद खिन्न हो गया। तदनन्तर आयु का अन्त होने पर मगधदेशके इसी राजगृह नगर में वेदोंके जानने वाले शाण्डिल्य नामक ब्राह्मणकी पारशरी नाम की स्त्रीसे स्थावर नाम का पुत्र हुआ। वह वेद वेदांगका पारगामी था, साथ ही अनेक पापों का पात्र भी था ॥75- 83॥

वह सम्यग्दर्शनसे शून्य था अतः उसका मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, तप, शान्ति, समाधि और तत्त्वावलोकन – सभी कुछ मरीचिके समान निष्फल था ॥84॥

उसने फिर भी परिव्राजक मतकी दीक्षामें आसक्ति धारणकी और मरकर माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की आयुवाला देव हुआ ॥85॥

वहाँसे च्युत होकर वह इसी मगध देशके राजगृह नामक उत्तम नगर में विश्वभूति राजाकी जैनी नाम की स्त्रीसे प्रसिद्ध पराक्रमका धारी विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ। इसी राजा विश्वभूतिका विशाखभूति नाम का एक छोटा भाई था जो कि बहुत ही वैभवशाली था। उसकी लक्ष्मणा नाम की स्त्रीसे विशाखनन्द नाम का मूर्ख पूत्र उत्पन्न हुआ था। ये सब लोग सुख से निवास करते थे ॥86- 88॥

किसी दूसरे दिन शुद्ध बुद्धि को धारण करनेवाला राजा विश्वभूति, शरद्भूतके मेघका नाश देखकर विरक्त हो गया। महापुरुषोंमें आगे रहनेवाले उस राजा ने अपना राज्य तो छोटे भाईके लिए दिया और युवराज पद अपने पुत्र के लिए प्रदान किया। तदनन्तर उसने सात्त्विक वृत्तिको धारण करनेवाले तीन सौ राजाओं के साथ श्रीधर नामक गुरुके समीप दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली और समता भावसे युक्त हो चिरकाल तक बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के कठिन तप किये ॥89-91॥

तदनन्तर किसी दिन विश्वनन्दी कुमार अपने मनोहर नाम के उद्यानमें अपनी स्त्रियों के साथ क्रीडा कर रहा था। उसे देख, विशाखनन्द उस मनोहर नामक उद्यानको अपने आधीन करने की इच्छा से पिता के पास जाकर कहने लगा कि मनोहर नाम का उद्यान मेरे लिए दिया जाय अन्यथा मैं देश परित्याग कर दूंगा – आपका राज्य छोड़कर अन्यत्र चला जाऊंगा। आचार्य कहते हैं कि जो उत्तम भोगों के रहते हुए भी विरुद्ध विषयोंमें प्रेम करता है वह आगामीभवमें होनेवाले दुःखोंका भार ही धारण करता है ॥92-95॥

पुत्र के वचन सुनकर तथा हृदय में धारणकर स्नेहसे भरे हुए पिताने कहा कि ‘वह वन कितनी – सी वस्तु है, मैं तुझे अभी देता हूँ’ इस प्रकार अपने पुत्रको सन्तुष्टकर उसने विश्वनन्दीको बुलाया और कहा कि ‘इस समय यह राज्य का भार तुम ग्रहण करो, मैं समीपवर्ती विरुद्ध राजाओंपर आक्रमणकर उनके द्वारा किये हुए क्षोभको शान्तकर कुछ ही दिनोंमें वापिस आ जाऊंगा’। राजा के वचन सुनकर श्रेष्ठपुत्र विश्वनन्दीने उत्तर दिया कि ‘हे पूज्यपाद ! आप यहीं निश्चिन्त होकर रहिये, मैं ही जाकर उन राजाओं को दास बनाये लाता हूँ’ ॥ 96-99॥

आचार्य कहते हैं कि देखो राजा ने यह विचार नहीं किया कि राज्य तो इसीका है, भाईने स्नेह वश ही मुझे दिया है। केवल वनके लिए ही वह उस श्रेष्ठ पुत्रको ठगनेके लिए उद्यत हो गया सो ऐसे दुष्ट अभिप्रायको धिक्कार है ॥100॥

तदनन्तर पराक्रम से सुशोभित विश्वनन्दी जब काकाकी अनुमति ले, शत्रुओं को जीतनेके लिए अपनी सेना के साथ उद्यम करता हुआ चला गया तब बुद्धिहीन विशाखभूतिने क्रमका उल्लंघनकर वह वन अन्यायकी इच्छा रखनेवाले विशाखनन्दके लिए दे दिया ॥101-102॥ विश्वनन्दीको इस घटनाका तत्काल ही पता चल गया। वह क्रोधग्निसे प्रज्वलित हो कहने लगा कि देखो काकाने मुझे तो धोखा देकर शत्रु राजाओं के प्रति भेज दिया और मेरा वन अपने पुत्र के लिए दे दिया। क्या ‘देओं’ इतना कहनेसे ही मैं नहीं दे देता ? वन है कितनी – सी चीज ? इसकी दुश्चेष्टा मेरी सज्जनताका भंग कर रही है। ऐसा विचारकर वह लौट पड़ा और अपना वन हरण करनेवाले को मारनेके लिए उद्यत हो गया। इसके भय से विशाखनन्द बाड़ी लगाकर किसी ऊँचे कैंथाके वृक्षपर चढ़ गया। कुमार विश्वनन्दीने वह कैंथाका वृक्ष जड़से उखाड़ डाला और उसी से मारनेके लिए वह उद्यत हुआ। यह देख विशाखनन्द वहाँसे भागा और एक पत्थरके खम्भाके पीछे छिप गया परन्तु बलवान् विश्वनन्दीने अपनी हथेलियोंके प्रहारसे उस पत्थरके खम्भाको शीघ्र ही तोड़ डाला। विशाखनन्द वहाँसे भी भागा। यद्यपि

वह कुमारका अपकार करनेवाला था परन्तु उसे इस तरह भागता हुआ देखकर कुमार को सौहार्द और करूणा दोनोंने प्रेरणा दी जिससे प्रेरित होकर कुमार ने उससे कहा कि डरो मत । यही नहीं, उसे बुलाकर वह वन भी दे दिया तथा स्वयं संसार की दुःखमय स्थितिका विचारकर सम्भूत नामक गुरूके समीप दीक्षा धारण कर ली सो ठीक ही है क्योंकि नीचजनों के द्वारा किया हुआ अपकार भी सज्जनोंका उपकार करनेवाला ही होता है ॥103-110॥

उस समय विशाखभूतिको भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ । 'यह मैंने बड़ा पाप किया है' ऐसा विचारकर उसने प्रायश्चित्त स्वरूप संयम धारण कर लिया ॥111॥

इधर विश्वनन्दी सब देशोंमें विहार करता हुआ घोर तपश्चरण करने लगा । उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया । अनुक्रम से वह मथुरा नगरी में पहुंचा और आहार लेने के लिए भीतर प्रविष्ट हुआ । उस समय उसकी निजकी शक्ति नष्ट हो चुकी थी और पैर डगमग पड़ रहे थे । व्यसनोंके संसर्गसे जिसका राज्य भ्रष्ट हो गया है ऐसा विशाखनन्द भी उस समय किसी राजाका दूत बनकर उसी मथुरा नगरी में आया हुआ था । वहां एक वेश्याके मकानकी छत्र पर बैठा था । दैव योगसे वहीं हालकी प्रसूना एक गायने क्रुद्ध होकर विश्वनन्दी मुनि को धक्का देकर गिरा दिया उन्हें गिरता देख, क्रोध करता हुआ विशाखनन्द कहने लगा कि 'तुम्हारा जो पराक्रम पत्थरका खम्भा तोड़ते समय देखा गया था वह आज कहाँ गया' ? इस प्रकार उसने खोटे परिणामोंसे उन मुनिकी हँसी की ॥112-116॥

मुनि भी उसके वचन चित्तमें धारणकर कुछ कुपित हुए और मन ही मन कहने लगे कि इस हँसीका फल तू अवश्य ही पावेगा ॥17॥ अन्त में निदान सहित संन्यास धारण कर वे महाशुक्र स्वर्ग में देव हुए और विशाखभूतिका जीव भी वहीं देव हुआ ॥117-118॥

वहाँ उन दोनोंकी आयु सोलह सागर प्रमाण थी । चिर काल तक वहाँके सुख भोग कर दोनों ही वहाँसे च्युत हुए । उनमेंसे विश्वनन्दीके काका विशाखभूतिका जीव सुरम्य देशके पोदनपुर नगर में प्रजापति महाराजकी जयावती रानीसे विजय नाम का पुत्र हुआ और उसके बाद ही विश्वनन्दीका जीव भी इन्हीं प्रजापति महाराजकी दूसरी रानी मृगावतीके त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ । यह होनहार अर्ध चक्रवर्ती था ॥119-122॥

उत्पन्न होते ही एक साथ समस्त शत्रुओं को नष्ट करनेवाला इसका प्रताप, सूर्य के प्रतापके समान समस्त संसार में व्याप्त होकर भर गया था ॥123॥

अर्ध चक्रवर्तियोंमें गाढ़ उत्सुकता रखनेवाली तथा जो दूसरी जगह नहीं रह सके ऐसी लक्ष्मी असंख्यात वर्षसे स्वयं इस त्रिपृष्ठकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥124॥

पराक्रमके द्वारा सिद्ध किया हुआ उसका चक्ररत्न क्या था मानो लक्ष्मी का चिह्न ही था और मगधादि जिसकी रक्षा करते हैं ऐसा समुद्र पर्यन्तका समस्त महीतल उसके आधीन था ॥125॥

यह त्रिपृष्ठ 'सिंह के समान शूरवीर है' इस प्रकार जो लोग इसकी स्तुति करते थे वे मेरी समझसे बुद्धिहीन ही थे क्योंकि देवों के भी मस्तकको नमनीभूत करनेवाला वह त्रिपृष्ठ क्या सिंह के समान निर्बुद्धि भी था ? ॥126॥

उसकी कान्तिने परिमित क्षेत्र में रहनेवाली और हानि वृद्धि सहित चन्द्रमाकी चाँदनी भी जीत ली थी तथा वह ब्रह्माकी जातिके समान समस्त संसार में व्याप्त होकर चिरकाल के लिए स्थित हो गई थी ॥127॥

इधर विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणीके अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नाम का विद्याधरोंका राजा रहता था । उसकी रानीका नाम नीलांजना था । विशाखनन्दका जीव चिरकाल तक संसार में भ्रमणकर तथा अत्यन्त दुखी होकर अनेक दुराचार करनेवाला उन दोनोंके अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ ॥128-129॥

वे सब, पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के विशिष्ट उदय से प्राप्त हुए इच्छित काम भोग तथा उपभोगों से संतुष्ट होकर सुख से रहते थे ॥130॥

इधर विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी को अलंकृत करनेवाला 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम का एक श्रेष्ठ नगर था ॥131॥

इन्द्रके समान ज्वलनजटी नाम का विद्याधर उसका पालन करता था । वह ज्वलनजटी, कुल परम्परासे आई हुई, सिद्ध की हुई तथा किसीसे प्राप्त हुई इन तीन विद्याओंसे विभूषित था ॥132॥

उसने अपने प्रतापसे दक्षिण श्रेणीके समस्त विद्याधर राजाओं को वश कर लिया था इसलिए उनके नम्रीभूत मुकुटोंकी मालाओंसे उसके चरणकमल सदा सुशोभित रहते थे ॥133॥

उसकी रानीका नाम वायुवेगा था जो कि द्युतिलक नगर के राजा विद्याधर और सुभद्रा नामक रानीकी पुत्री थी ॥134॥

उन दोनोंके अपने प्रतापसे सूर्य को जीतनेवाला अर्ककीर्ति नाम का पुत्र हुआ था और स्वयंप्रभा नाम की पुत्री हुई थी जो कि अपनी कान्ति से महामणिके समान सुशोभित थी ॥135॥

उस स्वयंप्रभाके शरीर में शिरसे लेकर पैर तक स्त्रियों के समस्त सुलक्षण विद्यमान थे जो कि उसके शरीर में व्याप्त होकर उदाहरणताको प्राप्त हो रहे थे ॥136॥

आभूषणोंको भी सुशोभित करनेवाले यौवनको पाकर उस स्वयंप्रभाने अपने आपके द्वारा, विधाता को स्त्रियोंकी रचना करने के कार्य में कृतकृत्य बना दिया था ॥137॥

उसे पूर्ण सुन्दरी तथा कामको निकट बुलानेवाली देख पिता ज्वलनजटी विचार करने लगा कि यह किसे देनी चाहिये ? किसके देनेके योग्य है ? ॥138॥

उसी समय उसने संभिन्नश्रोता नामक पुरोहितको बुलाकर उससे वह प्रयोजन पूछा । वह पुरोहित निमित्तशास्त्रमें बहुत ही कुशल था इसलिए कहने लगा कि यह स्वयंप्रभा पहले नारायणकी महादेवी होगी और आप भी उसके द्वारा दिये हुए विद्याधरोंके चक्रवर्ती पदको प्राप्त होंगे ॥139-140॥

उसके इस प्रकार विश्वास करने योग्य वचन चित्तमें धारणकर उसने पवित्र हृदयवाले, शास्त्रोंके जानकार और राजभक्त इन्द्र नामक मन्त्रीको लेख तथा भेद देकर पोदनपुरकी ओर भेजा । वह शीघ्रता से जाकर पोदनपुर जा पहुँचा । उस समय पोदनपुरके राजा पुष्पकरण्डक नामक वन में विराजमान थे । मन्त्री ने उन्हें देखकर प्रणाम किया, पत्र दिया, भेंट समर्पित की और वह यथास्थान बैठ गया ॥ 141-143॥

राजा प्रजापतिने मुहर देखकर पत्र खोला और भीतर रखा हुआ पत्र निकालकर बाँचा । उसमें लिखा था कि सन्धि विग्रहमें नियुक्त, विद्याधरोंका स्वामी, अपने लोकका शिखामणि, अपनी प्रजाको प्रसन्न रखनेवाला, महाराज नमिके वंशरूपी आकाशका सूर्य, श्रीमान्, प्रसिद्ध राजा ज्वलनजटी रथनूपुर नगरसे, पोदनपुर नगर के स्वामी, भगवान् ऋषभदेव के पुत्र बाहुवलीके वंश में उत्पन्न हुए महाराज प्रजापति को शिरसे नमस्कार कर बड़े स्नेहसे कुशल प्रश्न पूछता हुआ बड़ी विनयके साथ इस प्रकार निवेदन करता है कि हमारा और आपका वैवाहिक सम्बन्ध आजका नहीं है क्योंकि हम दोनोंकी वंश - परम्परा से वह चला आ रहा है । हम दोनोंके विशुद्धवंश सूर्य और चन्द्रमा के समान पहलेसे ही अत्यन्त प्रसिद्ध हैं अतः इस कार्य में आज दोनों वंशोंके गुण - दोषकी परीक्षा करना भी आवश्यक नहीं है । हे पूज्य ! मेरी पुत्री स्वयंप्रभा, जो कि तीन खण्डमें उत्पन्न हुई लक्ष्मी के समान है वह मेरे भानेज त्रिपृष्ठकी स्त्री हो और अपने गुणों के द्वारा अपने आपमें इसकी बड़ी प्रीतिको बढ़ानेवाली हो ॥144-151॥

प्रजापति महाराजने भाईका यह कथन सुन, मन्त्रीको यह कहकर सन्तुष्ट किया, कि जो बात ज्वलनजटीको इष्ट है वह मुझे भी इष्ट है ॥ 152॥

प्रजापति महाराजने बड़े आदर - सत्कारके साथ मन्त्रीको बिदा किया और उसने भी शीघ्र ही जाकर सब समाचार अपने स्वामीसे निवेदन कर दिये ॥153॥

ज्वलनजटी अर्ककीर्तिके साथ शीघ्र ही आया और स्वयंप्रभा को लाकर उसने बड़े वैभवके साथ उसे त्रिपृष्ठके लिए सौंप दी - विवाह दी ॥ 154॥

इसके साथ - साथ ज्वलनजटीने त्रिपृष्ठके लिए यथोक्तविधिसे, जिनकी शक्ति प्रसिद्ध है तथा जो सिद्ध है ऐसी सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नाम की दो विद्याएँ भी दीं ॥155॥

इधर अश्वग्रीवने अपने गुप्तचरोंके द्वारा जब यह बात सुनीतो उसका हृदय क्रोधान्निसे जलने लगा । वह युद्ध करने की इच्छासे, तीन प्रकारकी विद्याओंसे सम्पन्न विद्याधर राजाओं, शत्रु के सन्मुख चढ़ाई करनेवाले मार्ग कुशल एवं अनेक अस्त्र - शस्त्रोंसे सुसज्जित योद्धाओंसे आवृत होकर रथावर्त नामक पर्वतपर आ पहुँचा ॥156-157॥

अश्वग्रीवकी चढ़ाई सुनकर शत्रुओं के लिए अत्यन्त कठोर त्रिपृष्ठकुमार भी अपनी चतुरंग सेना के साथ पहलेसे ही आकर वहाँ आ डटा ॥ 158॥

जो युद्धके लिए तैयार हैं, अतिशय उद्धत हैं, स्वयं तथा अपने साथी अन्य धनुषधारियोंके साथ बाणवर्षाकर जिन्होंने सूर्य को ढक लिया है और जो यथोक्त व्यूहकी रचना करनेवाले, पैदल सिपाहियों से घिरे हुए घोड़ों, रथों तथा हाथियों से महाबलवान् हैं ऐसे वे दोनों योद्धा क्रुद्ध होकर परस्पर युद्ध करने लगे ॥159-160॥

जिस प्रकार सिंह हाथीको भगा देता है, वज्र महापर्वतको गिरा देता है और सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार त्रिपृष्ठने अश्वग्रीवको पराजित कर दिया ॥161॥

जब अश्वग्रीव मायायुद्धमें भी पराजित हो गया तब उसने लज्जित होकर त्रिपृष्ठके ऊपर कठोर चक्र चला दिया परन्तु वह चक्र प्रदक्षिणा देकर शीघ्र ही उसकी दाहिनी भुजा पर आकर स्थिर हो गया । त्रिपृष्ठने भी उसे लेकर क्रोधवश शत्रुपर चला दिया ॥162-163॥

उसने जाते ही अश्वग्रीवकी ग्रीवाके दो टुकड़े कर दिये । त्रिखण्डका अधिपति होनेसे त्रिपृष्ठको अर्धचक्रवर्तीका पद मिला ॥164॥

युद्धमें प्राप्त हुई विजयके समान विजय नाम के भाईके साथ चक्रवर्ती त्रिपृष्ठ, विजयार्ध पर्वतपर गया और वहाँ उसने रथनूपुर नगर के राजा ज्वलनजटीको दोनों श्रेणियोंका चक्रवर्ती बना दिया सो ठीक ही है क्योंकि स्वामी के क्रोध और प्रसन्न होनेका फल यहाँ ही प्रकट हो जाता है ॥165-166॥

उस त्रिपृष्ठने चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का उपयोग किया परन्तु तृप्त न होने के कारण उसे भोगोंकी आकांक्षा बनी रही । फलस्वरूप बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहका धारक होनेसे वह मरकर सातवें नरक गया ॥167॥

वह वहाँ परस्पर किये हुए दुःखको तथा पृथिवी सम्बन्धी दुःखको चिरकाल तक भोगता रहा । अन्त में उस दुस्तर नरकसे निकलकर वह तीव्र पाप के कारण इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में गंगानदी के तट के समीपवर्ती वन में सिंहगिरि पर्वतपर सिंह हुआ । वहाँ भी उसने तीव्र पाप किया अतः जिसमें अग्नि जल रही है ऐसी रत्नप्रभा नाम की पृथिवीमें गया । वहाँ एक सागर तक भयंकर दुःख भोगता रहा । तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर इसी जम्बूद्वीप में सिन्धुकूटकी पूर्व दिशामें हिमवत् पर्वत की शिखरपर देदीप्यमान बालोंसे सुशोभित सिंह हुआ ॥168-171॥

जिसका मुख पैनी दाढ़ोंसे भयंकर है ऐसा भय उत्पन्न करनेवाला वह सिंह किसी समय किसी एक हरिणको पकड़कर खा रहा था । उसी समय अतिशय दयालु अजितंजयनामक चारण मुनि, अमितगुण नामक मुनिराज के साथ आकाश में जा रहे थे । उन्होंने उस सिंहको देखा, देखते ही वे तीर्थकरके वचनों का स्मरण कर दयावश आकाशमार्गसे उतर कर उस सिंह के पास पहुँचे और शिलातलपर बैठकर जोर - जोरसे धर्ममय वचन कहने लगे । उन्होंने कहा कि हे भव्य मृगराज ! तूने पहले त्रिपृष्ठ के भवमें पाँचों इन्द्रियों के श्रेष्ठ विषयोंका अनुभव किया है । तूने कोमल शय्यातलपर मनोभिलाषित स्त्रियों के साथ चिरकाल तक मनचाहा सुख स्वच्छन्दता पूर्वक भोगा है ॥172-176॥

रसना इन्द्रियको तृप्त करनेवाले, सब रसों से परिपूर्ण तथा अमृतरसायनके साथ स्पर्धा करनेवाले दिव्य भोजनका उपभोग तूने किया है ॥ 177॥

उसी त्रिपृष्ठके भवमें तूने सुगन्धित धूपके अनुलेपनोंसे, मालाओंसे, चूर्णोंसे तथा अन्य सुवासोंसे चिरकाल तक अपनी नाकके दोनों पुट संतुष्ट किये हैं ॥178॥

रस और भावसे युक्त, विविध करणों से संगत, स्त्रियों के द्वारा किया हुआ अनेक प्रकार का नृत्य भी देखा है ॥179॥

इसी प्रकार जिसके शुद्ध तथा देशज भेद हैं, और जो चेतन - अचेतन एवं दोनोंसे उत्पन्न होते हैं ऐसे षड्ज आदि सात स्वर तूने अपने दोनों कानों में भरे हैं ॥180॥

तीन खण्डसे सुशोभित क्षेत्र में जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह सब मेरा ही है इस अभिमानसे उत्पन्न हुए मानसिक सुख का भी तूने चिरकाल तक अनुभव किया है ॥181॥

इस प्रकार विषयसम्बन्धी सुख भोगकर भी संतुष्ट नहीं हो सका और सम्यग्दर्शन तथा पाँच व्रतों से रहित होने के कारण सप्तम नरकमें प्रविष्ट हुआ ॥182॥

वहाँ खौलते हुए जलसे भरी वैतरणी नामक भयंकर नदीमें तुझे पापी नारकियोंने घुसाया और तुझे जबर्दस्ती स्नान करना पड़ा ॥183॥ कभी उन नारकियोंने तुझे जिसपर जलती हुई ज्वालाओंसे भयंकर उछल - उछलकर बड़ी - बड़ी गोल चट्टानें पड़ रही थीं ऐसे पर्वतपर

दौड़ाया और तेरा समस्त शरीर टांकीसे छिन्न – भिन्न हो गया ॥184॥

कभी भाड़की बालूकी गर्मीसे तेरे आठों अंग जल जाते थे और कभी जलती हुई चितामें गिरा देने से तेरा समस्त शरीर जलकर राख हो जाता था ॥185॥

अत्यन्त प्रचण्ड और तपाये हुए लोहेके घनोंकी चोटसे कभी तेरा चूर्ण किया जाता था तो कभी तलवार – जैसे पत्तोंसे आच्छादित वन में बार – बार घुमाया जाता था ॥186॥

अनेक प्रकार के पक्षी वनपशु और काल के समान कुत्तोंके द्वारा तू दुःखी किया जाता था तथा परस्परकी मारकाट एवं ताड़नाके द्वारा तुझे पीड़ित किया जाता था ॥187॥

दुष्ट आशयवाले नारकी तुझे बड़ी निर्दयताके साथ अनेक प्रकार के बन्धनोंसे बाँधते थे और कान ओठ तथा नाक आदि काटकर तुझे बहुत दुःखी करते थे ॥188॥

पापी नारकी तुझे कभी अनेक प्रकार के तीक्ष्ण शूलोंपर चढ़ा देते थे । इस तरह तूने परवश होकर वहाँ चिरकाल तक बहुत प्रकार के दुःख भोगे ॥189॥

वहाँ तूने प्रलाप आक्रन्द तथा रोना आदिके शब्दोंसे व्यर्थ ही दिशाओं को व्याप्त कर बड़ी दीनतासे शरणकी प्रार्थना की परन्तु तुझे कहीं भी शरण नहीं मिली जिससे अत्यन्त दुःखी हुआ ॥190॥

अपनी आयु समाप्त होने पर तू वहाँसे निकलकर सिंह हुआ और वहाँ भी भूख – प्यास वायु गर्मी वर्षा आदि की बाधासे अत्यन्त दुःखी हुआ । वहाँ तू प्राणिहिंसाकर मांसका आहार करता था इसलिए क्रूरताके कारण पाप का संचयकर पहले नरक गया ॥191-192॥ वहाँसे निकलकर तू फिर सिंह हुआ है और इस तरह क्रूरता कर महान् पाप का अर्जन करता हुआ दुःखके लिए फिर उत्साह कर रहा है ॥ 193॥

अरे पापी ! तेरा अज्ञान बहुत बढ़ा हुआ है उसीके प्रभाव से तू तत्वको नहीं जानता है । इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर उस सिंहको शीघ्र ही जातिस्मरण हो गया । संसार के भंयकर दुःखोंसे उत्पन्न हुए भय से उसका समस्त शरीर काँपने लगा तथा आँखोंसे आँसू गिरने लगे ॥194-195॥

सिंहकी आँखोंसे बहुत देर तक अश्रुरूपी जल गिरता रहा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो हृदय में सम्यक्त्यके लिए स्थान देनेकी इच्छा से मिथ्यात्व ही बाहर निकल रहा था ॥196॥

जिन्हें पूर्व जन्मका स्मरण हो गया है ऐसे निकटभव्य जीवों को पश्चात्तापसे जो शोक होता है वह शोक संसार में किसीको नहीं होता ॥ 197॥

मुनिराजने देखा कि इस सिंहका अन्तःकरण शान्त हो गया है और मेरी ही ओर देख रहा है इससे जान पड़ता है कि यह इस समय अवश्य ही अपना हित ग्रहण करेगा, ऐसा विचार कर मुनिराज फिर कहने लगे कि तू पहले पुरुरवा भील था फिर धर्म सेवन कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ । वहाँसे चयकर इसी भरतक्षेत्र में अत्यन्त दुर्मति मरीचि हुआ ॥198-199॥

उस पर्यायमें तूने सन्मार्गको दूषित कर कुमार्गकी वृद्धि की । श्री ऋषभदेव तीर्थकरके वचनों का अनादर कर तू संसार में भ्रमण करता रहा । पापोंका संचय करनेसे जन्म, जरा और मरणके दुःख भोगता रहा तथा बड़े भारी पापकर्म के उदय से प्राप्त होनेवाले इष्ट – वियोग तथा अनिष्ट संयोगका तीव्र दुःख चिरकाल तक भोगकर तूने त्रस स्थावर योनियोंमें असंख्यात वर्ष तक भ्रमण किया ॥200-202॥

किसी कारणसे विश्वनन्दीकी पर्याय पाकर तूने संयम धारण किया तथा निदान कर त्रिपृष्ठ नारायणका पद प्राप्त किया ॥203॥

अब इस भव से तू दशवें भवमें अन्तिम तीर्थकर होगा । यह सब मैंने श्रीधर तीर्थकरसे सुना है ॥204॥

हे बुद्धिमान ! अब तू आज से लेकर संसाररूपी अटवीमें गिरानेवाले मिथ्यामार्गसे विरत हो और आत्मा का हित करनेवाले मार्ग में रमण कर – उसीमें लीन रह ॥205॥

यदि आत्मकल्याणकी तेरी इच्छा है और लोक के अग्रभाग पर तू स्थिर रहना चाहता है तो आप्त आगम और पदार्थों की श्रद्धा धारण कर ॥206॥

इस प्रकार उस सिंहने मुनिराज के वचन हृदय में धारण किये तथा उन दोनों मुनिराजोंकी भक्ति के भार से नम्र होकर बार – बार

प्रदक्षिणाएँ दीं, बार - बार प्रणाम किया, काल आदि लब्धियोंके मिल जाने से शीघ्र ही तत्वश्रद्धान धारण किया और मन स्थिर कर श्रावक के व्रत ग्रहण किये ॥207-208॥

मुनिराज के वचनों से क्रूरता दूरकर दयाने सिंह के मन में प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि काल का बल प्राप्त किये विना ऐसा कौन है जो शत्रु को दूर हटा सकता है ? ॥209॥

मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हानेसे उस सिंहका रौद्र रस स्थिर हो गया और उसने नटकी भाँति शीघ्र ही शान्तरस धारण कर लिया ॥210॥ निराहार रहनेके सिवाय उस सिंहने और कोई सामान्य व्रत धारण नहीं किया क्योंकि मांसके सिवाय उसका और आहार नहीं था । आचार्य कहते हैं कि इससे बढ़कर और साहस क्या हो सकता है ? ॥211॥

प्राण नष्ट होने पर भी चूँकि उसने अपने व्रतका अखण्ड रूप से पालन किया था इससे जान पड़ता था कि उसकी शूरवीरता सफल हुई थी और उसकी वह पुरानी शूरता उसीका घात करनेवाली हुई थी ॥212॥

तमस्तमःप्रभा नामक सातवें नरक के नारकी उपशम सम्यग्दर्शन को स्वभावसे ही ग्रहण कर लेते हैं इसलिए सिंह के सम्यग्दर्शन ग्रहण करने में आश्चर्य नहीं है ॥213॥

परमपदकी इच्छा करनेवाला वह धीरवीर, सब दुराचारोंको छोड़कर सब सदाचारोंके सन्मुख होता हुआ चिरकाल तक निराहार रहा ॥ 214॥

तिर्यचोंके संयमासंयमके आगेके व्रत नहीं होते ऐसा आगममें कहा गया है इसी लिए वह रूक गया था अन्यथा अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता' वह इस कहावतका विषय हो रहा था ॥215॥

जिस प्रकार अग्निमें तपाया हुआ सुवर्ण शीतल जलमें डालनेसे ठंडा हो जाता है उसी प्रकार क्रूरता से बढ़ी हुई उसकी शूरवीरता उस समय बिल्कुल नष्ट हो गई थी ॥216॥

दयाको धारण करनेवाले उस सिंहमें मृगारि शब्दने अपनी सार्थकता छोड़ दी थी अर्थात् अब वह मृगोंका शत्रु नहीं रहा था सो ठीक ही है क्योंकि आश्रित रहनेवाले मनुष्योंका स्वभाव प्रायः स्वामी के समान ही हो जाता है ॥217॥

वह सिंह सब जीवों के लिए केवल शरीरसे ही चित्रलिखितके समान नहीं जान पड़ता था किन्तु चित्तसे भी वह इतना शान्त हो चुका था कि उससे किसीको भी भय उत्पन्न नहीं होता था सो ठीक ही है क्योंकि दयाका माहात्म्य ही ऐसा है ॥218॥

इस प्रकार व्रत सहित संन्यास धारण कर वह एकाग्र चित्तसे मरा और शीघ्र ही सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का देव हुआ ॥219॥

वहाँ उसने दो सागर की आयु तक देवों के सुख भोगे । तदनन्तर वहाँसे चयकर वह, घातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मेरूसे पूर्व की ओर जो विदेह क्षेत्र है उसके मंगलावती देशके विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणीमें अत्यन्त श्रेष्ठ कनकप्रभ नगर के राजा कनकपुंख विद्याधर और कनकमाला रानी के कनकोज्जल नाम का पुत्र हुआ ॥220-222॥

किसी एक दिन वह अपनी कनकवती नामक स्त्रीके साथ क्रीडा करने के लिए मन्दगिरी पर गया था वहाँ उसने प्रियमित्र नामक अवधिज्ञानी मुनिके दर्शन किये ॥223॥

उस चतुर विद्याधरने भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा देकर उन मुनिराजको नमस्कार किया और 'हे पूज्य ! धर्म का स्वरूप कहिये' इस प्रकार उनसे पूछा ॥224॥

उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि धर्म दयामय है, तू धर्म का आश्रय कर, धर्मके द्वारा तू मोक्ष के निकट पहुँच रहा है, धर्मके द्वारा कर्म का बन्धन छेद धर्मके लिए सद्बुद्धि दे, धर्म से पीछे नहीं हट, धर्म की दासता स्वीकृत कर, धर्म में स्थिर रह और 'हे धर्म मेरी रक्षाकर' सदा इस प्रकारकी चिन्ता कर ॥225-226॥

इस प्रकार धर्म का निश्चय कर उसके कर्ता करण आदि भेदोंका निरन्तर चिन्तन किया कर । ऐसा करनेसे तू कुछ ही समयमें मोक्षको प्राप्त हो जावेगा ॥227॥

इस तरह मुनिराजने कहा । मुनिराज के वचन हृदय में धारण कर और उनसे धर्मरूपी रसायनका पानकर वह ऐसा सन्तुष्ट हुआ जैसा कि प्यासा मनुष्य जल पाकर संतुष्ट होता है ॥228॥

उसने उसी समय भोगों से विरक्त होकर समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया और चिर काल तक संयम धारणकर अन्त में संन्यास मरण

किया जिसके प्रभाव से वह सातवें स्वर्ग में देव हुआ ॥229॥

वहाँ तेरह सागर की आयु प्रमाण उसने वहाँके सुख भोगे और सुख से काल व्यतीतकर समाधिपूर्वक प्राण छोड़े । वहाँ से च्युत होकर वह इसी जम्बूद्वीप के कोसल देश सम्बन्धी साकेत नगर के स्वामी राजा वज्रसेनकी शीलवती रानीसे अपने स्वाभाविक गुणों के द्वारा सबको हर्षित करने वाला हरिषेण नाम का पुत्र हुआ । उसने कुलवधूके समान राज्यलक्ष्मी अपने वश कर ली ॥230-232॥

अन्त में उसने सारहीन माला के समान वह समस्त लक्ष्मी छोड़ दी और उत्तम व्रत तथा उत्तम शास्त्र - ज्ञान से सुशोभित श्रीश्रुतसागर नाम के सद्गुरुके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥233॥

जिसके व्रत निरन्तर बढ़ रहे हैं ऐसा हरिषेण आयु का अन्त होने पर महाशुक्र स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ । वहाँ वह सोलह सागर की आयु प्रमाण उत्तम सुख भोगता रहा ॥234॥

जिस प्रकार उदित हुआ सूर्य अस्त हो जाता है उसी प्रकार वह देव भी अन्तकालको प्राप्त हुआ और वहाँसे चलकर घातकीखण्डद्वीपकी पूर्व दिशा सम्बन्धी विदेह क्षेत्रके पूर्वभाग में स्थित पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में राजा सुमित्र और उनकी मनोरमा नाम की रानी के प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ । वह पुत्र नीतिरूपी आभूषणोंसे विभूषित था, उसने अपने नाम से ही समस्त शत्रुओं को नम्रीभूत कर दिया था, तथा चक्रवर्तीका पद प्राप्तकर समस्त प्रकार के भोगों का उपभोग किया था । अन्त में वह क्षेमंकर नामक जिनेन्द्र भगवान् के मुखारविन्दसे प्रकट हुए, तत्त्वों से भरे हुए और गम्भीर अर्थको सूचित करने वाले वाक्योंसे सब पदार्थों के समागमको भंगुर मानकर विरक्त हो गया तथा सर्वमित्र नामक अपने पुत्र के लिए राज्य का भार देकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गया । पाँच समितियों और तीन गुप्तियों रूप आठ प्रवचन मातृकाओं के साथ - साथ अहिंसा महाव्रत आदि पाँच महाव्रत उन मुनिराजमें पूर्ण प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए थे ॥235-240॥

आयु का अन्त होने पर वे सहस्रार स्वर्ग में जाकर सूर्यप्रभ नाम के देव हुए । वहाँ उनकी आयु अठारह सागर प्रमाण थी, अनेक ऋद्धियाँ बढ़ रही थीं और वे सब प्रकार के भोगों का उपभोग कर चुके थे ॥241॥

जिस प्रकार मेघसे एक विशेष प्रकारकी बिजली निकल पड़ती है उसी प्रकार वह देव उस स्वर्गसे च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप के छत्रपुर नगर के राजा नन्दिवर्धन तथा उनकी वीरवती नाम की रानीसे नन्दनाम का सज्जन पुत्र हुआ । इष्ट अनुष्ठानको पूरा कर अर्थात् अभिलषित राज्य का उपभोग कर वह प्रोष्ठिल नाम के श्रेष्ठ गुरुके पास पहुँचा । वहाँ उसने धर्म का स्वरूप सुनकर आप्त, आगम और पदार्थ का निर्णय किया; संयम धारण कर लिया और शीघ्र ही ग्यारह अंगोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥242-244॥

उसने तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध होनेमें कारण भूत और संसार को नष्ट करने वाली दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणभावनाओं का चिन्तनकर उच्चगोत्रके साथ - साथ तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध किया ॥245॥

आयु के अन्त समय सब प्रकारकी आराधनाओं को प्राप्तकर वह अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमान में श्रेष्ठ इन्द्र हुआ ॥246॥

वहाँ उसकी बाईस सागर प्रमाण आयु थी, तीन हाथ ऊँचा शरीर था, द्रव्य और भाव दोनों ही शुल्क लेश्याएं थीं, बाईस पक्षमें एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्षमें एक बार मानसिक अमृत का आहार लेता था, सदा मानसिक प्रवीचार करता था और श्रेष्ठ भोगों से सदा तृप्त रहता था ॥247-248॥

उसका अवधिज्ञान रूपी दिव्य नेत्र छठवीं पृथिवी तककी बात जानता था और उसके बल, कान्ति तथा विक्रियाकी अवधि भी अवधिज्ञान के क्षेत्रके बराबर ही थी ॥249॥

सामानिक देव और देवियों से घिरा हुआ वह इन्द्र अपने पुण्य कर्म के विशेष उदय से सुख रूपी सागरमें सदा निमग्न रहता था ॥250॥

जब उसकी आयु छह माहकी बाकी रह गई और वह स्वर्गसे आनेको उद्यत हुआ तब इसी भरत क्षेत्रके विदेह नामक देशसम्बन्धी कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थके भवनके आंगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की बड़ी मोटी धारा बरसने लगी ॥251-252॥

आषाढ़ शुक्ल षष्ठी के दिन जब कि चन्द्रमा उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में था तब राजा सिद्धार्थकी प्रसन्नबुद्धि वाली रानी प्रियकारिणी, सातखण्ड वाले राजमहलके भीतर रत्नमय दीपकों से प्रकाशित नन्द्यावर्त नामक राजभवन में हंस - तूलिका आदिसे सुशोभित रत्नोंके पलंगपर सो रही थी । जब उस रात्रिके रौद्र, राक्षस और गन्धर्व नाम के तीन पहर निकल चुके और मनोहर नामक चौथे पहरका अन्त होनेको आया तब उसने कुछ खुली - सी नींदमें सोलह स्वप्न देखे । सोलह स्वप्नोंके बाद ही उसने मुख में प्रवेश करता हुआ एक अन्य हाथी देखा । तदनन्तर

सबरेके समय बजने वाले नगाड़ोंकी आवाजसे तथा चारण और मागधजनों के द्वारा पढ़े हुए मंगलपाठोंसे वह जाग उठी और शीघ्र ही स्नान कर पवित्र वस्त्राभूषण पहन महाराज सिद्धार्थके समीप गई । वहाँ नमस्कार कर वह महाराज के द्वारा दिये हुए अर्धासनपर विराजमान हुई और यथा-क्रम से स्वप्न सुनाने लगी । महाराजने भी उसे यथा-क्रम से स्वप्नों का होनहार फल बतलाया ॥253-259॥

स्वप्नों का फल सुनकर वह इतनी संतुष्ट हुई मानो उसने उनका फल उसी समय प्राप्त ही कर लिया हो । तदनन्तर सब देवों ने आकर बड़े वैभवके साथ राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणीका गर्भकल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया, देव और देवियोंको यथायोग्य कार्योंमें नियुक्त किया और यह सब करने के बाद वे अलग - अलग अपने - अपने स्थानों पर चले गये ॥260-261॥

तदनन्तर नौवाँ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ल त्रयोदशीके दिन अर्यता नाम के शुभ योगमें, जिस प्रकार पूर्व दिशामें बाल सूर्य उत्पन्न होता है, रात्रिमें चन्द्रमा उत्पन्न होता है, पद्म नामक हृदयमें गंगाका प्रवाह उत्पन्न होता है, पृथिवीमें धनका समूह प्रकट होता है, सरस्वतीमें शब्दोंका समूह उत्पन्न होता है, और लक्ष्मीमें सुख का उदय उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस रानीमें वह अच्युतेन्द्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । वह पुत्र अपने कुलका आभूषण था, शीलका बड़ा भारी घर था, गुणरूपी रत्नों की खान था, प्रसिद्ध लक्ष्मी का आधार था, भाईरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य था, तीनों लोकों का नायक था, मोक्ष का सुख देनेवाला था, समस्त प्राणियोंकी रक्षा कानेवाला था, सूर्य के समान कान्तिवाला था, संसार को नष्ट करनेवाला था, कर्मरूपी शत्रु के मर्मको भेदन करनेवाला था, धर्मरूपी तीर्थका भार धारण करनेवाला था, निर्मल था, सुख का सागर था, और लोक तथा अलोकको प्रकाशित करने के लिए एक सूर्य के समान था ॥262-267॥ रानी प्रियकारिणीने उस बालक को जन्म देकर मनुष्यों, देवों और तिर्यचोंको बहुत भारी प्रेम उत्पन्न किया था इसलिए उसका प्रियकारिणी नाम सार्थक हुआ था ॥268॥

उस समय सबके मुख - कमलोंने अकस्मात् ही शोभा धारण की थी और आकाश से आनन्दके आँसुओं के समान फूलों की वर्षा हुई थी ॥ 269॥

उस समय नगाड़ोंका समूह शब्द कर रहा था, स्त्रियोंका समूह नृत्य कर रहा था, गानेवालों का समूह गा रहा था और बन्दीजनोंका समूह मंगल पाठ पढ़ रहा था ॥270॥

सब देव लोग अपने - अपने निवासस्थानको ऊँजड़ बनाकर नीचे उतर आये थे । तदनन्तर, सौधर्मेन्द्रने मायामय बालक को माताके सामने रखकर सूर्य के समान देदीप्यमान उस बालक को ऐरावत हाथी के कन्धेपर विराजमान किया । बालकके तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करता और देवों से घिरा हुआ वह इन्द्र सुमेरू पर्वतपर पहुँचा । वहाँ उसने जिनबालक को पाण्डुकशिलापर विद्यमान सिंहासनपर विराजमान किया और क्षीरसागरके जलसे भरे हुए देदीप्यमान कलशोंसे उनका अभिषेककर निम्न प्रकार स्तुति की । वह कहने लगा कि हे भगवान् ! आपकी आत्मा अत्यन्त निर्मल है, तथा आपका यह शरीर विशुद्ध पुद्गल परमाणुओंसे बना हुआ है इसलिए स्वयं अपवित्र निन्दनीय जलके द्वारा इनकी शुद्धि कैसे हो सकती है ? हम लोगोंने जो अभिषेक किया है वह आपके तीर्थकर नाम-कर्म के द्वारा प्रेरित होकर ही किया है अथवा यह एक आम्नाय है - तीर्थकरके जन्म के समय होनेवाली एक विशिष्ट क्रिया ही है इसीलिए हम लोग आकर आपकी किंकरताको प्राप्त हुए हैं ॥271-275॥

अधिक कहनेसे क्या ? इन्द्र ने उन्हें भक्तिपूर्वक उत्तमोत्तम आभूषणोंसे विभूषितकर उनके वीर और श्रीवर्धमान इन प्रकार दो नाम रक्खे ॥ 276॥

तदनन्तर सब देवों से घिरे हुए इन्द्रने, जिन - बालक को वापिस लाकर माताकी गोदमें विराजमान किया, बड़े उत्सव से आनन्द नाम का नाटक किया, माता पिताको आभूषण पहिनाये, उत्सव मनाया और यह सब कर चुकनेके बाद श्रीवधमान स्वामीको नमस्कारकर देवों के साथ अपने स्थानपर चला गया ॥277-278॥

श्री पार्श्वनाथ तीर्थकरके बाद दो सौ पचास वर्ष बीत जानेपर श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे उनकी आयु भी इसीमें शामिल है । कुछ कम बहत्तर वर्षकी उनकी आयु थी, वे सात हाथ ऊँचे थे, सब लक्षणों से विभूषित थे, पसीना नहीं आना आदि दशगुण उनके जन्म से ही थे, वे सात भयों से रहित थे और सब तरहकी चेष्टाओंसे सुशोभित थे ॥279-281॥

एक बार संचय और विजय नाम के दो चारणमुनियोंको किसी पदार्थमें संदेह उत्पन्न हुआ था परन्तु भगवान् के जन्म के बाद ही वे उनके समीप आये और उनके दर्शन मात्रसे ही उनका संदेह दूर हो गया इस लिए उन्होंने बड़ी भक्ति से कहा था कि यह बालक सन्मति तीर्थकर

होनेवाला है, अर्थात् उन्होंने उनका सन्मति नाम रक्खा था ॥282-283॥

गुणोंको कहनेवाले सार्थक शब्दोंकी तो बात ही क्या थी श्रीवीरनाथको छोड़कर अन्यत्र जिनका गुणवाचक अर्थ नहीं होता ऐसे शब्द भी श्रीवीरनाथ में प्रयुक्त होकर सार्थक हो जाते थे ॥284॥

उन भगवान् के त्यागमें यही दोष था कि दोषोंको कहनेवाले शब्द जहाँ अन्य लोगों के पास जाकर खूब सार्थक हो जाते थे वहां वे ही शब्द उन भगवान् के पास आकर दूरसे ही अनर्थक हो जाते थे ॥285॥

उन भगवान् की जैसी प्रीति गुणोंमें थी वैसी न लक्ष्मीमें थी और न कीर्ति में ही थी । सो ठीक ही है क्योंकि शुभलेश्याके धारक पुरुषोंको गुण ही प्यारे होते हैं ॥286॥

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर प्रतिदिन उन भगवान् के समय आयु और इच्छा के अनुसार स्वर्ग की सारभूत भोगोपभोगकी सब वस्तुएँ स्वयं लाया करता था और सदा खर्च करवाया करता था । किसी एक दिन इन्द्र की सभा में देवोंमें यह चर्चा चल रही थी कि इस समय सबसे अधिक शूरवीर श्रीवर्धमान स्वामी ही हैं । यह सुनकर एक संगम नाम का देव उनकी परीक्षा करने के लिए आया ॥287-289॥

आते ही उस देवने देखा कि देदीप्यमान आकारके धारक बालक वर्द्धमान, बाल्यावस्थासे प्रेरित हो, बालकों जैसे केश धारण करनेवाले तथा समान अवस्थाके धारक अनेक राजकुमारोंके साथ बगीचामें एक वृक्ष पर चढ़े हुए क्रीड़ा करने में तत्पर हैं । यह देख संगम नाम का देव उन्हें डरवानेकी इच्छा से किसी बड़े सांपका रूप धारणकर उस वृक्ष की जड़से लेकर स्कन्ध तक लिपट गया । सब बालक उसे देखकर भय से काँप उठे और शीघ्र ही डालियोंपरसे नीचे जमीनपर कूदकर जिस किसी तरह भाग गये सो ठीक ही है क्योंकि महाभय उपस्थित होने पर महापुरुषके सिवाय अन्य कोई नहीं ठहर सकता है ॥290-293॥

जो लहलहाती हुई सौ जिह्वाओंसे अत्यन्त भयंकर दिख रहा था ऐसे उस सर्पपर चढ़कर कुमार महावीरने निर्भय हो उस समय इस प्रकार क्रीड़ा की जिस प्रकार कि माताके पलंगपर किया करते थे ॥294॥

कुमारकी इस क्रीड़ासे जिसका हर्षरूपी सागर उमड़ रहा था ऐसे उस संगम देवने भगवान् की स्तुति की और 'महावीर' यह नाम रक्खा ॥ 295॥

इस प्रकार तीस वर्षोंमें भगवान् का कुमार काल व्यतीत हुआ । तदनन्तर दूसरेही दिन मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेषसे उन्हें आत्मज्ञान प्रकट हो गया और पूर्वभवका स्मरण हो उठा । उसी समय स्तुति पढ़ते हुए लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की ॥296-297॥

समस्त देवों के समूहने आकर उनके निष्क्रमण कल्याणकी क्रिया की, उन्होंने अपने मधुर वचनों से बन्धुजनोंको प्रसन्नकर उनसे विदा ली । तदनन्तर व्रतोंको दृढ़तासे पालन करनेवाले वे भगवान् चन्द्रप्रभा नाम की पालकीपर सवार हुए । उस पालकीको सबसे पहले भमिगोचरी राजाओंने, फिर विद्याधर राजाओं ने और फिर इन्द्रों ने उठाया था । उनके दोनों ओर चामरोंके समूह ढुल रहे थे । इस प्रकार वे षण्ड नाम के उस वन में जा पहुँचे जो कि भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके शब्दों और कोकिलाओंकी कमनीय कूकसे ऐसा जान पड़ता था मानो बुला ही रहा हो, फूलों के समूह से ऐसा जान पड़ता था मानो हर्ष से हँस ही रहा हो, और लाल - लाल पल्लवोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपना अनुराग ही प्रकट कर रहा हो ॥298-301॥

अतिशय श्रेष्ठ भगवान् महावीर, षण्डवन में पहुँचकर अपनी पालकीसे उतर गये और अपनी ही कान्ति के समूह से घिरी हुई रत्नमयी बड़ी शिलापर उत्तरकी ओर मुँहकर तेलाका नियम ले विराजमान हो गये । इस तरह मंगसिर वदी दशमीके दिन जब कि निर्मल चन्द्रमा हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रके मध्य में था, तब संध्याके समय अतिशय धीर - वीर भगवान् महावीरने संयम धारण किया ॥302-304॥ भगवान् ने जो वस्त्र, आभरण तथा माला, आदि उतारकर फेंक दिये थे उन्हें इन्द्र ने स्वयं उठा लिया सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् का माहात्म्य ही ऐसा था ॥305॥

उस समय भगवान् के शरीर में जो सुगन्धित अंगराग लगा हुआ था वह सोच रहा था कि मैं इन उत्तम भगवान् को कैसे छोड़ दूँ ? ऐसा विचारकर ही वह मानो उनके शरीर में स्थिर रहकर शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥306॥

मलिन और कुटिल पदार्थ अज्ञानी जनो के द्वारा पूज्य होते हैं परन्तु मुमुक्षु लोग उन्हें त्याज्य समझते हैं ऐसा जानकर ही मानो उन तरुण भगवान् ने मलिन और कुटिल (काले और घुंघुराले) केश जड़से उखाड़कर दूर फेंक दिये थे ॥307॥

इन्द्र ने वे सब केश अपने हाथसे उठा लिये, मणियोंके देदीप्यमान पिटारेमें रखकर उनकी पूजा की, आदर सत्कार किया, अनेक प्रकारकी किरण रूपी वस्त्रसे उन्हें लपेटकर रक्खा और फिर देवों के साथ स्वयं जाकर उन्हें क्षीरसागरमें पधरा दिया ॥308-309॥

मोक्षलक्ष्मी की इष्ट और चतुर दूतीके समान तपोलक्ष्मी ने स्वयं आकर उनका आलिंगन किया था ॥310॥

अंतरंग परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे उनका निर्ग्रन्थपना अच्छी तरह सुशोभित हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार साँपका केवल कांचली छोड़ना शोभा नहीं देता उसी प्रकार केवल बाह्य परिग्रह का छोड़ना शोभा नहीं देता ॥311॥

उसी समय संयमने उन भगवान् को केवलज्ञान के वयानेके समान चौथा मनःपर्ययज्ञान भी समर्पित किया था ॥312॥

अप्रमत्त गुणस्थान में जाकर उन भगवान् ने मोक्षरूपी साम्राज्य की कण्ठी स्वरूप जो तपश्चरण प्राप्त किया था वह प्रमादी जीव को कहां सुलभ है ? ॥313॥

मनःपर्ययज्ञानरूपी नेत्र को धारण करनेवाले और स्वाभाविक बलसे सुशोभित उन भगवान् के पहला सामायिक चरित्र ही था क्योंकि दूसरा छेदोपस्थापनाचरित्र प्रमादी जीवों के ही होता है ॥314॥

मैंने पहले सिंह पर्यायमें ही वन में मुनिराज के उपदेशसे व्रत धारण किये थे यही समझकर मानो उन्होंने सिंह के साथ एकताका ध्यान रखते हुए सिंहवृत्ति धारण की थी ॥315॥

यद्यपि उनके सिंह के समान तीक्ष्ण नख और तीक्ष्ण दांडे नहीं थीं, वे सिंह के समान क्रूर नहीं थे और न सिंह के समान उनकी गरदनपर लाल बाल ही थे फिर भी शूरवीरता, अकेला रहना तथा वन में ही निवास करना इन तीन विशेषताओंसे वे सिंहका अनुसरण करते थे ॥

316॥

सब देव, उन भगवान् को नमस्कारकर तथा उनके साहसकी स्तुति करने में लीन हो संतुष्टचित्त हो कर अपने - अपने स्थानको चले गये ॥

317॥

अथानन्तर पारणाके दिन वे भट्टारक महावीर स्वामी आहारके लिए वन से निकले और विद्याधरोंके नगर के समान सुशोभित कूलग्राम नाम की नगरी में पहुँचे । वहां प्रियंगुके फूलके समान कान्ति वाले कूल नाम के राजा ने भक्ति - भावसे युक्त हो उनके दर्शन किये, तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, चरणोंमें शिर झुकाकर नमस्कार किया और घर पर आई हुई निधिके समान माना । उत्तम व्रतोंको धारण करने वाले उन भगवान् को उस राजा ने श्रेष्ठ स्थान पर बैठाया, अर्घ आदिके द्वारा उनकी पूजा की, उनके चरणोंके समीपवर्ती भूतलको गन्ध आदिकसे विभूषित किया और उन्हें मन, वचन, कायकी शुद्धिके साथ इष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाला परमात्र (खीरका आहार) समर्पण किया ।

यह तो तुम्हारे दानका आनुषंगिक फल है परन्तु इसका होनहार फल बहुत बड़ा है यही कहने के लिए मानो उसके घर पंचाश्रयोंकी वर्षा हुई ॥318-322॥

तदनन्तर शिष्योंका पुण्य बढ़ाने वाले वे भगवान् एकान्त स्थानोंमें विधिपूर्वक तप करने की इच्छा से उसके घरसे निकले ॥323॥

जो विषयरूपी वृक्षांसे संकीर्ण है, इन्द्रिय रूपी व्याधोंसे भरा हुआ है, परीषह रूपी महाभयंकर सब प्रकार के दुष्ट जीवोंसे सहित है, कषाय रूपी मदोन्मत्त हाथियोंके सैकड़ों समूह से व्याप्त है, मुँह फाड़े हुए यमराज रूपी अनन्त अजगरोंसे भयंकर है, चार प्रकार के उपसर्ग रूपी दुष्ट सिंहोंसे कठोर है, और विघ्नोंके समूह रूपी चोरोंसे घिरा हुआ है ऐसे संसार रूपी वनको धीरे - धीरे छोड़कर उन परम पुरुष भगवान् ने, जो सज्जनोंके द्वारा सेवन करने योग्य है, जिसमें अव्याबाध - बाधारहित सुख भरा हुआ है, जो उत्तम मनुष्योंसे व्याप्त है, विस्तीर्ण है और सब तरह के उपद्रवोंसे रहित है ऐसे तपोवनमें, महाव्रत रूपी महा सामन्तों सहित, उत्तम नयोंकी अनुकूलता धारणकर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी प्रकट हुई तीन शक्तियों से अत्यन्त बलवान्, शील रूपी आयुध लेकर, गुणों के समूह का कवच पहिनकर, शुद्धता रूपी मार्गसे चलकर और उत्तम भावनाओंकी सहायता लेकर प्रवेश किया ॥324-329॥

वहाँपर निःशंक रीतिसे रहकर उन्होंने अनेक योगोंकी प्रवृत्ति की और एकान्त स्थान में स्थिर होकर बार - बार दश प्रकार के धर्मध्यानका चिन्तन किया ॥330॥

अथानन्तर - किसी एक दिन अतिशय धीर वीर वर्धमान भगवान् उज्जयिनीके अतिमुक्तक नामक श्मशानमें प्रतिमा योगसे विराजमान थे । उन्हें देखकर महादेव नामक रूद्रने अपनी दुष्टतासे उनके धैर्यकी परीक्षा करनी चाही । उसने रात्रिके समय ऐसे अनेक बड़े - बड़े वेतालों का रूप बनाकर उपसर्ग किया कि जो तीक्ष्ण चमड़ा छीलकर एक दूसरेके उदरमें प्रवेश करना चाहते थे, खोले हुए मुँहोंसे अत्यन्त भयंकर

दिखते थे, अनेक लयों से नाच रहे थे तथा कठोर शब्दों, अट्टहास और विकराल दृष्टिसे डरा रहे थे । इनके सिवाय उसने सर्प, हाथी, सिंह, अग्नि और वायुके साथ भीलों की सेना बनाकर उपसर्ग किया । इस प्रकार एक पाप का ही अर्जन करने में निपुण उस रूद्रने, अपनी विद्याके प्रभाव से किये हुए अनेक भयंकर उपयोगोंसे उन्हें समाधिसे विचलित करनेका प्रयत्न किया परन्तु वह उसमें समर्थ नहीं हो सका । अन्त में उसने भगवान् के महति और महावीर ऐसे दो नाम रख कर अनेक प्रकारकी स्तुति की, पार्वतीके साथ नृत्य किया और सब मात्सर्यभाव छोड़ कर वह वहाँसे चला गया सो ठीक ही है क्योंकि साहसको स्पष्ट रूप से देखने वाले पापी जीव भी सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ 331-337॥

अथानन्तर – किसी एक दिन राजा चेटककी चन्दना नाम की पुत्री वनक्रीड़ा में आसक्त थी, उसे देख कोई विद्याधर कामबाणसे पीडित हुआ और उसे किसी उपाससे लेकर चलता बना । पीछे अपनी स्त्रीसे डरकर उसने उस कन्याको महाटवीमें छोड़ दिया ॥338-339॥ वहाँ किसी भीलने देख कर उसको धनकी इच्छा से वृषभदत्त सेठको दी ॥340॥ उस सेठकी स्त्री का नाम सुभद्रा था उसे शंका हो गई कि कहीं अपने सेठका इसके साथ सम्बन्ध न हो जाय । इस शंकासे वह चन्दनाको खानेके लिए मिट्टीके शकोरामें कांजीसे मिला हुआ कोदोंका भात दिया करती थी और क्रोध वश उसे सदा सांकलसे बाँधे रहती थी ॥ 341-342॥

किसी दूसरे दिन वत्स देश की उसी कौशाम्बी नगरी में आहारके लिए भगवान् महावीर स्वामी गये । उन्हें नगरी के भीतर प्रवेश करते देख चन्दना उनके सामने जाने लगी । उसी समय उसके सांकलके सब बन्धन टूट गये, चंचल भ्रमर समूह के समान काले उसके बड़े – बड़े केश चंचल हो उठे और उनसे मालतीकी माला टूटकर नीचे गिरने लगी, उसके वस्त्र आभूषण सुन्दर हो गये, वह नव प्रकार के पुण्यकी स्वामिनी बन गई, भक्तिभावके भार से झुक गई, शीलके माहात्म्यसे उसका मिट्टीका शकोरा सुवर्णपात्र बन गया और कोदोंका भात शाली चाँवलों का भात हो गया । उस बुद्धिमतीने विधिपूर्वक पड़गाहकर भगवान् को आहार दिया इसलिए उसके यहाँ पंचाश्वर्योंकी वर्षा हुई और भाई – बन्धुओं के साथ उसका समागम हो गया ॥343-347॥

इधर जगद्धन्धु भगवान् वर्धमानने भी छद्मस्थ अवस्थाके बाहर वर्ष व्यतीत किये । किसी एक दिन वे जृम्भिक ग्रामके समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वनके मध्य में रत्नमयी एक बड़ी शिलापर सालवृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर प्रतिमा योगसे विराजमान हुए । वैशाख शुक्ला दशमीके दिन अपराह्न कालमें हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रके बीच में चन्द्रमाके आ जाने पर परिणामोंकी विशुद्धताको बढ़ाते हुए वे क्षपकश्रेणीपर आरूढ हुए । उसी समय उन्होंने शुलकध्यान के द्वारा चारों घातिया कर्मों को नष्टकर अनन्तचतुष्टय प्राप्त किये और चौंतीस अतिशयों से सुशोभित हो कर वे महिमाके घर हो गये ॥348-352॥

अब वे सयोगकेवली गुणस्थान के धारक हो गये, निज और परका प्रयोजन सिद्ध करने लगे, तथा परमौदारिक शरीर को धारण करते हुए आकाशरूपी आंगन में सुशोभित होने लगे ॥353॥

उसी समय सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र चारों प्रकार के देवों के साथ आया और उसने ज्ञानकल्याणक सम्बन्धी पूजा की समस्त विधि पूर्ण की ॥ 354॥

पुण्यरूप परमौदारिक शरीर की पूजा तथा समवसरणकी रचना होना आदि अतिशयों से सम्पन्न श्रीवर्धमान स्वामी परमेष्ठी कहलाने लगे और परमात्मा पदको प्राप्त हो गये ॥355॥

तदनन्तर इन्द्र ने भगवान् की दिव्यध्वनिका कारण क्या होना चाहिये इस बात का विचार किया और अवधिज्ञान से मुझे उसका कारण जानकर वह बहुत ही संतुष्ट हुआ ॥356॥

वह उसी समय मेरे गाँवमें आया । मैं वहाँ पर गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति नाम का उत्तम ब्राह्मण था, महाभिमानि था, आदित्य नामक विमानसे आकर शेष बचे हुए पुण्य के द्वारा वहाँ उत्पन्न हुआ था, मेरा शरीर अतिशय देदीप्यमान था, और मैं वेद – वेदांगका जानने वाला था ॥ 357-358॥

मुझे देखकर वह इन्द्र मुझे किसी उपायसे भगवान् के समीप ले आया और प्रेरणा करने लगा कि तुम जीव तत्वके विषय में जो कुछ पूछना चाहते थे सो पूछ लो ॥359॥

इन्द्र की बात सुनकर मैंने भगवान् से पूछा कि हे भगवन् ! जीव नाम का कोई पदार्थ है या नहीं ? उसका स्वरूप कहिये । इसके उत्तरमें

भव्यवत्सल भगवान् कहने लगे कि जीव नाम का पदार्थ है और वह ग्रहण किये हुए शरीर के प्रमाण है, सत्संख्या आदि सदादिक और निर्देश आदि किमादिकसे उसका स्वरूप कहा जाता है। वह द्रव्य रूप से न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होगा किन्तु पर्याय रूप से प्रतिक्षण परिणमन करता है। चेतना उसका लक्षण है, वह कर्ता है, भोक्ता है, और पदार्थों के एकदेश तथा सर्वदेशका जानकार है ॥ 360-362॥

संसारी और मुक्तके भेदसे वह दो प्रकार का निरूपण किया जाता है। इसका संसार अनादि काल से चला आ रहा है और मोक्ष सादि माना जाता है ॥363॥

जो जीव मोक्ष चला जाता है उसका फिर संसार नहीं होता अर्थात् वह लौटकर संसार में नहीं आता। किसी - किसी जीव का संसार नित्य होता है अर्थात् वह अभव्य या दूरादूर भव्य होने के कारण सदा संसार में रहता है। इस संसार में अनन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं और अनन्त जीव ही अभी बाकी हैं। कर्मबन्धनमें बंधे हुए जीवोंमें से मुक्त हो जानेपर हानि अवश्य होती है परन्तु उनका क्षय नहीं होता और उसका कारण जीवोंका अनन्तपना ही है। जिस प्रकार पदार्थमें अनन्त शक्तियाँ रहती हैं अतः उनका कभी अन्त नहीं होता इसी प्रकार संसार में अनन्त जीव रहते हैं अतः उनका कभी अन्त नहीं होता ॥364-365॥

इस प्रकार भगवान् ने युक्ति पूर्वक जीव तत्वका स्पष्ट स्वरूप कहा। भगवान् के वचन को द्रव्य हेतु मानकर तथा काललब्धि आदिकी कारण सामग्री मिलनेपर मुझे जीवतत्वका निश्चय हो गया और मैं उसकी श्रद्धाकर भगवान् का शिष्य बन गया। तदनन्तर सौधर्मैन्द्रने मेरी पूजा की और मैंने पाँच सौ ब्राह्मणपुत्रों के साथ श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कारकर संयम धारण कर लिया। परिणामोंकी विशेष शुद्धि होनेसे मुझे उसी समय सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई। तदनन्तर भट्टारक वर्धमान स्वामी के उपदेशसे मुझे श्रावण वदी प्रतिपदाके दिन पूर्वाह्न कालमें समस्त अंगोंके अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। इसी तरह उसी दिन अपराह्न कालमें अनुक्रम से पूर्वोक्त अर्थ तथा पदोंका भी स्पष्ट बोध हो गया ॥366-370॥

इस प्रकार जिसे समस्त अंगों तथा पूर्वोक्त ज्ञान हुआ है और जो चार ज्ञान से सम्पन्न है ऐसे मैंने रात्रिके पूर्व भाग में अंगोंकी और पिछले भाग में पूर्वोक्त ग्रन्थ - रचना की। उसी समय से मैं ग्रन्थकर्ता हुआ। इस तरह श्रुतज्ञान रूपी ऋद्धिसे पूर्ण हुआ मैं भगवान् महावीर स्वामी का प्रथम गणधर हो गया ॥371-372॥

इसके बाद वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेला तथा प्रभास ये गणधर और हुए। इस प्रकार मुझे मिलाकर श्रीवर्धमान स्वामी के इन्द्रों द्वारा पूजनीय ग्यारह गणधर हुए ॥373-374॥

इनके सिवाय तीन सौ ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोक्त धारक थे, नौ हजार नौ सौ यथार्थ संयम को धारण करनेवाले शिक्षक थे, एक हजार तीन सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवलज्ञानी परमेष्ठी थे, नौ सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे, पाँच सौ पूजनीय मनःपर्ययज्ञानी थे और चार सौ अनुत्तरवादी थे इस प्रकार सब मुनीश्वरोंकी संख्या चौदह हजार थी ॥375-378॥

चन्दनाको आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव देवियाँ थीं, और संख्यात तिर्यच थे। इस प्रकार ऊपर कहे हुए बारह गणों से परिवृत भगवान् ने सिंहासनके मध्य में स्थित हो अर्धमागधी भाषाके द्वारा छह द्रव्य, सात तत्व, संसार और मोक्ष के कारण तथा उनके फलका प्रमाण नय और निक्षेप आदि उपायों के द्वारा विस्तारपूर्वक निरूपण किया। भगवान् का उपदेश सुनकर स्वाभाविक बुद्धिवाले कितने ही शास्त्रज्ञ सभासदोंने संयम धारण किया कितनों ही ने संयमासंयम धारण किया, और कितनोंने अपने भव्यत्व गुणकी विशेषतासे शीघ्र ही सम्यग्दर्शन धारण किया। इस प्रकार श्रीवर्धमान स्वामी धर्मदेशना करते हुए अनुक्रम से राजग्रह नगर आये और वहाँ विपुलाचल नामक पर्वतपर स्थित हो गये। हे मगधेश ! जब तुमने भगवान् के आगमन का समाचार सुना तब तुम शीघ्र ही यहाँ आये ॥379-385॥

यह सब सुनकर राजा श्रेणिक बहुत ही संतुष्ट हुआ, उसने बार - बार, उन्हें प्रणाम किया, तथा संवेग और निर्वेदसे युक्त होकर अपने पूर्वभव पूछे। उसके उत्तरमें गणधर स्वामी भी समझाने लगे कि तूने पहले तिरसठशलाका पुरुषोंका पुराण पूछा था सो मैंने स्पष्ट रूप से तुझे कहा है और तूने उसे स्पष्ट रूप से सुना भी है। हे श्रावकोत्तम श्रेणिक ! अब मैं तेरे तीन भव का चरित कहता हूँ सो तू चित्तको स्थिरकर सुन। इसी जम्बूद्वीप के विन्ध्याचल पर्वतपर एक कुटज नामक वन है उसमें किसी समय खदिरसार नाम का भील रहता था। एक दिन उसने समाधिगुप्त नाम के मुनिराज के दर्शनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नतासे नमस्कार किया ॥386-390॥

इसके उत्तरमें मुनिराजने 'आज तुझे धर्म लाभ हो' ऐसा आशीर्वाद दिया। तब उस भीलने पूछा कि हे प्रभो ! धर्म क्या है ? और उससे लाभ क्या है ? भीलके ऐसा पूछनेपर मुनिराज कहने लगे कि मधु मांस आदिका सेवन करना पाप का कारण है अतः उससे विरक्त होना धर्म कहलाता है। उस धर्म की प्राप्ति होना धर्मलाभ कहलाता है। उस धर्म से पुण्य होता है और पुण्य से स्वर्ग में परम सुखकी प्राप्ति होती है ॥391-393॥

यह सुनकर भील कहने लगा कि मैं ऐसे धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। मुनिराज उसका अभिप्राय समझ कर कहने लगे कि, हे भव्य ! क्या तूने कभी पहले कौआका मांस खाया है ? बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भील, मुनिराज के वचन सुनकर और विचारकर कहने लगा कि मैंने वह तो कभी नहीं खाया है। इसके उत्तरमें मुनिराजने कहा कि यदि ऐसा है तो उसे छोड़ देना चाहिये। मुनिराज के वचन सुनकर उसने बहुत ही संतुष्ट होकर कहा कि हे प्रभो ! यह व्रत मुझे दिया जाय ॥394-396॥

तदनन्तर वह भील व्रत लेकर चला गया। किसी एक समय उस भीलको असाध्य बीमारी हुई तब वैद्योंने बतलाया कि कौआका मांस खानेसे यह बीमारी शान्त हो सकती है। इसके उत्तरमें भीलने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया कि मेरे ये प्राण भले ही चले जावें ? मुझे इन चंचल प्राणोंसे क्या प्रयोजन है, मैंने धर्म की इच्छा से तपस्वी - मुनिराज के समीप व्रत ग्रहण किया है। जो गृहीत व्रतका भंग कर देता है उससे पुरुष व्रत कैसे हो सकता है ? मैं इस पापरूप मांसके द्वारा आज जीवित नहीं रहना चाहता। इस प्रकार कहकर उसने कौआका मांस खाना स्वीकृत नहीं किया। यह सुनकर उसका साला शूरवीर जो कि सारसौख्य नामक नगरसे आया था कहने लगा कि जब मैं यहाँ आ रहा था तब मैंने सघन वनके मध्य में स्थित वट वृक्ष के नीचे किसी स्त्रीको रोती हुई देखा। उसे रोती देख, मैंने पूछा कि तू क्यों रो रही है ? इसके उत्तरमें वह कहने लगी कि तू चित्त लगाकर सुन। मैं बनकी यक्षी हूँ और इसी वन में रहती हूँ। तेरा बहनोई खदिरसार रोगसे पीड़ित है और कौआका मांस त्याग करनेसे वह मेरा पति होगा ! पर अब तू उसे त्याग किया हुआ मांस खिलानेके लिए जा रहा है और उसे नरक गतिके भयंकर दुःखोंका पात्र बनाना चाहता है। मैं इसीलिए रो रही हूँ। हे भद्र ! अब तू अपना आग्रह छोड़ दे ॥397-405॥ इस प्रकार देवीके वचन सुनकर शूरवीर, बीमार - खदिरसारके पास पहुँचा और उसे देखकर कहने लगा कि वैद्यने जो औषधि बतलाई है वह और नहीं तो मेरी प्रसन्नताके लिए ही तुझे खाना चाहिये। खदिरसार उसकी बात अस्वीकृत करता हुआ कहने लगा कि तू प्राणोंके समान मेरा भाई है। स्नेह वश मुझे जीवित रखनेके लिए ही ऐसा कह रहा है परन्तु व्रत भंगकर जीवित रहना हितकारी नहीं है क्योंकि व्रत भंग करना दुर्गतिकी प्राप्तिका कारण है। जब शूरवीरको निश्चय हो गया कि यह अपने व्रतमें दृढ़ है तब उसने उसे यक्षीका वृत्तान्त बतलाया ॥406-409॥

यक्षीके वृत्तान्तका विचारकर खदिरसारने श्रावक के पाँचों व्रत धारण कर लिये जिससे आयु समाप्त होने पर वह सौधर्मस्वर्ग में अनुपम देव हुआ। इधर शूरवीर भी बहुत दुखी हुआ और पारलौकिक क्रिया करके अपने घर की ओर चला। मार्ग में वह उसी वटवृक्ष के समीप खड़ा होकर उस यक्षीसे कहने लगा कि हे यक्षी ! क्या हमारा वह बहनोई तेरा पति हुआ है ? इसके उत्तरमें यक्षीने कहा कि नहीं, वह समस्त व्रतोंसे सम्पन्न हो गया था अतः व्यन्तर योनिसे पराङ्मुख होकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ है वह मेरा पति कैसे हो सकता था ॥ 410-413॥

वह तो स्वर्गके श्रेष्ठ भोगों का भोक्ता हुआ है। इस प्रकार बनका स्वामी शूरवीर, यक्षीके यथार्थ वचनोंपर विचार करता हुआ कहने लगा कि अहो ! व्रतका ऐसा माहात्म्य है ? अवश्य ही वह इच्छित सुख को प्राप्त कराता है। ऐसा विचारकर उसने समाधिगुप्त मुनिराज के समीप जाकर श्रावक के व्रत धारण कर लिये ॥414-415॥

इस प्रकार उस यक्षीने उसे भव्य समझकर उसके पक्षपातसे इस उपायके द्वारा उसे जैनधर्म धारण कराया सो ठीक ही है क्योंकि हितैषिता - पर हितकी चाह रखना, यही है ॥416॥

उधर खदिरसारका जीव भी दो सागर तक दिव्य भोगों का उपभोगकर स्वर्गसे च्युत हुआ और यहाँ राजा कुणिककी श्रीमती रानीसे तू श्रेणिक नाम का पुत्र हुआ है। अथानन्तर किसी दिन तेरे पिताने यह जानना चाहा कि मेरे इन पुत्रों में राज्य का स्वामी कौन होगा ? उसने निमित्तज्ञानियोंके द्वारा बताये हुए समस्त निमित्तोंसे तेरी अच्छी तरह परीक्षा की और वह इस बात का निश्चय कर बहुत ही संतुष्ट हुआ कि राज्य का स्वामी तू ही है। तुझपर वह स्वभावसे ही स्नेह करता था अतः राज्य का अधिकारी घोषित होने के कारण तुझपर कोई संकट न आ पड़े इस भय से दायादोंसे तेरी रक्षा करने के लिए उस बुद्धिमानने तुझे बनावटी क्रोधसे उस नगरसे निकाल दिया। तू दूसरे देशको

जानेकी इच्छा से नन्दिग्राममें पहुँचा । राजाकी प्रकट आज्ञाके भय से नन्दिग्राममें रहने वाली समस्त प्रजा तुझे देखकर न उठी और न उसने स्नान, भोजन, शयन आदि कार्योंकी व्यवस्था ही की, वह इन सबसे विमुख रही ॥417-422॥

तदनन्तर तू भी किसी ब्राह्मणके साथ आगे चला और देवमूढ़ता, जातिमूढ़ता तथा पाषण्डिमूढ़ता का खण्डन करने वाली कथाओं को कहता हुआ बड़े प्रेमसे उसके स्थानपर पहुँचा । तेरे वचनकौशल और यौवन आदि गुणों से अनुरंजित हो कर उस ब्राह्मण ने तेरे लिए अपनी यौवन वती पुत्री दे दी और तू उसके साथ विवाहकर वहाँ चिरकाल तक सुख से रहने लगा ॥423-425॥

किसी एक समय किसी कारणवश राजा कुणिकने अपने राज्य का परित्याग करना चाहा तब उन्होंने उस ब्राह्मणके गाँवसे तुझे बुलाकर अपना सब राज्य तुझे दे दिया और तू भी राज्य का पालन करने लगा । यद्यपि तूने अपना क्रोध बाह्यमें प्रकट नहीं होने दिया था तो भी पहले किये हुए अनादर की याद आनेसे तू नन्दिग्रामके निवासियोंका अत्यन्त कठोर निग्रह करना चाहता था इसी इच्छा से तू ने वहाँ रहने वाले लोगोंपर इतना कठोर कर लेनेका आदेश दिया जितना कि वे सहन नहीं कर सकते थे ॥426-428॥

तेरे उस ब्राह्मणकी पुत्रीसे अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ था वह किसी समय अपने घरसे तेरे दर्शन करने के लिए माताके साथ आ रहा था । जब वह नन्दिग्राममें आया तब उसने वहाँ की प्रजाको तुझसे अत्यन्त व्यग्र देखा, इसलिए उसने वहीं ठहर कर योग्य उपायों से तेरा क्रोध शान्त कर दिया ॥429-430॥

तेरा वह अभय नाम का पुत्र नाना उपायोंमें निपुण है इसलिए उस समय बुद्धिमानोंने उसे 'पण्डित' इस नाम से पुकारा था ॥431॥

हे राजन ! आज तू इहाँ उसी बुद्धिमान् पुत्र के साथ उपस्थित हुआ पुराण श्रवण कर रहा है । इस प्रकार गणधर स्वामी के वचन सुनकर राजा श्रेणिकने अपने हृदय में धारण किये और कहा कि हे भगवन् ! यद्यपि मेरी जैनधर्म में श्रद्धा बहुत भारी है तो भी मैं व्रत ग्रहण क्यों नहीं कर पाता ? ॥432-433॥

राजा श्रेणिकका प्रश्न समाप्त होने पर गणधर स्वामीने कहा कि तूने इसी जन्ममें पहले भोगोंकी आसक्ति, तीव्र मिथ्यात्वका उदय, दुश्चरित्र और महान् आरम्भके कारण, जो बिना फल दिये नहीं छूट सकती ऐसी पापरूप नरकायुका बन्ध कर लिया है । ऐसा नियम है कि जिसने देवायुको छोड़कर अन्य आयु का बन्ध कर लिया है वह उस पर्यायमें व्रत धारण नहीं कर सकता । हाँ, सम्यग्दर्शन धारण कर सकता है । यही कारण है कि तू इच्छा रहते हुए भी व्रत धारण नहीं कर पा रहा है ॥434-436॥

इस प्रकार पुराणोंके सुनने से उत्पन्न हुई विशुद्धिके द्वारा उसने अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणाम प्राप्त किये और उनके प्रभाव से मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियों का उपशमकर प्रथम अर्थत् उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया ॥437॥

अन्तर्मुहूर्तके बाद उसके सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो गया जिससे चलाचलात्मक, क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शनमें आ गया और उसके कुछ ही बाद सातों प्रकृतियों का निर्मूल नाशकर वह क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो गया । सम्यग्दर्शन उत्पत्तिकी अपेक्षा दश प्रकार का कहा गया है - आज्ञा, मार्ग, उपदेशोत्थ, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपज, विस्तारज, अर्थज, अवगाढ और परमावगाढ ॥438-440॥

सर्वज्ञ देवकी आज्ञाके निमित्तसे जो छह द्रव्य आदिमें श्रद्धा होती है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं । मोक्षमार्ग परिग्रह रहित है, वस्त्र रहित है और पाणिपात्रतारूप है इस प्रकार मोक्षमार्गका स्वरूप सुनकर जो श्रद्धान् होता है वह मार्गज सम्यक्त्व है । तिरसेठ शलाका पुरुषोंका पुराण सुनने से जो शीघ्र ही श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वह उपदेशोत्थ सम्यग्दर्शन है । आचारांग आदि शास्त्रोंमें कहे हुए तपके भेद सुनने से जो शीघ्र ही श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सूत्रज सम्यग्दर्शन कहलाता है । बीजपदोंके ग्रहण पूर्वक सूक्ष्मपदार्थों से जो श्रद्धा होती है उसे बीजज सम्यग्दर्शन कहते हैं । पदार्थों के संक्षेप कथनसे जो श्रद्धा होती है वह संक्षेपज सम्यग्दर्शन है, जो विस्तारसे कहे हुए प्रमाण नय विक्षेप आदि उपायों के द्वारा अवगाहनकर अंग पूर्व आदिमें कहे हुए तत्त्वोंकी श्रद्धा होती है वह विस्तारज सम्यग्दर्शन कहलाता है । वचनों का विस्तार छोड़कर महाबुद्धिमान् उपदेशसे जो केवल अर्थमात्रका ग्रहण होनेसे श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अर्थज सम्यग्दर्शन है । जिसका मोहनीय कर्म क्षीण हो गया है ऐसे मनुष्य को अंग तथा अंगबाह्य ग्रन्थोंकी भावनासे जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अवगाढ सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥441-448॥

केवल - ज्ञान के द्वारा देखे हुए समस्त पदार्थों की जो श्रद्धा होती है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा परमर्षियोंने कहा है ॥449॥ हे महाभाग ! इन श्रद्धाओंमेंसे आज तेरे कितनी ही श्रद्धाएँ - सम्यग्दर्शन विद्यमान हैं । इनके सिवाय आगममें जिन दर्शन - विशुद्धि आदि शुद्ध सोलह कारण भावनाओं का वर्णन किया गया है उन सभीसे अथवा यथा सम्भव प्राप्त हुई पृथक् - पृथक् कुछ भावनाओंसे भव्य

जीव तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध करता है। उनमेंसे दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणों से तू तीर्थकर नाम-कर्म का बन्धकर रत्नप्रभा नामक पहिली पृथिवीमें प्रवेश करेगा, मध्यम आयुसे वहाँका फल भोगकर निकलेगा और तदनन्तर हे भव्य ! तू इसी भरतक्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी कालमें सज्जनोंका कल्याण करनेवाला महापद्म नाम का पहला तीर्थकर होगा। तू निकट भव्य है अतः संसार से भय मत कर ॥450-453॥

तदनन्तर अपने आपको रत्नप्रभा पृथिवी की प्राप्ति सुनकर जिसे खेद हो रहा है ऐसे राजा श्रेणिक ने फिर पूछा कि हे बुद्धिरूपी धनको धारण करनेवाले गुरुदेव ! पुण्य के घर स्वरूप इस नगर में मेरे सिवाय और भी क्या कोई नरक जानेवाला है ? उत्तरमें गणधर भगवान् कहने लगे कि हाँ, इस नगर में कालसौकरिक और ब्राह्मणकी पुत्री शुभाका भी नरकमें प्रवेश होगा। उनका नरकमें प्रवेश क्यों होगा ? यदि यह जानना चाहता है तो सुन मैं कहता हूँ। कालसौकरिक इसी नगर में नीच कुलमें उत्पन्न हुआ था। वह यद्यपि पहले बहुत पापी था तो भी उसने भवस्थितिके वशसे सात बार मनुष्य आयु का बन्ध किया था। अबकी बार उसे जातिस्मरण हुआ है जिससे वह सदा ऐसा विचार करता रहता है ॥454-457॥

कि यदि पुण्य - पाप के फलके साथ जीवोंका सम्बन्ध रहता है तो फिर मुझ जैसे पापी को मनुष्य - भव कैसे मिल गया ? इसलिए जान पड़ता है कि न पुण्य है और न पाप है इच्छानुसार प्रवृत्ति करना ही सुख है। ऐसा विचारकर वह पापी निःशंक हो हिंसादि पाँचों पाप करने लगा है, मांस आदि खानेमें आसक्त हो गया है और बहुत आरम्भ तथा परिग्रहोंके कारण नरककी उत्कृष्ट आयु का बन्ध भी कर चुका है। अब वह मरकर भयंकर दुःख देनेवाली सातवीं पृथिवीमें जावेगा। इसी प्रकार शुभा भी तीव्र अनुभागजन्य स्त्रीवेदके उदय से युक्त है, अतिशय बढ़े हुए राग-द्वेष पैशुन्य आदि दोषोंसे अत्यन्त दूषित है, गुण शील तथा सदाचारकी बात सुनकर और देखकर बहुत क्रोध करती है। निरन्तर संक्लेश परिणाम रखनेसे वह नरकायुका बन्ध कर चुकी है और शरीर छूटनेपर तमःप्रभा पृथिवी सम्बन्धी घोर दुःख भोगेगी ॥ 458-463॥

इस प्रकार गणधरके वचन समाप्त होने पर अभयकुमार ने उठकर उन्हें नमस्कार किया और अपने भवान्तरोंका समूह पूछा ॥464॥ भव्य जीवों पर स्नेह रखनेवाले गणधर भगवान्, अभय कुमारका उपकार करने की भावनासे इस प्रकार कहने लगे कि तू इस भव से तीसरे भवमें कोई ब्राह्मण का पुत्र था और भव्य होने पर भी दुर्बुद्धि था। वह वेद पढ़नेके लिए अनेक देशोंमें घूतता - फिरता था, पाषण्डिमूढता, देवमूढता, तीर्थमूढता, जातिमूढता और लोकमूढतासे मोहित हो व्याकुल रहता था, उन्हींके द्वारा किये हुए कार्योंकी बहुत प्रशंसा करता था और पुण्य - प्राप्तिकी इच्छा से उन्हींके द्वारा किये हुए कार्योंका स्वयं आचरण करता था ॥465-467॥

एक बार वह किसी जैनी पथिकके साथ मार्ग में कहीं जा रहा था। मार्ग में पथरोंके ढेरके समीप दिखाई देने वाला भूतोंका निवासस्थान स्वरूप एक वृक्ष था। उसके समीप जाकर और उसे अपना देव समझकर ब्राह्मण - पुत्रने उस वृक्ष की प्रदक्षिणा दी तथा उसे नमस्कार किया। उसकी इस चेष्टाको देखकर श्रावक हँसने लगा तथा उसका अनादर करने के लिए उसने उस वृक्ष के कुछ पत्ते तोड़कर उनसे अपने पैरोंकी धूलि झाड़ ली और ब्राह्मणसे कहा कि देख तेरा देवता जैनियोंका कुछ भी विघात करने में समर्थ नहीं है। इसके उत्तरमें ब्राह्मण ने कहा कि अच्छा ऐसा ही सही, क्या दोष है ? मैं भी तुम्हारे देवताका तिरस्कार कर लूंगा, इस विषय में तुम मेरे गुरु ही सही। इस प्रकार कहकर वे दोनों फिर साथ चलने लगे और किसी एक स्थान में जा पहुँचे। वहाँ करेंचकी लताओं का समूह देखकर श्रावकने कहा कि 'यह हमारा देवता है' यह कहकर श्रावकने उस लता - समूहकी भक्ति से प्रदक्षिणा की, नमस्कार किया और यह सबकर वह वहीं खड़ा हो गया। अज्ञानी ब्राह्मण ने कुपित होकर दोनों हाथोंसे उस लतासमूह के पत्ते तोड़ लिये तथा उन्हें मसलकर उनका रंग सब शरीर में लगा लिया। लगाते देर नहीं हुई कि वह, उस करेंचके द्वारा उत्पन्न हुई असह्य खुजलीकी भारी पीड़ासे दुःखी होने लगा तथा डरकर श्रावकसे कहने लगा कि इसमें अवश्य ही तुम्हारा देव रहता है ॥468-475॥

ब्राह्मण - पुत्रकी बात सुन, श्रावक हँसता हुआ कहने लगा कि जीवों को जो सुख - दुःख होता है उसमें उनके पूर्वकृत कर्मको छोड़कर और कुछ मूल कारण नहीं है ॥476॥

इसलिए तू तप दान आदि सत्कार्योंके द्वारा पुण्य प्राप्त करनेका प्रयत्न कर और हे बुद्धिमन् ! इस देवविषयक मूढताको छोड़ दे। निश्चयसे देवता पुण्यात्मा मनुष्यों की ही सहायता करते हैं वे भृत्यके समान हैं और पुण्य क्षीण हो जानेपर किसीका कुछ भी नहीं कर सकते हैं ॥ 477-478॥

इस प्रकार कहकर श्रावकने उस ब्राह्मणकी देवमूढ़ता दूर कर दी । तदनन्तर अनुक्रम से उस ब्राह्मणके साथ चलता हुआ श्रावक गंगा नदी के किनारे पहुँचा ॥479॥

भूख लगनेपर उस ब्राह्मण ने 'यह मणिगंगा नाम का उत्तम तीर्थ है' यह समझकर वहाँ स्नान किया और इस तरह वह तीर्थमूढ़ताको प्राप्त हुआ ॥480॥

तदनन्तर जब वह ब्राह्मण भोजन करने की इच्छा करने लगा तब उस श्रावकने पहले स्वयं भोजनकर अपनी जूँठनमें गंगाका जल मिला दिया और हित का उपदेश देनेके लिए यह कहते हुए उसे दिया कि 'यह पवित्र है तुम खाओ' । यह देख ब्राह्मण ने कहा कि 'मैं तुम्हारी जूँठन कैसे खाऊँ ? क्या तुम मेरी विशेषता नहीं जानते ? ब्राह्मणकी बात सुनकर श्रावक कहने लगा कि तीर्थजल यदि आज जूँठनका दोष दूर करने में समर्थ नहीं है तो फिर पाप रूप मलको दूर हटानेमें समर्थ कैसे हो सकता है ? इसलिए तू अकारण तथा मूर्ख जनों के द्वारा विश्वास करने योग्य इस मिथ्या वासनाको छोड़ दे कि जल के द्वारा पाप धोया जा सकता है । यदि जलके द्वारा पाप धोये जाने लगे तो फिर व्यर्थ ही तप तथा दान आदिके करनेसे क्या लाभ है ? ॥481-485॥

जल सब जगह सुलभ है अतः उसीके द्वारा पाप धो डालना चाहिये । यथार्थमें बात यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय इन चारके द्वारा तीव्र पाप का बन्ध होता है और सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र तथा तप इन चारके द्वारा पुण्यका बन्ध होता है । और अन्त में इन्हींसे मोक्ष प्राप्त होता है । यह जिनेन्द्र देवका तत्व है - मूल उपदेश है, इसे तू ग्रहण कर । ऐसा उस श्रावकने ब्राह्मणसे कहा ॥486-487॥

श्रावक के उक्त वचन सुनकर ब्राह्मण ने तीर्थमूढ़ता छोड़ दी । तदनन्तर वहीं एक तापस, पंचाग्नियोंके मध्य में अन्य लोगों के द्वारा दुःसह - कठिन तप कर रहा था । वहाँ जलती हुई अग्निके बीच में छह कायके जीवोंका जो निरन्तर घात होता था उसे दिखलाकर श्रावकने युक्तियोंके द्वारा उस ब्राह्मणकी पाषण्डिमूढ़ता भी दूर कर दी । तदनन्तर जातिमूढ़ता दूर करने के लिए वह श्रावक कहने लगा कि गोमांस भक्षण और अगम्यस्त्रीसेवन आदिसे लोग पतित हो जाते हैं यह देखा जाता है, इस शरीर में वर्ण तथा आकृतिकी अपेक्षा कुछ भी भेद देखनेमें नहीं आता और ब्राह्मणी आदिमें शूद्र आदिके द्वारा गर्भधारण किया जाना देखा जाता है इसलिए जान पड़ता है कि मनुष्योंमें गाय और घोड़ेके समान जाति कृत कुछ भी भेद नहीं है यदि आकृतिमें कुछ भेद होता तो जातिकृत भेद माना जाता परन्तु ब्राह्मण - क्षत्रिय - वैश्य और शूद्रमें आकृति भेद नहीं हैं अतः उनमें जातिकी कल्पना करना अन्यथा है । जिनकी जाति तथा गोत्र आदि कर्म शुल्कध्यान के कारण हैं वे त्रिवर्ण कहलाते हैं और बाकी शूद्र कहे गये हैं । विदेह क्षेत्र में मोक्ष जानेके योग्य जातिका कहीं विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहीं उस जातिमें कारणभूत नाम और गोत्रसे सहित जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकालमें ही जातिकी परम्परा चलती है अन्य कालोंमें नहीं । जिनागममें मनुष्योंका वर्णविभाग इस प्रकार बतलाया गया है ॥488-495॥

इत्यादि हेतुओं के द्वारा श्रावकने ब्राह्मणकी जातिमूढ़ता दूर कर दी । 'इस वटवृक्षपर कुबेर रहता है' इत्यादि वाक्योंका विश्वासकर राजा लोग जो उसके योग्य आचरण करते हैं, उसकी पूजा आदि करते हैं सो क्या कुछ जानते नहीं हैं । कुछ सचाई होगी तभी तो ऐसा करते हैं यह लोकका मार्ग बहुत बड़ा प्रसिद्ध मार्ग है इसे छोड़ा नहीं जा सकता - लोक में जो रूढ़ियाँ चली आ रही हैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहिये इत्यादि लौकिक जनों के वचन, आप्त भगवान् के द्वारा कहे इस आगमसे बाह्य होने के कारण नशेसे मस्त अथवा पागल मनुष्य के वचनोंके समान ग्राह्य नहीं हैं ॥496-498॥

इस प्रकार श्रावकने उस ब्राह्मणकी लोकमूढ़ता भी दूर कर दी । तदनन्तर ब्राह्मण ने श्रावकसे कहा कि तुमने जो हेतु दिया है कि आप्त भगवान् के द्वारा कहे हुए आगमसे बाह्य होने के कारण लौकिक वचन ग्राह्य नहीं हैं सो तुम्हारा यह हेतु मेरे प्रति लागू नहीं होता क्योंकि सांख्य आदि आप्तजनों के जो भी आगम विद्यमान हैं वे पौरुषेयत्व दोषसे प्रमाणभूत नहीं हैं । पुरुषकृत रचना होने से ग्राह्य नहीं हैं । यथार्थमें संसार में जितने पुरुष हैं वे सभी रागादि अविद्यासे दूषित हैं अतः उनके द्वारा बनाये हुए आगम प्रमाण कैसे हो सकते हैं ? ॥ 499-500॥

इसके उत्तरमें श्रावकने कहा कि चूंकि तुमने पदार्थका अच्छी तरह विचार नहीं किया है इसलिए तुम्हारे वचन सारताको प्राप्त नहीं हैं - ठीक नहीं हैं । तुमने जो कहा है कि संसार के सभी पुरुष रागादि अविद्यासे दूषित हैं यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि किसी पुरुषमें राग आदि अविद्याओं का निर्मूल क्षय हो जाना संभव है । तुम युक्तिवादका अनुसरण करनेवाले विद्वान् हो अतः तुम्हारे लिए सर्वज्ञवीतराग की सिद्धिका प्रयोग किया जाता है ॥501-502॥

रागादिक भावों और अविद्यामें तारतम्य देखा जाता है अतः किसी पुरुषमें अविद्याके साथ - साथ रागादिक भाव सर्वथा अभावको प्राप्त हो जाते हैं । जिस प्रकार सामग्री मिलनेसे सुवर्ण पाषाणकी कीट कालिमा आदि दोष दूर हो जाते हैं उसी प्रकार तपश्चरण आदि सामग्री मिलनेपर पुरुषके रागादिक दोष भी दूर हो सकते हैं । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो उनमें तारतम्य - हीनाधिकपना भी सिद्ध नहीं हो सकेगा परन्तु तारतम्य देखा जाता है इसलिए रागादि दोषोंकी निर्मूल हानिको कौन रोक सकता है ? समस्त शास्त्रों और कलाओं के तानने वाले मनुष्य को लोग सर्वज्ञ कह देते हैं सो उनकी यह सर्वज्ञकी गौण युक्ति ही मुख्य सर्वज्ञको सिद्ध कर देती है जिस प्रकार कि चैत्र नामक किसी पुरुषको सिंह कह देनेसे मुख्य सिंहकी सिद्धि हो जाती है ॥503-506॥

‘कदाचित् यह कहा जाय कि सर्वज्ञ सिद्ध करनेका यह प्रयोग मेरे लिए नहीं हो सकता क्योंकि आपने जो मोक्षका कारण बतलाया है उसका निराकरण किया जा चुका है । अवस्था देश - काल आदि के भेदसे शक्तियाँ भिन्न - भिन्न प्रकारकी हैं इसलिए रागादि दोषोंकी हीनाधिकता तो संभव है परन्तु उनका सर्वथा अभाव संभव नहीं है । अनुमानके द्वारा भावोंकी प्रतीति करना अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि बड़े कुशल अनुमाता यत्न पूर्वक जिस पदार्थ को सिद्ध करते हैं अन्यप्रवादियोंकी ओरसे वह पदार्थ अन्यथा सिद्ध कर दिया जाता है । प्रकार केवल हाथके स्पर्शसे विषय - मार्ग में दौड़ने वाले अन्धे मनुष्यका मार्ग में दुर्लभ नहीं है उसी प्रकार अनुमानको प्रधान मानकर चलने वाले पुरुषका भी पड़ जाना दुर्लभ नहीं है । हे विप्र ! यदि तुम ऐसा कहते हो तो इससे महापुरुषोंका मन आकर्षित नहीं हो सकता’ ॥507-510॥

इसका भी कारण यह है कि यदि हेतुवादको अप्रमाण मान लिया जाता है तो जिस प्रकार ‘वेद अकृत्रिम हैं - अपौरुषेय हैं’ आपका यह कहना सत्य है तो उसी प्रकार ‘वेद कृत्रिम हैं - पौरुषेय हैं’ हमारा यह कहना भी सत्य ही क्यों नहीं होना चाहिये ? हेतुके अभाव की बात कहो तो वह दोनों ओर समान है । इस प्रकार मर - सड़ कर भी आपको हेतुवाद स्वीकृत करना ही पड़ेगा और जब आप इस तरह हेतुवाद स्वीकृत कर लेते हैं तब मेरे द्वारा अभीष्ट सर्वज्ञ क्या सिद्ध नहीं हो जाता है ? अवश्य सिद्ध हो जाता है । इसलिए विद्वान् लोग सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहे हुए वचनोंके विरुद्ध कोई बात स्वीकृत नहीं करते हैं ॥511-513॥

इसके सिवाय एक बात यह भी विचारणीय है कि हे प्रिय ! तुम प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंको मानने वाले मीमांसक हो, केवल प्रत्यक्षको मानने वाले चार्वाक नहीं हो अतः तुम्हारा मेरे प्रति यह कहा जाना कि अनुमानका प्रयोग मुझे स्वीकृत नहीं है । संगत नहीं बैठता ॥514॥

साध्यसाधनसम्बन्धो हेतुश्चाध्यक्षगोचरः । ऊहाद्वयाप्तिः कथं न स्यात्प्रयोगस्त्वां प्रति प्रमा ॥515॥

साध्य - साधनके सम्बन्धको हेतु कहते हैं वह प्रत्यक्षका विषय है और अविनाभाव सम्बन्धसे उसकी व्याप्तिका ज्ञान होता है फिर आप अनुमानको प्रमाण क्यों नहीं मानते ? ॥515॥

यदि यह कहा जाय कि अनुमान में कदाचित् व्यभिचार (दोष) देखा जाता है तो यह व्यभिचार क्या प्रत्यक्षमें भी नहीं होता ? अवश्य होता है । इसलिए हे आर्य ! ‘अनुमान प्रमाण नहीं हैं’ यह आग्रह छोड़िये ॥516॥

यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष विसंवादरहित है इसलिए प्रमाणभूत है तो अनुमानमें भी तो विसंवादका अभाव रहता है उसे भी प्रमाण क्यों नहीं मानते हो । युक्तिकी समानता रहते हुए एकको प्रमाण माना जाय और दूसरेको अप्रमाण माना जाय यदि यही आपका पक्ष है तो फिर राजाओंकी क्या आवश्यकता ? अथवा सांख्य आदि दर्शनोंमें अप्रामाणिकता भले ही रहे क्योंकि उनमें विरोध देखा जाता है परन्तु अरहन्त भगवान् के दर्शनमें अप्रामाणिकता नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे उसका संवाद देखा जाता है । इस प्रकार साथके जैनी - श्रावक के द्वारा कहे हुए समस्त यथार्थ तत्वको सुनकर ब्राह्मण ने कहा कि जिस धर्म को आपने ग्रहण किया है वही धर्म आज से मेरा भी हो ॥517-519॥

श्रावककी आज्ञा से उस ब्राह्मण ने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ निर्मल धर्म ग्रहण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार औषधि बीमार मनुष्यका हित करती है उसी प्रकार सज्जन पुरुषके वचन भी अन्त में हित ही करते हैं ॥520॥

अथानन्तर वे दोनों ही साथ - साथ जाते हुए किसी सघन अटवीके बीच में पाप के उदय से मार्ग भूल कर दिशाभ्रान्त हो गये ॥521॥ उस समय श्रावकने विचार किया कि चूँकि यह वन मनुष्य रहित है अतः वहाँ कोई मार्गका बतलानेवाला नहीं है । इस समय जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए उपायको छोड़कर और कोई उपाय नहीं है । ऐसी दशामें आहार तथा शरीरका त्याग कर देना ही शूरवीरकी

पण्डिताई है' ऐसा विचार कर वह संन्यास की प्रतिज्ञा लेकर उत्तमध्यान के लिए बैठ गया। श्रावकको बैठा देख उसके उपदेशसे जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई है ऐसा ब्राह्मण भी समाधिका नियम लेकर उसी प्रकार बैठ गया। आयु पूर्ण होने पर वह ब्राह्मण सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ और वहां देवों के सुख भोग कर आयु के अन्त में अपने पुण्य के उदय से यहां राजा श्रेणिकके तू अभय नाम का ऐसा बुद्धिमान पुत्र उत्पन्न हुआ है। आगे तू श्री जिनेन्द्र देवका कहा हुआ बारह प्रकार का तपश्चरण कर मुक्ति का पद प्राप्त करेगा। यह सब जानकर अभयकुमार बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और श्रीजिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर राजा श्रेणिकके साथ नगर में चला गया ॥522-527॥

अथानन्तर किसी एक दिन महाराज श्रेणिक राजसभा में बैठे हुए थे वहां उन्होंने समस्त शास्त्रोंके जानने वाले श्रेष्ठ वक्ता अभय कुमारसे उसका माहात्म्य प्रकट करने की इच्छा से तत्तत्का यथार्थ स्वरूप पूछा। अभय कुमार भी निकटभव्य होने के कारण वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखने बाला था तथा स्पष्ट मिष्ट और इष्टरूप वाणीके गुणों से सहित था इसलिए अपने दाँतोकी फैलने वाली कान्ति के भार से सभा से मध्यभागको सुशोभित करता हुआ इस प्रकार निरूपण करने लगा ॥528-530॥

आचार्य कहते हैं कि जिसे जीवादि पदार्थों का ठीक - ठीक बोध होता है विद्वान् लोग उसे ही पण्डित कहते हैं बाकी दूसरे लोग तो नाममात्रके पण्डित कहलाते हैं ॥531॥

अभयकुमार कहने लगा कि जिनेन्द्र भगवान् ने जीवसे लेकर काल पर्यन्त अर्थत् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह पदार्थ कहे हैं। ये सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके भेदसे क्रमशः नित्य तथा अनित्य स्वभाव वाले हैं ॥532॥

यदि जीवादि पदार्थों को अज्ञान वश सर्वथा नित्य मान लिया जावे तो सभी द्रव्यों में जो परिणमन देखा जाता है वह संभव नहीं हो सकेगा ॥533॥

इसी प्रकार यदि सभी पदार्थों को सर्वथा क्षणिक मान लिया जावे तो न क्रिया बन सकेगी, न कारक बन सकेगा, न क्रियाका फल सिद्ध हो सकेगा और लेन - देन आदि समस्त लोक - व्यवहार का सर्वथा नाश हो जाकेगा ॥534॥

कदाचित् यह कहा जाय कि उपचारसे पदार्थ नित्य है इसलिए लोकव्यवहारका सर्वथा नाश नहीं होगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उपचारसे सत्य पदार्थ की सिद्धि कैसे हो सकती है? आखिर उपचार तो असत्य ही है उससे सत्य पदार्थका निर्णय होना संभव नहीं है ॥535॥

जब कि नित्य - अनित्य दोनों धर्मोंसे ही पदार्थ की अर्थ क्रिया होती देखी जाती है तब दो धर्मोंमें से एकको भ्रान्त कहने वाला पुरुष दूसरे धर्म को अभ्रान्त किस प्रकार कह सकता है? भावार्थ - जब अर्थ क्रियामें दोनों धर्म साधक हैं तब दोनों ही अभ्रान्त हैं यह मानना चाहिये ॥536॥

जो वादी समस्त पदार्थों को एक धर्मात्मक ही मानते हैं उनके मतमें सामान्य तथा विशेषसे उत्पन्न होने वाले संशय और निर्णय, सामान्य और विशेष धर्म के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं इसलिए जब पदार्थ को सामान्य विशेष - दोनों रूप न मानकर एक रूप ही माना जायगा तो उनकी उत्पत्ति असंभव हो जायगी ॥537॥

पदार्थ उभय धर्मात्मक है ऐसा ही ज्ञान होता है और ऐसा ही कहने में आता है फिर भी जो उसे असत्य कहता है सो उसके उस असत्य ज्ञान और असत्य अभिधानमें सत्यता किस कारण होती है? भावार्थ - जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है और लोकव्यवहारमें जिसका निरन्तर कथन होता देखा जाता है उसे प्रतिवादी असत्य बतलाता है सो उसके इस बतलानेसे सत्यता है इसका निर्णय किस हेतुसे होता है? प्रतीयमान पदार्थ को असत्य और अप्रतीयमान पदार्थ को सत्य मानना युक्तिसंगत नहीं है ॥538॥

पदार्थोंमें गुणगुणी सम्बन्ध विद्यमान है उसके रहते हुए भी जो वादी समवाय आदि अन्य सम्बन्धोंकी कल्पना करता है उसके मतमें सम्बन्ध का अभाव होनेसे अभ्युपेत - स्वीकृत मतकी हानि होती है और अनवस्था दोषकी अनिवार्यता आती है। भावार्थ - गुणगुणी सम्बन्धके रहते हुए भी जो वादी समवाय आदि अन्य सम्बन्धोंकी कल्पना करता है। उससे पूछना है कि तुम्हारे द्वारा कल्पित समवाय आदि सम्बन्धोंका पदार्थ के साथ सम्बन्ध है या नहीं? यदि नहीं है तो सम्बन्धका अभाव कहलाया और ऐसा माननेसे 'तुम्हारा जो स्वीकृत पक्ष है कि सम्बन्धरहित कोई पदार्थ नहीं है' उस पक्ष में बाधा आती है। इससे बचनेके लिए यदि यह मानते हो कि समवाय आदि सम्बन्धोंका पदार्थ के साथ सम्बन्ध है तो प्रश्न - होता है कि कौन - सा सम्बन्ध है? इसके उत्तरमें किसी दूसरे सम्बन्धकी कल्पना करोगे तो उस दूसरे सम्बन्धके लिए तीसरे सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ेगी इस तरह अनवस्था दोष अनिवार्य हो जावेगा ॥539॥

इसलिए बुद्धिमानोंको एकान्त मिथ्यावादका गर्व छोड़कर सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहा हुआ नित्यानित्यात्मक ही पदार्थ मानना चाहिए ॥ 540 ॥

सर्वज्ञ और सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए मतमें श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है, सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए पदार्थों का जानना सो सम्यग्ज्ञान है और सर्वज्ञप्रणीत आगम के कहे अनुसार तीनों योगोंका रोकना सम्यक्चारित्र कहलाता है । ये तीनों मिलकर भव्य जीव के मोक्ष के कारण माने गये हैं ॥541-542॥

सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चतुर्थगुणस्थान में सम्यक्चारित्रके विना भी होते हैं ॥543॥

इसलिए सम्यग्दृष्टि भव्य जीव को समस्त कर्मों का उत्कृष्ट संवर और उत्कृष्ट निर्जरा कर मोक्ष रूप परमस्थान प्राप्त करना चाहिये ॥544॥

इस प्रकार मनको हरण करने वाला, अभयकुमारका समस्त निरूपण सुनकर सभा में बैठे सब लोग कहने लगे कि यह अभयकुमार, वस्तुतत्त्वका उपदेश देनेमें बहुत ही कुशल पण्डित है । इस तरह सभी लोगोंने उसके माहात्म्यकी स्तुति की सो ठीक ही है क्योंकि ईर्ष्या रहित ऐसे कौन मनुष्य हैं जो सज्जनों के गुणों की स्तुति नहीं करते ? ॥545-546॥

इस बुद्धिमान् की बुद्धि जन्मसे ही कुशाग्र थी फिर शास्त्रके संस्कार और भी तेज होकर अनोखी हो गई थी इसीलिए अनेक उपायोंमें निपुण मनुष्योंमें विजयपताका प्राप्त करने वाले उस अभयकुमार पण्डितने अपने वचनके गुणों से समस्त सभाको प्रसन्न कर दिया था ॥ 547 ॥

आचार्य कहते हैं कि देखो, कहाँ तो अच्छे तत्वोंको जानने वाला वह श्रावक और कहाँ उदयागत पापकर्म के कारण बहुत दूरतक बढ़ी मूढ़ताओंसे अत्यन्त दृढ़ यह अज्ञानी ब्राह्मण ? फिर भी उसके उपदेशसे देवपद पाकर यह वैभवशाली अभयकुमार हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका समागम क्या नहीं करता है ? अर्थात् सब कुछ करता है ॥548॥

जिस कुशल पुरुष की बुद्धि तत्वोंका विचार करने वाली है तथा उस बुद्धि के साथ अटल श्रद्धा अनुविद्ध है वह उस बुद्धि के द्वारा छोड़ने योग्य तत्वको छोड़कर तथा ग्रहण करने योग्य तत्वको ग्रहण कर विचरता है । मिथ्यात्व आदि प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छिति करता है, सत्तामें स्थित कर्मोंकी निरन्तर असंख्यातगुणी निर्जरा करता है और इस तरह संसारका अन्त पाकर अभयकुमार के समान मोक्षसुख का स्थान बन जाता है ॥549॥

राजा चेटक, चेलना, जीवन्धर चरित

पर्व - 75

कथा :

अथानन्तर-किसी दूसरे दिन समस्त भव्य जीवों को प्रसन्न करनेवाले और प्रकट तेजके धारक गौतम गणधर विपुलाचलपर विराजमान थे । उनके समीप जाकर राजा श्रेणिकने समस्त आर्यिकाओंकी स्वामिनी चन्दना नाम की आर्यिकाकी इस अजन्मसम्बन्धी कथा पूछी सो अनेक बड़ी बड़ी ऋद्धियोंको धारण करने वाले गणधर देव इस प्रकार कहने लगे ॥1-2॥

सिन्धु नामक देश की वैशाली नगरी में चेटक नाम का अतिशय प्रसिद्ध, विनीत और जिनेन्द्र देवका अतिशय भक्त राजा था । उसकी रानीका नाम सुभद्रा था । उन दोनोंके दश पुत्र हुए जो कि धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, पतंगक, प्रभञ्जन और प्रभास नाम से प्रसिद्ध थे तथा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके समान जान पड़ते थे ॥3-5॥

इन पुत्रों के सिवाय सात ऋद्धियोंके समान सात पुत्रियां भी थीं । जिनमें सबसे बड़ी प्रियकारिणी थी, उससे छोटी मृगावती, उससे छोटी, सुप्रभा, उससे छोटी प्रभावती, उससे छोटी चेलिनी, उससे छोटी ज्येष्ठा और सबसे छोटी चन्दना थी । विदेह देशके कुण्डनगर में नाथ वंशके शिरोमणि एवं तीनों सिद्धियों से सम्पन्न राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे । पुण्य के प्रभाव से प्रियकारिणी उन्हींकी स्त्री हुई थी ॥6- 8॥

वत्सदेश की कौशाम्बीनगरी में चन्द्रवंशी राजा शतानीक रहते थे । मृगावती नाम की दूसरी पुत्री उनकी स्त्री हुई थी ॥9॥

दशार्ण देशके हेमकच्छ नामक नगर के स्वामी राजा दशरथ थे जो कि सूर्यवंश रूपी आकाशके चन्द्रमा के समान जान पड़ते थे । सूर्यकी निर्मलप्रभाके समान सुप्रभा नाम की तीसरी पुत्री उनकी रानी हुई थी, कच्छदेश की रोरूका नामक नगरी में उदयन नाम का एक बड़ा राजा था । प्रभावती नाम की चौथी पुत्री उसीकी हृदयवल्लभा हुई थी । अच्छी तरह शीलव्रत धारण करनेसे इसका दूसरा नाम शीलवती

भी प्रसिद्ध हो गया था ॥10-12॥

गान्धार देशके महीपुर नगर में राजा सत्यक रहता था । उसने राजा चेटकसे उसकी ज्येष्ठा नाम की पुत्रीकी याचना की परन्तु राजा ने नहीं दी इससे उस दुर्बुद्धि मूर्खने कुपित होकर रणांगणमें युद्ध किया परन्तु युद्धमें वह हार गया जिससे मानभंग होनेसे लज्जित होने के कारण उसने शीघ्रही दमवर नामक मुनिराज के समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥13-14॥

तदन्तर महाराज चेटकने स्नेहके कारण सदा देखनेके लिए पट्टकपर अपनी सातों पुत्रियोंके उत्तर चित्र बनवाये । चेलिनीके चित्रमें जाँघपर एक छोटा-सा बिन्दु पड़ा हुआ था उसे देखकर राजा चेटक बनानेवालेपर बहुत कुपित हुए । चित्रकारने नम्रतासे उत्तर दिया कि हे पूज्य ! चित्र बनाते समय यहाँ बिन्दु पड़ गया था मैंने उसे यद्यपि दो तीन बार साफ किया परन्तु वह फिर-फिरकर पड़ता जाता था इसलिए मैंने अनुमानसे विचार किया कि यहाँ ऐसा चिह्न होगा ही । यह मानकर ही मैंने फिर उसे साफ नहीं किया है । चित्रकारकी बात सुनकर महाराज प्रसन्न हुए ॥15-18॥

राजा चेटक देव-पूजा के समय जिन-प्रतिमाके समीप ही अपनी पुत्रियोंका चित्रपट फैलाकर सदा पूजा किया करते थे ॥19॥

किसी एक समय राजा चेटक अपनी सेना के साथ मगध देशके राजगृह नगर में गये वहाँ उन्होंने नगर के बाह्य उपवन में डेरा दिया । स्नान करने के बाद उन्होंने पहले जिन-प्रतिमाओंकी पूजा की और उसके बाद समीपमें रखे हुए चित्रपटकी पूजा की । यह देखकर तूने समीपवर्ती लोगोंसे पूछा कि यह क्या है ? तब उन लोगोंने कहा कि हे राजन् ! ये राजाकी सातों पुत्रियोंके चित्रपट हैं इनमेंसे चार पुत्रियाँ तो विवाहित हो चुकी हैं परन्तु तीन अविवाहित हैं उन्हें यह अभी दे नहीं रहा है । इन तीनमें दो तो यौवनवती हैं और छोटी अभी बालिका हैं ! लोगों के उक्त वचन सुनकर तूने अपने मन्त्रियोंको बतलाया कि मेरा चित्त इन दोनों पुत्रियोंमें अनुरक्त हो रहा है । मन्त्री लोग भी इस कार्यको ले कर अभयकुमार के पास जाकर बोले कि तुम्हारे पिता चेटक राजाकी दो पुत्रियोंमें अनुरक्त हैं उन्होंने वे पुत्रियाँ माँगी भी हैं परन्तु अवस्था ढल जानेके कारण वह देता नहीं है ॥20-25॥

यह कार्य अवश्य करना है इसलिए कोई उपाय बतलाइये । मन्त्रियोंके वचन सुनकर उस कार्यके उपाय जानने में चतुर अभयकुमार ने कहा कि आप लोग चुप बैठिये, मैं इस कार्यको सिद्ध करता हूँ । इस प्रकार संतुष्ट कर अभयकुमार ने मन्त्रियोंको बिदा किया और स्वयं एक पटियेपर राजा श्रेणिकका विलास पूर्ण चित्र बनाया । उसे वस्त्रसे ढककर बड़े यत्र से ले गया । राजा के समीपवर्ती लोगों को घूस दे कर उसने अपने वश कर लिया और स्वयं वोद्रक नाम का व्यापारी बनकर राजा चेटकके घर में प्रवेश किया । वहाँ वे दोनों कन्याएं वोद्रकके हाथमें स्थित पटियेपर लिखा हुआ आपका रूप देखकर आपमें प्रेम करने लगीं । कुमार ने एक सुरंगका मार्ग पहलेसे ही तैयार करवा लिया था अतः वे कन्याएं बड़े साहसके साथ उस मार्गसे चल पड़ी । चेलिनी कुटिल थी इसलिए कुछ दूर जानेके बाद ज्येष्ठासे बोली कि मैं आभूषण भूल आई हूँ तू जाकर उन्हें ले आ । यह कहकर उसने ज्येष्ठाको तो वापिस भेज दिया और स्वयं अभयकुमार के साथ आ गई ॥ 26-31॥

जब ज्येष्ठा आभूषण ले कर लौटी तो वहाँ चेलनी तथा अभयकुमार को न पाकर बहुत दुःखी हुई और कहने लगी कि चेलिनीने मुझे इस तरह ठगा है । अन्त में उसने अपनी मामी यशस्वती नाम की आर्यिकाके पास जाकर जैन धर्म का उपदेश सुना और संसार से विरक्त हो कर पार्ष्णिका नाश करने वाली दीक्षा धारण कर ली ॥32-33॥

आपने भी बड़ी प्रीतिसे विधिपूर्वक चेलनाके साथ विवाह कर उसे महादेवीका पट्ट बाँधा जिससे वह बहुत ही सन्तुष्ट हुई ॥34॥

इधर उत्तम व्रत धारण करने वाली चन्दनाने स्वयं यशस्वती आर्यिकाके समीप जाकर सम्यग्दर्शन और श्रावकोंके व्रत ग्रहण कर लिये ॥ 35॥

किसी एक समय वह चन्दना अपने परिवारके लोगों के साथ अशोक नामक वन में क्रीड़ा कर रही थी । उसी समय दैवयोगसे विजयाथर्व पर्वत की दक्षिण श्रेणीके सुवर्णाभ नगरका राजा मनोवेग विद्याधर अपनी मनोवेगा रानी के साथ स्वच्छन्द क्रीड़ा करता हुआ वहाँ से निकला और क्रीड़ा करती हुई चन्दना को देखकर कामके द्वारा छोड़ हुए बाणोंसे जर्जरशरीर हो गया । वह शीघ्र ही अपनी स्त्रीको घर भेजकर रूपिणी विद्यासे अपना दूसरा रूप बनाकर सिंहासनपर बैठा आया और अशोक वन में आकर तथा चन्दना को लेकर शीघ्र ही वापिस चला गया । उधर मनोवेगा उसकी मायाको जान गई जिससे क्रोधके कारण उसके नेत्र लाल हो कर भयंकर दिखने लगे । उसने उस विद्या देवताको बायें पैरकी ठोकर देकर मार दिया जिससे वह अट्टहास करती हुई सिंहासनसे उसी समय चली गई ॥36-41॥

तदनन्तर वह मनोवेगा रानी आलोकिनी नाम की विद्यासे अपने पतिकी सब चेष्टा जानकर उसके पीछे दौड़ी और आधे मार्ग में चन्दना सहित लौटते हुए पतिको देखकर बोली कि यदि अपना जीवन चाहते हो तो इसे छोड़ दो । इस प्रकार क्रोधसे उसने उसे बहुत ही डाँटा । मनोवेग अपनी स्त्रीसे बहुत ही डर गया । इसलिए उसने हृदय में बहुत ही शोककर सिद्ध की हुई पर्णलध्वी नाम की विद्यासे उस चन्दनाको भूतरमण नामक वन में ऐरावती नदी के दाहिने किनारेपर छोड़ दिया ॥42-44॥

पंच नमस्कार मन्त्रका जप करने में तत्पर रहने वाली चन्दनाने वह रात्रि बड़े कष्टसे बिताई । प्रातःकाल जब सूर्य का उदय हुआ तब भाग्यवश एक कालक नाम का भील वहाँ स्वयं आ पहुँचा । चन्दना ने उसे अपने बहुमूल्य देदीप्यमान आभूषण दिये और धर्म का उपदेश भी दिया जिससे वह भील बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । वहीं कहीं भीमकूट नामक पर्वत के पास रहनेवाला एक सिंह नाम का भीलों का राजा था, जो कि भयंकर नामक पल्लीका स्वामी था । उस कालक नामक भीलने वह चन्दना उसी सिंह राजा को सौंप दी । सिंह पापी था अतः चन्दनाको देखकर उसका हृदय काम से मोहित हो गया ॥45-48॥

वह क्रूर ग्रहके समान निग्रह कर उसे अपने आधीन करने के लिए उद्यत हुआ । यह देख उसकी माताने उसे समझाया कि हे पुत्र ! तू ऐसा मत कर, यह प्रत्यक्ष देवता है, यदि कुपित हो गई तो कितने ही संताप, शाप और दुःख देने वाली होगी । इस प्रकार माताके कहनेसे डरकर उसने स्वयं दुष्ट होने पर भी वह चन्दना छोड़ दी ॥49-50॥

तदनन्तर चन्दनाने उस भीलकी माताके साथ निश्चिन्त होकर कुछ काल वहीं पर व्यतीत किया । वहाँ भीलकी माता उसका अच्छी तरह भरण - पोषण करती थी ॥51॥

अथानन्तर - वत्स देशके कौशाम्बी नामक श्रेष्ठ नगर में एक वृषभसेन नाम का सेठ रहता था । उसके मित्रवीर नाम का एक कर्मचारी था जो कि उस भीलराज का मित्र था । भीलोंके राजा ने वह चन्दना उस मित्रवीरके लिए दे दी और मित्रवीरने भी बहुत भारी धनके साथ भक्तिपूर्वक वह चन्दना अपने सेठ के लिए सौंप दी । किसी एक दिन वह चन्दना उस सेठके लिए जल पिला रही थी उस समय उसके केशोंका कलाप छूट गया था और जलसे भीगा हुआ पृथिवीपर लटक रहा था उसे वह बड़े यत्नसे एक हाथसे संभाल रही थी ॥52-55॥ सेठकी स्त्री भद्रा नामक सेठानीने जब चन्दनाका वह रूप देखा तो वह शंकासे भर गई । उसने मन में समझा कि हमारे पतिका इसके साथ सम्पर्क है । ऐसा मानकर वह बहुत ही कुपित हुई । क्रोध के कारण उसके ओंठ काँपने लगे । उस दुष्टाने चन्दनाको साँकलसे बाँध दिया तथा खराब भोजन और ताड़न मारण आदिके द्वारा वह उसे निरन्तर कष्ट पहुँचाने लगी । परन्तु चन्दना यही विचार करती थी कि यह सब मेरे द्वारा किये हुए पाप - कर्म का फल है यह वेचारी सेठानी क्या कर सकती है ? ऐसा विचारकर वह निरन्तर आत्मनिन्दा करती रहती थी । उसने यह सब समाचार अपनी बड़ी बहिन मृगावतीके लिए भी कहलाकर नहीं भेजे थे ॥56-59॥

तदनन्तर किसी दूसरे दिन भगवान् महावीर स्वामीने आहारके लिए उसी नगरी में प्रवेश किया । उन्हें देख चन्दना बड़ी भक्ति से आगे बढ़ी । आते बढ़ते ही उसकी साँकल टूट गई और आभरणोंसे उसका सब शरीर सुन्दर दिखने लगा । उन्हींके भार से मानो उसने झुककर शिरसे पृथिवी तलका स्पर्श किया, उन्हें नमस्कार किया और विधिपूर्वक पूछगाह कर उन्हें भोजन कराया । इस आहार दानके प्रभाव से वह मानिनी बहुत ही सन्तुष्ट हुई, देवों ने उसका सम्मान किया, रत्नधारा की वृष्टि की, सुगन्धित फूल बरसाये, देव-दुन्दुभियोंका शब्द हुआ और दानकी स्तुतिकी घोषणा होने लगी सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्ट पुण्य अपने बड़े भारी फल तत्काल ही फलते हैं ॥60-63॥

तदनन्तर चन्दनाकी बड़ी बहिन मृगावती यह समाचार जानकर उसी समय अपने पुत्र उदयनके साथ उसके समीप आई और स्नेहसे उसका आलिंगन कर पिछला समाचार पूछने लगी तथा सब पिछला समाचार सुनकर बहुत ही व्याकुल हुई । तदनन्तर रानी मृगावती उसे अपने घर ले जाकर सुखी हुई । यह देख भद्रा सेठानी और वृषभसेन सेठ दोनों ही भय से घबड़ाये और मृगावतीके चरणों की शरणमें आये । दयालु रानीने उन दोनोंसे चन्दनाके चरण - कमलोंमें प्रणाम कराया ॥64-66॥

चन्दनाके क्षमाकर देनेपर वे दोनों बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि यह मानो मूर्तिमती क्षमा ही है । इस समाचारके सुनने से उत्पन्न हुए स्नेहके कारण चन्दनाके भाई - बन्धु भी उसके पास आ गये । उसी नगर में सबलोग महावीर स्वामी की वन्दनाके लिए गये थे, चन्दना भी गई थी, वहाँ वैराग्य उत्पन्न होनेसे उसने अपने सब भाई - बन्धुओं को छोड़कर दीक्षा धारण कर ली और तपश्चरण तथा सम्यग्ज्ञानके माहात्म्यसे उसने उसी समय गणिनीका पद प्राप्त कर लिया । इस प्रकार चन्दना वर्तमानके भवकी बात सुनकर राजा चेटकने फिर प्रश्न किया कि चन्दना पूर्व जन्ममें ऐसा कौन - सा कार्य करके यहाँ आई है । इसके उत्तरमें गणधर भगवान् कहने लगे । इसी मगध देशमें एक

वत्सा नाम की विशाल नगरी है। राजा प्रसेनिक उसमें राज्य करता था। उसी नगरी में एक अग्निमित्र नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी दो स्त्रियाँ थीं एक ब्राह्मणी और दूसरी वैश्यकी पुत्री। ब्राह्मणीके शिवभूति नाम का पुत्र हुआ और वैश्य पुत्रीके चित्रसेना नाम की लड़की उत्पन्न हुई ॥67-72॥

शिवभूतिकी स्त्री का नाम सोमिला था जो कि सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री थी और उसी नगर में एक देवशर्मा नाम का ब्राह्मण - पुत्र था उसे चित्रसेना व्याही गई थी ॥73॥

कितने ही दिन बाद जब अग्निभूति ब्राह्मण मर गया तब उसके स्थानपर उसका पुत्र शिवभूति ब्राह्मण अधिरूढ़ हुआ। इधर चित्रसेना विधवा हो गई इसलिए अपने पुत्रों के साथ शिवभूतिके घर आकर रहने लगी सो ठीक ही है क्योंकि कर्मोंकी गति बड़ी टेढ़ी है। शिवभूति, अपनी बहिन चित्रसेना और उसके पुत्रोंका जो भरण - पोषण करता था वह पापिनी सोमिलाको सहाय नहीं हुआ इसलिए शिवभूतिने उसे ताड़ना दी तब उसने क्रोधित होकर मिथ्या दोष लगाया कि यह मेरा भर्ता चित्रसेना के साथ जीवित रहता है **अर्थ**ात् इसका उसके साथ अनुराग है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि स्त्रियोंको कोई भी कार्य अकार्य नहीं है अर्थात् वे बुरासे बुरा कार्य कर सकती हैं इसलिए इन स्त्रियों को बार - बार धिक्कार हो। चित्रसेनाने भी क्रोधमें आकर निदान किया कि इसने मुझे मिथ्या दोष लगाया है। इसलिए मैं मरनेके बाद इसका निग्रह करूंगी - बदला लूंगी। तदनन्तर किसी एक दिन सोमिलाने शिवगुप्त नामक मुनिराज को पड़गाहकर आहार दिया जिससे शिवभूतिने सोमिलाके प्रति बहुत ही क्रोध प्रकट किया परन्तु उन मुनिराजका माहात्म्य कह कर सोमिलाने शिवभूतिको प्रसन्न कर लिया और उसनेभी उस दानकी अच्छी तरह अनुमोदना की। समय पाकर वह शिवभूति मरा और अत्यन्त रमणीय वंग देशके कान्तपुर नगर में वहाँके राजा सुवर्णवर्मा तथा रानी विद्युल्लेखाके महाबल नाम का पुत्र हुआ ॥74-81॥

इसी भरतक्षेत्रके अंग देश की चम्पा नगरी में राजा श्रीषेण राज्य करते थे। इनकी रानीका नाम धनश्री था, यह धनश्री कान्तपुर नगर के राजा सुवर्णवर्माकी बहिन थी। सोमिला उन दोनोंके कनकलता नाम की पुत्री हुई। जब यह उत्पन्न हुई थी तभी इसके माता - पिताने बड़े हर्ष से अपने आप यह निश्चय कर लिया था कि यह पुत्री महाबल कुमार के लिए देनी चाहिये और उसके माता - पिताने भी यह स्वीकृत कर लिया था। महाबलका लालन - पालन भी इसी चम्पा नगरी में मामाके घर बालिका कनकलताके साथ होता था। जब वह क्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ और यौवनका समय निकट आ गया तब मामाने कहा कि जबतक तुम्हारे विवाहका समय आता है तबतक तुम यहाँ से पृथक् रहो। मामाके यह कहनेसे महाबल यद्यपि बाहर रहने लगा तो भी वह कन्यामें सदा आसक्त रहता था। वे दोनों ही काम की अवस्था को सह नहीं सके इसलिए उन दोनोंका समागम हो गया ॥82-86॥

इस कार्यसे वे दोनों स्वयं ही लज्जित हुए और कान्तपुर नगरको चले गये। उन्हें देख, महाबल के माता - पिताने बड़े शोक से कहा कि चूंकि तुम दोनों विरूद्ध आचरण करने वाले हो अतः हम लोगों को अच्छे नहीं लगते। अब तुम किसी दूसरे देशमें चले जाओ यहाँ मत रहो। माता - पिता के ऐसा कहने पर वे उसी समय वहाँ से चले गये और प्रत्यन्तनगर में जाकर रहने लगे। किसी एक दिन वे दोनों उद्यानमें विहार कर रहे थे कि उनकी दृष्टि मुनिगुप्त नामक मुनिराजपर पड़ी। वे मुनिराज भिक्षाकी तलाशमें थे। महाबल और कनकलताने भक्तिपूर्वक उनके दर्शन किये, उठकर प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और विधिपूर्वक पूजा की। तदनन्तर उन दोनोंने अपने उपयोगके लिए तैयार किये हुए लड्डू आदि मिष्ट खाद्य पदार्थ, हर्ष पूर्वक उन मुनिराज के लिए दिये जिससे उन्होंने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ इच्छित नव प्रकार का पुण्य संचित किया। किसी एक दिन महाबल कुमार मधुमास चैत्रमासमें वन में घूम रहा था वहाँ एक विषैले साँपने उसे काट खाया जिससे वह शीघ्र ही मर गया। पतिको शरीर मात्र (मृत) देखकर उसकी स्त्री कनकलताने उसीकी तलवारसे आत्मघात कर लिया मानो उसे खोजने के लिए उसीकी पीछे ही चल पड़ी हो। आचार्य कहते हैं कि जो स्नेह अन्तिम सीमाको प्राप्त हो जाता है उसकी ऐसी ही दशा होती है ॥87-94॥

इसी भरत क्षेत्रके अवन्ति देशमें एक उज्जयिनी नाम का नगर है। प्रजापति महाराज उसका अनायास ही पालन करते थे ॥95॥

उसी नगर में धनदेव नाम का एक सेठ रहता था। उसकी धनमित्रा नाम की पतिव्रता सेठानी थी। महाबलका जीव उन दोनोंके नागदत्त नाम का पुत्र हुआ ॥96॥

इन्हीं दोनोंके **अर्थ**स्वामिनी नाम की एक पुत्री थी जो कि नागदत्तकी छोटी बहिन थी। पलाश द्वीप के मध्य में स्थित पलाश नगर में राजा महाबल राज्य करता था। कनकलता, इसी महाबल राजाकी कान्चनलता नाम की रानीसे पद्मलता नाम की प्रसिद्ध पुत्री हुई ॥97-98॥

किसी एक समय उज्जयिनी नगरी के सेठ धनदेवने दूसरी स्त्रीके साथ विवाहकर पहिली स्त्री धनमित्राको छोड़ दिया इसलिए वह अपने पुत्रसहित देशान्तर चली गई । एक समय ज्ञान उत्पन्न होने पर उसने शीलदत्त गुरूके पास श्रावक के व्रत ग्रहण किये और शास्त्रोंका अभ्यास करने के लिए अपना पुत्र उन्हीं मुनिराजको सौंप दिया ॥99-100॥

समय पाकर वह पुत्र भी अपनी बुद्धिरूपी नौकाके द्वारा शास्त्र रूपी समुद्रको पार कर गया । वह उत्तम कवि हुआ और शास्त्रोंकी व्याख्यासे सुयश प्राप्त करने लगा ॥101॥

वह नाना अलंकारोंसे मनोहर वचनों तथा प्रसादगुण पूर्ण सुभाषितोंसे विशिष्ट मनुष्यों के हृदयोंमें आह्लाद उत्पन्न कर देता था ॥102॥ वहाँ के कोटपालके पुत्र दृढरक्षके साथ मित्रताकर उसने उस नगर के शिष्ट मनुष्यों को शास्त्रोंकी व्याख्या सुनाई जिससे उपाध्याय पद प्राप्तकर बहुत - सा धन कमाया तथा अपनी माता, बहिन और अपने आपको पोषण किया ॥103-104॥

नन्दी नामक गाँवमें रहने वाले कुलवाणिज नाम के अपनी मामीके पुत्र के साथ उसने बड़े आदरसे अपनी छोटी बहिनका विवाह कर दिया ॥105॥

किसी एक दिन उसने बहुतसे श्लोक सुनाकर राजा के दर्शन किये और राजाकी प्रसन्नतासे बहुत भारी सम्मान, धन तथा हर्ष प्राप्त किया ॥ 106॥

किसी एक दिन मातासे पूछकर वह अपने पिता के पास आया और उनके चरण - कमलों को प्रणामकर खड़ा हो गया । सेठ धनदेवने उसे देखकर 'हे पुत्र चिरंजीव रहो, यहाँ बैठो' इत्यादि प्रिय वचन कहकर उसे सन्तुष्ट किया । तदनन्तर नागदत्तने अपने भागकी रत्नादि वस्तुएं माँगी ॥107-108॥

इसके उत्तरमें पिताने कहा कि 'हे पुत्र मेरी सब वस्तुएं पलाशद्वीप के मध्य में स्थित पलाश नामक नगर में रखी हैं सो तू लाकर ले ले' । पिता के ऐसा कहनेपर वह अपने हिस्सेदार नकुल और सहदेव नामक भाइयोंके साथ नावपर बैठकर समुद्र के भीतर चला । चलते समय उसने यह आकांक्षा प्रकट की कि यदि मेरी इष्टसिद्धि हो गई तो मैं लौटकर जिनेन्द्रदेवकी पूजा करूँगा । ऐसी इच्छाकर उसने बार - बार जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की और पिताको नमस्कारकर चला । वह चलकर शीघ्र ही पलाशपुर नगर में जा पहुँचा । वहाँ उसने अपना जहाज खड़ाकर देखा कि यह नगर मनुष्यों के संचारसे रहित है । यह देख वह आश्चर्य करने लगा कि यह नगर ऐसा क्यों है ? तदनन्तर लम्बी रस्सी फेंककर उनके आशयसे वह उस नगर के भीतर पहुँचा ॥109-113॥

नगर के भीतर प्रवेशकर उसने एक जगह अकेली बैठी हुई एक कन्याको देखा और उससे पूछा कि यह नगर ऐसा क्यों हो गया है ? तथा तू स्वयं कौन है ? सो कह । इसके उत्तरमें वह कन्या आदरके साथ कहने लगी कि 'पहले इस नगर के स्वामी का कोई भागीदार था जो अत्यन्त क्रोधी था और राक्षस विद्या सिद्ध होने के कारण 'राक्षस' इस नाम को ही प्राप्त हो गया था । उसीने क्रोधवश नगरको और नगर के राजा को समूल नष्ट कर दिया था । तदनन्तर उसके वंश में होने वाले किसी पुरुषने मन्त्रपूर्वक तलवार सिद्ध की थी और उसी तलवारके प्रभाव से उसने इस नगरको सुरक्षित कर फिरसे बसाया है ॥114-117॥

इस समय इस नगरका राजा महाबल है और उसकी रानीका नाम कान्चनलता है । मैं इन्हीं दोनों की पद्मलता नाम की पुत्री हुई थी ॥ 118॥

मेरा पिता उस मंत्रसाधित तलवारको कभी भी अपने हाथसे अलग नहीं करता था परन्तु प्रमादसे एक बार उसे अलग रख दिया और छिद्र देखकर राक्षसने उसे मार डाला जिससे यह नगर फिरसे सूना हो गया है । उसने मुझे अपनी पुत्रीके समान माना अतः वह मुझे बिना मारे ही चला गया । अब वह मुझे लेने के लिए फिर आवेगा' । कन्याकी बात सुनकर वह वैश्य उस तलवारको लेकर नगर के गोपुर (मुख्य द्वार) में जा छिपा और जब वह विद्याधर आया तब उसे मार दिया । वह विद्याधर भी उसी समय पञ्चनमस्कार मन्त्रका पाठ करता हुआ चित्त स्थिरकर पृथिवीपर गिर पड़ा ॥119-122॥

पञ्चनमस्कार पदको सुनकर नागदत्त विचार करने लगा कि हाय, मैंने यह सब पाप व्यर्थ ही किया है । उसने झट अपनी तलवार फेंक दी और उस घाव लगे विद्याधरसे पूछा कि तेरा धर्म क्या है ? इसके उत्तरमें विद्याधरने कहा कि, मैं भी श्रावकका पुत्र हूँ, मैंने यह कार्य क्रोधसे ही किया है ॥123-124॥

देखो क्रोधसे मित्र शत्रु हो जाता है, क्रोधसे धर्म नष्ट हो जाता है, क्रोधसे राज्य भ्रष्ट हो जाता है और क्रोधसे प्राण तक छूट जाते हैं ।

क्रोधसे माता भी क्रोध करने लगती है और क्रोधसे अधोगति होती है इसलिए कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको सदाके लिए क्रोध करना छोड़ देना चाहिये ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है । मैं जानता हुआ भी क्रोधके वशीभूत हो गया था सो उसका फल मैंने अभी प्राप्त कर लिया अब परलोक की बात क्या कहना है ? इस प्रकार अपनी निन्दा करता हुआ वह विद्याधर नागदत्तसे बोला कि आप यहाँ कहाँसे आये हैं ? इसके उत्तरमें वैश्यने कहा कि मैं एक पाहुना हूँ और इस कन्याको शोक से विल्लल देखकर तेरे भय से इसकी रक्षा करने के लिए यह पराक्रम कर बैठा हूँ ॥125-129॥

तू 'धर्म भक्त है' यह जाने बिना ही मैं यह ऐसा कार्य कर बैठा हूँ और मैंने जिनेन्द्रदेव के शासन में कहे हुए सारभूत धर्म - वात्सल्यको छोड़ दिया है ॥130॥

हे भव्य ! जैन शासन की मर्यादा का उल्लंघन करने वाले मेरे इस अपराधको तू क्षमा कर । नागदत्तकी कही हुई यह सब समझकर वह विद्याधर कहने लगा कि इसमें आपने क्या किया है यह मेरे ही पूर्वोपाजित कर्म का विशिष्ट उदय है । इस प्रकार नागदत्तके द्वारा कहे हुए पन्च-नमस्कार मन्त्र की भावना करता हुआ विद्याधर स्वर्गको प्राप्त हुआ । तदनन्तर पद्मलता कन्या और पिता के कमाये हुए धनको खींचनेकी रस्सीसे उतारकर जहाजपर पहुँचाया तथा सहदेव और नकुल भाईको भी जहाजपर पहुँचाया । नकुल और सहदेवने जहाज पर पहुँचकर पाप बुद्धिसे खींचनेकी वह रस्सी नागदत्तको नहीं दी और दोनों भाई अकेले ही उस नगरसे चलकर शीघ्र ही अपने नगर जा पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि छिद्र पाकर ऐसा कौन - सा कार्य है जिसे दायद - भागीदार न कर सकें ॥131-135॥

उन दोनों भाइयों को देखकर वहाँ के राजा तथा अन्य लोगों को कुछ शंका हुई और इसीलिए उन सबने पूछा कि तुम दोनोंके साथ नागदत्त भी तो गया था वह क्यों नहीं आया ? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि यद्यपि नागदत्त हम लोगों के साथ ही गया था परन्तु वह वहाँ जाकर कहीं अन्यत्र चला गया इसलिए हम उसका हाल नहीं जानते हैं । इस प्रकार उन दोनोंने भाई होकर भी नागदत्तके छोड़नेकी बात छिपा ली ॥136-137॥

पुत्र के न आनेकी बात सुनकर नागदत्तकी माता बहुत व्याकुल हुई और उसने श्री शीलदत्त गुरु के पास जाकर अपने पुत्रकी कथा पूछी ॥ 138॥

उसकी व्याकुलता देख मुनिराजका हृदय दया से भर आया अतः उन्होंने सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्रसे देखकर उसे आश्वासन दिया कि तू डर मत, तेरा पुत्र किसी विघ्नके विना शीघ्र ही आवेगा । इधर नागदत्तने एक जिन - मन्दिर देखकर उसकी कुछ प्रदक्षिणा दी और मैं यहाँ बैठूँगा इस विचारसे उसके भीतर प्रवेश किया । भीतर जाकर उसने भगवान् की स्तुति पढ़ी और फिर चिन्तातुर हो कर वह वहीं बैठ गया ॥ 139-141॥

दैवयोगसे वहीं पर एक जैनी विद्याधर आ निकला । नागदत्तको देखकर उसने सब समाचार मालूम किये और फिर उसे धन सहित इस द्वीप के मध्यसे निकालकर मनोहर नाम के वन में जा उतारा । तदनन्तर उसे वहाँ अच्छी तरह ठहराकर और बड़े आदरसे पूछकर वह विद्याधर अपने इच्छित स्थान पर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषोंकी धर्म - वत्सलता यही कहलाती है ॥142-143॥

उस मनोहर वनके समीप ही नन्दीग्राममें नागदत्तकी छोटी बहिन रहती थी इसलिए वह वहाँ पहुँचा और अपना सब धन उसके पास रखकर अच्छी तरह रहने लगा ॥144॥

कुछ समय बाद उसकी बहिनके ससुर आदि बड़े स्नेहसे नागदत्तके पास आकर कहने लगे कि हे कुमार ! नई आई हुई कन्याको सेठ अपने नकुल पुत्र के लिए ग्रहण करना चाहता है इसलिए उसके हम सबको बुलाया है परन्तु निर्धन होनेसे हम सब खाली हाथ वहाँ कैसे जावेंगे ? यह विचारकर हम सभी लोग आज अत्यन्त व्याकुलचित्त हो रहे हैं । उनकी बात सुनकर नागदत्तने अपने रत्नोंके समूहमें से निकालकर अच्छे - अच्छे अनेक रत्न प्रसन्नतासे उन्हें दिये और साथ ही यह कहकर एक रत्नमयी अंगूठी भी दी कि तुम मेरे आनेकी खबर देकर उस कन्याके लिए यह अंगूठी दे देना ! यही नहीं, नागदत्त, स्वयं भी उनके साथ गया । वहाँ जाकर उसने पहले शीलदत्त मुनिराजकी वन्दना की । तदनन्तर अपने मित्र कोतवालके पुत्र दृढरक्षके पास पहुँचा । वहाँ उसने प्रारम्भसे लेकर सब कथा दृढरक्ष को कह सुनाई । फिर उसीके साथ जाकर अच्छे - अच्छे रत्नों की भेंट देकर बड़ी प्रसन्नतासे राजा के दर्शन किये ॥145-150॥

उसे देखकर महाराजने पूछा कि अहो नागदत्त ! तुम कहाँसे आ रहे हो और कहाँ चले गये थे ? राजाकी बात सुनकर नागदत्त बड़ा संतुष्ट हुआ । उसने अपना हिस्सा मांगने और उसके लिए यात्रा करने आदिके सब समाचार आदिसे लेकर अन्ततक कह सुनाये । उन्हें सुनकर

राजा बहुत ही कुपित हुआ और सेठका निग्रह करने के लिए तैयार हो गया परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है यह कह कर आग्रहपूर्वक नागदत्तने राजा को मना कर दिया । राजा ने बहुत - सा अच्छा धन देकर नागदत्तको सेठका पद दिया और विधिपूर्वक विवाहकर वह पद्मलता कन्या भी उसे सौंप दी । तदनन्तर राजा ने अपनी सभा में स्पष्ट रूप से कहा कि देखो, पुण्यका कैसा माहात्म्य है ? यह नागदत्त राक्षस आदि अनेक विघ्नोंसे बचकर और श्रेष्ठ रत्नोंको अपने आधीन कर सुखपूर्वक यहाँ आ गया है ॥151-155॥

इसलिए कहना पड़ता है कि पुण्य से अग्नि जल हो जाती है, पुण्य से विष भी अमृत हो जाता है, पुण्य से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, पुण्य से सब प्रकार के भय शान्त हो जाते हैं, पुण्य से निर्धन मनुष्य भी धनवान् हो जाते हैं और पुण्य से स्वर्ग भी प्राप्त होता है इसलिए आपत्तिरहित सम्पदाकी इच्छा करने वाले पुरुषोंको श्रीजिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्मशास्त्रके अनुसार सब क्रियाएं कर पुण्यका बंध करना चाहिये ! राजाका यह उपदेश सभाके सब लोगोंने अपने हृदय में धारण किया ॥156-158॥

तदनन्तर सेठको भी बहुत पश्चात्ताप हुआ वह उसी समय 'हे कुमार ! क्षमा करो' यह कहकर अपने अन्य पुत्रों तथा स्त्री सहित प्रणाम करने लगा परन्तु नागदत्तने उसे ऐसा नहीं करने दिया और उठाकर प्रिय वचनों से उसे सन्तुष्ट कर दिया । तदनन्तर उस बुद्धिमान् ने यात्राके पहले कही हुई जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की ॥159-160॥

इस प्रकार सबने श्रावकका उत्तम धर्म स्वीकृत किया, सबके हृदयोंमें परस्पर मित्रता हो गई और दान पूजा आदि उत्तम कार्योंसे सबका समय व्यतीत होने लगा । आयु के अन्त में नागदत्तने संन्यास पूर्वक प्राण छोड़े जिससे वह सौधर्म स्वर्ग में बड़ा देव हुआ ॥161-162॥ स्वर्गके श्रेष्ठ भोगों का उपभोगकर वह वहाँसे च्युत हुआ और इसी भरतक्षेत्रके विजयार्थ पर्वत पर शिवंकर नगर में विद्याधरोंके स्वामी राजा पवनवेगकी रानी सुवेगासे यह अत्यन्त सुखी मनोवेग नाम का पुत्र हुआ है । दूसरे जन्म के बढ़ते हुए स्नेहसे विवश होकर ही इसने चन्दनाका हरण किया था सो ठीक ही है क्योंकि भारी स्नेह कुमार्ग में ले ही जाता है ॥163-165॥

यह निकट-भव्य है और इसी जन्ममें दिगम्बर मुद्रा धारणकर मोक्ष पद प्राप्त करेगा ॥166॥

नागदत्त की छोटी बहिन अर्थस्वामिनी स्वर्गलोकसे आकर यहाँ महाकान्ति को धारण करने वाली मनोवेगा हुई है ॥167॥

जो विद्याधर पलाशनगर में नागदत्त के हाथ से मारा गया था वह स्वर्ग से आकर तू सोमवंश में राजा चेटक हुआ है ॥168॥

धनमित्रा नाम की जो नागदत्तकी माता थी वह स्वर्ग गई थी और वहाँ से च्युत होकर मनको प्रिय लगनेवाली वह तेरी सुभद्रा रानी हुई है ॥ 169॥

जो नागदत्तकी स्त्री पद्मलता थी वह अनेक उपवासकर स्वर्ग गई थी और वहाँ से आकर यह चन्दना नाम की तेरी पुत्री हुई है ॥170॥

नकुल संसार में भ्रमणकर सिंह नाम का भील हुआ है उसने पूर्व जन्म के स्नेह और वैरके कारण ही चन्दनाको तंग किया था ॥171॥

सहदेव भी संसार में चिरकाल तक भ्रमणकर कौशाम्बी नगरी में मित्रवीर नाम का बुद्धिमान् वैश्यपुत्र हुआ है जो कि वृषभसेनका सेवक है और उसीने यह चन्दना वृषभसेन सेठके लिए समर्पित की थी । नागदत्तका पिता सेठ धनदेव शान्तचित्तसे मरकर स्वर्ग गया था और वहाँ से आकर कौशाम्बी नगरी में अनेक गुणों से युक्त श्रीमान् वृषभसेन नाम का सेठ हुआ है ॥172-174॥

चित्रसेनाने सोमिलासे द्वेष किया था इसलिए वह चिरकालतक संसार में भ्रमण करती रही । तदनन्तर कुछ शान्त हुई तो कौशाम्बी नगरी में वैश्यपुत्री हुई और भद्रा नाम से प्रसिद्ध होकर वृषभसेनकी पत्नी हुई है । निदानके समय जो उसने वैर किया था उसी से उसने चन्दनाका निग्रह किया था - उसे कष्ट दिया था ॥175-176॥

यह चन्दना अच्युत स्वर्ग जायगी और वहाँ से वापिस आकर शुभ कर्म के उदय से पुंवेदको पाकर अवश्य ही परमात्मपद - मोक्षपद प्राप्त करेगी ॥177॥

इस प्रकार बन्धके साधनोंमें जो मिथ्यादर्शन आदि पाँच प्रकार के भाव कहे गये हैं उनके निमित्त से संचित हुए कर्मोंके द्वारा ये जीव द्रव्य क्षेत्र आदि परिवर्तनोंको प्राप्त होते रहते हैं । ये पाँच प्रकारसे परिवर्तन ही संसार में सबसे भयंकर दुःख हैं । खेदकी बात है कि ये प्राणी निरन्तर इन्हीं पन्च प्रकार के दुःखोंको पाते हुए यमराज के मुंहमें जा पड़ते हैं ॥178-179॥

फिर ये ही जीव, काललब्धि आदिका निमित्त पाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्प रूप मोक्ष के उत्कृष्ट साधन पाकर पुण्य कर्म करते हुए सात परमस्थानोंमें परम ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं और यथा क्रम से अनन्त सुख के भाजन होते हैं ॥180-181॥

इस प्रकार वह सब सभा गौतम स्वामी की पुण्य रूपी लक्ष्मी से युक्त ध्वनि रूपी रसायनसे उसी समय अजर - अमरके समान हो गई ॥

अथानन्तर-किसी दूसरे दिन महाराज श्रेणिक गन्धकुटी के बाहर देदीप्यमान चारों वनोंमें बड़े प्रेम से घूम रहे थे । वहीं पर एक अशोक वृक्ष के नीचे जीवन्धर मुनिराज ध्यानारूढ हो कर विराजमान थे । महाराज श्रेणिक उन्हें देखकर उनके रूप आदिमें आसक्तचित्त हो गये और कौतुकके साथ भीतर जाकर उन्होंने सुधर्म गणधरदेवकी बड़ी भक्ति से पूजा वन्दना की तथा यथायोग्य स्थानपर बैठ हाथ भीतर जाकर उन्होंने सुधर्म गणधरदेवकी बड़ी भक्ति से पूजा वन्दना की तथा यथायोग्य स्थानपर बैठ हाथ जोड़कर बड़ी विनय से उनसे पूछा कि हे भगवन् ! जो मानो आज ही समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जावेंगे ऐसे ये मुनिराज कौन हैं ? ॥183-186॥

इसके उत्तरमें चार ज्ञान के धारक सुधर्माचार्य निम्न प्रकार कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके चरित्रको कहने वाले और सुनने वाले - दोनोंके ही चित्तमें खेद नहीं होता है ॥187॥

वे कहने लगे कि हे श्रेणिक ! सुन, इसी जम्बू वृक्ष से सुशोभित होने वाली पृथिवीपर एक हेमांगद नाम का देश है और उसमें राजपुर नाम का एक शोभायमान नगर है । उसमें चन्द्रमा के समान सबको आनन्दित करने वाला सत्यन्धर नाम का राजा था और दूसरी विजयलक्ष्मी के समान विजया नाम की उसकी रानी थी ॥188-189॥

उसी राजा के सब कामोंमें निपुण काष्ठांगारिक नाम का मन्त्री था और दैवजन्य उपद्रवोंको नष्ट करने वाला रूद्रदत्त नाम का पुरोहित था ॥ 190॥

किसी एक दिन विजया रानी घर के भीतर सुख से सो रही थी वहाँ उसने बड़ी प्रसन्नतासे रात्रिके पिछले पहरमें दो स्वप्न देखे । पहला स्वप्न देखा कि राजा ने सुवर्ण के आठ घंटोंसे सुशोभित अपना मुकुट मेरे लिए दे दिया है और दूसरा स्वप्न देखा कि मैं अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हूँ परन्तु उस अशोक वृक्ष की जड़ किसी ने कुल्हाड़ीसे काट डाली है और उसके स्थानपर एक छोटा अशोकका वृक्ष उत्पन्न हो गया है । स्वप्न देखकर उनका फल जानने के लिए वह राजा के पास गई ॥191-193॥

और बड़ी विनयके साथ राजा के दर्शन कर स्वप्नों का फल पूछने लगी । इसके उत्तरमें राजा ने कहा कि तू मेरे मरनेके बाद शीघ्र ही ऐसा पुत्र प्राप्त करेगी जो आठ लाखोंको पाकर अन्त में पृथिवी का भोक्ता होगा । स्वप्नों का प्रिय और अप्रिय फल सुनकर रानीका चित्र शोक तथा दुःखसे भर गया । उसकी व्यग्रता देख राजा ने उसे अच्छे शब्दोंसे संतुष्ट कर दिया । तदनन्तर दोनोंका काल सुख से व्यतीत होने लगा । इसके बाद किसी पुण्यात्मा देवका जीव स्वर्गसे च्युत होकर रानी के गर्भरूपी गृहमें आया और इस प्रकार सुख से रहने लगा जिस प्रकार कि शरदऋतुके कमलोंके सरोवरमें राजहंस रहता है ॥194-197 ।

अथानन्तर किसी दूसरे दिन उसी नगर में रहनेवाले गन्धोत्कट नाम के धनी सेठने मनोहर नामक उद्यानमें तीन ज्ञान के धारी शीलगुप्त नामक मुनिराज के दर्शनकर विनय से उन्हें नमस्कार किया और पूछा कि हे भगवन् ! पाप कर्म के उदय से मेरे बहुतसे अल्पायु पुत्र हुए हैं क्या कभी दीर्घायु पुत्र भी होंगे ? ॥198-200॥

इस प्रकार पूछनेपर दयालुतावश मुनिराजने कहा कि हाँ तुम भी चिरजीवी पुत्र प्राप्त करोगे ॥201॥

हे वैश्य वर ! चिरजीव पुत्र प्राप्त होनेका चिह्न यह है, इसे तू अच्छी तरह सुन तथा जो पुत्र तुझे प्राप्त होगा वह भी सुन । तेरे एक मृत पुत्र होगा उसे छोड़ने के लिए तू वन में जायगा । वहाँ तू किसी पुण्यात्मा पुत्रको पावेगा । वह पुत्र समस्त पृथिवी का उपभोगकर विषय सम्बन्धी सुखोंसे संतुष्ट होगा और अन्त में समस्त कर्मों को नष्टकर मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करेगा । जिस समय उक्त मुनिराज गन्धोत्कट सेठसे ऊपर लिखे वचन कह रहे थे उस समय वहाँ एक पक्षी भी बैठी थी । मुनिराज के वचन सुनकर पक्षीके मन में होन हार राजपुत्रकी माताका उपकार करने की इच्छा हुई । निदान, जब राजपुत्रकी उत्पत्तिका समय आया तब वह यक्षी उसके पुण्य से प्रेरित होकर राजकुलमें गई और एक गरूड यन्त्रका रूप बनाकर पहुँची । सो ठीक ही है क्योंकि पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से प्रायः देवता भी समीप आ जाते हैं ॥

201-206॥

तदनन्तर सब जीवों को सुख देने वाला वसन्तका महीना आ गया । किसी एक दिन अहित करने वाला रूद्रदत्त नाम का पुरोहित प्रातःकाल के समय राजा के घर गया । वहाँ रानीको आभूषणरहित बैठी देखकर उसने आदरके साथ पूछा कि राजा कहाँ हैं ? ॥207-208॥

रानीने भी उत्तर दिया कि राजा सोये हुए हैं इस समय उनके दर्शन नहीं हो सकते । रानी के इन वचनों को ही अपशकुन समझता हुआ वह

वहाँसे लौट आया और सूर्योदयके समय काष्ठांगारिक मन्त्रीके घर जाकर उससे मिला । उस पापबुद्धि पुरोहितने एकान्तमें काष्ठांगारिकसे कहा कि यह राज्य तेरा हो जावेगा तू राजा को मार डाल । पुरोहितकी बात सुनकर काष्ठांगारिकने कहा कि मैं तो राजाका नौकर हूँ, राजा ने ही मुझे मन्त्रीके पदपर नियुक्त किया है । यद्यपि यह राजा अकृतज्ञ है – मेरा किया हुआ उपकार नहीं मानता है तो भी मैं यह अपकार कैसे कर सकता हूँ ? ॥209-212॥

हे रूद्रदत्त ! तू ने बुद्धिमान् हो कर भी यह अन्यायकी बात क्यों कही । यह कहकर उसने भयभीत हो अपने कान ढक लिये ॥213॥ काष्ठांगारिकके ऐसे वचन सुनकर पुरोहितने कहा कि इस राजा के जो पुत्र होने वाला है वह तेरा प्राणघातक होगा इसलिए इसका प्रतिकार कर ॥214॥

इतना कह कर रूद्रदत्त शीघ्र ही अपने घर चला गया और इस पाप के उदय से रोगपीडित हो तीसरे दिन मर गया तथा चिरकाल तक दुःख देने वाली नरकगतिमें जा पहुँचा । इधर दुष्ट आशयवाले काष्ठांगारिक मन्त्री ने सद्रदत्तके कहनेसे अपनी मृत्युकी आशंका कर राजा को मारनेकी इच्छा की । उसने धन देकर दो हजार शूरवीर राजाओं को अपने आधीन कर लिया था । वह उन्हें साथ लेकर युद्धके लिए तैयार किये हुए हाथियों और घोड़ोंके साथ राज - मन्दिरकी ओर चला । जब राजा को इस बात का पता चला तो उसने शीघ्र ही रानीको गरुडयन्त्र पर बैठाकर प्रयत्न पूर्वक वहाँ से दूर कर दिया । काष्ठांगारिक मन्त्री ने पहले जिन राजाओं को अपने वश कर लिया था उन राजाओंने जब राजा सत्यन्धरको देखा तब वे मन्त्रीको छोड़कर राजा के आधीन हो गये । राजा ने उन सब राजाओं के साथ कुपित होकर मन्त्रीपर आक्रमण किया और उसे शीघ्र ही युद्धमें जीतकर भयके मार्गपर पहुँचा दिया – भयभीत बना दिया ॥215-220॥

इधर काष्ठांगारिकके पुत्र कालांगारिकने जब युद्धमें अपने पिताकी हारका समाचार सुना तब वह बहुत ही कुपित हुआ और युद्धके लिए तैयार खड़ी बहुत सी सेना लेकर अकस्मात् आ पहुँचा । पापी काष्ठांगारिक भी उसीके साथ जा मिला । अन्त में वह युद्धमें राजा को मारकर उसके राज्य पर आरूढ़ हो गया ॥221-222॥

उस नीच मन्त्री ने विष मिले हुए भोजनके समान, कृतघ्न मित्र के समान अथवा हिंसक धर्मके समान दुःख देने वाला वह राज्य प्राप्त किया था ॥223॥

इधर विजया महादेवी गरुड यन्त्रपर बैठकर चली । शोक रूपी अग्निसे उसका सारा शरीर जल रहा था और वह रो रही थी परन्तु यक्षी उसकी रक्षा कर रही थी ॥224॥

इस प्रकार चलकर वह विजया रानी उस श्मशानभूमिमें जा पहुँची जहाँ घावोंके अग्रभागसे निकलती हुई खूनकी धाराओंसे शूल भींग रहे थे, शूल छिद जाने से उत्पन्न हुई वेदनासे जिनके प्राण निकल गये हैं तथा जिनके मुख नीचेकी ओर लटक गये हैं ऐसे चोर जहाँ नाना प्रकार के शब्द कर रहे थे । कहींपर डाकिनियाँ अधजले मुरदेको अग्निमें खींचकर और तीक्ष्ण छुरियों से खण्ड खण्ड कर खा रही थीं । ऐसी डाकिनियों से वह श्मशान सब ओर से व्याप्त था ॥225-227॥

उस श्मशानमें यक्षी रातभर उसकी रक्षा करती रही जिससे उसे रन्ध्रमात्र भी कोई बाधा नहीं हुई । जिस प्रकार आकाश चन्द्रमा को प्राप्त करता है उसी प्रकार उस रानीने उसी रात्रिमें एक सुन्दर पुत्र प्राप्त किया ॥228॥

उस समय विजया महारानीको पुत्र उत्पन्न होनेका थोड़ा भी उत्सव नहीं हुआ था किन्तु भाग्य की प्रतिकूलता से बढ़ा हुआ शोक ही उत्पन्न हुआ था । यक्षीने सब ओर शीघ्र ही मणिमय दीपक रख दिये और दावानलसे झूलसी हुई लताके समान महारानीको शोकाकुल देखकर निम्न प्रकार उपदेश दिया । वह कहने लगी कि इस संसार में सभी स्थान दुःखसे भरे हैं, यौवनकी लक्ष्मी नश्वर है, भाई-बन्धुओं का समागम नष्ट हो जाने वाला है, जीवन दीपकके समान चञ्चल है, यह शरीर समस्त अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है अतः बुद्धिमान् पुरुषोंके द्वारा हेय है – छोड़ने योग्य है । जिसकी समस्त संसार पूजा करता है ऐसा यह राज्य बिजलीकी चमक के समान है । सब जीवोंकी समस्त वस्तुओंकी पर्यायोंमें ही प्रीति होती है परन्तु वे पर्याय अवश्य ही नष्ट हो जाती हैं इसलिए उनमें की हुई प्रीति अन्त में सन्ताप करने वाली होती है । अनिष्ट पदार्थ के रहते हुए भी उसमें प्रीति नहीं होती और इष्ट पदार्थ के रहते हुए उस पर अपना अधिकार नहीं होता तथा अपने आपमें प्रीति होने पर पदार्थ, इष्टपना एवं अधिकार इन तीनोंकी ही स्थितिका क्षय हो जाता है । जिनका ज्ञान बिना किसी क्रमके एक साथ समस्त पदार्थों को देखता है उन्होंने भी नहीं देखा कि कहीं कोई पदार्थ स्थायी रहता है । यदि विद्यमान और होनहार वस्तुओंमें प्रेम होता है तो भले ही हो परन्तु जो नष्ट हुई वस्तुओंमें भी प्रेम करता है उसे बुद्धिमान् कैसे कहा जा सकता है ?

इसलिए हे विजये ! संसार के स्वरूपका विचारकर शोक मत कर, और अतीत पदार्थोंमें व्यर्थ ही प्रीति मत कर । तेरा यह पुत्र बहुत ही श्रीमान् है और मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त इसका अभ्युदय निरन्तर बढ़ता ही रहेगा । यह दुराचारी शत्रु को नष्टकर अवश्य ही तुझे आनन्द उत्पन्न करेगा । तू स्नान कर, चित्तको स्थिर कर और योग्य आहार ग्रहण कर । शरीरका क्षय करने वाला यह शोक करना वृथा है, इस शोकको धिक्कार है, शोक करनेसे इस पर्यायकी बात तो दूर रही, दूसरी पर्यायमें भी तेरा पति तुझे नहीं मिलेगा क्योंकि अपने-अपने कर्मोंमें भेद होनेसे जीवोंकी गतियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं । इत्यादि युक्ति भरे वचनों से यक्षीने विजया रानीको शोक रहित कर दिया । इतना ही नहीं वह स्वयं रात्रि भर उसके पास ही रही सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंकी मित्रता ऐसी ही होती है ॥229-241॥

इतनेमें ही गन्धोत्कट सेठ, अपने मृत पुत्रका शव रखनेके लिए वहाँ स्वयं पहुँचा । वह शवको रख कर जब जाने लगा तब उसने किसी बालकका गम्भीर शब्द सुना । शब्द सुनते ही उसने 'जीव जीव' ऐसे आशीर्वादात्मक शब्द कहे मानो उसने आगे प्रचलित होने वाले उस पुत्र के 'जीवन्धर' इस नाम का उच्चारण किया हो । मुनिराजने जो कहा था वह सच निकला यह जान कर गन्धोत्कट बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । उसने दोनों हाथ फैला कर बड़े स्नेहसे उस बालक को उठा लिया । विजया देवीने गन्धोत्कटकी आवाज सुनकर ही उसे पहिचान लिया था । इसलिए उसने अपने आपका परिचय देकर उससे कहा कि हे भद्र, तू मेरे इस पुत्रका इस तरह पालन करना जिस तरह कि किसीको इसका पता न चल सके । यह कह कर उसने वह पुत्र गन्धोत्कटके लिए सौंप दिया ॥242-245॥

सेठ गन्धोत्कटने भी 'मैं ऐसा ही करूँगा' यह कह कर वह पुत्र ले लिया और शीघ्रताके साथ घर आकर अपनी नन्दा नाम की स्त्रीके लिए दे दिया । देते समय उसने स्त्रीके लिए उक्त समाचार तो कुछ भी नहीं बतलाया परन्तु कुछ कुपित - सा होकर कहा कि हे मूर्ख ! वह बालक जीवित था, तू ने बिना परीक्षा किये ही श्मशानमें छोड़ आनेके लिए मेरे हाथमें विचार किये बिना ही रख दिया था । ले, यह बालक चिरजीवी है और पुण्यवान् है, यह कह कर उसने वह पुत्र अपनी स्त्रीके दिया था ॥246-248॥

सुनन्दा सेठानीने संतुष्ट हो कर वह बालक दोनों हाथोंसे ले लिया । वह बालक प्रातः काल के सूर्य को पराजित कर सुशोभित हो रहा था और सेठानी की आँखें उसे देख-देख कर सत्पुष्प हो रही थीं ॥249॥

किसी एक दिन उस सेठने अनेक मांगलिक क्रियाएं कर अन्नप्राशन संस्कारके बाद उस पुत्रका 'जीवन्धर' नाम रक्खा ॥250॥

अथानन्तर-विजया रानी उसी गरुड़मन्त्र पर बैठकर दण्डकके मध्य में स्थित तपस्वियोंके किसी बड़े आश्रममें पहुँची और वहाँ गुप्त रूप से - अपना परिचय दिये बिना ही रहने लगी । जब वह विजया रानी शोक से व्याकुल होती थी तब वह यक्षी आकर उसका शोक दूर करने की इच्छा से उसकी अवस्थाके योग्य श्रवणीय कथाओंसे उसे संभारकी स्थिति बतलाती थी, धर्म का मार्ग बतलाती थी और इस तरह प्रति दिन उसका चित्त बहलाती रहती थी ॥251-253॥

इधर महाराज सत्यन्धरकी भांमारति और अनंगपताका नाम की दो छोटी स्त्रियाँ और थीं । उन दोनोंने मधुर और वकुल नाम के दो पुत्र प्राप्त किये । इन दोनों ही रानियोंने धर्म का स्वरूप जानकर श्रावक के व्रत धारण कर लिये थे । इसलिए ये दोनों ही भाई गन्धोत्कटके यहाँ ही पालन-पोषण प्राप्तकर बढ़े हुए थे । उसी नगर में विजयमति, सागर, धनपाल और मतिसागर नाम के चार श्रावक और थे जो कि अनुक्रम से राजा के सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठी और मन्त्री थे ॥254-257॥

इन चारोंकी स्त्रियों के नाम अनुक्रम से जयावती, श्रीमती, श्रीदत्ता और अनुपमा थे । इनसे क्रम से देवसेन, बुद्धिषेण, वरदत्त और मधुमुख नाम के पुत्र उत्पन्न हुए थे । मधुरको आदि लेकर वे छहों पुत्र, जीवन्धर कुमार के साथ ही वृद्धि को प्राप्त हुए थे, निरन्तर कुमार के साथ ही बालक्रीड़ा करने में तत्पर रहते थे और जिस प्रकार जीवाजीवादि छह पदार्थ कभी भी लोकाकाशको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते हैं उसी प्रकार वे छहों पुत्र उत्कृष्ट अभिप्रायके धारक जीवन्धर कुमार को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाते थे । रात-दिन उनके साथ ही रहते थे और उनके प्राणोंके समान थे । तदनन्तर गन्धोत्कटकी स्त्री सुनन्दाने भी अनुक्रम से नन्दाढ्य नाम का पुत्र प्राप्त किया ॥258-261॥

किसी एक दिन जीवन्धर कुमार नगर के बाह्य बगीचेमें अनेक बालकोंके साथ गोली बंटा आदि बालकोंके खेल खेलनेमें व्यस्त थे कि इतनेमें एक तपस्वी आकर उनसे पूछता है कि यहाँसे नगर कितनी दूर है ? तपस्वीका प्रश्न सुनकर जीवन्धर कुमार ने उत्तर दिया कि 'आप वृद्ध तो हो गये परन्तु इतना भी नहीं जानते । अरे, इसमें तो बालक भी नहीं भूलते । नगर के बाह्य बगीचेमें बालकोंको खेलता देख भला कौन नहीं अनुमान लगा लेगा कि नगर पास ही है ? जिस प्रकार कि धूम देखने से अग्निका अनुमान हो जाता है उसी प्रकार नगर के बाह्य बगीचेमें बालकोंकी क्रीड़ा देख नगरकी समीपताका अनुमान हो जाता है' इस प्रकार मुस्कुराते हुए जीवन्धर कुमार ने कहा । कुमारकी

चेष्टा कान्ति तथा स्वर आदिको देखकर तपस्वीने सोचा कि यह बालक सामान्य बालक नहीं है, इसके चिह्नोंसे पता चलता है कि इसकी उत्पत्ति राजवंश में हुई है। ऐसा विचार कर उस तपस्वीने किसी उपायसे उसके वंशकी परीक्षा करनी चाही। अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिए उसने जीवन्धर कुमारसे याचना की कि तुम मुझे भोजन दो ॥262-267॥

जीवन्धरकुमार उसे भोजन देना स्वीकृत कर अपने साथ ले पिता के पास पहुँचे और कहने लगे कि मैंने इसे भोजन देना स्वीकृत किया है फिर, जैसी आप आज्ञा दें। कुमारकी बात सुनकर पिता बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि मेरा यह पुत्र बड़ा ही विनम्र और प्रशंसनीय है। यह कहकर उन्होंने उसका बार-बार आलिंगन किया और कहा कि हे पुत्र ! यह तपस्वी स्नान करने के बाद मेरे साथ अच्छी तरह भोजन कर लेगा। तू निःशंक होकर भोजन कर ॥268-270॥

तदनन्तर जीवन्धरकुमार अपने मित्रों के साथ बैठकर भोजन करने के लिए तैयार हुए। भोजन गरम था इसलिए जीवन्धर कुमार रोककर कहने लगे कि यह सब भोजन गरम रखा है मैं कैसे खाऊँ ? इस प्रकार रोककर उन्होंने माताको तंग किया। उन्हें रोता देख तपस्वी कहने लगा कि भद्र ! तुझे रोना अच्छा नहीं लगता। यद्यपि तू अवस्थासे छोटा है तो भी बड़ा बुद्धिमान् है, तूने अपने वीर्य आदि गुणों से सबको नीचा कर दिया है फिर तू क्यों रोता है ? ॥271-273॥

तपस्वीके ऐसा कह चुकने पर जीवन्धरकुमार ने कहा कि हे पूज्य ! आप जानते नहीं हैं। सुनिये, रोनेमें ये गुण हैं - पहला गुण तो यह है कि बहुत समयका संचित हुआ कफ निकल जाता है, दूसरा गुण यह है कि नेत्रों में निर्मलता आ जाती है और तीसरा गुण यह है कि भोजन ठण्डा हो जाता है। इतने गुण होने पर भी आप मुझे रोनेसे क्यों रोकते हैं ? ॥274-275॥

पुत्रकी बात सुनकर माता बहुत ही प्रसन्न हुई और उसने मित्रों के साथ उसे विधिपूर्वक अच्छी तरह भोजन कराया ॥276॥

तदनन्तर जब गन्धोत्कट भोजन कर सुख से बैठा और तपस्वी भी उसीके साथ भोजन कर चुका तब तपस्वीने गन्धोत्कटसे कहा कि इस बालककी योग्यता देखकर इसपर मुझे स्नेह हो गया है अतः मैं इसकी बुद्धि को शास्त्र रूपी समुद्रमें अवगाहन कर निर्मल बनाऊँगा ॥ 277-278॥

तपस्वीकी बात सुनकर गन्धोत्कटने कहा कि मैं श्रावकोंमें श्रेष्ठ हूँ - श्रावक के श्रेष्ठ व्रत पालन करता हूँ इसलिए अन्य लिंगियोंको किसी भी कारणसे नमस्कार नहीं करता हूँ और नमस्कारके अभावमें अतिशय अभिमानी आपके लिए अवश्य ही बुरा लगेगा। सेठकी बात सुनकर वह तापस इस प्रकार अपना परिचय देने लगा ॥279-280॥

मैं सिंहपुरका राजा था, आर्यवर्मा मेरा नाम था, वीरनन्दी मुनि से धर्म का स्वरूप सुनकर मैंने निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया था।

तदनन्तर धृतिषेण नामक पुत्र के लिए राज्य देकर मैंने संयम धारण कर लिया था - मुनिव्रत अंगीकृत कर लिया था परन्तु जठराग्निकी तीव्र बाधासे उत्पन्न हुई महादाहको सहन नहीं कर सका इसलिए मैंने यह ऐसा वेष धारण कर लिया है, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, तुम्हारा धर्मबन्धु हूँ। इस प्रकार तपस्वीके वचन सुनकर और अच्छी तरह परीक्षा कर सेठने उसके लिए मित्रों सहित जीवन्धरकुमार को सौंप दिया सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम खेतमें बीजकी तरह योग्य स्थान में बुद्धिमान् मनुष्य क्या नहीं अर्पित कर देता है ? अर्थात् सभी कुछ अर्पित कर देता है ॥281-284॥

उस सम्यग्दृष्टि तपस्वीने, स्वभावसे ही जिसकी बुद्धिका बहुत बड़ा विस्तार था ऐसे जीवन्धर कुमार को लेकर थोड़े ही समयमें समस्त विद्याओं का पारगामी बना दिया ॥285॥

जिस प्रकार शरद् ऋतुमें सूर्य देदीप्यमान होता है और ऐश्वर्य पाकर हाथी सुशोभित होता है उसी प्रकार नव यौवनको पाकर जीवन्धरकुमार भी विद्याओंसे देदीप्यमान होने लगे ॥286॥

वह उपाध्याय भी समयानुसार संयम धारण कर मोक्षको प्राप्त हुआ। अथानन्तर-उस समय कालकूट नाम का एक भीलों का राजा था जो ऐसा काला था मानो सूर्यकी किरणों से डरकर स्वयं अन्धकार ने ही मनुष्यका आकार धारण कर लिया था, वह पशुहिंसक था और साधुओं के विघ्नके समान जान पड़ता था। जो धनुष-बाण हाथमें लिया है, जिसे कोई देख नहीं सकता, युद्धमें जिसे कोई सहन नहीं कर सकता, जो महौषधिके समान कटुक है, दयारहित है और सींगोके शब्दोंसे भयंकर है ऐसी सेना लेकर वह कालकूट गोमण्डलके हरण करने की इच्छा से तमाखुओं के वन से सुशोभित नगर के बाह्य मैदानमें आ डटा ॥287-290॥

इस समाचारको सुनकर काष्ठांगारिक राजा ने घोषणा कराई कि मैं गायों छुड़ानेवालेके लिए गोपेन्द्र की स्त्री गोपश्रीसे उत्पन्न गोदावरी नाम

की उत्तम कन्या दूंगा। इस घोषणाको सुनकर जीवन्धर कुमार काष्ठांगारिकके पुत्र कालांगारिक तथा अपने अन्य मित्रोंसे युक्त होकर उस कालकूट भीलके पास पहुंचे। वहाँ जाकर उन्होंने अपना धनुष चढ़ाया, उसपर तीक्ष्ण बाण रखे, वे अपनी विशिष्ट शिक्षाके कारण जल्दी-जल्दी बाण रखते और छोड़ते थे, धनुर्वेदमें बतलाये हुए सभी पैतरा बदलते थे, दूसरोंकी बाण-वर्षा को बचाते हुए जल्दी-जल्दी घूमते थे, शत्रुओं के बाणोंके समूहको काटते थे और कायर लोगोंपर अस्त्र छोड़नेसे रोकते थे, अर्थात् कायर लोगोंपर अस्त्रोंका प्रहार नहीं करते थे। इस तरह जिस प्रकार नय मिथ्या नयोंको जीत लेता है उसी प्रकार उन्होंने बहुत देर तक युद्ध कर भीलोंको जीत लिया। जयलक्ष्मी ने उनका आलिंगन किया और वे चन्द्रमा, हंस, तूल तथा कुन्दके फूलके समान सुशोभित यश के द्वारा समस्त दिशाओं को व्याप्त करते हुए फहराती हुई पताकाओंसे सुशोभित नगर में प्रविष्ट हुए ॥291-297॥

उस समय शूरवीरता आदि गुण रूपी फूलोंसे सुशोभित कुमार के शरीर-रूपी आमके वृक्षपर कीर्ति रूपी गन्धसे खिंचे हुए मनुष्यों के नेत्ररूपी भँरे पड़ रहे थे ॥298॥

तदनन्तर जीवन्धर कुमार ने सब वैश्यपुत्रोंसे कहा कि तुम लोग एक स्वरसे अर्थात् किसी मतभेद के बिना ही राजा से कहो कि इस नन्दाढ्यने ही युद्ध कर गायोंको छुड़ाया है। इस प्रकार राजा के पास संदेश भेजकर पहले कही हुई गोदावरी नाम की कन्या विवाहपूर्वक नन्दाढ्यके लिए दिलवाई। सो ठीक ही है क्योंकि कार्योंकी प्रवृत्ति अनेक प्रकारकी होती है। अर्थात् कोई कार्यको बिना किये ही यश लेना चाहते हैं और कोई कार्य करके भी यश नहीं लेना चाहते ॥299-300॥

अथानन्तर-इसी भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें एक गगनवल्लभ नाम का नगर है जो आकाश से पड़ती हुई श्रीके समान जान पड़ता है। उसमें विद्याधरोंका स्वामी गरूड़वेग राज्य करता था। दैवयोगसे उसके भागीदारोंने उसका अभिमान नष्ट कर दिया इसलिए वह भागकर रत्नद्वीप में चला गया और वहाँ मनुजोदय नामक पर्वत पर रमणीय नाम का सुन्दर नगर बसा कर रहने लगा। उसकी रानीका नाम धारिणी था ॥301-303॥

किसी दिन उसकी गन्धर्वदत्ता पुत्रीने उपवास किया जिससे उसका शरीर मुरझा गया। वह जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर शेष बची हुई माला लेकर पिताको देनेके लिए गई। गन्धर्वदत्ता पूर्ण यौवनवती हो गई थी। उसे देख पिताने अपने मतिसागर नामक मन्त्रीसे पूछा कि यह कन्या किसके लिए देनी चाहिये। इसके उत्तरमें अपार बुद्धि के धारक मन्त्री ने भविष्यके ज्ञाता मुनिराजसे पहले जो बात सुन रखी थी वह कह सुनाई ॥304-306॥

उसने कहा कि हे राजन् ! किसी एक दिन मैं जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना करने के लिए सुमेरू पर्वतपर गया था। वहाँ नन्दन वनकी पूर्वा दिशाके वन में जो जिन-मन्दिर है उसकी भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा देकर तथा विधिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति कर मैं बैठा ही था कि मेरा दृष्टि वहाँ पर विराजमान विपुलमति नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिराजपर पड़ी। मैंने उन्हें नमस्कार कर उनसे धर्म का उपदेश सुना। तदनन्तर मैंने पूछा कि हे जगत्पूज्य। हमारे स्वामी के एक गन्धर्वदत्ता नाम की पुत्री है वह किसके भोगने योग्य होगी ? मुनिराज अवधिज्ञानी थे अतः कहने लगे कि इसी भरतक्षेत्रके हेमांगद देशमें एक अत्यन्त सुन्दर राजपुर नाम का नगर है। उसमें सत्यरूपी आभूषणसे सुशोभित सत्यन्धर नाम का राजा राज्य करता है। उसकी महारानीका नाम विजया है उन दोनोंके एक बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ है। वीणाके स्वयंवरमें वह गन्धर्वदत्ताको जीतेगा और इस तरह गन्धर्वदत्ता उसीकी भार्या होगी। मन्त्री के इस प्रकार के वचन सुनकर राजा कुछ व्याकुल हुआ और उसी मतिसागर मन्त्रीसे पूछने लगा कि हम लोगोंका भूमिगोचरियोंके साथ सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? ॥307-313॥

इसके उत्तरमें मन्त्रीने मुनिराजसे जो कुछ अन्य बातें मालूम की थीं वे सब स्पष्ट कह सुनाई। उसने कहा कि उसी राजपुर नगर में एक वृषभदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम पद्मावती था। उन दोनोंके एक जिनदत्त नाम का पुत्र हुआ था। किसी एक समय उसी राजपुर नगर के प्रीतिवर्धन नामक उद्यानमें सागरसेन नामक जिनराज पथारे थे उनके केवलज्ञान की भक्ति से पूजा-वन्दना करने के लिए वह अपने पिता के साथ आया था। आप भी वहाँ पर गये थे इसलिए उसे देखकर आपका उसके साथ प्रेम हो गया था। इतना अधिक प्रेम हो गया था कि शरीरभेदको छोड़ कर और किसी बातकी अपेक्षा आप दोनों में भेद नहीं रह गया था ॥314-317॥

इस प्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर एक दिन वृषभदत्त सेठ अपने स्थान पर जिनदत्तको बैठाकर आत्मज्ञान प्राप्त होनेसे गुणपाल नामक मुनिराज के निकट दीक्षित हो गया और उसकी स्त्री पद्मावतीने भी सुव्रता नाम की आर्यिकाके पास जाकर संयम धारण

कर लिया तथा उत्तम व्रत धारण कर वह अपनी कुलीनता की रक्षा करने लगी । इधर जिनदत्त भी धनका मालिक होकर अपने पिता के पद पर आरूढ़ हुआ और मनोहरा आदि स्त्रियों के साथ इच्छानुसार भोग भोगने लगा । वह जिनदत्त धन कमानेके लिए स्वयं ही इस रत्नद्वीप में आवेगा ॥318-321॥

उसी से हमारे इष्ट कार्यकी सिद्धि होगी । इस तरह कितने ही दिन बीत जानेपर वह जिनदत्त गरुड़वेगके पास आया । इससे गरुड़वेग बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । उसने जिनदत्तका अच्छा सत्कार किया । तदनन्तर विद्याधरोंके राजा गरुड़वेगने बड़े आदरके साथ जिनदत्तसे कहा कि हे मित्र ! आप अपनी नगरी में मेरी पुत्री गन्धर्वदत्ताका स्वयंवर करा दो । उसकी आज्ञानुसार जिनदत्त भी अनेक विद्याधरोंके साथ गन्धर्वदत्तको राजपुर नगर ले गया ॥322-324॥

वहाँ जाकर उसने मनोहर नाम के वन में स्वयंवर होनेकी घोषणा कराई और एक बहुत सुन्दर बड़ा भारी स्वयंवर - गृह बनवाया ॥325॥

जब अनेक कलाओंमें चतुर विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजकुमार आ गये तब उसने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कराई ॥326॥

उसी समय गन्धर्वदत्ताने भी सुघोषा नाम की उत्तम लक्ष्मणों वाली वीणा लेकर स्वयंवरके सभागृह में प्रवेश किया ॥327॥

वहाँ आकर उसने गीतोंसे मिले हुए शुद्ध तथा देशज स्वरोंके समूह से वीणा बजाई और सब राजाओं को नीचा दिखा दिया । तदनन्तर उसका वीणासम्बन्धी मद दूर करने की इच्छा से जीवन्धर कुमार स्वयंवर-सभाभवन में आये । आते ही उन्होंने उन लोगों को गुण और दोषकी परीक्षा करने में नियुक्त किया कि जो किसी के पक्षपाती नहीं थे, बुद्धिमान् थे, वीणाकी विद्यामें निपुण थे और दोनों पक्षके लोगों को इष्ट थे ॥328-330॥

इसके बाद उन्होंने कार्य करने के लिए नियुक्त पुरुषोंसे 'निर्दोष वीणा दी जाय' यह कहा । नियोगी पुरुषोंने तीन-चार वीणाएं लाकर उन्हें सौंप दीं परन्तु जीवन्धर कुमार ने उन सबमें केश रोम लव आदि दोष दिखाकर उन्हें वापिस कर दिया और कन्या गन्धर्वदत्तासे कहा कि 'यदि तू ईर्ष्या रहित है तो अपनी वीणा दे' । गन्धर्वदत्ताने अपने हाथकी वीणा बड़े आदरसे उन्हें दे दी । कुमार ने उसकी वीणा ले कर गाया, उनका वह गाना शास्त्रके मार्गका अनुसरण करने वाला था, गीत और बाजेकी आवाजसे मिला हुआ था, गंभीर ध्वनिसे सहित था, मनोहर था, मधुर था, हरिणोंके मन में विभ्रम उत्पन्न करनेवाला था और उस विद्याके जानकार लोगों के धन्यवाद रूपी श्रेष्ठ फूलों की पूजासे सुशोभित था ॥331-335॥

उनका ऐसा गाना सुनकर गन्धर्वदत्ता हृदय में कामदेव के बाणोंसे प्रेरित हो उठी । इसलिए इसने उन्हें माला से अलंकृत कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य के सम्मुख रहते हुए क्या नहीं होता है ? अर्थात् सब कुछ होता है ॥336॥

उस समय कितने ही लोग दिन में जलाये हुए दीपकके समान कान्तिहीन हो गये और कितने ही लोग रात्रिमें जलाये हुए दीपकोंके समान देदीप्यमान मुखके धारक हो गये । भावार्थ - जो ईर्ष्यालु थे वे जीवन्धर कुमारकी कुशलता देख कर मलिनमुख हो गये और जो गुणग्राही थे उनके मुख सुशोभित होने लगे ॥337॥

गन्धर्वदत्ता सुघोषा नामक वीणाके द्वारा ही जीवन्धर कुमार को प्राप्त कर सकी थी इसलिए वह सन्तुष्ट हो कर अपने मन में इस प्रकार कह रही थी कि हे सुघोषा ! तू मेरे कुलके योग्य है, मधुर है, और मनको हरण करने वाली है, कुमारका संग प्राप्त करानेमें तू ही चतुर दूतीके समान कारण हुई है ॥338-339॥

उस समय दुर्जनोके द्वारा प्रेरित हुए काष्ठांगारिकके पुत्र कालांगारिकने गन्धर्वदत्ताको हरण करने का उद्यम किया । जब जीवन्धर कुमार को इस बात का पता चला तब वे अधिक बलवान् विद्याधरोंके साथ जयगिरि नामक गन्धगज पर सवार होकर बड़े क्रोधसे शत्रु-सेना के सम्मुख गये । उसी समय उपाय करने में निपुण गन्धर्वदत्ताके पिता गरुड़वेग नामक विद्याधरोंके राजा ने उन दोनोंकी मध्यस्थता प्राप्त कर शत्रुकी सेना को शान्त कर दिया ॥340-343॥

तदनन्तर विवाहके द्वारा जीवन्धर कुमार और गन्धर्वदत्ताका समागम कराकर गरुड़वेग कृतकृत्य हो गया सो ठीक ही है क्योंकि पिताको कन्या समर्पण करने के सिवाय और कुछ काम नहीं है ॥344॥

परस्परके प्रेमसे जिनका सुख बढ़ रहा है ऐसे उन दोनोंकी सम संयोगसे उत्पन्न होने वाली तृप्ति परम सीमाको प्राप्त हो रही थी ॥345॥

अथानन्तर-कामदेव को उत्तेजित करने वाला वसन्त ऋतु आया । उसमें सब नगर-निवासी लोग सुख पानेकी इच्छा से अपनी सब सम्पत्ति प्रकट कर बड़े उत्सव से राजा के साथ सुरमलय उद्यानमें वन-क्रीड़ाके निमित्त गये ॥346-347॥

उसी नगर में वैश्रवणदत्त नामक एक सेठ रहता था। उसकी आम्रमन्जरी नाम की स्त्रीसे सुरमन्जरी नाम की कन्या हुई थी। उस सुरमन्जरीकी एक श्यामलता नाम की दासी थी। वह भी सुरमन्जरीके साथ उसी उद्यानमें आई थी। उसके पास एक चन्द्रोदय नाम का चूर्ण था उसे लेकर वह यह घोषणा करती फिरती थी कि सुगन्धिकी अपेक्षा इस चूर्णसे बढ़कर दूसरा चूर्ण है ही नहीं। इस प्रकार वह अपनी स्वामिनीकी चतुराईको प्रकट करती हुई लोगों के बीच घूम रही थी ॥348-350॥

उसी नगर में एक कुमारदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी विमला स्त्रीसे अत्यन्त निर्मल गुणमाला नाम की पुत्री हुई थी। गुणमालाकी विद्युल्लता नाम की दासी थी जो बात-चीत करने में बहुत ही चतुर थी। अच्छी भौंहोंको धारण करने वाली तथा अभिमान रूपी पिशाचसे ग्रसी वह विद्युल्लता विद्वानों की सभा में बार-बार अपनी स्वामिनीके गुणोंको प्रकाशित करती और यह कहती हुई घूम रही थी कि यह सूर्योदय नाम का श्रेष्ठ चूर्ण है और इतना सुगन्धित है कि इस पर भौरे आकर पड़ रहे हैं ऐसा चूर्ण स्वर्ग में भी नहीं मिल सकता है ॥ 351-353॥

इस दोनों दासियोंमें जब परस्पर विवाद होने लगा और इस विद्याके जानकार लोग जब इसकी परीक्षा करने में समर्थ नहीं हो सके तब वहीं पर खड़े हुए जीवन्धर कुमार ने स्वयं अच्छी तरह परीक्षा कर कह दिया कि इन दोनों चूर्णोंमें चन्द्रोदय नाम का चूर्ण श्रेष्ठ है। 'इसका क्या कारण है ? यदि आप यह जानना चाहते हैं तो मैं यह अभी स्पष्ट रूप से दिखाता हूँ' ऐसा कह कर जीवन्धर कुमार ने उन दोनों चूर्णोंको दोनों हाथोंसे लेकर ऊपरकी फेंक दिया। फेंकते देर नहीं लगी कि सुगन्धिकी अधिकताके कारण भौरोंके समूहने चन्द्रोदय चूर्णको घेर लिया। यह देख, वहाँ जो भी विद्वान् उपस्थित थे वे सब जीवन्धर कुमारकी स्तुति करने लगे ॥354-357॥

उस समय से उन दोनों कन्याओंने विद्यासे उत्पन्न होनेवाली परस्परकी ईर्ष्या छोड़ दी और दोनों ही मात्सर्यरहित हो गई ॥358॥

तदनन्तर-उधर नगरवासी लोग वन में अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे इधर कुछ दुष्ट बालकों ने एक कुत्ताको देखकर चपलता वश मारना शुरू किया। भय से व्याकुल हो कर वह कुत्ता भागा और एक कुण्डमें गिरकर मरणोन्मुख हो गया। जब जीवन्धर कुमार ने यह हाल देखा तो उन्होंने अपने नौकरों से उस कुत्तेको वहाँ से निकलवाया और उसके दोनों कान पन्चनमस्कार मन्त्रसे भर दिये। नमस्कार मन्त्रको ग्रहण कर वह कुत्ता चन्द्रोदय पर्वत पर सुदर्शन नाम का यक्ष हुआ। पूर्व भवका स्मरण होते ही वह जीवन्धर कुमार के पास वापिस आया और कहने लगा कि मैंने यह उत्कृष्ट विभूति आपके ही प्रसादसे पाई है। इस प्रकार दिव्य आभूषणोंके द्वारा उस कृतज्ञ यक्षने सबको आश्चर्यमें डालकर जीवन्धर कुमारकी पूजा की और कहा कि हे कुमार ! आज से लेकर दुःख और सुख के समय आप मेरा स्मरण करना। इस प्रकार कुमारसे प्रार्थना कर वह अपने स्थान पर चला गया। आचार्य कहते हैं कि बिना कारण ही जो उपकार किये जाते हैं उनका फल अवश्य होता है ॥359-365॥

इस प्रकार वन में चिरकाल तक क्रीड़ा कर जब सब लोग लौट रहे थे तब राजाका अशनिघोष नाम का मदोन्मत्त हाथी लोगोंका हल्ला सुन कर बिगड़ उठा। वह अहंकार से भरा हुआ था और साधारण मनुष्य उसे वश नहीं कर सकते थे। वह हाथी सुरमन्जरीके रथकी ओर दौड़ा चला आ रहा था। उसे देख कर जीवन्धर कुमार ने हाथीकी विनय और उन्नय क्रियाका शीघ्र ही निर्णय कर लिया, वे लीला पूर्वक उसके पास पहुँचे, बत्तीस तरहकी क्रीड़ाओं के द्वारा उसे खेद खिन्न कर दिया परन्तु स्वयंको कुछ भी खेद नहीं होने दिया। अन्त में वह हाथी निश्चेष्ट खड़ा हो गया और उन्होंने उसे आलानसे बाँध दिया। यह सब देख नगरवासी लोग जीवन्धर कुमार के हस्ति-विज्ञान की प्रशंसा करते हुए नगर में प्रविष्ट हुए ॥366-369॥

जीवन्धर कुमार के देखने से जिसका हृदय व्याकुलित हो रहा है ऐसी सुरमन्जरी उसी समय से काम से मोहित हो गई ॥370॥

सुरमन्जरीके माता-पिताने, उसकी इंगितोंसे, चेष्टाओंसे तथा बात-चीतसे युक्ति पूर्वक यह जान लिया कि इसकी जीवन्धर कुमारमें लग रही है। तदनन्तर उन्होंने जीवन्धर कुमार के माता-पितासे निवेदन किया और उनकी आज्ञानुसार शुभ योग में ऐश्वर्यको धारण करने वाले जीवन्धर कुमार के लिए वह कन्या समर्पण कर दी ॥371-372॥

इसके बाद जीवन्धर कुमार उचित प्रेम करते हुए सुरमन्जरीके साथ इच्छानुसार सुख का उपभोग करने लगे। तदनन्तर नगर के लोग निरन्तर जीवन्धर कुमारकी शूर-वीरता और सौभाग्य-शीलताकी कथा करने लगे परन्तु उसे दुष्ट काष्ठांगारिक राजा सहन नहीं कर सका इसलिए उसने क्रोधमें आकर लोगोंसे कहा कि इस मुखर्ज जीवन्धरने मेरे गन्धवारण हाथी को बाधा पहुँचा कर उसका तिरस्कार किया है। यह वैश्यका पुत्र है इसलिए हरड, आँवला, शोंठ आदि चीजोंका क्रय-विक्रय करना इसका काम है परन्तु यह अपनी जातिके कार्योंसे तो

विमुख रहता है और अहंकार से चूर हो कर राजपुत्रों के करने योग्य कार्य में आसक्त होता है । इसलिए खोटी चेष्टा करने वाले इस दुष्टको शीघ्र ही यमराज के मुख में भेज दो । इस प्रकार उसने चण्ड दण्ड नामक, नगर के मुख्य रक्षकको आज्ञा दी ॥373-377॥

चण्डदण्ड भी सेना तैयार कर क्रोधसे जीवन्धर कुमार के सम्मुख दौड़ा । इधर जीवन्धर कुमार को भी इसका पता लग गया इसलिए वे भी मित्रोंको साथ ले युद्ध करने की इच्छा से उसके सम्मुख गये और स्वयं सुरक्षित रह कर उसे उसी समय पराजित कर दिया । इससे काष्ठांगारिक और भी कुपित हुआ और उसने बहुत-सी सेना भेजी । उस सेना को देख कर जीवन्धर कुमार दयार्द्धचित्त होकर विचार करने लगे कि इन क्षुद्र प्राणियोंको व्यर्थ मारनेसे क्या लाभ है ? मैं किन्हीं उपायों से इस दुष्ट काष्ठांगारिकको ही शान्त करता हूँ । ऐसा विचार कर उन्होंने अपने मित्र सुदर्शन यक्षका उपकार किया और उसने भी आकर तथा जीवन्धर कुमारका अभिप्राय जान कर सब उपद्रव शान्त कर दिया । तदनन्तर वह यक्ष, जीवन्धर कुमारकी सम्मतिसे उन्हें विजयगिरि नामक हाथी पर बैठा कर अपने घर ले गया सो ठीक ही है क्योंकि मित्र के लिए अपना घर दिखलाना मित्रोंका सद्भाव रहना ही है ॥378-383॥

जीवन्धर कुमारकी प्रवृत्तिको नहीं जानने वाले उनके साथी और भाई-बन्धुलोग हवासे हिलते हुए चन्चल छोटे पत्तोंके समान कँपने लगे और वे सब अपने आपको संभालनेमें समर्थ नहीं हो सके । परन्तु गन्धर्वदत्ता जीवन्धरके जानेका कारण जानती थी इसलिए वह निराकुल रही । 'कुमार को कुछ भी भय नहीं है, इसलिए आप लोग डरिये नहीं, वे शीघ्र ही आजावेंगे, ऐसा कह कर उस बुद्धिमतीने सबको शान्त कर दिया ॥384-386॥

उधर जीवन्धर कुमार भी यक्षके घर में बहुत दिन तक सुख से रहे । तदनन्तर चेष्टाओंसे उन्होंने यक्षसे अपने जानेकी इच्छा प्रकट की ॥ 387॥

उनका अभिप्राय जानकर यक्षने उन्हें जिसकी कान्ति देदीप्यमान है, जो इच्छित कार्योंको सिद्ध करने वाली है, और इच्छानुसार रूप बना देने वाली है ऐसी एक अंगूठी देकर उस पर्वत से नीचे उतार दिया और उन्हें किसीसे भी भयकी आशंका नहीं है यह विचार कर वह यक्ष कुछ दूर तो उनके पीछे आया और बादमें पूजा कर चला गया ॥388-389॥

कुमार भी वहाँ से कुछ दूर चल कर चन्द्राभ नामक नगर में पहुँचे । वह नगर चूनासे पुते हुए महलोंसे ऐसा जान पड़ता था मानों चाँदनीसे सहित ही हो ॥390॥

वहाँ के राजाका नाम धनपति था जो कि लोकपालके समान नगरकी रक्षा करता था । उसकी रानीका नाम तिलोत्तमा था और उन दोनोंके पद्मोत्तमा नाम की पुत्री थी ॥391॥

वह कन्या विहार करने के लिए वन में गई थी, वहाँ दुष्ट साँपने उसे काट खाया, यह देख राजा ने अपने नगर में घोषणा कराई कि जो कोई मणि मन्त्र औषधि आदिके द्वारा इस कन्याको निर्विष कर देगा मैं उसे यह कन्या और आधा राज्य दूंगा ॥392-393॥

आदित्य नाम के मुनिराजने यह बात पहले ही कह रखी थी इसलिए राजाकी यह घोषणा सुनकर साँपके काटनेका दवा करने वाले बहुत से वैद्य, कन्याके लोभसे चिकित्सा करने के लिए आये परन्तु उस विषको दूर करने में समर्थ नहीं हो सके । तदनन्तर राजाकी आज्ञा से सेवक लोग फिर भी किसी वैद्यको ढूँढ़नेके लिए निकले और इधर-उधर दौड़-धूप करनेवाले उन सेवकोंने भाग्यवश जीवन्धर कुमार को देखा । देखते ही उन्होंने बड़ी व्यग्रतासे पूछा कि क्या आप विष उतारना जानते हैं ? ॥394-396॥

जीवन्धर कुमार ने भी उत्तर दिया कि हाँ, कुछ जानता हूँ । उनके वचन सुनकर सेवक लोग बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उन्हें बड़े हर्ष से साथ ले गये ॥397॥

साँप काटनेका मन्त्र जानने में निपुण जीवन्धरने भी उस यक्षका स्मरण किया और मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर राजपुत्रीको विष-वेगसे रहित कर दिया ॥398॥

इससे राजा को बहुत सन्तोष हुआ उसने तेज तथा कान्ति आदि लक्षणों से निश्चय कर लिया कि यह अवश्य ही राजवंश में उत्पन्न हुआ है इसलिए उसने अपनी पुत्री और पहले कहा हुआ आधा राज्य उन्हें समर्पण कर दिया । उस कन्याके लोकपाल आदि बत्तीस भाई थे उनके गुणों से अनुरन्जित होकर जीवन्धर कुमार उन्हींके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे । तदनन्तर वहाँ कुछ दिन रहकर भाग्य की प्रेरणासे वे किसीसे कुछ कहे बिना ही रात्रिके समय चुपचाप वहाँसे चल पड़े और कितने ही कोश चलकर क्षेम देशके क्षेम नामक नगर में जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने नगर के बाहर मनोहर वन में हजार शिखरोंसे सुशोभित एक जिन-मन्दिर देखा ॥399-403॥

जिन मन्दिरको देखते ही उन्होंने नमस्कार किया, हाथ जोड़े, तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और उसी समय विधिपूर्वक स्तुति करना शुरू कर दिया ॥ 404॥

उसी समय अकस्मात् एक चम्पाका वृक्ष मानो अपना अनुराग बाहिर प्रकट करता हुआ अपने फूलोंसे युक्त हो गया ॥405॥

जो कोकिलाएँ पहले गूँगीके समान हो रही थीं वे उन कुमार के शुभागमन रूप औषधिसे चिकित्सा की हुईके समान ठीक होकर सुननेके योग्य मधुर शब्द करने लगीं ॥406॥

उस जैन-मन्दिरके समीप ही एक सरोवर था जो स्वच्छ जलसे भरा हुआ था और ऐसा जान पड़ता था मानो स्फटिक मणिके द्रवसे ही भरा हो । उस सरोवरमें जो कमल थे वे सबके सब एक साथ फूल गये और उनपर भ्रमर मँडराते हुए गुंजार करने लगे । इसके सिवाय उस मन्दिरके द्वारके किवाड़ भी अपने आप खुल गये ॥407-408॥

यह अतिशय देख, जीवन्धर कुमारकी भक्ति और भी बढ़ गई उन्होंने उसी सरोवरमें स्नान कर विशुद्धता प्राप्त की और फिर उसी सरोवरमें उत्पन्न हुए बहुतसे फूल लेकर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की तथा अर्थोंसे भरे हुए अनेक इष्ट स्तोत्रोंसे निराकुल होकर उनकी स्तुति की । उस नगर में सुभद्र सेठकी निर्वृति नाम की स्त्रीसे उत्पन्न हुई एक क्षेमसुन्दरी नाम की कन्या थी जो कि साक्षात् लक्ष्मी के समान सुशोभित थी । पहले किसी समय विनयन्धर नाम के मुनिराजने कहा था कि क्षेमसुन्दरीके पतिके समीप आनेपर चंपाका वृक्ष फूल जायगा, आदि चिह्न बतलाये थे । उसी समय सेठने उसकी परीक्षा करने के लिए वहाँ कुछ पुरुष नियुक्त कर दिये थे ॥409-412॥

जीवन्धर कुमार के देखने से वे पुरुष बहुत ही हर्षित हुए और कहने लगे कि आज हमारा नियोग पूरा हुआ । उन लोगोंने उसी समय जाकर यह सब समाचार अपने स्वामीसे निवेदन किया । उसे सुनकर सेठ भी सन्तुष्ट होकर कहने लगा कि मुनियोंका वचन कभी असत्य नहीं होता ॥413-414॥

इस प्रकार प्रसन्न होकर उसने श्रीमान् जीवन्धर कुमार के लिए विधि-पूर्वक अपनी योग्य कन्या समर्पित कर दी । तदनन्तर वही सेठ जीवन्धर कुमारसे कहने लगा कि जब मैं पहले राजपुर नगर में रहता था तब राजा सत्यन्धरने मुझे यह धनुष और ये बाण दिये थे, ये आपके ही योग्य हैं इसलिए इन्हें आपही ग्रहण करें – इस प्रकार कहकर वह धनुष और बाण भी दे दिये ॥415-416॥

जीवन्धर कुमार धनुष और बाण लेकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उसी नगर में सुख से रहने लगे । इस तरह कुछ समय व्यतीत होने पर किसी समय गन्धर्वदत्ता अपनी विद्याके द्वारा जीवन्धर कुमार के पास गई और उन्हें सुख से बैठा देख, किसी के जाने बिना ही फिरसे राजपुर वापिस आ गई सो ठीक ही है क्योंकि प्रियजनोंका उत्सव ही प्रेमी जनोंका प्रेम कहलाता है । तदनन्तर कितने ही दिन बाद पहलेके समान उस नगरसे भी वे पुण्यवान् जीवन्धर कुमार धनुष बाण लेकर चल पड़े और सुजन देशके हेमाभ नगर में जा पहुँचे ॥417-420॥ वहाँ के राजाका नाम दृढमित्र और रानीका नाम नलिना था । उन दोनोंके एक हेमाभा नाम की पुत्री थी । हेमाभाके जन्म-समय ही किसी निमित्त-ज्ञानीने कहा था कि मनोहर नाम के वन में जो आयुध शाला है वहाँ धनुषधारियोंके व्यायामके समय जिसके द्वारा चलाया हुआ बाण लक्ष्य स्थानसे लौटकर पीछे वापिस आ जावेगा यह उत्तम लक्षणोंवाली कन्या उसीकी वल्लभा होगी ॥421-423॥

उस आदेशको सुनकर उस समय जो धनुष-विद्याके जाननेवाले थे वे सभी उक्त कन्याकी आशा से उसी प्रकार का अभ्यास करने में लग रहे थे ॥424॥

भाग्यवश जीवन्धर कुमार भी उस स्थान पर जा पहुँचे । धनुषधारी लोग उन्हें देखकर कहने लगे कि हे भाई ! राजा के आदेशानुसार क्या आपने भी धनुष चलानेमें कुछ परिश्रम किया है ॥425॥

इसके उत्तरमें जीवन्धर कुमार ने कहा कि हाँ, कुछ है तो । तब उन धनुषधारियोंने कहा कि अच्छा तो यह लक्ष्य बेधो यहाँ निशाना मारो । इसके उत्तरमें जीवन्धर कुमार ने तैयार किया हुआ धनुष-बाण लेकर उस लक्ष्यको बेध दिया और उनका वह बाण लक्ष्य प्राप्त करने के पहले ही लौट आया । यह सब देख, वहाँ जो खड़े हुए थे उन्होंने राजा को खबर दी ॥426-427॥

राजा सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि मैं जिस विशिष्ट लताको ढूँढ़ रहा था वह स्वयं आकर पैरोंमें लग गई । तदनन्तर उसने विवाहकी विधिके अनुसार बड़े वैभव से वह कन्या जीवन्धर कुमार के लिए दे दी । आचार्य कहते हैं कि देखो, पुण्य यह कहलाता है । गुणमित्र, बहुमित्र, सुमित्र, धनमित्र तथा और भी कितने ही जीवन्धर कुमार के साले थे उन सबको वे समस्त विद्याओं में निपुण बनाते तथा पूर्वकृत पुण्यका उपभोग करते हुए वहाँ चिरकाल तक रहे आये । इधर गन्धर्वदत्ता बार-बार छिपकर जीवन्धर कुमार के पास आती

जाती थी उसे देख एक समय नन्दाढयने पूछा कि बता तू छिपकर कहाँ जाती है ? मैं भी वहाँ जाना चाहता हूँ । इसके उत्तरमें गन्धर्वदत्ताने हँसकर कहा कि जहाँ मैं जाया करती हूँ उस स्थानपर यदि तू जाना चाहता है तो देवतासे अधिष्ठित स्मरतरंगिणी नामक शय्यापर अपने बड़े भाईका स्मरण कर विधि-पूर्वक सो जाना । इस प्रकार संतोषपूर्वक तू उनके पास पहुँच जायेगा । गन्धर्वदत्ताकी बात का निश्चय कर नन्दाढय रात्रिके समय स्मरतरंगिणी शय्यापर सो गया और भोगिनी नाम की विद्याने उसे शय्या सहित बड़े भाईके पास भेज दिया । तदनन्तर जीवन्धर कुमार और नन्दाढय दोनों एक दूसरेको देखकर बड़ी प्रसन्नतासे मिले और सुख-समाचार पूछकर वहीं रहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में प्रसन्नतासे भरे हुए दो भाइयोंके समागमसे बढ़कर और कोई दूसरी वस्तु प्रीति उत्पन्न करनेवाली नहीं है ॥ 428-437॥

अथानन्तर इसी प्रसिद्ध सुजन देशमें एक नगरशोभ नाम का नगर था उसमें दृढमित्र राजा राज्य करता था । उसके भाईका नाम सुमित्र था । सुमित्रकी स्त्री का नाम वसुन्धरा था और उन दोनोंके रूप तथा विज्ञान से सम्पन्न श्रीचन्द्रा नाम की पुत्री थी ॥438-439॥ जिसके यौवनका आरम्भ पूर्ण हो रहा है ऐसी उस श्रीचन्द्राने किसी समय अपने भवनके आँगन में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए कबूतर और कबूतरीका जोड़ा देखा ॥440॥

देखते ही उसे जातिस्मरण हुआ और वह अकस्मात् ही मूर्च्छित हो गई । उसकी दशा देख, समीप रहनेवाली सखियाँ घबड़ा गई, उनमें जो कुशल थीं उन्होंने चन्दन तथा खसके ठण्डे जलसे उसे सींचा, पंखासे उत्पन्न हुई आनन्ददायी हवासे उसके हृदयको सन्तोष पहुंचाया और मीठे वचनों से सम्बोधनकर उसे सचेत किया सो ठीक ही हैं क्योंकि हितकारी मित्रगण कष्टके समय क्या नहीं करते हैं ? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥441-443॥

यह समाचार सुनकर उसके माता-पिताने तिलकचन्द्राकी पुत्री और श्रीचन्द्राकी सखी अलकसुन्दरी से शोकवश कहा कि तू जाकर कन्याकी मूर्च्छाका कारण तलाश कर । माता-पिताकी बात सुनकर बात-चीत करने में निपुण अलकसुन्दरी भी श्रीचन्द्राके पास गई और एकान्तमें पूछने लगी कि हे भट्टारिके ! मुझे बतला कि तेरी मूर्च्छाका कारण क्या है ? इसके उत्तरमें श्रीचन्द्राने कहा कि हे प्राणोंसे अधिक प्यारी सखि ! यदि तू मेरी मूर्च्छाका कारण सुनना चाहती है तो चित्त लगाकर सुन, मेरी ऐसी कोई बात नहीं है जो तुझसे कहने योग्य न हो । इस प्रकार अच्छी तरह स्मरणकर उसने अपने पूर्वभवका समस्त सम्बन्ध अलकसुन्दरीको कह सुनाया । अलकसुन्दरी बड़ी बुद्धिमती थी वह शीघ्र ही सब बातको अच्छी तरह समझकर उसी समय श्रीचन्द्राके माता-पिता के पास गई और स्पष्ट तथा मधुर शब्दोंमें उसकी मूर्च्छाका कारण जैसा कि उसने पहले सुना था इस प्रकार कहने लगी ॥444-449॥

इस जन्मसे पहले तीसरे जन्मकी बात है तब इसी हेमांगद देशके राजपुर नगर में वैश्यकुल शिरोमणि रत्नतेज नाम का एक सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम रत्नमाला था । यह कन्या उन दोनों की अनुपमा नाम की अतिशय रूपवती पुत्री थी । अनुपमा केवल नाम से ही अनुपमा नहीं थी किन्तु गुणों से भी अनुपमा (उपमा रहित) थी । उसी नगर में वैश्यवंश में उत्पन्न हुए कनकतेजकी स्त्री चन्द्रमाला से उत्पन्न हुआ सुवर्णतेज नाम का एक पुत्र था जो कि बहुत ही बुद्धिहीन और भाग्यहीन था । अनुपमाके माता-पिताने पहले इसी सुवर्णतेज को देनी कही थी परन्तु पीछे उसे दरिद्र और मूर्खताके कारण अपमानितकर जवाहरातका काम जाननेवाले गुणमित्र नामक किसी दूसरे वैश्य-पुत्र के लिए दे दी । अनुपमा उसके पास कुछ समय तक सुख से रही ॥450-454॥

किसी एक समय गुणमित्र जलयात्राके लिए गया था अर्थात् जहाजमें बैठकर कहीं गया था परन्तु समुद्रमें नदी के मुँहानेसे जब निकल रहा था तब किसी बड़ी भँवरमें पड़कर मर गया । उसकी स्त्री अनुपमाने जब यह खबर सुनी तब यह भी स्वयं उस स्थानपर जाकर डूब मरी । तदनन्तर उसी राजपुर नगर के गन्धोत्कट सेठके घर गुणमित्रका जीव पवनवेग नाम का कबूतर हुआ और अनुपमा रतिवेगा नाम की कबूतरी हुई । गन्धोत्कटके घर उसके बालक अक्षराभ्यास करते थे उन्हें देखकर उन दोनों कबूतर – कबूतरीने भी अक्षर लिखना सीख लिया था । गन्धोत्कट और उसकी स्त्री, दोनों ही श्रावक के व्रत पालन करते थे इसलिए उन्हें देखकर कबूतर-कबूतरीका भी उपयोग अत्यन्त शान्त हो गया था । इस प्रकार जन्मान्तरसे आये हुए स्नेहसे वे दोनों परस्पर मिलकर वहाँ बहुत समय तक सुख से रहे आये । सुवर्णतेज को अनुपमा नहीं मिली थी इसलिए वह गुणमित्र और अनुपमासे बैर बाँधकर मरा तथा मरकर बिलाव हुआ । एक दिन वह कबूतरोंका जोड़ा कहीं इच्छानुसार क्रीड़ा कर रहा था उसे देखकर उस बिलावने रतिवेगा नाम की कबूतरीको इस प्रकार पकड़ लिया जिस प्रकार कि राहु चन्द्रमा के विम्बको ग्रस लेता है ॥455-460॥

यह देख कबूतरको बड़ा क्रोध आया, उसने नख और पंखों की ताड़नासे तथा चोंचके आघातसे बिलावको मारकर अपनी स्त्री छुड़ा ली ॥ 461 ॥

किसी एक समय उसी नगर के समीपवर्ती पहाड़की गुफाके समीप पापी लोगोंने एक जाल बनाया था, पवनवेग कबूतर उसमें फँसकर मर गया तब रतिवेगा कबूतरीने स्वयं घर आकर और चोंचसे लिखकर सब लोगों को अपने पतिके मरनेकी खबर समझा दी ॥462-463 ॥ तदनन्तर उसके वियोगरूपी भारी दुःखसे पीडित होकर वह कबूतरी भी मर गई और यह आप दोनोंकी प्यारी श्रीचन्द्रा नाम की पुत्री हुई ॥ 464 ॥

आज कबूतरोंका युगल देखकर पूर्वभवका स्मरण हो आनेसे ही यह मूर्च्छित हुई थी, यह सब बात इसने मुझे साफ-साफ बतलाई है ॥ 465 ॥

इस प्रकार अलकसुन्दरीके वचन सुनकर माता-पिता अपनी पुत्रीके पतिकी तलाश करने की इच्छा से बहुत ही व्याकुल हुए ॥466 ॥ उन्होंने अपनी पुत्रीके पूर्वभवका वृत्तान्त एक पटियेपर साफ-साफ लिखवाया और नटोंमें अत्यन्त चतुर रंगतेज नाम का नट तथा उसकी स्त्री मदनलताको बुलाया, दान देकर उनका योग्य सम्मान किया, करने योग्य कार्य समझाया और 'यत्नसे यह कार्य करना' ऐसा कहकर वह चित्रपट उनके हाथमें दे दिया ॥467-468 ॥

वे नट और नटी भी चित्रपट लेकर पुष्पक वन में गये और उसे वहीं फैलाकर सब लोगों के सामने नृत्य करने लगे ॥469 ॥ इधर श्रीचन्द्राका पिता भी उसी वन में क्रीड़ा करने के लिए गया था वहाँ उसने समाधिगुप्त मुनिराजको देखकर प्रदक्षिणाएँ दीं, नमस्कार किया, धर्म का स्वरूप सुना और तदनन्तर पूछा कि हे पूज्य ! मेरी पुत्रीका पूर्वभवका पति कहाँ है ? सो कहिये । मुनिराज अवधिज्ञानरूपी दिव्य नेत्रके धारक थे इसलिए कहने लगे कि वह आज हेमाभनगर में है तथा पूर्ण यौवनको प्राप्त है ॥470-472 ॥ इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर वह राजा नट, मित्र तथा समस्त परिवारके लोगों के साथ हेमाभनगर पहुँचा और वहाँ पहुँचकर उसने मनको हरण करनेवाले एक आश्चर्यकारी नृत्यका आयोजन किया । उस नृत्यको देखनेके लिए नगर के अन्य लोगों के साथ नन्दाढ्य भी गया था ॥473-474 ॥

परन्तु वह जन्मान्तरका स्मरण हो आनेसे सहसा मूर्च्छित होगया । तदनन्तर विशेष-विशेष शीतलोपचार करनेसे जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई तब बड़े भाई जीवन्धर कुमार ने उससे कहा कि मूर्च्छा आनेका कारण बतला । इसके उत्तरमें नन्दाढ्यने चित्रका सब हाल कहकर जीवन्धरसे कहा कि वही गुणमित्रका जीव आज मैं तेरा छोटा भाई हुआ हूँ । यह सुनकर जीवन्धर कुमार बहुत ही सन्तुष्ट हुए और विवाहके लिए पहलेसे ही महामह पूजा प्रारम्भ करने लगे ॥475-477 ॥

इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और कहता हूँ उसे भी सुनो । हरिविक्रम नाम से प्रसिद्ध एक भीलों का राजा था । उसने भाई, बन्धुओंसे डरकर कपित्थ नामक वन में दिशागिरि नामक पर्वतपर वनगिरि नामक नगर बसाया था । उस वनके स्वामी भीलके सुन्दरी नाम की स्त्री थी और वनराज नाम का पुत्र था । वटवृक्ष, मृत्यु, चित्रसेन, सैन्धव, अरिन्जय, शत्रुमर्दन और अतिबल ये उस भीलके सेवक थे । लोहजंघ और श्रीषेण ये दोनों उसके पुत्र वनराज के मित्र थे । किसी एक दिन लोहजंघ और श्रीषेण दोनों ही हेमाभनगर में गये । वहाँ के वन में चाँदनीके समान श्रीचन्द्रा खेल रही थी । उसे देखकर उन दोनोंने उसकी प्रशंसा की । वहींपर पानी पीनेके लिए एक घोड़ा आया था उसे देख इन दोनोंने उस घोड़े के रक्षकका तिरस्कार कर वह घोड़ा छीन लिया और ले जाकर हरिविक्रम भीलको देकर उसे सन्तुष्ट किया । तदनन्तर हितकी इच्छा रखनेवाले वे दोनों मित्र हरिविक्रमके पाससे चलकर अन्याय मार्गका अनुसरण करने वाले उसके पुत्र वनराज के समीप गये और श्रीचन्द्राके रूप कान्ति आदि सम्पदाका अच्छी तरह वर्णन करने लगे । यह सुनकर वनराजकी उसमें अभिलाषा जागृत हो गई । वनराज पूर्वभवमें सुवर्णतेज था और श्रीचन्द्रा अनुपमा नाम की कन्या थी । उस समय सुवर्णतेज अनुपमाको चाहता था परन्तु उसे प्राप्त नहीं हो सकी थी । उसी अनुराग से उसने अपने दोनों मित्रोंसे कहा कि किसी भी उपाय से उसे मेरे पास लाओ ॥478-486 ॥ कहा ही नहीं, उसने बड़े-बड़े योद्धाओं के साथ उन दोनों मित्रोंको भेज भी दिया । दोनों मित्रोंने हेमाभ नगर में जाकर सबसे पहले कन्याके सोनेके घरका पता लगाया और फिर सुरंग लगाकर कन्याके पास पहुँचे । वहाँ जाकर उन दोनोंने इस आशयका एक पत्र लिखकर सुरंगमें रख दिया कि पुरूषार्थी श्रीषेण तथा लोहजंघ कन्याको लेकर गये हैं और जिस प्रकार रात्रिके समय चन्द्रमाकी रेखाके साथ शनि और मंगल जाते हैं उसी प्रकार हम दोनों कन्याको लेकर वनराज के समीप जाते हैं । यह पत्र तो उन्होंने सुरंगमें रक्खा और श्रीचन्द्राको लेकर

चल दिये । दूसरे दिन सूर्योदयके समय उक्त पत्र बाँचनेसे कन्या के हरे जानेका समाचार जानकर राजा ने कन्याके दोनों भाइयोंको उसे वापिस लानेके लिए प्रेरित किया । दोनों भाई शीघ्र ही गये और उनके साथ युद्ध करने लगे । अपने भाई किन्नरमित्र और यक्षमित्रको युद्ध करते देख श्रीचन्द्रा को बहुत दुःख हुआ इसलिए उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक मैं अपने नगर के भीतर स्थित अपने जिनालयके दर्शन नहीं कर लूँगी तब तक कुछ भी नहीं खाऊँगी । ऐसी प्रतिज्ञा लेकर उसने मौन धारण कर लिया ॥487-492॥

इधर वनराज के मित्र श्रीषेण और लोहजंघने युद्धमें राजा के पुत्रोंको हरा दिया और बहुत ही प्रसन्न होकर वह कन्या वनराज के लिए सौंप दी ॥493॥

जब वनराजने देखा कि श्रीचन्द्रा मुझसे विरक्त है तब उसने उसके साथ मिलानेवाले उपाय करने में चतुर अपनी दूतियाँ बुलाकर उनसे कहा कि तुम लोग किसी भी उपायसे इसे मुझपर प्रसन्न करो । वनराजकी प्रेरणा पाकर वे दूतियाँ श्रीचन्द्राके पास गई और साम-भेद आदि अनेक विधानोंको जाननेवाली वे दूतियाँ धीरे-धीरे उसके हृदय में प्रवेश करने के लिए कहने लगीं कि 'हे श्री चन्द्रे ! तू इस तरह क्यों बैठी है ? स्नान कर, कपड़े पहिन, आभूषणोंसे अलंकार कर, माला धारण कर, मनोहर भोजन कर और हम लोगों के साथ विश्वास पूर्वक सुख की कथाएँ कह ॥494-497॥

अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करते-करते यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाया है इसलिए इसे भोगोपभोग की विमुखतासे व्यर्थ ही नष्ट मत कर ॥ 498॥

इस संसार में रूप आदि गुणों की अपेक्षा वनराजसे बढ़कर दूसरा वर नहीं है यह तू अपने नेत्र अच्छी तरह खोलकर क्यों नहीं देखती है ? ॥499॥

जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती के साथ लक्ष्मी रहती थी, आभूषण जातिके वृक्षोंके समीप शोभा रहती है और पूर्ण चन्द्रमा के साथ चाँदनी रहती है उसी प्रकार तू वनराज के समीप रह । चूड़ामणि रत्नको पाकर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो उसका तिरस्कार करता हो, इस प्रकार के तथा भय देनेवाले और भी वचनों से उन दूतियोंने श्रीचन्द्राको बहुत तंग किया ॥500-501॥

वनराज के पिता हरिविक्रमने गुप्त रीतिसे कन्याका यह उपद्रव सुनकर विचार किया कि ये दूतियाँ इसे तंग करती हैं इसलिए संभव है कि कदाचित् यह कन्या आत्मघात कर ले इसलिए उसने वनराजको डाँटकर वह कन्या अपनी पुत्रियोंके साथ रख ली ॥502-503॥

इधर दृढ़मित्र आदि सब भाई-बन्धुओंने मिलकर सेना तैयार कर ली और उस सेना के द्वारा वनराजका नगर घेरकर सब आ डटे ॥504॥ उधरसे विरोधी दलके लोग भी युद्ध करने की इच्छा से बाहर निकले । यह देख दयालु जीवन्धर कुमार ने विचार किया कि युद्ध अनेक जीवोंका विधात करनेवाला है इसलिए इससे क्या लाभ होगा ? ऐसा विचार कर उन्होंने उसी समय अपने सुदर्शन यक्षका स्मरण किया । स्मरण करते ही यक्षने किसीको कुछ पीड़ा पहुँचाये बिना ही वह कन्या जीवन्धर कुमार के लिए सौंप दी सो ठीक ही है क्योंकि पापसे डरनेवाले पुरुष योग्य उपायसे ही कार्य सिद्ध करते हैं ॥505-507॥

दृढ़मित्र आदि सभी लोग कार्य सिद्ध हो जानेसे युद्ध बन्द कर नगरकी ओर चले गये परन्तु वनराज युद्धकी इच्छा से वापिस नहीं गया । यह देख, यक्षने उसे दुष्ट अभिप्रायवाला समझकर जबर्दस्ती पकड़ लिया और जीवन्धर कुमार को सौंप दिया । श्रीमान् जीवन्धर कुमार भी वनराजको कैदकर सेना के साथ सेनारम्य नाम के सरोवरके किनारे ठहर गये ॥508-510॥

वहीं उन्होंने तेजके निधि स्वरूप एक चारण मुनिराज के अकस्मात् दर्शन किये । वे मुनिराज भिक्षाके लिए आ रहे थे इसलिए जीवन्धर कुमार ने उठकर उन्हें योग्य रीतिसे नमस्कार किया और बड़ी भक्ति से यथायोग्य उत्तम आहार दिया । इस दानके फलसे उन्हें भारी पुण्यबन्ध हुआ और उसी से उन्होंने पंचाश्चर्य प्राप्त किये ॥511-512॥

उस दानका फल देखकर वनराजको अपने पूर्व जन्मका सब वृत्तान्त ज्योंका त्यों याद आ गया ॥513॥

उधर हरिविक्रम अपने पुत्र वनराजको कैद हुआ सुनकर बड़ी भारी सेना के साथ युद्ध करने के लिए आ रहा था सो यक्षने उसे भी पकड़कर जीवन्धर कुमार के हाथमें दे दिया ॥514॥

तदनन्तर वनराजने सबके सामने अपना समस्त वृत्तान्त इस प्रकार निवेदन किया कि 'मैं इस जन्मसे तीसरे जन्ममें सुवर्णतेज नाम का वैश्य पुत्र था । वहाँसे मरकर बिलाव हुआ । उस समय इस श्रीचन्द्राका जीव कबूतरी था इसलिए इसे मारनेका मैंने उद्यम किया था ।

किसी समय एक मुनिराज चारों गतियोंके भ्रमणका पाठ कर रहे थे उसे सुनकर मैंने सब वैर छोड़ दिया और मरकर यह वनराज हुआ हूँ ।

पूर्व भवके स्नेहसे ही मैंने इस श्रीचन्द्राका हरण किया था' ॥515-517॥

वनराजका कहा सुनकर सब लोगोंने निश्चय किया कि इसने अहंकार से कन्याका अपहरण नहीं किया है किन्तु पूर्वभवके स्नेहसे किया है ऐसा सोचकर सब शान्त रह गये ॥518॥

और वनराज तथा उसके पिताको बन्धनरहित कर छोड़ दिया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका धार्मिकपना यही है ॥519॥

इसके बाद वे सब लोग राजा के नगर (हेमाभनगर) में गये वहाँ दो तीन दिन ठहरकर फिर नगरशोभा, नामक नगर में गये । वहाँ कल्याणरूप भाग्यको धारण करनेवाली श्रीचन्द्रा बड़ी विभूतिके साथ धनके स्वामी युवक नन्दाढ्यको प्रदान की । इस प्रकार विवाहकी विधि समाप्त होने पर भाई-बन्धुओके साथ फिर सब लोग हेमाभनगरको लौटे । मार्ग में किसी सरोवरके किनारे ठहरे । वहाँ जाते ही मधु-मक्खियोंने उन लोगों को काट खाया तब उन लोगोंने उनके भय से लौटकर इसकी खबर जीवन्धर कुमार को दी । यह सुनकर तथा विचारकर जीवन्धर कुमार आश्चर्यमें पड़ गये और कहने लगे कि इसमें कुछ कारण अवश्य है ? कारणका पता चलानेके लिए उन्होंने उसी समय यक्षका स्मरण किया ॥520-524॥

यक्ष शीघ्र ही आ गया और उसने उसकी सब खेचरी विद्या नष्ट कर शीघ्र ही उस विद्याधरको जीवन्धर कुमार के आगे लाकर खड़ा कर दिया ॥525॥

तब जीवन्धर कुमार ने उससे पूछा कि तू इस सरोवरकी रक्षा किस लिए करता है ? इस प्रकार कुमार के पूछने पर वह विद्याधर अच्छी तरह कहने लगा कि हे भद्र ! मेरी कथाको चित्त लगाकर सुनिये, मैं कहता हूँ । पहले जन्ममें मैं राजपुर नगर में अत्यन्त धनी पुष्पदन्त मालाकारकी स्त्री कुसुमश्री का जातिभट नाम का पुत्र था । उसी नगर में धनदत्तकी स्त्री नन्दिनीसे उत्पन्न हुआ चन्द्राभ नाम का पुत्र था । वह मेरा मित्र था, किसी एक समय आपने उस चन्द्राभके लिए धर्म का स्वरूप कहा था उसे सुनकर मेरे हृदय में भी धर्मप्रेम उत्पन्न हो गया ॥526-529॥

और मैंने उसी समय मद्य-मांस आदिका त्याग कर दिया उसके फलसे मरकर मैं यह विद्याधर हुआ । किसी समय मैंने सिद्धकूट जिनालयमें दो चारण मुनियों के दर्शन किये । मैं बड़ी विनय से उनके पास पहुँचा और उनके समीप अपने तथा आपके पूर्वभवका सम्बन्ध सुनकर आपके दर्शन करने के लिए ही अन्य लोगों के प्रवेशसे इस सरोवरकी रक्षा करता हुआ यहाँ रहता हूँ । उन मुनिराजने अपने दिव्य अवधिज्ञान से देखकर जो आपके पूर्वभवका सम्बन्ध बतलाया था उसे अब मैं कहता हूँ ॥530-532॥

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मेरू सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है । उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में राजा जयन्धर राज्य करता था । उसकी जयवती रानीसे तू जयद्रथ नाम का पुत्र हुआ था । किसी एक समय वह जयद्रथ क्रीड़ा करने के लिए मनोहर नाम के वन में गया था वहाँ उसने सरोवर के किनारे एक हंसका बच्चा देखकर कौतुक वश चतुर सेवकोंके द्वारा उसे बुला लिया और उसके पालन करनेका उद्योग करने लगा । यह देख, उस बच्चेके माता-पिता शोक सहित होकर आकाश में बार-बार करुण क्रन्दन करने लगे । उसका शब्द सुनकर तेरे एक सेवकने कान तक धनुष खींचा और एक बाण से उस बच्चेके पिताको नीचे गिरा दिया सो ठीक ही है क्योंकि पापी मनुष्यों को नहीं करने योग्य कार्य क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥533-537॥

यह देख जयद्रथकी माताका हृदय दया से आर्द्र हो गया और उसने पूछा कि यह क्या है ? सेवक से सब हाल जानकर वह सती व्यर्थ ही पक्षीके पिताको मारनेवाले सेवक पर बहुत कुपित हुई तथा तुझे भी डाँटकर कहने लगी कि हे पुत्र ! तेरे लिए यह कार्य उचित नहीं है, तू शीघ्र ही इसे इसकी मातासे मिला दे । इसके उत्तरमें तूने कहा कि यह कार्य मैंने अज्ञान वश किया है । इस प्रकार आर्द्र परिणाम होकर अपने आपकी बहुत ही निन्दा की और जिस दिन उस बालक को पकड़वाया था उसके सोलहवें दिन, जिस प्रकार वर्षाकाल चातकको सजल मेघमाला से मिला देता है, वसन्त ऋतु फूलको आमकी लताके साथ मिला देता है और सूर्योदय भ्रमरको कमलिनीके साथ मिला देता है उसी प्रकार उसकी माताके साथ मिला दिया ॥538-542॥

इस प्रकार के अन्य कितने ही विनोदोंसे जयद्रथका काल निरन्तर सुख से बीत रहा था कि एक दिन उसे किसी कारणवश भोगों से वैराग्य हो गया फल-स्वरूप राज्य का भार छोड़कर उसने तपश्चरणका भार धारण कर लिया और जीवनके अन्त में शरीर छोड़कर सहस्रार स्वर्ग में देव पर्याय प्राप्त कर ली ॥543-544॥

वहाँ वह अठारह सागर की आयु तक दिव्य भोगों से सन्तुष्ट रहा । तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर पुण्य पाप के उदय से यहाँ उत्पन्न हुआ है ॥

545॥

जिस सेवकने हंसको मारा था वह काष्ठांगारिक हुआ है और उसीने तुम्हारा जन्म होने के पहले ही युद्धमें तुम्हारे पिताको मारा है । तुमने हंसके बच्चेको सोलह दिन तक उसके माता-पितासे जुदा रक्खा था उसी पाप के फलसे तुम्हारा सोलह वर्ष तक भाई-बन्धुओं के साथ वियोग हुआ है । इस प्रकार विद्याधरकी कही कथा सुनकर जीवन्धरकुमार कहने लगे कि तू मेरा कल्याणकारी बन्धु है ऐसा कह कर उन्होंने उसका खूब सत्कार किया ॥546-548॥

तदनन्तर वे बड़ी प्रसन्नतासे सबके साथ हेमाभ नगर आये और इष्ट जनों के साथ इच्छानुसार कामभोगका सुख भोगते हुए रहने लगे ॥ 549॥

सुधर्माचार्य राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! यह तुझे प्रकृत बात बतलाई । अब इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कही जाती है । जिस दिन नन्दाढ्य राजपुर नगरसे निकल गया उसके दूसरे ही दिन मधुर आदि मित्रोंने गन्धर्वदत्तासे पूछा कि दोनों कुमार कहाँ गये हैं ? तू सब जानती है, बतला । इसके उत्तरमें गन्धर्वदत्ताने बड़े आदरसे कहा कि आप लोग उनकी चिन्ता क्यों करते हैं वे दोनों भाई सुजन देशके हेमाभ नगर में सुख से रहते हैं ॥550-552॥

इस प्रकार गन्धर्वदत्ता से उनके रहनेका स्थान जानकर मधुर आदि सब मित्रोंको उनके देखनेकी इच्छा हुई और वे सब अपने आत्मीय जनोंसे पूछकर तथा उनसे बिदा लेकर सन्तोषके साथ चल पड़े ॥553॥

चलते-चलते उन्होंने दण्डक वन में पहुँचकर तपस्वियोंके आश्रममें विश्राम किया । कौतुकवश वहाँ की तापसी स्त्रियाँ आकर उन्हें देखने लगीं । उन स्त्रियोंमें महादेवी विजया भी थी, वह उन सबको देखकर कहने लगी कि आप लोग कौन हैं ? कहाँसे आये हैं ? और कहाँ जावेंगे ? विजयाने यह सब बड़े स्नेहके साथ पूछा ॥554-555॥

जब मधुर आदिने अपना सब वृत्तान्त कहा तब वह, यह स्पष्ट जानकर बहुत ही सन्तुष्ट हुई कि यह युवाओं का संघ मेरे ही पुत्रका परिवार है । उसने फिर कहा कि आज आप लोग यहाँ विश्राम कर जाइये और आते समय उसे यहाँ ही लाइये ॥556-557॥

इस प्रकार उसने उन लोगोंसे अच्छी तरह प्रार्थना की । वह देवी रूपकी अपेक्षा जीवन्धरके समान ही थी इसलिए सबको संशय हो गया कि शायद यह जीवन्धरकी माता ही हो । तदनन्तर उन लोगोंने प्रिय और अनुकूल वचनोंके द्वारा उस देवीको सन्तुष्ट किया और कहा कि हमलोग ऐसा ही करेंगे । इसके बाद वे आगे चले, कुछ ही दूर जाने पर उन्हें भीलोंने दुःखी किया परन्तु वे अपने पुरुषार्थसे युद्ध में भीलोंको हराकर इच्छानुसार आगे बढ़े । आगे चलकर मार्ग में ये सब लोग दूसरे भीलोंके साथ मिल गये और सबने हेमाभ नगर में जाकर वहाँके सेठोंको लूटना शुरू किया । इससे क्षुभित हुए नगरवासी लोगोंने हाथ ऊपर कर तथा जोर-जोरसे चिल्लाकर जीवन्धर कुमार को इस कार्यकी सूचना दी । निदान, अचिन्त्य पराक्रमके धारक दयालु जीवन्धर कुमार ने जाकर युद्धमें वह भीलोंकी सेना रोकी और उनके द्वारा हरण किया हुआ सब धन छीनकर वैश्योंके लिए वापिस दिया । इधर मधुर आदिने चिरकाल तक युद्ध कर अपने नाम से चिन्हित बाण चलाये थे उन्हें देखकर जीवन्धर कुमार ने उन सबको पहिचान लिया । तदनन्तर उन सबका जीवन्धर कुमारसे मिलाप हो गया और सब लोग कुमार के लिए राजपुर नगरकी सब कथा सुनाकर वहाँ कुछ काल तक सुख से रहे । इसके बाद वे कुमार को लेकर अपने नगरकी ओर चले । विश्राम करने के लिए वे उसी दण्डक वन में आये । वहाँ उन्हें महादेवी विजया मिली, स्नेहके कारण उसके स्तन दूधसे भरकर ऊँचे उठ रहे थे, नेत्र आँसूओंसे व्याप्त होकर मलिन हो रहे थे, शरीर-यष्टि अत्यन्त कृश थी, वह हजारों चिन्ताओंसे सन्तप्त थी, उसके शिरके बाल जटा रूप हो गये थे, निरन्तर गरम श्वास निकलनेसे उसके ओठोंका रंग बदल गया था और पान आदिके न खानेसे उसके दाँतों पर बहुत भारी मैल जमा हो गया था । जिस प्रकार रूक्मिणी प्रद्युम्नको देखकर दुखी हुई थी उसी प्रकार विजया महादेवी भी पुत्रको देखकर शोक करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट पदार्थका बहुत समय बाद देखना तत्कालमें दुःखका कारण होता ही है ॥ 558-569॥

पुत्र के स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुख रूपी अमृत का जिसने स्पर्श नहीं किया है ऐसी माताको उस सुख का अनुभव कराते हुए जीवन्धर कुमार हाथ जोड़कर उसके चरण-कमलोंमें गिर पड़े ॥570॥

'हे कुमार ! उठ, सैकड़ों कल्याणोंको प्राप्त हो' इस प्रकार सैकड़ों आशीर्वादोंसे उन्हें प्रसन्न कर विजया महादेवी बड़े स्नेहसे इस प्रकार कहने लगी ॥571॥

कि 'हे कुमार ! तुझे देखने से जो मुझे सुख उत्पन्न हुआ है उसके समागम रूपी शत्रुसे ही मानो डरकर मेरा दुःख अकस्मात् भाग गया है' ॥ 572॥

इस प्रकार वह महादेवी पुत्र के साथ बातचीत कर रही थी कि इसी बीच में कुमार के स्नेहसे वह चतुर यक्ष भी बड़ी शीघ्रता से वहाँ आ पहुँचा ॥573॥

उसने आकर उत्तम जैनधर्मके वात्सल्यसे स्नान् माला, लेपन, समस्त आभूषण, वस्त्र तथा भोजन आदिके द्वारा सबका अलग-अलग सत्कार किया । तदनन्तर उसने युक्तियों से पूर्ण और तत्त्वसे भरे हुए मधुर वचनों से तथा प्रद्युम्न आदिकी कथाओंसे माता और पुत्र दोनोंका शोक दूर कर दिया । इस प्रकार आदर-सत्कार कर वह यक्ष अपने स्थान की ओर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता वही है जिसका कि मित्र लोग आपत्तिके समय अनुभव करते हैं ॥574-576॥

इसके बाद विजयादेवीने 'यह महा पुण्यात्मा है' ऐसा विचार कर बुद्धि और बलसे सुशोभित कुमार को अलग ले जाकर इस प्रकार कहा कि 'राजपुर नगर के सत्यन्धर महाराज तेरे पिता थे उन्हें मार कर ही काष्ठांगारिक राज्य पर बैठा था अतः वह तेरा शत्रु है । तू तेजस्वी है अतः तुझे पिताका स्थान छोड़ देना योग्य नहीं है' इस प्रकार माताके कहे हुए वचन सुनकर और अच्छी तरह समझकर जीवन्धर कुमार ने विचार किया कि 'समय और साधनके बिना प्रकट हुई शूर-वीरता फल देनेके लिए समर्थ नहीं है अतः धान्यकी तरह उस काल की प्रतीक्षा करनी चाहिये जो कि कार्यका साधक है' । जीवन्धर कुमार को यद्यपि क्रोध तो उत्पन्न हुआ था परन्तु उक्त विचार कर उन्होंने उसे हृदय में ही छिपा लिया और मातासे कहा कि हे अम्ब ! यह कार्य पूरा होने पर मैं तुझे लेने के लिए नन्दाढ्यको सेनापति बनाकर सेना भेजूँगा तब तक कुछ दिन तू शोक रहित हो यहीं पर रह । ऐसा कहकर तथा उसके योग्य समस्त पदार्थ और कुछ परिवारको उसके समीप रखकर महाबुद्धिमान् जीवन्धर कुमार स्वयं राजपुर चले गये ॥577-583॥

राजपुर नगर के समीप जाकर उन्होंने अपने सेवक आदि सब लोगों को अलग-अलग यह कहकर कि 'किसीसे मेरे आनेकी खबर नहीं कहना' पहले ही नगर में भेज दिया और स्वयं विद्यामयी अँगूठीके प्रभाव से वैश्यका वेष रखकर नगर में प्रविष्ट हो किसी की दूकान पर जा बैठे ॥584-585॥

वहाँ उनके समीप बैठ जानेसे सागरदत्त सेठको अनेक रत्न आदिके पिटारे तथा और भी अपूर्व वस्तुओं का लाभ हुआ । यह देख उसने विचार किया कि 'निमित्तज्ञानीने जिसके लिए कहा था यह वही पुरुष है, ऐसा विचार कर उसने अपनी स्त्री कमलासे उत्पन्न हुई विमला नाम की पुत्री उन्हें समर्पित कर दी ॥586-587॥

विवाहके बाद जीवन्धर कुमार कुछ दिन तक सागरदत्त सेठके यहाँ सुख से रहे । तदनुसार किसी अन्य समय परिव्राजकका वेष रखकर काष्ठांगारिककी सभा में गये । वहाँ प्रवेश कर तथा काष्ठांगारको देखकर उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि 'हे राजन् ! सुनो, मैं एक गुणवान् अतिथि हूँ, तुझसे भोजन चाहता हूँ, मुझे खिला दे' । यह सुकर काष्ठांगारिकने उसे भोजन कराना स्वीकृत कर लिया । 'यह निमित्त, मेरे उद्योग रूपी फल को उत्पन्न करने के लिए मानो फूल ही है' ऐसा विचार कर उन्होंने अगली आसन पर आरूढ़ होकर भोजन किया और भोजनोपरान्त वहाँसे चल दिया । तदनन्तर उन्होंने राजाओं के समूहमें जाकर अलग-अलग यह घोषणा कर दी कि 'मेरे हाथमें प्रत्यक्ष फल देनेवाला वशीकरण चूर्ण आदि उत्तम औषधि है जिसकी इच्छा हो वह ले ले' उनकी यह घोषणा सुनकर सब लोग हँसी करते हुए कहने लगे कि देखो इसकी निर्लज्जता । इसका ऐसा तो बुढ़ापा है फिर भी वशीकरण चूर्ण, अन्नजन तथा बन्धक आदिकी औषधियाँ रखे हुए है । इस प्रकार कहते हुए उन लोगोंने हँसी कर कहा कि 'हे ब्राह्मण ! इस नगर में एक गुणमाला नाम की प्रसिद्ध कन्या है । 'जीवन्धरने मेरे चूर्णकी सुगन्धिकी प्रशंसा नहीं की है' इसलिए वह पुरुष मात्रसे द्वेष रखने लगी है । तू अपने चूर्ण तथा अन्नजन आदिसे पहले उसे वशमें कर ले, बादमें यह देख हम सब लोग तेरे मन्त्र तथा औषधि आदिको बहुत भारी मूल्य देकर खरीद लेंगे' ॥588-596॥ इस प्रकार लोगों के कहने पर वह ब्राह्मण कोधित-सा होकर कहने लगा कि तुम्हारा जीवन्धर मूर्ख होगा, वह चूर्णोंकी सुगन्धि आदिके भेदकी परीक्षा करना क्या जाने ॥597॥

इसके उत्तरमें सब लोग क्रोधित होकर उस ब्राह्मणसे कहने लगे कि 'जीवन्धर मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं' इसका विचार किये बिना ही तू उनके प्रति इच्छानुसार यह क्या बक रहा है ॥598॥

हे मिथ्याशास्त्रसे उद्वेग ! क्या तूने यह लोक-प्रसिद्ध कहावत नहीं सुनी है कि अपनी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दामें मरणसे कुछ विशेषता

(अंतर) नहीं हैं अर्थात् मरणके ही समान है ॥599॥

इस प्रकार उन लोगों के द्वारा निन्दित हुआ ब्राह्मण कहने लगा कि तो क्या आप जैसे लोग मेरी भी प्रशंसा करनेवाले नहीं हैं ? 'मैं भी कोई पुरुष हूँ' इस तरह अपनी प्रशंसा कर उस उद्धत ब्राह्मण ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं क्षणभरमें गुणमालाको अपनी घटदासी बना लूँगा' । ऐसी प्रतिज्ञा कर वह गुणमाला के घरकी ओर चल पड़ा । वहाँ जाकर तथा एक दासीको बुलाकर उसने कहा कि तुम अपनी मालकिनसे कहो कि द्वार पर कोई ब्राह्मण खड़ा है ॥600-602॥

दासीने भी अपनी मालकिनको ब्राह्मणकी कही हुई बात समझा दी । गुणमाला ने अपनी अनुमति से आये हुए उस वृद्ध ब्राह्मण का यथायोग्य सत्कार कर पूछा कि 'आप कहाँसे आये हैं और यहाँसे कहाँ जावेंगे ?' गुणमाला के इस प्रश्नके उत्तरमें उसने कहा कि 'यहाँ पीछेसे आया हूँ और आगे जाऊँगा' । ब्राह्मणकी बात सुनकर कन्या गुणमाला के समीपवर्ती लोग हँसने लगे । यह देख, ब्राह्मण ने भी उनसे कहा कि इस तरह आप लोग हँसी न करें बुढ़ापा विपरीतता उत्पन्न कर देता है, क्या आप लोगोंका भी बुढ़ापा नहीं आवेगा ? ॥ 603-606॥

तदनन्तर उन लोगोंने फिर पूछा कि आप आगे कहाँ जावेंगे ? ब्राह्मण ने कहा कि जबतक कन्या तीर्थकी प्राप्ति नहीं हो जावेगी तबतक मेरा गमन होता रहेगा ॥607॥

इस प्रकार ब्राह्मण का कहा उत्तर सुनकर सबने हँसते हुए कहा कि यह शरीर और अवस्थासे बूढ़ा है, मनसे बूढ़ा नहीं है । तदनन्तर गुणमाला ने उसे अग्र आसन पर बैठाकर स्वयं भोजन कराया और फिर कहा कि अब आपकी जहाँ इच्छा हो वहाँ शीघ्र ही जाइये ॥ 608-609॥

इसके उत्तरमें ब्राह्मण ने कहा कि 'हे भद्र ! तूने ठीक कहा' इस तरह उसकी प्रशंसा करता और डगमगाता हुआ वह ब्राह्मण लाठी टेक कर बड़ी कठिनाई से उठा और उसकी शय्यापर इस प्रकार चढ़ गया मानो उसने इसे चढ़नेकी आज्ञा ही दे दी हो । यह देख, दासियाँ कहने लगीं कि इसकी निर्लज्जता देखो । वे हाथ पकड़ कर उसे शय्यासे दूर करने के लिए उद्यत हो गई । तब ब्राह्मण ने कहा कि आप लोगोंने ठीक ही तो कहा है, यथार्थमें लज्जा स्त्रियोंमें ही होती है पुरुषोंमें नहीं, यदि उनमें भी स्त्रियों के समान ही लज्जा होने लगे तो फिर स्त्रियों के साथ काम से संस्कृत किया हुआ उनका समागम कैसे हो सकता है ? ॥610-613॥

इस प्रकार वृद्ध ब्राह्मणकी बात सुनकर गुणमाला ने विचार किया कि यह केवल ब्राह्मण ही नहीं है किन्तु रूपपरावर्तनी विद्याके द्वारा रूप बदल कर कोई अन्य पुरुष यहाँ आया है । ऐसा विचार कर उसने दासियोंको रोक दिया और उस ब्राह्मणसे कहा कि क्या दोष है ? आप मेरे पाहुने हैं अतः इस शय्यापर बैठिये ॥614-615॥

रात्रि समाप्त होने पर शुद्ध तथा देशज स्वरके भेदोंको जाननेवाले उस वृद्ध ब्राह्मण ने चिरकाल तक श्रोत्र तथा मनको हरण करनेवाले मधुर गीत गाये । गन्धर्वदत्ताके विवाहके समय जीवन्धर कुमार ने जो अलंकार सहित मनोहर गीत गाये थे उन्हें सुनकर गुणमालाको जैसा सुख हुआ था वैसा ही सुख इस वृद्ध के गीत सुनकर हुआ । सबेरा होने पर गुणमाला ने बड़ी विनयके साथ उसके पास जाकर पूछा कि आपको किन-किन शास्त्रोंका अच्छा ज्ञान है ? ॥616-618॥

इसके उत्तरमें ब्राह्मण ने कहा कि मैंने बड़े यत्नसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्रका बार-बार अभ्यास किया है । उनमें धर्म और अर्थके फलका निश्चय कामशास्त्रसे ही होता है । वह किस प्रकार होता है ? यदि यह जानना चाहती हो तो मैं इसका कुछ निरूपण करता हूँ । इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके स्पर्श आदि विषय भी पाँच ही हैं । उनमेंसे स्पर्शके कर्कश आदि आठ भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं । विद्वानोंने मधुर आदिके भेदसे रस भी छह प्रकार का कहा है । सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप चेतन अचेतन वस्तुओंमें पाया जानेवाला सब तरहका गन्ध भी कृतक और सहजके भेदसे दो प्रकार का माना गया है । श्वेत, कृष्ण आदिके भेदसे रूप पाँच तरहका कहा गया है और जीव तथा अजीवसे उत्पन्न हुए षड्ज आदि स्वर सात तरह के होते हैं । इस प्रकार सब मिलाकर पाँचों इन्द्रियों के अट्टाईस विषय होते हैं । इनमेंसे प्रत्येकके इष्ट, अनिष्टकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं अतः सब मिलकर छप्पन हो जाते हैं ॥619-624॥

इनमें जो इष्ट विषय हैं वे पुण्य करनेवालोंको प्राप्त होते हैं, धर्म से पुण्य होता है और निषिद्ध विषयोंका त्याग करना ही सज्जनोंने धर्म कहा है ॥625॥

इसलिए जो बुद्धिमान् मनुष्य निषिद्ध विषयोंको छोड़कर शेष विषयोंका अनुभव करते हैं वे ही इस लोक में कामशास्त्रके जाननेवाले कहे

जाते हैं ॥626॥

यह कहने के बाद उस ब्राह्मण ने गुणमाला से कहा कि तू जिन विषयोंका अनुभव करती है उनमेंसे कितनेमें ही अनेक दोष हैं । इस तरह ब्राह्मण का कहा सुनकर गुणमाला ने उससे कहा कि आप उन दोषों को दूर करने के लिए उपदेश कीजिये मैं आपकी शिष्या हो जाऊँगी । ऐसा कहनेपर उस ब्राह्मण ने गुणमालाको कला आदिकी शिक्षा देकर निपुण बना दिया ॥627-628॥

एक दिन वे सब लोग विहार करने के लिए वन में गये थे । वहाँ जब वह एकान्त स्थान में गुणमाला के साथ बैठा था तब उसने अपना स्वाभाविक रूप दिखा दिया । उसे देखकर कन्याको संशय उत्पन्न हो गया और वह सती लज्जासहित चुप बैठ गई । यह देखकर ब्राह्मण ने सुगन्धित चूर्णसे सम्बन्ध रखनेवाली प्राचीन कथाएँ कह कर बहुत ही शीघ्र उसे विश्वास दिला दिया ॥629-631॥

तदनन्तर वह उसी ब्राह्मण का रूप धारण कर पुष्पशय्यापर बैठ गया और गुणमाला भी स्नेह वश उसके पैर दाबने लगी । यह देख, वे सब राजकुमार आश्चर्यमें पड़ कर ब्राह्मणके मन्त्र आदिकी स्तुति करने लगे ॥632-633॥

इसके बाद ब्राह्मण-वेषधारी जीवन्धर कुमार वन से अपने घर आ गये और गुणमाला ने भी अपने माता-पितासे जीवन्धर कुमार के आनेका समाचार कह दिया ॥634॥

निदान, उसके माता-पिताने विधि-पूर्वक विवाह कर उसे जीवन्धर कुमारकी प्रिया बना दी । इसके बाद वह जीवन्धर कुछ दिन तक वहीं पर गुणमाला के साथ रहा और सब भाई-बन्धुओं के साथ सुख का उपभोग करता रहा । तदनन्तर सब लोग जिनके बड़े भारी भाग्य की प्रशंसा कर रहे थे ऐसे, उत्कृष्ट वैभवको धारण करनेवाले जीवन्धर कुमार ने विजयगिरि नामक गन्धगज पर सवार होकर चतुरंग सेना के साथ गन्धोत्कटके घर में प्रवेश किया ॥635-636॥

इस उत्सवकी बात सुनकर काष्ठांगारिक बहुत कुपित हुआ । वह कहने लगा कि देखों उन्मत्त हुआ यह वैश्यका लड़का मुझसे कुछ भी नहीं डरता है । इस प्रकार कहकर वह प्रकट रीतिसे क्रोध करने लगा । यह देख, श्रेष्ठ मंत्रियोंने उसे समझाया कि ये जीवन्धर कुमार हैं, पुण्य के उदय से इन्हें अभ्युदय की प्राप्ति हुई है, साक्षात् लक्ष्मी के समान गन्धर्वदत्तासे सहित हैं, यक्ष रूपी अखण्ड मित्रने इनकी वृद्धि की है, मधुर आदि अनेक मित्रोंसे सहित हैं अतः महान् हैं और अजेय पराक्रमके धारक हैं इसलिए इनके साथ द्वेष करना योग्य नहीं है । फिर बलवान् के साथ युद्ध करनेका कोई कारण भी नहीं है । इत्यादि युक्ति पूर्ण वचनोंके द्वारा मन्त्रियोंने काष्ठांगारिकको शीघ्र ही शान्त कर दिया ॥

637-643॥

सुधर्माचार्य राजा श्रेणिक से कहते हैं कि अब इससे भिन्न एक दूसरी प्रकृत कथा और कहता हूँ । विदेह देशमें एक विदेह नाम का प्रसिद्ध नगर है । राजा गोपेन्द्र उसकी रक्षा करते हैं, शत्रुओं को नष्ट करने वाले राजा गोपेन्द्रकी रानीका नाम पृथिवी सुन्दरी है और उन दोनोंके एक रत्नवती नाम की कन्या है । रत्नवतीने प्रतिज्ञा की थी कि जो चन्द्रक वेधमें चतुर होगा मैं उसे ही माला से अलंकृत करूँगी-अन्य किसी पुरुषको अपना पति नहीं बनाऊँगी । कन्याकी ऐसी प्रतिज्ञा जानकर उसके पिताने विचार किया कि इस समय धनुर्वेदको जाननेवाले और अतिशय ऐश्वर्यशाली जीवन्धर कुमार ही हैं अतः उनके पास ही यह कन्या लिये जाता हूँ । ऐसा विचार कर वह राजा कन्याको साथ लेकर अपनी सब सेना के साथ-साथ राजपुर नगर पहुँचा और वहाँ जाकर उसने स्वयंवर विधिकी घोषणा करा दी ॥

644-647॥

उस घोषणाको सुनकर सभी भूमिगोचरी और विद्याधर राजा उस कन्याके साथ विवाह करने के लिए राजपुर नगर में जा पहुँचे ॥648॥ स्वयंवरके समय उस चन्द्रक यन्त्रके वेधनेमें अनेक राजा स्खलित हो गये-चूक गये । उन्हें देख, जीवन्धर कुमार उठे । सबसे पहले उन्होंने सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार किया, फिर अपने गुरु आर्यवर्मा की विनय की और फिर जिस प्रकार बालसूर्य उदयाचलकी शिखरपर आरूढ़ होता है उसी प्रकार उस चक्र पर आरूढ़ हो गये । उस समय वे अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे, उन्होंने बिना किसी भूलके चन्द्रकयन्त्र का वेध कर दिया । और दिशाओं के तट तक गूँजनेवाला सिंहनाद किया ॥649-651॥

उसी समय धनुष विद्याके जाननेवाले लोग उनकी प्रशंसा करने लगे कि इन्होंने अच्छा निशाना मारा और कन्या रत्नवतीने भी प्रसन्न होकर उनके गलेमें माला पहिनाई ॥652॥

उस सभा में जो सज्जन पुरुष विद्यमान थे वे यह कहते हुए बहुत ही प्रसन्न हो रहे थे कि जिस प्रकार शरद् ऋतु और हंसावली का समागम योग्य होता है उसी प्रकार इन दोनों का समागम भी योग्य हुआ है ॥653॥

जो बुद्धिमान् मध्यम पुरुष थे वे यह सोचकर उदासीन हो रहे थे कि सब जगह पुण्यात्माओंकी विजय होती ही है इसमें आश्चर्य की क्या बात है ॥654॥

और जो काष्ठांगारिक आदि नीच मनुष्य थे वे जीवन्धरसे पहले भी पराभव प्राप्त कर चुके थे अतः उस सब पराभवका स्मरण कर दुष्ट क्रोधसे प्रेरित हो रहे थे । वे पापी भयंकर युद्धके द्वारा कन्या को हरण करनेका उद्यम करने लगे । नीति-निपुण जीवन्धर कुमार ने उनकी यह विषमता जान ली जिससे उन्होंने उसी समय भेंट लेकर तथा निम्नलिखित सन्देश देकर बहुतसे दूत सत्यन्धर महाराज के सामन्तोंके पास भेजे ॥655-657॥

'मैं सत्यन्धर महाराजकी विजया रानीसे उत्पन्न हुआ पुत्र हूँ । अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से मैं उत्पन्न होने के बाद ही अपने माता-पितासे वियुक्त होकर गन्धोत्कट सेठके घर में वृद्धि को प्राप्त हुआ हूँ । यह पापी काष्ठांगारिक काष्ठांगार (कोयला) बेचकर अपनी आजीविका करता था परन्तु आपके महाराज ने इसे मन्त्री बना लिया था । यह राजसी प्रकृति अत्यन्त नीच पुरुष है । छिद्र पाकर इस दुराशयने साँपकी तरह उन्हें मार दिया और स्वयं उनके राज्य पर आरूढ़ हो गया । यह न केवल मेरे ही द्वारा नष्ट करने के योग्य है परन्तु शत्रु होनेसे आप लोगों के द्वारा भी नष्ट करने के योग्य है । यदि आज यह रसातलमें भी चला जाय तो भी मेरे द्वारा अवश्य ही मारा जायगा । आप लोग सत्यन्धर महाराज के सामन्त हैं, उनके भक्त हैं, योद्धा हैं, उनके द्वारा पुष्ट हुए हैं, अतिशय उदार हैं और कृतज्ञ हैं इसलिए आप तथा अन्य अनुजीवी लोग इस कृतघ्नको अवश्य ही नष्ट करें' ॥658-663॥

सामन्त लोग जीवन्धर कुमारका सन्देश सुनकर कहने लगे कि यह सचमुच ही राजपुत्र है । इस तरह सम्मान कर बहुतसे सामन्त उनके साथ आ मिले ॥664॥

तदनन्तर-अपनी सेना तैयार कर जीवन्धर कुमार ने स्वयं ही उस पर चढ़ाई की और चिरकाल तक नाना प्रकार का युद्ध कर उसकी सेना को हरा दिया ॥665॥

जीवन्धर कुमार, मदोन्मत्त तथा अतिशय बलवान् विजयगिरि नामक हाथी पर सवार थे और जिसकी आज्ञा बहुत समय से जमी हुई थी ऐसा उद्धत काष्ठांगारिक अशनिवेग नामक प्रसिद्ध हाथी पर आरूढ़ था । जीवन्धर कुमार ने क्रोधमें आकर चक्र से शत्रु काष्ठांगारिकको मार गिराया, यह देख उसकी सेना भय से भागने लगी तब जीवन्धर कुमार ने अभय घोषणा कर सबको आश्वासन दिया ॥666-668॥ तदनन्तर कुमार ने अपने सब भाई-बन्धुओं को बुलाया और सबको नम्र देखकर उस काल के योग्य सम्भाषण आदिके द्वारा सबको हर्ष प्राप्त कराया ॥669॥

इसके बाद जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर उत्तम मांगलिक क्रियाएँ की गई और फिर यक्ष तथा सब राजाओंने मिलकर जीवन्धर कुमारका राज्याभिषेक किया । तदनन्तर रत्नवतीके साथ विवाहका महोत्सव प्राप्त कर गन्धर्वदत्ताको महारानीका पट्टबन्ध बाँधा ॥670-671॥ नन्दाढ्य आदि जाकर माता विजयाको तथा हेमाभा आदि अन्य स्त्रियोंको ले आये । उन सबके साथ जीवन्धर कुमार परम ऐश्वर्याको प्राप्त हुए । उस समय वे अतिशय बलवान् थे और जिसके समस्त शत्रु नष्ट कर दिये गये हैं ऐसी समस्त प्रजा का नीतिपूर्वक पालन करते थे । और पुण्य के फलस्वरूप अनायास ही प्राप्त हुए इष्ट भोगों का लीलापूर्वक उपभोग करते हुए सुख से रहते थे ॥672-673॥

किसी एक समय महाराज जीवन्धर सुरमलय नामक उद्यानमें विहार कर रहे थे वहाँ पर उन्होंने वरधर्म नामक मुनिराज के दर्शन किये, उनके समीप जाकर नमस्कार किया, उनसे तत्त्वोंका स्वरूप जाना और व्रत लेकर सम्यग्दर्शन को निर्मल किया । नन्दाढ्य आदि भाइयोंने भी सम्यग्दर्शन व्रत और शील धारण किये । इस प्रकार जीवन्धर महाराज अपने इन आप्त जनों के साथ सुख से समय बिताने लगे । तदनन्तर वे किसी एक दिन अशोक वन में गये वहाँ पर जिनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी ऐसे दो बन्दराके झुण्डोंको परस्पर लड़ते हुए देख संसार से विरक्त हो गये । उसी वनके मध्य में एक प्रशस्तवंक नाम के चारण मुनि विराजमान थे इसलिए जीवन्धर महाराजने बड़े आदरसे उनके दर्शन किये और पहले सुने अनुसार अपने पूर्वभवोंकी परम्परा सुनी ॥674-678॥

तदनन्तर उन्होंने जिन-पूजाकर अपनी विशुद्धता बढ़ाई फिर उसी सुरमलय उद्यानमें श्री वीरनाथ जिनेन्द्रका आगमन सुना, सुनते ही बड़े वैभवके साथ वहाँ जाकर उन्होंने परमेश्वरकी पूजा की और गन्धर्वदत्ता महादेवीके पुत्र वसुन्धर कुमार के लिये विधिपूर्वक राज्य दिया । जिनका मोह शान्त हो गया है और जिनका मन अतिशय विशाल है ऐसे उन जीवन्धर महाराजने अपने मामा आदि राजाओं और नन्दाढ्य मधुर आदि भाइयोंके साथ सर्व परिग्रहका त्याग कर संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि जो राजा लोग भोग भोग चुकते हैं वे

अन्त में आकांक्षा रहित हो ही जाते हैं ॥679-682॥

सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाली गन्धर्वदत्ता आदि आठों रानियोंने तथा उन रानियोंकी माताओंने सत्यन्धर महाराजकी महादेवी विजयाके साथ चन्दना आर्याके समीप उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि एक ही बड़ा पुरुष अनेक लोगोंकी अर्थ-सिद्धिका कारण हो जाता है ॥683-684॥

सुधर्माचार्य राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! तूने जिनके विषय में पूछा था वे यही जीवन्धर मुनिराज हैं, ये बड़े तपस्वी हैं और इस समय श्रुतकेवली हैं । घातिया कर्मों को नष्ट कर ये अनगरकेवली होंगे और श्री महावीर भगवान् के साथ विहार कर उनके मोक्ष चले जानेके बाद विपुलाचल पर्वत पर समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्षका उत्कृष्ट सुख प्राप्त करेंगे - वहाँ ये अष्टगुणों से सम्पूर्ण, कृतकृत्य और निरन्जन - कर्म - कालिमासे रहित हो जावेंगे ॥685-687॥

इस प्रकार सुधर्माचार्य गणधरके वचनानुसार पानकर राजा श्रेणिक बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि धर्म किसकी प्रीतिके लिए नहीं होता ? ॥688॥

जिन्होंने पूर्व पुण्य कर्म के उदय से अन्य लोगों को दुर्लभ आठ कन्याएँ प्राप्त कीं, जिन्होंने पिताका घात करने वाले शत्रु को युद्धमें परलोक पहुँचाया, जिन्होंने दीक्षा लेकर कर्म रूपी अन्धकार को नष्ट किया और जो मुक्ति रूपी लक्ष्मी से सुशोभित हुए ऐसे लक्ष्मीपति श्री जीवन्धर स्वामीको मैं हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ ॥689॥

जीवन्धर कुमार ने पूर्वभवमें मूर्खतासे दयाको दूर कर हंसके बच्चेको सोलह दिन तक उसके माता-पितासे अलग रक्खा था इसीलिए उन्हें अपने कुटुम्बसे अलग रहना पड़ा था अतः हे भव्य जनो ! पाप को दूरसे ही छोड़ो ॥690॥

देखो, कहाँ तो पिता राजा सत्यन्धरकी मृत्यु, कहाँ श्मशानमें जन्म लेना, कहाँ वैश्यके घर जाकर पलना, कहाँ अपने द्वारा यक्षका उपकार होना, कहाँ वह अभ्युदयकी प्राप्ति, और कहाँ शत्रुका घात करना । इन जीवन्धर महाराजमें ही यह विचित्र कर्मों का विपाक है ॥691॥

राजा श्वेतवाहन, जम्बू-स्वामी, प्रीतिकर मुनि, कल्कि-पुत्र अजितंजय, प्रलय-काल, आगामी तीर्थकर

पर्व - 76

कथा :

अथानन्तर-सुर-असुरों से घिरे हुए भगवान् महावीर अनेक देशोंमें विहार कर किसी दिन फिर उसी राजगृह नगर में आ पहुँचे ॥1॥

बारह सभाओं से पूज्यवे भगवान् विपुलाचल पर्वत पर विराजमान हुए । राजा श्रेणिक उनकी स्तुति के लिए गया, जाते समय उसने एक वृक्ष के नीचे शिलातल पर विराजमान धर्मरूचि नाम के मुनिराजको देखा । वे मुनिराज निस्तरंग समुद्र के समान निश्चल थे, दीपकके समान निष्कम्प थे और जल सहित मेघके समान उन्नत थे, उन्होंने ने इन्द्रियों के व्यापारको जीत लिया था, वे पर्यकासन से विराजमान थे, श्वासोच्छ्वासको उन्होंने ने थोड़ा रोक रक्खा था, और नेत्र कुछ बन्द कर लिये थे ॥2-4॥

इस प्रकार ध्यान करते हुए मुनिराजको देखकर श्रेणिक ने उनकी वन्दना की परन्तु मुनिराजका मुख कुछ विकृत हो रहा था इसलिए उसे देखकर श्रेणिकको कुछ शंका उत्पन्न हो गई । वहाँ से चलकर वह भगवान् महावीर जिनेन्द्र के समीप पहुँचा । वहाँ उसने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की फिर गौतमगणधरकी स्तुति कर उन से पूछा कि हे प्रभो ! मैंने मार्ग में एक तपस्वी मुनिराज देखे हैं वे ऐसा ध्यान कर रहे हैं मानो उनका रूप धारण कर साक्षात् ध्यान ही विराजमान हो । हे नाथ ! वे कौन हैं ? यह जाननेका मुझे बड़ा कौतुक हो रहा है सो कृपा कर कहिये । इस प्रकार राजा श्रेणिकके द्वारा पूछे जा ने पर वचनोंके स्वामी श्रीगणधर भगवान् इस प्रकार कह ने लगे ॥5-7॥

इसी भरत क्षेत्र के अंग देश में सर्व वस्तुओं से सहित एक चम्पा नाम की नगरी है । उसमें राजा श्वेतवाहन राज्य करता था । इन्हीं भगवान् महावीर स्वामी से धर्म का स्वरूप सुनकर उसका चित्त तीनों प्रकार के वैराग्य से भर गया जिस से इसने विमलवाहन नामक अपने पुत्र के लिए राज्य का भार सौंपकर बहुत लोगों के साथ संयम धारण कर लिया । बहुत दिन तक मुनियों के समूह के साथ विहारकर अखण्ड संयमको धारण करते हुए वे मुनिराज यहाँ आ विराजमान हुए हैं । ये दश धर्मोंमें सदा प्रेम रखते थे इसीलिए लोगों के द्वारा धर्मरूचिके नाम से प्रसिद्ध हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता वही है जो सर्व जीवोंमें होती है ॥8-11॥

आज ये मुनि एक महीनेके उपवासके बाद नगर में भिक्षाके लिए गये थे वहाँ तीन मनुष्य मिलकर इनके पास आये । उनमें एक मनुष्य मनुष्यों के लक्षण शास्त्रका जानकार था, उसने इन मुनिराजको देखकर कहा कि इनके लक्षण तो साम्राज्य पदवीके कारण हैं परन्तु ये

भिक्षाके लिए भटकते हैं इसलिए शास्त्र में जो कहा है झूठ मालूम होता है। इसके उत्तरमें दूसरे मनुष्य ने कहा कि शास्त्रमें जो कहा गया है वह झूठ नहीं है। ये साम्राज्य तन्त्रका त्यागकर ऋषि हो गये हैं। किसी कारण से विरक्त होकर इन्होंने अपना राज्य का भार बालक-छोटे ही वयको धारण करनेवाले अपने पुत्र के लिए दे दिया है और स्वयं विरक्त होकर इस प्रकार तपश्चरण कर रहे हैं। इसके वचन सुनकर तीसरा मनुष्य बोला कि 'इसका तप पाप का कारण है अतः इस से क्या लाभ है ? यह बड़ा दुरात्मा है इसलिए दया छोड़कर लोकव्यवहार से अनभिज्ञ असमर्थ बालक को राज्यभार सौंपकर केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए यहाँ तप करने के लिए आया है। मन्त्री आदि सब लोगों ने उस बालक को सांकल से बाँध रक्खा है और राज्य का विभागकर पापी लोग इच्छानुसार स्वयं उसका उपभोग करने लगे हैं'। तीसरे मनुष्य के उक्त वचन सुनकर इन मुनिका हृदय स्नेह और मान से प्रेरित हो उठा जिस से वे भोजन किये बिना ही नगर से लौटकर वनके मध्य में वृक्ष के नीचे आ बैठे हैं ॥12-20॥

बाह्य कारणों के मिलने से उनके अन्तःकरण में तीव्र अनुभागवाले क्रोध कषाय के स्पर्धकों का उदय हो रहा है। संक्लेशरूप परिणामों से उनके तीन अशुभलेश्याओं की वृद्धि हो रही है। जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हो गये हैं उनमें हिंसा आदि सर्व प्रकार के निग्रहों का चिन्तन करते हुए वे संरक्षणानन्द नामक रौद्र ध्यान में प्रविष्ट हो रहे हैं। यदि अब आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरक आयु का बन्ध करने के योग्य हो जावेंगे ॥21-23॥

इसलिए हे श्रेणिक ! तू शीघ्र ही जाकर उसे समझा दे और कह दे कि हे साधो ! शीघ्र ही यह अशुभ ध्यान छोड़ो, क्रोधरूपी अग्नि को शान्त करो, मोह के जाल को दूर करो, मोक्ष का कारणभूत जो संयम तुम ने छोड़ रक्खा है उसे फिर से ग्रहण करो, यह स्त्री-पुत्र तथा भाई आदि का सम्बन्ध अमनोज्ञ है तथा संसार का बढ़ानेवाला है। इत्यादि युक्ति पूर्ण वचनों से तू उनका स्थितीकरण कर। तेरे उपदेश से वे पुनः स्वरूप में स्थित होकर शुल्क-ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी सघन अटवी को भस्म कर देंगे और नव केवल-लब्धियों से देदीप्यमान शुद्ध-स्वभाव के धारक हो जावेंगे ॥24-27॥

गणधर महाराज के उक्त वचन सुनकर राजा श्रेणिक शीघ्र ही उन मुनि के पास गया और उनके बताये हुए मार्ग से उन्हें प्रसन्न कर आया ॥ 28॥

उक्त मुनिराज ने भी कषाय के भय से उत्पन्न होनेवाली शान्ति से उत्पन्न होनेवाली सामग्री प्राप्त कर द्वितीय शुल्क-ध्यान के द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया ॥29॥

उसी समय इन्द्र आदि देव उन धर्मरूचि केवली की पूजा करने के लिए आये सो राजा श्रेणिक ने भी उन सब के साथ उनकी पूजा की और फिर वह भगवान् वीरनाथ के पास आया ॥30॥

आते ही उसने गणधर स्वामी से पूछा कि हे प्रभो ! इस भरत-क्षेत्र में सब से पीछे स्तुति करने योग्य केवलज्ञानी कौन होगा ? इसके उत्तर में गणधर कुछ कहना ही चाहते थे कि उसी समय वहाँ देदीप्यमान मुकुट का धारक विद्युन्माली नाम का ब्रह्मस्वर्ग का इन्द्र आ पहुँचा, वह इन्द्र ब्रह्महृदय नामक विमान में उत्पन्न हुआ था, प्रियदर्शना, सुदर्शना, विद्युद्वेगा और प्रभावेगा ये चार उसकी देवियाँ थीं, उन सभी के साथ वह वहाँ आया था। आकर उसने जिनेन्द्र भगवान् की वन्दना की। तदनन्तर यथास्थान बैठ गया। उसकी ओर दृष्टिपात कर गणधर स्वामी राजा श्रेणिक से कह ने लगे कि इसके द्वारा ही केवलज्ञान का विच्छेद हो जायगा अर्थात् इसके बाद फिर कोई केवलज्ञानी नहीं होगा। वह किस प्रकार होगा यदि यह जानना चाहते हो तो मैं इसे भी कहता हूँ, सुन। आज से सातवें दिन यह ब्रह्मेन्द्र, स्वर्ग से च्युत होकर इसी नगर के सेठ अर्हदास की स्त्री जिनदासी के गर्भ में आवेगा। गर्भ में आने के पहले जिनदासी पाँच स्वप्न देखेगी-हाथी, सरोवर, चावलों का खेत, जिसकी शिखा ऊपर को जा रही है ऐसी धूम रहित अग्नि और देव-कुमारों के द्वारा लाये हुए जामुन के फल। यह पुत्र बड़ा ही भाग्यशाली और कान्तिमान् होगा, जम्बूकुमार इसका नाम होगा, अनावृत देव उसकी पूजा करेगा, वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विनीत होगा, और यौवन के प्रारम्भ से ही वह विकार से रहित होगा। जिस समय भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष प्राप्त करेंगे उसी समय मुझे भी केवलज्ञान प्राप्त होगा। तदनन्तर सुधर्माचार्य गणधरके साथ संसार रूपी अग्नि से संतप्त हुए पुरुषों को धर्माभूत रूपी जल से आनन्दित करता हुआ मैं फिर भी इसी नगर में आकर विपुलाचल पर्वत पर स्थित होऊँगा। मेरे आने का समाचार सुनकर इस नगर का राजा चेलिनी का पुत्र कणिक सब परिवार के साथ आवेगा और पूजा वन्दना कर तथा धर्म का स्वरूप सुनकर स्वर्ग और मोक्ष का साधनभूत दान, शीलोपवास आदि धारण करेगा ॥31-42॥

उसी समय जम्बूकुमार भी विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए उत्सुक होगा परन्तु भाई-बन्धु लोग उसे समझावेंगे कि थोड़े ही वर्षों के व्यतीत हो ने पर हम लोग भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा धारण करेंगे । भाई-बन्धुओं के इस कथन को वह टाल नहीं सकेगा और उस समय पुनः नगर में वापिस आ जावेगा । तदनन्तर भाई-बन्धु लोग उसे मोह में फँसाने के लिए सुखदायी बन्धन स्वरूप उसका विवाह करना प्रारम्भ करेंगे सो ठीक ही है क्योंकि भाई-बन्धु लोग कल्याण में विघ्न करते ही हैं ॥43-45॥

इसी नगर में सागरदत्त सेठकी पद्मावती स्त्री से उत्पन्न हुई उत्तम लक्ष्मणोंवाली पद्मश्री नाम की कन्या है जोकि दूसरी लक्ष्मी के समान जान पड़ती है । इसी प्रकार कुवेरदत्त सेठकी कनकमाला स्त्री से उत्पन्न हुई शुभ नेत्रोंवाली कनकश्री नाम की कन्या है । इसके अतिरिक्त वैश्रवणदत्त सेठकी विनयवती स्त्री से उत्पन्न हुई देखनेके योग्य विनयश्री नाम की पुत्री है और इसके सिवाय धनदत्त सेठकी धनश्री स्त्री से उत्पन्न हुई रूपश्री नाम की कन्या है । इन चारों पुत्रियोंके साथ उसका विधि पूर्वक विवाह होगा । तदनन्तर पाणिग्रहण पूर्वक जिसका विवाह हुआ है ऐसा जम्बूकुमार, उत्तम मणिमय दीपकोंके द्वारा जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है, जो नाना प्रकार के रत्नोंके चूर्ण से निर्मित रंगावली से सुशोभित है और अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलों के उपहार से सहित है ऐसे महलके भीतर पृथिवी तलपर बैठेगा । 'मेरा यह पुत्र राग से प्रेरित होकर विकार भावको प्राप्त होता हुआ मन्द मुसकान तथा कटाक्षावलोकन आदि से युक्त होता है या नहीं' यह देखनेके लिए उसकी माता स्नेह वश अपने आपको छिपाकर वहीं कहीं खड़ी होगी । उसी समय सुरम्य देश के प्रसिद्ध पोदनपुर नगर के स्वामी विद्युद्राज की रानी विमलमता से उत्पन्न हुआ विद्युत्प्रभ नाम का चोर आवेगा । वह विद्युत्प्रभ महापापी तथा नम्बर एकका चोर होगा, शूरवीरों में अग्रेसर तथा तीक्ष्ण प्रकृति का होगा । वह किसी कारण वश अपने बड़े भाई से कुपित होकर पाँच-सौ योद्धाओं के साथ नगर से निकलेगा और विद्युच्चोर नाम रखकर इस नगरी में आवेगा । वह चोर शास्त्र के अनुसार तन्त्र-मन्त्र के विधान से अदृश्य होकर किबाड़ खोलना आदि सब कार्यों का जानकार होगा और सेठ अर्हदास के घर के भीतर रखे हुए धन को चुराने के लिए इसीके घर आवेगा । वहाँ जम्बूकुमार की माता को निद्रारहित देखकर वह अपना परिचय देगा और कहेगा कि तू इतनी रात तक क्यों जाग रही है ? ॥46-57॥ इसके उत्तर में जिनदासी कहेगी कि 'मेरे यही एक पुत्र है और यह भी संकल्प कर बैठा है कि मैं सबेरे ही दीक्षा ले ने के लिए तपोवन को चला जाऊँगा' इसीलिए मुझे शोक हो रहा है । यदि तू बुद्धिमान् है और किन्हीं उपायों से इसे इस आग्रह से छुड़ाता है-इसका दीक्षा लेने का आग्रह दूर करता है तो आज मैं तुझे तेरा मनचाहा सब धन दे दूँगी । जिनदासी की बात सुनकर विद्युच्चोर ने यह कार्य करना स्वीकृत किया । तदनन्तर वह विचार करने लगा कि देखो यह जम्बूकुमार सब प्रकार की भोग-सामग्री रहते हुए भी विरक्त होना चाहते हैं और मैं यहाँ धन चुराने के लिए प्रविष्ट हुआ हूँ मुझे धिक्कार हो । इस प्रकार अपनी निन्दा करता हुआ वह विद्युच्चोर निःशंक होकर, कन्याओं के बीच में बैठे हुए जीवन्धर कुमार के समीप पहुँचेगा । उस समय जिसे सद्बुद्धि उत्पन्न हुई है ऐसा जम्बूकुमार, उन कन्याओं के बीच में बैठा हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो पिंजरे के भीतर बैठा हुआ पक्षी ही हो अथवा जाल में फँसा हुआ हरिण का बच्चा ही हो अथवा बहुत भारी कीचड़में फँसा हुआ उत्तम जातिवाला गजराज ही हो, अथवा लोहे के पिंजरे में रुका हुआ सिंह ही हो । वह अत्यन्त विरक्त था और उसके संसार भ्रमण का क्षय अत्यन्त निकट था । ऐसे उस जम्बूकुमार को देखकर बुद्धिमान् विद्युच्चोर ऊँट की कथा कहेगा ॥58-64॥ वह कहेगा कि हे कुमार ! सुनिये, किसी समय कोई एक ऊँट स्वेच्छा से मीठे तृण चरता हुआ पहाड़के निकट जा पहुँचा । जहाँ वह चर रहा था वहाँ की घास ऊँचे स्थान से पड़ते हुए मधुके रस से मिल जानेके कारण मीठी हो रहा थी । उस ऊँट ने एक बार वह मीठी घास खाई तो यही संकल्प कर लिया कि मैं ऐसी ही घास खाऊँगा । इस संकल्प से वह मधुके पड़नेकी इच्छा करने लगा तथा दूसरी घास के उपभोग आदि से विरक्त होकर वहीं बैठा रहा तदनन्तर भूख से पीड़ित हो मर गया । इसी प्रकार हे कुमार ! तू भी इन उपस्थित भोगों की उपेक्षा कर स्वर्ग के भोगों की इच्छा करता है सो तू भी उसी ऊँटके समान बुद्धि से रहित है । इस प्रकार विद्युच्चोर के द्वारा कही हुई ऊँट की कथा सुनकर वैश्य-शिरोमणि जम्बूकुमार एक स्पष्ट दृष्टान्त देता हुआ उस चोरको उत्तर देगा कि एक मनुष्य महादाह करनेवाले ज्वर से पीड़ित था, उसने नदी, सरोवर तथा ताल आदि का जल बार-बार पिया था तो भी उसकी प्यास शान्त नहीं हुई थी सो क्या तृण के अग्रभाग पर स्थित जलकी बूँद से उसकी तृप्ति हो जावेगी ? इसी प्रकार इस जीव ने चिरकाल तक स्वर्गके सुख भोगे हैं फिर भी यह तृप्त नहीं हुआ सो क्या हाथी के कान के समान चन्चल इस वर्तमान सुख से यह तृप्त हो जायगा ? इस प्रकार जम्बूकुमार के वचन सुनकर विद्युच्चोर फिर कहेगा ॥65-72॥

कि किसी वन में एक चण्ड नाम का भील रहता था । उसने एक बड़े वृक्ष को आधार बनाकर अर्थात् उस पर बैठकर गाल तक धनुष

खींचा और एक हाथी को मार गिराया। इतनेमें ही उस वृक्ष की कोटर से निकल कर एक साँप ने उसे काट खाया। काटते ही उस अज्ञानी भील ने उस साँपको भी मार डाला। इस तरह हाथी और साँप दोनों को मारकर वह स्वयं मर गया। तदनन्तर उन सब को मरा देखकर एक अत्यन्त लोभी गीदड़ आया। वह सोच ने लगा कि मैं पहले इन सब को नहीं खाकर धनुष की डोरी के दोनों छोड़ पर लगी हुई ताँत को खाता हूँ। ऐसा विचार कर उस मूर्ख ने ताँत को काटा ही था कि उसी समय धनुष के अग्रभाग से उसका गला फट गया और वह व्यर्थ ही मर गया। इसलिए अधिक लोभ करना छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार कहकर जब चोर चुप हो रहेगा तब बुद्धिमान् जम्बूकुमार विचार कर एक उत्तम बात कहेगा ॥73-77॥

कि कोई मूर्ख पथिक कहीं जा रहा था उसे चौराहे पर महा देदीप्यमान रत्नों की राशि मिली, उस समय वह उसे चाहता तो अनायास ही ले सकता था परन्तु किसी कारणवश उसे बिना लिये ही चला गया। फिर कुछ समय बाद उसे ले ने की इच्छा करता हुआ उस चौराहे पर आया सो क्या वह उस रत्नराशिको पा सकेगा? अर्थात् नहीं पा सकेगा। इसी प्रकार जो मनुष्य संसार रूपी समुद्रमें दुर्लभ गुण रूपी मणियोंके समूहको पाकर भी उसे स्वीकृत नहीं करता है सो क्या वह उसे पीछे भी कभी पा सकेगा? अर्थात् नहीं पा सकेगा ॥78-80॥ जम्बूकुमार के द्वारा कही हुई बातको हृदय में रखकर विद्युच्चोर अन्यायको सूचित करनेवाली एक दूसरी कथा कहेगा ॥81॥

वह कहेगा कि एक श्रृगाल मुख में मांसका टुकड़ा दाबकर पानीमें जा रहा था वहाँ क्रीड़ा करती हुई मछलीको पकड़नेकी इच्छा से उसने वह मांसका टुकड़ा छोड़ दिया और पानीमें कूद पड़ा। पानीके प्रवाहका वेग अधिक था अतः वह उसीमें वह कर मर गया उसके मरनेके बाद दीर्घायु मछली पानीमें सुख से रह ने लगी। इसी प्रकार जो मूर्ख, श्रृगालके समान लोभी होता है वह अवश्य ही नष्ट होता है। इस तरह विद्युच्चोर की बात सुनकर निकट भव्य हो ने के कारण जिसे कुछ भी आकुलता नहीं हुई है ऐसा जम्बूकुमार कहेगा कि निद्रालु प्रकृतिका एक वैश्य नींदके सुख से विमोहित होकर सो गया और चोरों ने उसके घर में घुसकर सब बहुमूल्य रत्न चुरा लिये। इसी दुःख से वह मर गया। इसी प्रकार यह जीव विषयजन्य थोड़े से सुखोंमें आसक्त हो रहा है और राग रूपी चोर इसके ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र रूपी रत्न चुरा रहे हैं। इन रत्नों की चोरी हो ने पर यह जीव निर्मूल नष्ट हो जाता है। इसके उत्तरमें वह चोर कहेगा कि कोई स्त्री सासुके दुर्वचन सुनकर क्रोधित हुई और मरनेकी इच्छा से किसी वृक्ष के नीचे जा बैठी। वह सब आभूषणों से सुशोभित थी परन्तु फाँसी लगाना नहीं जानती थी इसलिए उसका चित्त बड़ा ही व्याकुल हो रहा था ॥82-89॥

उसी समय सुवर्णदारक नाम का मृदंग बजानेवाला पापी मृत्यु से प्रेरित हो वहाँ से आ निकला। वह उस स्त्रीके आभूषण लेना चाहता था इसलिए वृक्ष के नीचे अपना मृदंग रखकर तथा उसपर चढ़कर अपने गलेमें फाँसीकी रस्सी बाँध उसे मरनेकी रीति दिखला ने लगा। उसने अपने गलेमें रस्सी बाँधी ही थी कि किसी कारण से नीचेका मृदंग जमीन पर लुढ़क गया। फाँसी लग जा ने से उसका गला फँस गया और आँखें निकल आईं। इस प्रकार वह मरकर यमराज के घर गया। उसका मरण देख वह स्त्री उस दुःखदायी मरण से डर गई और अपने घर वापिस आ गई। कहनेका अभिप्राय यह है कि आपको उस मृदंग बजानेवालेके समान बहुत भारी लोभ नहीं करना चाहिये ॥90-93॥ इस प्रकार उस चोरका वाग्जाल जम्बूकुमार सहन नहीं कर सकेगा अतः उत्तरमें दूसरी कथा कहेगा। वह कहेगा कि ललितांग नाम के किसी धूर्त व्यभिचारी मनुष्य को देखकर किसी राजाकी रानी काम से विह्वल हो गई। उसने किसी भी उपाय से उस पथिकको लानेके लिए एक धाय नियुक्त की और धाय भी उसे गुप्त रूप से महलके भीतर ले गई। महारानी उसके साथ इच्छानुसार रमण करने लगी। बहुत समय बाद अन्तःपुरकी रक्षा करनेवाले शुद्ध खोजा लोगों ने रानीकी यह बात जान ली और उनके कह ने से राजा को भी रानी के इस दुराचारका पता लग गया ॥94-97॥

राजा ने इस दुराचारकी बात जानकर किसी भी उपाय से उस जारको पकड़नेके लिए सेवकोंको आज्ञा दी। यह जानकर रानी ने उसे टट्टीमें ले जाकर छिपा दिया। वहाँ की दुर्गन्ध और कीड़ों से वह वहाँ बहुत दुःखी हुआ तथा पाप कर्म के उदय से इसी जन्ममें नरक वासके दुःख भोग ने लगा ॥98-99॥

इसी प्रकार थोड़े सुखकी इच्छा करनेवाले पुरुष नरकमें पड़ते हैं और वहाँ के दुस्तर, अपार तथा भयंकर दुःख उठाते हैं ॥100॥

इसके बाद भी वह एक ऐसी कथा और कहेगा जिसके कि द्वारा सत्पुरुषोंको संसार से शीघ्र ही निर्वेग हो जाता है ॥101॥

वह कहेगा कि एक जीव संसार रूपी वन में घूम रहा था। एक मदोन्मत्त हाथी क्रोधवश उसे मारनेकी इच्छा से उसके पीछे-पीछे दौड़ा। वह जीव भय से भागता-भागता मनुष्य रूपी वृक्ष की आड़में छिप गया। उस वृक्ष के नीचे कुल, गोत्र आदि नाना प्रकारकी लताओं से भरा

हुआ एक जन्म रूपी कुआँ था । वह जीव उस जन्मरूपी कुएँमें गिर पड़ा परन्तु आयुरूपी लतामें उसका शरीर उलझ गया जिस से नीचे नहीं जा सका । वह आयुरूपी लताको शुल्कपक्ष और कृष्णपक्षके दिनरूपी अनेक चूहे कुतर रहे थे । सातों नरकरूपी सर्प ऊपरकी ओर मुँह खोले उसके गिरनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उसी वृक्षपर पुत्रादिक इष्ट पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुखरूपी मधुका रस टपक रहा था जिसे खानेके लिए वह बड़ा उत्सुक हो रहा था । उस मधु रसके चाट ने से उड़ी हुई भयंकर आपत्तिरूपी मधुकी मक्खियाँ उसे काट रही थीं परन्तु वह जीव मधु-बिन्दुओं के उस सेवनको सुख मान रहा था । इसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी बड़े कष्ट से जीवन बिता रहे हैं । जो मूर्ख हैं वे भले ही विषयोंमें आसक्त हो जाये परन्तु जो बुद्धिमान् हैं वे क्यों ऐसी प्रवृत्ति करते हैं ? उन्हें तो सब परिग्रहका त्यागकर कठिन तपश्चरण करना चाहिये ॥102-107॥

जम्बूकुमारकी यह बात सुनकर उसकी माता, वे कन्याएं, और वह चोर सब, संसार शरीर और भोगों से विरक्त होंगे ॥108॥

तदनन्तर चकवा को चकवीके समान कुमार को दीक्षाके साथ मिलाता हुआ अपनी किरणों से कुमार के मनको स्पर्शकर प्रसन्न करता हुआ, तपश्चरणके लिए श्रेष्ठ उद्यमके समान सब अन्धकार को नष्टकर उदयाचलकी शिखरपर सूर्य उदित होगा ॥109-110॥

उस समय वह सूर्य किसी अन्यायी राजाकी उपमा धारण करेगा क्योंकि जिस प्रकार अन्यायी राजा सर्व सन्तापकृत् होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी सबको संताप करने वाला था, जिस प्रकार अन्यायी राजा तीक्ष्णकर होता है अर्थात् कठोर टैक्स लगाता है उसी प्रकार वह सूर्य भी तीक्ष्णकर था अर्थात् उष्ण किरणोंका धारक था, जिस प्रकार अन्यायी राजा क्रूर अर्थात् निर्दय होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी क्रूर अर्थात् अत्यन्त उष्ण था, जिस प्रकार अन्यायी राजा अनवस्थित रहता है-एक समान नहीं रहता है-कभी संतुष्ट रहता है और कभी असंतुष्ट रहता है उसी प्रकार वह सूर्य भी अनवस्थित था-एक जगह स्थिर नहीं रहता था और जिस प्रकार अन्यायी राजा कुवलयध्वंसी होता है अर्थात् पृथ्वी मण्डल को नष्ट कर देता है उसी प्रकार वह सूर्य भी कुवलयध्वंसी था अर्थात् नीलकमलों को नष्ट करनेवाला था ॥ 111 ॥

अथवा वह सूर्य किसी उत्तम राजा को जीतनेवाला होगा क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजाका नित्योदय होता है अर्थात् उसका अभ्युदय निन्तर बढ़ता रहता है उसी प्रकार वह सूर्य भी नित्योदय होता है अर्थात् प्रतिदिन उसका उदय होता रहता है, जिस प्रकार उत्तम राजा बुधाधीश होता है अर्थात् विद्वानोंका स्वामी होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी बुधाधीश था अर्थात् बुधग्रहका स्वामी था, जिस प्रकार उत्तम राजाका मण्डल अर्थात् बिम्ब भी विशुद्ध और अखण्ड था, जिस प्रकार उत्तम राजा पद्माह्लादी होता है अर्थात् लक्ष्मी से प्रसन्न रहता है उसी प्रकार सूर्य भी पद्माह्लादी था अर्थात् कमलों को विकसित करनेवाला था और जिस प्रकार उत्तम राजा प्रवृद्धोष्मा होता है अर्थात् बढ़ते हुए अहंकार को धारण करता है उसी प्रकार वह सूर्य भी प्रवृद्धोष्मा था अर्थात् उसकी गर्मी निरन्तर बढ़ती जाती थी ॥112॥

जम्बूकुमार संसार से विमुख-विरक्त हुआ है यह जान कर उसके सब भाई-बन्धु, कुणिक राजा, उसकी अठारह प्रकारकी सेनाएं और अनावृत देव आवेंगे तथा सब लोग मांगलिक जल से उसका दीक्षा-कल्याणकका अभिषेक करेंगे ॥113-114॥

उस समयके योग्य वेषभूषा धारण कर वह कुमार देव निर्मित पालकी पर सवार होकर बड़े वैभव के साथ विपुलाचल की शिखर पर पहुँचेगा । वहाँ विराजमान देखकर वह मेरे ही पास आवेगा । उस समय बड़े-बड़े मुनि हमारी सेवा कर रहे होंगे । वह आकर बड़ी भक्ति से प्रदक्षिणा देगा और विधिपूर्वक नमस्कार करेगा ॥115-116॥

तदनन्तर शान्त चित्तको धारण करनेवाला वह जम्बूकुमार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमें उत्पन्न हुए अनेक लोगों के साथ तथा विद्युच्चर चोर और उसके पाँच सौ भृत्योंके साथ सुधर्माचार्य गणधरके समीप संयम धारण करेगा । जब केवलज्ञान के बारह वर्ष बाद मुझे निर्वाण प्राप्त होगा तब सुधर्माचार्य केवली और जम्बूकुमार श्रुतकेवली होंगे । उसके बारह वर्ष बाद जब सुधर्माचार्य मोक्ष चले जावेंगे तब जम्बूकुमार को केवलज्ञान होगा । जम्बूस्वामी का भव नाम का एक शिष्य होगा, उसके साथ चालीसवर्ष तक धर्मोपदेश देते हुए जम्बूस्वामी पृथिवीपर विहार करेंगे । इस प्रकार गौतम स्वामी ने जम्बू स्वामी की कथा कही । उसे सुनकर वहीं पर बैठा हुआ अनावृत नाम का यक्ष कह ने लगा कि मेरे वंशका यह ऐसा अद्भुत माहात्म्य है कि कहीं दूसरी जगह देखनेमें भी नहीं आता । ऐसा कहकर उसने आनन्द नाम का उत्कृष्ट नाटक किया ॥117-122॥

यह देख, राजा श्रेणिक ने बड़ी विनयके साथ गौतम गणधर से पूछा कि इस अनावृत देवका जम्बू स्वामी के साथ भाईपना कै से है ? इसके उत्तरमें गणधर भगवान् स्पष्ट रूप से कह ने लगे ॥123॥

कि जम्बूकुमार के वंश में पहले धर्मप्रिय नाम का एक सेठ था । उसकी गुणदेवी नाम की स्त्री से एक अर्हदास नाम का पुत्र हुआ था ॥

124॥

धन और यौवनके अभिमान से वह पिताकी शिक्षाको कुछ नहीं गिनता हुआ कर्मोदय से सातों व्यसनोमें स्वच्छन्द हो गया था । इन खोटी चेष्टाओं के कारण जब उसकी दुर्गति हो ने लगी तब उसे पश्चात्ताप हुआ और 'मैंने पिताकी शिक्षा नहीं सुनी' यह विचार करते हुए उसकी भावना कुछ शान्त हो गई ॥125-126॥

तदनन्तर कुछ पुण्यका संचय कर वह अनावृत नाम का वयन्तर देव हुआ है । इसी पर्यायमें इस ने सम्यग्दर्शन धारण किया है ॥127॥

इस प्रकार जब गौतम स्वामी कह चुके तब राजा श्रेणिक ने पुनः उन से दूसरा प्रश्न किया । उसने पूछा कि हे भगवन् ! यह विद्युन्माली कहाँ से आया है ? और इस ने पूर्वभवमें कौनसा पुण्य किया है क्योंकि अन्तिम दिन में भी इसकी प्रभा कम नहीं हुई है । इसके उत्तरमें गणधर भगवान् अनुग्रहकी बुद्धि से इस प्रकार कह ने लगे ॥128-129॥

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देशके अन्तर्गत एक वीतशोक नाम का नगर है । वहाँ महापद्म नाम का राजाराज्य करता था । उसकी रानीका नाम वनमाला था । उन दोनोंके शिवकुमार नाम का पुत्र हुआ था । नवयौवन से सम्पन्न हो ने पर किसी दिन वह अपने साथियोंके साथ क्रीड़ा करने के लिए वन में गया था । वहाँ क्रीड़ा कर जब वह वापिस आ रहा था तब उसने सब ओर बड़े संभ्रमके साथ सुगन्धित पुष्प आदि मंगलमय पूजा की सामग्री लेकर आते हुए बहुत से आदमी देखे । उन्हें देखकर उसने बड़े आश्चर्यके साथ बुद्धिसागर नामक मन्त्रीके पुत्र से पूछा कि 'यह क्या है ?' ॥130-133॥

इसके उत्तरमें मन्त्रीका पुत्र कह ने लगा कि 'हे कुमार ! सुनिये, मैं कहता हूँ, दीप्त नामक तपश्चरण से प्रसिद्ध सागरदत्त नामक एक श्रुतकेवली मुनिराज हैं । उन्होंने ने एक मासका उपवास किया था, उसके बाद पारणाके लिए आज उन्होंने ने नगर में प्रवेश किया था । वहाँ सामसमृद्ध नामक सेठ ने उन्हें विधिपूर्वक भक्ति से आहार दान देकर पन्चाश्वर्य प्राप्त किये हैं । वे ही मुनिराज इस समय मनोहर नामक उद्यानमें ठहरे हुए हैं, कौतुक से भरे हुए नगरवासी लोग बड़ी भक्ति से उन्हींकी पूजा-वन्दना करने के लिए जा रहे हैं' । इस प्रकार मन्त्रीके पुत्र ने कहा । यह सुनकर राजकुमार ने फिर पूछा कि इन मुनिराज ने सागरदत्त नाम, अनेक ऋद्धियाँ, तपश्चरण और शास्त्रज्ञान किस कारण प्राप्त किया है ? इसके उत्तरमें मन्त्र-पुत्र ने भी जैसा सुन रक्खा था वैसा कहना शुरू किया । वह कह ने लगा कि पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है । उसके स्वामी का नाम वज्रदत्त था । वह वज्रदन्त चक्रवर्ती था इसलिए उसने चक्ररत्न से समस्त पृथिवी अपने आधीन कर ली थी ॥134-139॥

जब उसकी यशोधरा रानी गर्भिणी हुई तब उसे दोहला उत्पन्न हुआ और उसी दोहलेके अनुसार वह कमलमुखी बड़े वैभवके साथ जहाँ सीतानदी समुद्रमें मिलती है उसी महाद्वार से जलक्रीड़ा करने के लिये समुद्रमें गई । वहीं उसने निकट कालमें मोक्ष प्राप्त करनेवाला पुत्र प्राप्त किया । चूँकि उस पुत्रका जन्म सागर-समुद्रमें हुआ था इसीलिए परिवारके लोगों ने उसका सागरदत्त नाम रख दिया । तदनन्तर यौवन अवस्था प्राप्त हो ने पर किसी दिन वह सागरदत्त महलकी छतपर बैठा हुआ अपने परिवारके लोगों के साथ नाटक देख रहा था, उसी समय अनुकूल नामक एक सेवक ने कहा कि हे कुमार ! यह आश्चर्य देखो, यह बादल मन्दरगिरिके आकार से कैसा सुन्दर बना हुआ है ? यह सुनकर प्रीति से भरा राजकुमार ज्योंही ऊपरकी ओर मुँह कर उस नयनाभिराम दृश्यको देखनेके लिए उद्यत हुआ त्योंही वह बादल नष्ट हो गया । उसे नष्ट हुआ देखकर कुमार विचार करने लगा कि जिस प्रकार यह बादल नष्ट हो गया है उसी प्रकार यह यौवन, धन-सम्पदा, शरीर, आयु और अन्य सभी कुछ नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसा विचारकर वह संसार से विरक्त हो गया ॥140-146॥

दूसरे दिन ही वह मनोहर नाम के उद्यानमें स्थित अमृतसागर नामक तीर्थकरके समीप पहुँचा, वहाँ उसने धर्म का स्वरूप सुना । समस्त पदार्थों की स्थितिका निर्णय किया और भाई-बन्धुओं को विदाकर अनेक लोगों के साथ संयम धारण कर लिया । तदनन्तर मनःपर्यय आदि अनेक ऋद्धियों रूप सम्पदा पाकर धर्मोपदेश देते हुए सब देशोंमें विहार कर वे ही सागरदत्त मुनिराज यहाँ पधारे हैं ॥147-149॥

इस प्रकार मन्त्री-पुत्र के वचन सुनकर वह राजकुमार-शिवकुमार बहुत ही प्रसन्न हुआ, उसने शीघ्र ही स्वयं मुनिराज के पास जाकर उनकी स्तुति की, धर्मरूपी अमृत का पान किया और तदनन्तर बड़ी विनय से पूछा कि हे स्वामिन् ! आपको देखकर मुझे बड़ा भारी स्नेह उत्पन्न हुआ है इसका क्या कारण है ? आप कहिये । इसके उत्तरमें मुनिराज कह ने लगे कि- ॥150-151॥

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी मगधदेशमें एक वृद्ध नाम का ग्राम था । उसमें राष्ट्रकूट नाम का वैश्य रहता था । उसकी रेवती नामक

स्त्री से दो पुत्र हुए थे । एक भगदत्त और दूसरा भवदेव उनमें बड़े पुत्र भगदत्त ने सुस्थित नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली । तदनन्तर उन्हीं गुरुके साथ बड़ी विनय से अनेक देशोंमें विहार कर वह अपनी जन्मभूमिमें आया ॥152-154॥

उस समय उनके सब भाई-बन्धु बड़े हर्ष से उनके पास आये और उन मुनिकी प्रदक्षिणा तथा पूजाकर उन्हें नमस्कार करने के लिए उद्यत हुए ॥155॥

उसी नगर में एक दुर्मर्षण नाम का गृहस्थ रहता था । उसकी स्त्री का नाम नागवसु था । उन दोनोंके नागश्री नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी । उन दोनों ने अपनी पुत्री, भगदत्त मुनिराज के छोटे भाई भवदेव के लिए विधिपूर्वक प्रदान की थी । बड़े भाईका आगमन सुनकर भवदेव बहुत ही हर्षित हुआ । वह भी उनके समीप गया और विनयके साथ बार-बार प्रणाम कर वहीं बैठ गया । उस समय मुनिराज के उपदेश से उसके परिणाम बहुत ही आर्द्र हो रहे थे ॥156-158॥

धर्म का यथार्थ स्वरूप और संसार की विरूपता बतलाकर मुनिराज भगदत्त ने अपने छोटे भाई भवदेवका हाथ पकड़कर एकान्तमें कहा कि तू संयम ग्रहण कर ले ॥159॥

इसके उत्तरमें भवदेव ने कहा कि मैं नागश्री से छुट्टी लेकर आपका कहा करूँगा ॥160॥

यह सुनकर मुनिराज ने कहा कि इस संसार में स्त्री आदिकी पाशमें फँसा हुआ यह प्राणी आत्मा का हित कैसे कर सकता है ? ॥161॥

इसलिए तू स्त्री का मोह छोड़ दे । बड़े भाईके अनुरोध से भवदेव चुप रह गया और उसने दीक्षा धारण करनेका विचार कर लिया ॥162॥

करानेवाली दीक्षा ग्रहण करवा दी सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंका भाईपना ऐसा ही होता है ॥163॥

उस मुख ने द्रव्यसंयमी होकर बारह वर्ष तक गुरुओं के साथ विहार किया । एक दिन वह अकेला ही अपनी जन्मभूमि वृद्ध ग्राममें आया और सुव्रता नाम की गणिनीके पास जाकर पूछ ने लगा कि हे माता ! इस नगर में क्या कोई नागश्री नाम की स्त्री रहती है ? ॥164-165॥

गणिनी ने उसका अभिप्राय समझकर उत्तर दिया कि हे मुने ! मैं उसका वृत्तान्त अच्छी तरह नहीं जानती हूँ । इस प्रकार उदासीनता दिखाकर गणिनी ने उस द्रव्यलिंगी मुनि को संयममें स्थिर करने के लिए गुणवती नाम की दूसरी आर्यिका से निम्नलिखित कथा कहनी शुरू कर दी ॥166-167॥

वह कह ने लगी कि एक सर्वसमृद्ध नाम का वैश्य था । उसके शुद्ध हृदयवाला दारूक नाम का दासी-पुत्र था । किसी एक दिन उसकी माता ने उस से कहा कि तू हमारे सेठका जूठा भोजन खाया कर । इस तरह कहकर उसने जबर्दस्ती उसे जूठा भोजन खिला दिया । वह खा तो गया परन्तु ग्लानि आने से उसने वह सब भोजन वमन कर दिया । उसकी माता ने वह सब वमन काँसेकी थालीमें ले लिया और जब उस दारूकको भूख लगी और उसने माता से भोजन माँगा तब उसने काँसेके पात्रमें रक्खा हुआ वही वमन उसके सामने रख दिया । दारूक यद्यपि भूख से पीड़ित था तो भी उसने वह अपना वमन नहीं खाया । जब दासी-पुत्र ने भी अपना वमन किया हुआ भोजन नहीं खाया तब मुनि छोड़े हुए पदार्थ को किस तरह चाहते हैं ? ॥168-171॥

'अब मैं एक कथा और कहती हूँ तू चित्त स्थिर कर सुन' यह कहकर गणिनी दूसरी कथा कह ने लगी । उसने कहा कि एक नरपाल नाम का राजा था । कौतुकवश उसने एक कुत्ता पाल रक्खा था । वह मीठे-मीठे भोजनके द्वारा सदा उसका पालन करता था और सुवर्ण के आभूषण पहिनाता था । जब वह वन विहार आदि कार्योंके लिए जाता था, तब वह मन्दबुद्धि उसे सोनेकी पालकीमें बैठाकर ले जाता था । एक दिन वह नीच कुत्ता, पालकीमें बैठा हुआ जा रहा था कि अकस्मात् उसकी दृष्टि किसी बालककी विष्ठापर पड़ी । दृष्टि पड़ते ही वह, उस विष्ठाको प्राप्त करने की इच्छा से उसपर कूद पड़ा । यह देख राजा ने उसे डण्डे से पीटकर भगा दिया ॥172-175॥

किसी उत्तम वन में कोई पथिक सुगन्धित फल-पुष्प आदि लानेके लिए सुख से जा रहा था परन्तु वह अच्छा मार्ग छोड़कर महासंकीर्ण वन में जा पहुँचा । वहाँ उसने भूखा, अतिशय दुष्ट और मारनेकी इच्छा से सामने आता हुआ एक व्याघ्र देखा । उसके भय से वह दुर्बुद्धि पथिक भागा और भागता-भागता एक भयंकर कुएँमें जा पड़ा । वहाँ पाप-कर्म के उदय से उसे शीत आदिके कारण वात-पित्त-कफ-तीनों दोष उत्पन्न हो गये । बोलना, देखना-सुनना तथा चलने आदिमें बाधा हो ने लगी । इनके सिवाय उसे सर्प आदिकी भी बाधा थी । वह पथिक उस कुएँ से निकलनेका उपाय भी नहीं जानता था । दैववश कोई एक उत्तम वैद्य वहाँ से आ निकला । उस पथिकको देखकर उसका हृदय दया से आर्द्र हो गया । उसने बड़े आदर से किसी उपायके द्वारा उसे कुएँ से बाहर निकलवाया और मन्त्र तथा औषधिके प्रयोग से उसे ठीककर दिया । उसके पाँव पसरने लगे, सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप देखनेके योग्य उसके नेत्र खुल गये, उसके दोनों कान सब बातें

साफ-साफ सुन ने लगे तथा उसकी जिह्वा से भी वचन स्पष्ट निकल ने लगे ॥176-183॥

यह सब कर चुकनेके बाद उत्तम वैद्य ने उसे मार्ग दिखाकर सर्वरमणीय नामक नगरकी ओर रवाना कर दिया सो ठीक ही है क्यों कि जिनका अभिप्राय निर्मल है ऐसे पुरुष किसका उपकार नहीं करते ? ॥184॥

इसके बाद वह दुर्बुद्धि पथिक फिर से विषयोंमें आसक्त हो गया, फिर से दिशा भ्रान्त हो गया और फिर से उसी पुरा ने कुएँके पास जाकर उसमें गिर पड़ा । इसी प्रकार ये जीव भी संसार रूपी कुएँमें पड़कर मिथ्यात्व आदि पाँच कारणों से वाधिर्य-बहिरापन आदि रोगोंको प्राप्त हो रहे हैं, तथा क्षुधा, दाह आदि से पीडित हो रहे हैं । उन्हें देखकर उत्तम ज्ञान के धारक तथा धर्म का व्याख्यान करने में निपुण गुरु रूपी वैद्य दयालुताके कारण इन्हें इस संसार-रूपी कुएँ से बाहर निकालते हैं । तदनन्तर जैनधर्मरूपी औषधिके सेवन से इनके सम्यग्दर्शन रूपी नेत्र खोलते हैं, सम्यग्ज्ञान रूपी दोनों कान ठीक करते हैं, सम्यक् चारित्ररूपी पैरोंको फैलाते हैं, दयारूपी जिह्वाको विधिपूर्वक प्रकट करते हैं, और पाँच प्रकार के स्वाध्याय रूपी वचन कहलाकर उन्हें स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग में भेजते हैं । वे गुरुरूपी वैद्य अत्यन्त बुद्धिमान् और उत्तम प्रकृतिके होते हैं ॥185-190॥

उनमें से बहुत से लोग पापकर्म के उदय से दीर्घसंसारी होते हैं । जिस प्रकार सुगन्धि से भरे विकसित चम्पाके समीप रहते हुए भी भ्रमर उसकी सुगन्धि से दूर रहते हैं उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके समीपवर्ती होकर भी उनके रसास्वादन से दूर रहते हैं वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं ॥191-192॥

जो कषाय, विषय, आरम्भ तथा लौकिक ज्ञान के वशीभूत होकर जिह्वा, इन्द्रिय सम्बन्धी छह रसोंमें आसक्त रहते हैं वे दुष्ट अभिप्राय वाले कुशील कहलाते हैं ॥193॥

जो निषिद्ध द्रव्य और भावोंमें लोभी रहते हैं वे संसक्त कहलाते हैं । जिनके ज्ञान, चारित्र आदि घटते रहते हैं वे अवसन्न कहलाते हैं और जो सदाचार से दूर रहते हैं वे मृगचारी कहलाते हैं । ये सब लोग महामोहका त्याग नहीं हो ने से संसाररूपी अगाध कुएँमें बार-बार पड़ते हैं । गणिनीकी ये सब बातें सुनकर भवदेव मुनि को भी शान्त भाव की प्राप्ति हुई । यह जानकर गणिनीने, दुर्गतिके कारण जिसकी खराब स्थिति हो रही थी ऐसी नागश्रीको बुलवाकर उसे दिखाया । भवदेव ने उसे देखकर संसार की स्थिति का स्मरण किया, अपने आपको धिक्कार दिया, अपनी निन्दाकर फिर से संयम धारण किया और बड़े भाई भगदत्त मुनिराज के साथ आयु के अन्त में अनुक्रम से चारों आराधनाओं का आश्रय लिया । मरकर अपने भाईके ही साथ माहेन्द्रस्वर्गके बयभद्र नामक विमान में सात सागर की आयु वाला सामानिक देव हुआ ॥194-199॥

वहाँ से चयकर बड़े भाई भगदत्तका जीव मैं हुआ हूँ और छोटे भाई भवदेवका जीव तू हुआ है । इस प्रकार मुनिराजका कहा सुनकर शिवकुमार विरक्त हुआ ॥200॥

वह दीक्षा ले ने के लिए तैयार हुआ परन्तु माता-पिता ने उसे रोक दिया । जिसे आत्मज्ञान प्रकट हुआ है ऐसा वह कुमार यद्यपि नगर में गया तो भी उसने निश्चय कर लिया कि मैं अप्रासुक आहार नहीं ग्रहण करूँगा । यह बात सुनकर राजा ने सभा में घोषणा कर दी कि जो कोई कुमार को भोजन करा देगा मैं उसे इच्छानुसार धन दूँगा । राजाकी यह घोषणा जानकर सात धर्मक्षेत्रोंका आश्रयभूत दृढवर्मा नामक श्रावक कुमार के पास आकर कह ने लगा कि हे कुमार ! अपने और दूसरेके आत्माको नष्ट करने में पण्डित तथा पाप के कारण ये कुटुम्बी लोग तेरे शत्रु हैं इसलिए हे भद्र ! भाव-संयमका नाश नहीं कर प्रासुक भोजनके द्वारा मैं तेरी सेवा करूँगा । जो परिवारके लोगों से विमुक्त नहीं हुआ है अर्थात् उनके अनुराग में फँसा हुआ है उसकी संयममें प्रवृत्ति होना दुर्लभ है, इस प्रकार हितकारी वचन कहे । कुमार ने भी उसकी बात मानकर निर्विकार आचाम्ल रसका आहार किया ॥201-206॥

वह यद्यपि सुन्दर स्त्रियों के समीप रहता था तो भी उसका चित्त कभी विकृत नहीं होता था वह उन्हें तृणके समान तुच्छ मानता था । इस तरह उसने बारह वर्ष तक तीक्ष्ण तलवारकी धारापर चलते हुए के समान कठिन तप धारणकर आयु के अन्त समयमें संन्यास धारण किया जिसके प्रभाव से ब्रह्मस्वर्ग में यह अपने शरीर की कान्ति से दिशाओं को व्याप्त करता हुआ विद्युन्माली देव हुआ है । यह कथा कह ने के बाद राजा श्रेणिकके पूछनेपर गौतम गणधर फिर कह ने लगे कि इस विद्युन्माली देवकी जो स्त्रियाँ हैं वे सेठोंकी पुत्रियाँ होकर जम्बूकुमारकी चार स्त्रियाँ होंगी और उसीके साथ संयम धारण कर अन्तिम स्वर्ग में उत्पन्न होंगी तथा वहाँ से आकर मोक्ष प्राप्त करेंगी । सागरदत्तका जीव स्वर्ग जावेगा, फिर वहाँ से आकर जम्बूकुमार की दीक्षा ले ने के समय मुक्त होगा । इस प्रकार गणधरोंमें प्रधान गौतम

स्वामी के द्वारा कही हुई यह सब कथा सुनकर मगधदेशका स्वामी राजा श्रेणिक बहुत ही प्रसन्न हुआ । अन्त में उसने वर्धमान स्वामी और गौतम गणधर दोनोंको नमस्कार किया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे कौन सज्जन हैं जो कि कल्याण मार्गका उपदेश दे ने वाले को नहीं मानते हों-उसकी विनय नहीं करते हों ॥207-213॥

अथानन्तर-दूसरे दिन राजा श्रेणिक फिर संसार के पारगामी भगवान् महावीर स्वामी के समीप पहुँचा और पूजा तथा प्रणाम कर वहीं बैठ गया । वहाँ उसने ताराओंमें चन्द्रमा के समान प्रकाशमान तेजके धारक, तथा प्रीतिकी पताका स्वरूप प्रीतिकर मुनि को देखकर गणधर देव से पूछा कि पूर्व जन्ममें इन्होंने ऐसा कौन-सा कार्य किया था जिस से कि ऐसा रूप प्राप्त किया है ? इसके उत्तरमें गणधर इस प्रकार कह ने लगे कि इसी मगध देशमें एक सुप्रतिष्ठ नाम का नगर है । राजा जयसेन उसका लीलापूर्वक पालन करता था । उसी नगर में एक सागरदत्त नाम का सेठ रहता था । उसकी स्त्री का नाम प्रभाकरी था । उन दोनोंके दो पुत्र हुए-उनमें नागदत्त बड़ा था और छोटा कुबेरकी समता रख ने वाला कुबेरदत्त था । नागदत्तको छोड़कर उसके घर के सब लोग श्रावक हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यहीन मनुष्य समुद्रमें भी उत्तम रत्नको नहीं प्राप्त करता है ॥214-219॥

इस तरह उन सबका समय सुख से व्यतीत हो रहा था । किसी समय धरणिभूषण नामक पर्वत के प्रियंकर नामक उद्यानमें सागरसेन नामक मुनिराज आकर विराजमान हुए । यह सुन राजा जयसेन आदि ने जाकर उनकी पूजा-वन्दना की तथा धर्म का यथार्थ स्वरूप पूछा ॥220-221॥

उत्तरमें मुनिराज इस प्रकार कह ने लगे कि जिन्होंने नेत्र प्राप्त कर लिये हैं ऐसे पुरुष दान, पूजा, व्रत, उपवास आदिके द्वारा पुण्यबन्ध कर स्वर्गके सुख पाते हैं और संयम धारण कर मोक्ष के सुख पाते हैं । यदि मिथ्या-दृष्टि जीव दानादि पुण्य करते हैं तो स्वर्ग-सम्बन्धी सुख प्राप्त करते हैं । वहाँ कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव अपने शान्त परिणामोंके प्रभाव से कालादि लब्धियाँ पाकर स्वयमेव अथवा दूसरेके निमित्त से समीचीन धर्म को प्राप्त हो ने के योग्य हो जाते हैं । यह बात निकट कालमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंकी है परन्तु जो तीव्र मिथ्यादृष्टि निरन्तर भोगोंमें आसक्त रहकर हिंसा, झूठ, पर-धनहरण, पर-नारी-रमण, आरम्भ और परिग्रहके द्वारा पाप का संचय करते हैं वे संसार-रूपी दुःखदायी कुँएमें गिरते हैं ॥222-226॥

इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर बहुत लोगों ने धर्म धारण कर लिया । इसके पश्चात् सेठ सागरदत्त ने अपनी, आयु की अवधि पूछी सो मुनिराज ने उसकी आयु तीस दिनकी बतलाई । यह सुनकर सेठ ने नगर में प्रवेश किया और बड़े हर्ष से आष्टाह्निक पूजाकर अपना पद अपने बड़े पुत्र के लिए सौंप दिया । तदनन्तर समस्त भाई-बन्धुओं से पूछकर उसने विधिपूर्वक बाईस दिनका संन्यास धारण किया और अन्त समयमें देव पद प्राप्त किया । किसी दूसरे दिन अनन्तानुबन्धी लोभ से प्रेरित हुए नागदत्त ने कुबेरदत्तको बुलाकर दुर्भावना से पूछा कि क्या पिताजी तुम्हें सारभूत-श्रेष्ठ धन दिखला गये हैं ? ॥227-231॥

'यह तीव्र लोभ से आसक्त हो रहा है' ऐसा समझकर कुबेरदत्त ने उत्तर दिया कि क्या पिताजीके पास अलग से ऐसा कोई धन था जिसे हम दोनों नहीं जानते हों । वे विधिपूर्वक संन्यास धारण कर स्वर्ग गये हैं अतः उनपर दूषण लगाना बड़ा पाप है । भाई ! यह बात न तो तुझे कह ने के योग्य है और न मुझे सुननेके योग्य है । इस तरह कुबेरदत्त ने नागदत्तकी सब दुर्बुद्धि दूर कर दी । सब धनका बाँट किया, अनेक चैत्य और चैत्यालय बनवाये, अनेक तरहकी जिनपूजाएँ कीं, तीनों प्रकार के पात्रोंके लिए भक्तिपूर्वक चार प्रकार का दान दिया । इस प्रकार जिनकी परस्पर में प्रीति बढ़ रही है ऐसे दोनों भाई सुख से समय बिता ने लगे । किसी एक दिन कुबेरदत्त ने अपनी स्त्री, धन, मित्रों के साथ सागरसेन मुनिराज के लिए शक्तिपूर्वक आहार दिया । आहार देनेके बाद नमस्कार कर उसने मुनिराज से पूछा कि क्या कभी हम दोनों पुत्र लाभ करेंगे अथवा नहीं ? ॥232-237॥

यदि नहीं करेंगे तो फिर हम दोनों जिन-दीक्षा धारण कर लें । इसके उत्तरमें मुनिराज ने कहा कि आप दोनों, महापुण्यशाली तथा चरमशरीरी पुत्र अवश्य ही प्राप्त करेंगे । इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर उन दोनोंका हृदय आनन्द से भर गया । वे प्रसन्नचित्त होकर बोले कि यदि ऐसा है तो वह बालक आप पूज्यपादके चरणोंमें क्षुल्लक होवे । उसके उत्पन्न होते ही हम दोनों उसे आपके लिए समर्पित कर देंगे । इस तरह सुख का उपभोग करते हुए उन दोनों ने कुछ मास सुख से बिताये । कुछ मास बीत जानेपर उन्होंने ने उत्तम पुत्र प्राप्त किया । 'यह पुत्र अपने गुणों से समस्त संसार को सन्तुष्ट करेगा' ऐसा विचार कर उन्होंने ने उसका बड़े हर्ष से प्रीतिकर नाम रक्खा ॥

238-241॥

पुत्र-जन्म के बाद पाँच वर्ष बीत जानेपर उक्त मुनिराज धान्यपुर नगर से फिर इस नगर में आये । कुबेरदत्त और धनमित्रा ने जाकर उनकी वन्दना की तथा कहा कि 'हे मुनिराज ! यह आपका क्षुल्लक है, इसे ग्रहण कीजिए' इस प्रकार कहकर वह बालक उन्हें सौंप दिया । मुनिराज भी उस बालक को लेकर फिर से धान्यपुर नगर में चले गये ॥242-243॥

वहाँ उन्होंने ने उसे लगातार दस वर्ष तक समस्त शास्त्रोंकी शिक्षा दी । वह बालक निकटभव्य था अतः संयम धारण करने के लिए उत्सुक हो गया परन्तु गुरुओं ने उसे यह कह कर रोक दिया कि हे आर्य ! यह तेरा दीक्षा-ग्रहण करनेका समय नहीं है । प्रीतिकरने भी गुरुओंकी बात स्वीकृत कर ली । तदनन्तर वह भक्ति-पूर्वक उन्हें नमस्कार कर अपने माता-पिता के पास चला गया । वह अपने द्वारा पढ़े हुए शास्त्रोंका मार्ग में शिष्ट पुरुषोंको उपदेश देता जाता था । इस प्रकार वह छात्रका वेष रखकर अपने समस्त बन्धुओं के पास पहुँचा । जब राजा को उसके आनेका पता चला तब उसने उसका बहुत सत्कार किया । अपने आपको कुल आदिके द्वारा असाधारण मानते हुए प्रीतिकरने विचार किया कि जब तक मैं बहुत-सा श्रेष्ठ धन नहीं कमा लेता हूँ तब तक मैं पत्नीको ग्रहण नहीं करूँगा ॥244-248॥

किसी दिन कित ने ही नगरवासी लोग जलयात्रा-समुद्रयात्रा करने के लिए तैयार हुए । उनके साथ प्रीतिकर भी जानेके लिए उद्यत हुआ । उसने इस कार्यके लिए अपने सब भाई-बन्धुओं से पूछा । सम्मति मिल जानेपर उत्कृष्ट बुद्धिका धारक प्रीतिकर नमस्कार करने के लिए अपने गुरुके पास गया । गुरु ने अपने अभिप्रेत अर्थको सूचित करनेवाले अक्षरों से परिपूर्ण एक पत्र लिखकर उसे दिया । उसने वह पत्र बड़े आदरके साथ लेकर कानमें बाँध लिया तथा शकुन आदिकी अनुकूलता देख मित्रों के साथ जहाज पर बैठकर समुद्रमें प्रवेश किया । तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद वह पुण्यात्मा वलयके आकारवाले पर्वत से घिर हुए भूमितिलक नाम के नगर में पहुँचा ॥249-252॥ उस समय शंख, तुरही आदि बाजे बजाते हुए लोग साम ने ही नगर के बाहर निकल रहे थे उन्हें देखकर श्रेष्ठ वैश्यों ने भयभीत हो यह घोषणा की कि नगर में जाकर तथा इस बात का पता चलाकर वापिस आनेके लिए कौन समर्थ है ? यह घोषणा सुनकर प्रीतिकर कुमार ने कहा कि मैं यह कार्य करने के लिए समर्थ हूँ । वैश्यों ने उसी समय उसे दालचीनीकी छाल से बने हुए रस्से से नीचे उतार दिया ॥ 253-255॥

आश्चर्य से चारों ओर देखते हुए कुमार ने नगर में प्रवेश किया तो सब से पहले उसे जिन-मन्दिर-दिखाई दिया । उसने मन्दिरकी प्रदक्षिणा देकर स्तुति की । उसके बाद आगे गया तो क्या देखता है कि जगह-जगह शस्त्रोंके आघात से बहुत लोग मरे पड़े हैं । उसी समय उसे सरोवर से निकलकर घरकी ओर जाती हुई एक कन्या दिखी । यह कौन है ? इस बात का पता चलानेके लिए वह कन्याके पीछे चला गया । घर के आँगनमें पहुँचनेपर कन्या ने प्रीतिकरको देखा तो उसने कहा, हे भद्र ! यहाँ कहाँ से आये हो ? यह कह कर उसके बैठनेके लिए एक आसन दिया ॥256-258॥

कुमार ने उस आसन पर बैठ कर कन्या से पूछा कि कहो, यह नगर ऐसा क्यों हो गया है ? इसके उत्तरमें कन्या ने कहा कि यह कह ने के लिए समय नहीं है । हे भद्र ! तुम यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ क्योंकि यहाँ तुम्हें बहुत भारी भय उपस्थित है । कन्याकी बात सुनकर निर्भय रहनेवाले कुमार ने कहा कि यहाँ जो मेरे लिए भय उत्पन्न करेगा उसके क्या हजार भुजाएँ हैं ? कुमारका ऐसा भयरहित गम्भीर उत्तर सुनकर जिसका भय कुछ दूर हो गया है ऐसी कन्या विस्तार से उसका कारण कह ने लगी । उसने कहा कि इस विजयार्थ पर्वत की उत्तर दिशामें जो अलका नाम की नगरी है उसके स्वामी तीन भाई थे । हरिबल उनमें बड़ा था, महासेन उस से छोटा था और भूतिलक सब से छोटा था । हरिबलकी रानी धारिणी से भीमक नाम का पुत्र हुआ था और उसीकी दूसरी रानी श्रीमती से हिरण्यवर्मा नाम का दूसरा पुत्र हुआ था । महासेनकी सुन्दरी नामक स्त्री से उग्रसेन और वरसेन नाम के दो पुत्र हुए और मैं वसुन्धरा नाम की कन्या हुई ॥259-265॥ किसी एक समय मेरे पिता पृथिवी पर विहार करने के लिए निकले थे उस समय इस मनोहरी विशाल नगरको देख कर उनकी इच्छा इसे स्वीकृत करने की हुई । पहले यहाँ कुछ व्यन्तर देवता रहते थे, उन्हें युद्धमें जीतकर हमारे पिता यहाँ भूतिलक नामक भाई के साथ सुख से रह ने लगे । यहाँ रहनेवाले राजा लोग उनकी सेवा करते थे । इस प्रकार पुण्यका संचय करते हुए उन्होंने ने यहाँ कुछ काल व्यतीत किया ॥ 266-268॥

उधर इन्द्रियोंको जीतनेवाले विद्वान् राजा हरिबलको वैराग्य उत्पन्न हुआ । उसने अपने छोटे पुत्र हिरण्यवर्मके लिए विद्या दी और बड़े पुत्र भीमकको अलकापुरीका राज्य दिया । संसार से भयभीत हो ने के कारण विरक्त होकर उसने समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए विपुलमति नामक चारण मुनिराज के पास जाकर उसने दीक्षा ले ली और शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा आठों दुष्ट कर्मों को जलाकर

आठ गुणों से सहित हो इष्ट आठवीं प्राप्त कर ली (मोक्ष प्राप्त कर लिया) ॥269-271॥

इधर भीमक राज्य करने लगा उसने किसी छल से हिरण्यवर्माकी विद्याएँ हर लीं। यही नहीं, वह उसे मारनेके लिए भी तैयार हो गया ॥ 272॥

हिरण्यवर्मा यह जानकर सम्मोदशिखर पर्वतपर भाग गया। कोधवश भीमक ने वहाँ भी उसका पीछा किया परन्तु तीर्थकर भगवान् के सन्निधान और स्वयं तीर्थ हो ने के कारण वह वहाँ जा नहीं सका इसलिए नगर में लौट आया। तदनन्तर हिरण्यवर्मा अपने काका महासेनके पास चला गया ॥273-274॥

जब भीमक ने यह समाचार सुना तो उसने महाराज महासेनके लिए इस आशयका एक पत्र भेजा कि आप पूज्यपाद हैं-हमारे पूजनीय हैं इसलिए हमारे शत्रु हिरण्यवर्माको वहाँ से निकाल दीजिए। महाराज महासेन ने भी इसका उत्तर भेज दिया कि मैं उसे नहीं निकाल सकता। यह जानकर भीमक युद्धकी इच्छा से वहाँ आया। 'यह दुरात्मा बहुत ही क्रूर है' यह समझ कर हमारे पिता ने युद्धमें भीमकको जीत लिया तथा उसके दोनों पैर सांकल से बाँध लिये। तदनन्तर अनुक्रम से शान्त हो ने पर हमारे पिता ने विचार किया कि मुझे ऐसा करना उचित नहीं है ऐसा विचार कर उन्होंने उसे छोड़ दिया और हित से भरे शब्दों से उसे शान्त कर हिरण्यवर्माके साथ उसकी सन्धि करा दी तथा पहलेके समान ही राज्य देकर उसे भेज दिया। भीमक उस समय तो चला गया परन्तु इस अपमानके कारण उसने हिरण्यवर्माके साथ वैर नहीं छोड़ा। फलस्वरूप उस पापी भीमक ने राक्षसी विद्या सिद्ध कर हिरण्यवर्माको, मेरे पिताको तथा मेरे भाइयोंको मार डाला है, इस नगरको उजाड़ दिया है और अब मुझे ले ने के उद्देश्य से आ ने वाला है ॥275-280॥

यह सब कथा सुनकर आश्चर्यको धारण करते हुए कुमार प्रीतिकरने शय्यातलपर पड़ी हुई एक तलवारको देखकर कहा कि इस तलवारके बहुत ही अच्छे लक्षण हैं। यह तलवार जिसके हाथमें होगी उसे इन्द्र भी जीतनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है। क्या तुम्हारे पिता ने इस तलवारके द्वारा किसी के साथ युद्ध किया है? इस प्रकार उस कन्या से पूछा। कन्या ने उत्तर दिया कि इस तलवार से पिता ने स्वप्न में भी युद्ध नहीं किया है। तदनन्तर प्रीतिकर कुमार ने वह तलवार अपने हाथमें ले ली ॥281-283॥

जो निर्भय है, जिस ने अपना शरीर छिपा रक्खा है और जो देदीप्यमान दिव्य तलवारको धारण कर रहा है ऐसा प्रीतिकर भीमकको मारनेके लिए गोपुरके भीतर छिप गया। उसी समय भीमक भी आ गया, उसने सब ओर देखकर तथा यह कहकर अपनी विद्याको भेजा कि गोपुरके भीतर छिपे हुए उस दुष्ट पुरुषको देखकर मार डालो ॥284-285॥

विद्या प्रीतिकरके पास जाते ही डर गई, वह कह ने लगी कि यह सम्यग्दृष्टि है, सात भयों से सदा दूर रहता है, चरमशरीरी है और महाशूरवीर है; मैं इसे मारनेके लिए समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार भयभीत होकर वह उसके पास ही इधर-उधर फिर ने लगी। यह देख, भीमक समझ गया कि यह विद्या शक्तिहीन है तब उसने 'तू सारहीन है अतः चली जा' यह कह कर उसे छोड़ दिया और वह भी अदृश्यता को प्राप्त हो गई। विद्याके चले जानेपर प्रीतिकरको मारनेकी इच्छा से भीमक स्वयं तलवार उठाकर उस पर झपटा। इधर प्रीतिकरने भी उसे बहुत भयंकर डाँट दिखाकर तथा उसके वारको वचाकर ऐसा प्रहार किया कि उसके प्राण छूट गये ॥286-289॥

तदनन्तर दुष्ट शत्रु को मारकर आते हुए कुमार को देखकर कन्या साम ने आई और कह ने लगी कि हे भद्र ! आप ने बहुत बड़ा साहस किया है ॥290॥

इतना कहकर उसने राजभवनके आँगनमें सुवर्ण-सिंहासनपर उसे बैठाया और जल से भरे हुए सुवर्णमय कलशों से उसका राज्याभिषेक किया ॥291॥

मणियोंकी कान्ति से देदीप्यमान मुकुट उसके सुन्दर मस्तक पर बाँधा; यथास्थान समस्त अच्छे-अच्छे आभूषण पहिनाये और विलासिनी स्त्रियों के हाथों से ढोरे हुए चमरों से उसे सुशोभित किया। यह सब देख प्रीतिकर कुमार ने कहा कि यह क्या है? इसके उत्तरमें कन्या ने कहा कि 'मैं इस नगरकी स्वामिनी हूँ, अपना राज्यपट्ट बाँध कर अपने लिए देती हूँ और यह रत्नमाला आपके गलेमें डालकर प्रेमपूर्वक आपकी सहधमिणी हो रही हूँ। यह सुनकर कुमार ने उत्तर दिया कि मैं माता-पिताकी आज्ञाके बिना तुम्हें स्वीकृत नहीं कर सकता क्योंकि मैंने पहले से ऐसा ही संकल्प कर रक्खा है। यदि तुम्हारा ऐसा आग्रह ही है तो माता-पिता से मिलनेके समय तेरा अभीष्ट सिद्ध हो जावेगा। कन्या ने प्रीतिकरकी यह बात मान ली और बहुत-सा धन बाँधकर उस लम्बी रस्सीके द्वारा जहाजपर उतारनेके लिए कुमार के साथ किनारे पर आ गई। कुमार ने भी बड़े हर्ष से वह रस्सी हिलाई। रस्सीका हिलना देखकर नागदत्त बाहर आया और उस कन्याको तथा

उसके धनको जहाजमें खींचकर बहुत संतुष्ट हुआ। जब जहाज चलनेका समय आया तब कुमार उस कन्याके भूले हुए सारपूर्ण आभरणोंको लानेके लिए फिर से नगर में गया ॥292-300॥

इधर उसके चले जानेपर नागदत्त ने वह रस्सी खींच ली और 'इस कन्याके साथ मुझे बहुत-सा अच्छा धन मिल गया है, वह मेरे मरने तक भोगनेके काम आवेगा, मैं तो कृतार्थ हो चुका, प्रीतिकरकुमार जैसा-तैसा रहे' ऐसा विचार कर और छिद्र पाकर नागदत्त अन्य वैश्योंके साथ चला गया ॥301-302॥

कन्या ने नागदत्तका अभिप्राय जानकर मौन धारण कर लिया और ऐसी प्रतिज्ञा कर ली कि मैं इस जहाजपर प्रीतिकरके सिवाय अन्य किसी से बातचीत नहीं करूंगी ॥303॥

नागदत्त ने भी लोगों पर ऐसा प्रकट कर दिया कि यह कन्या गूंगी है और उसे अपनी अंगुलीके इशारे से बड़े प्रेमके साथ द्रव्यकी रक्षा करने में नियुक्त किया ॥304॥

अनुक्रम से नागदत्त अपने नगर में पहुँच गया। पहुँचनेपर सेठ ने उस से पूछा कि उस समय प्रीतिकर भी तो तुम्हारे साथ भूतिलक नगरको गया था वह क्यों नहीं आया? इसके उत्तरमें नागदत्त ने कहा कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ। आभूषण लेकर प्रीतिकर कुमार समुद्र के तट पर आया परन्तु पापी नागदत्त उसे धोखा देकर पहले ही चला गया था। जहाजको न देखकर वह उद्विग्न होता हुआ नगर की ओर लौट गया ॥ 305-307॥

चिन्ता से भरा प्रीतिकर वहीं एक जिनालय देखकर उसमें चला गया। पुष्पादिक से उसने वहाँ विधिपूर्वक भगवान् की पूजा-वन्दना की। तदनन्तर निम्न प्रकार स्तुति करने लगा ॥308॥

'हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार रात्रिमें खुले नेत्रवाले मनुष्यका सब अन्धकार दीपकके द्वारा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार आपके दर्शन मात्र से मेरे सब पाप नष्ट हो गये हैं ॥309॥

हे जिनेन्द्र ! आप, शुद्ध जीव, कर्मों से ग्रसित संसारी जीव और जीवों से भिन्न अचेतन द्रव्य, इन सबको जानते हैं तथा कर्मों से रहित हैं अतः आपकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? ॥310॥

हे भगवन् ! यद्यपि आप इन्द्रिय-ज्ञान से रहित हैं तो भी इन्द्रिय-ज्ञान से सहित सांख्य आदि लोक प्रसिद्ध दर्शनकारोंको आप ने अकेले ही जीत लिया है यह आश्चर्य की बात है ॥311॥

हे देव ! आदि और अन्त से रहित यह तीनों लोक अज्ञान रूपी अन्धकार से व्याप्त होकर सो रहा है उसमें केवल आप ही जग रहे हैं और समस्त संसार को देख रहे हैं ॥312॥

हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार चक्षुसहित मनुष्य को पदार्थका ज्ञान होनेमें प्रकाश कारण है उसी प्रकार शिष्यजनोंको वस्तुतत्त्वका ज्ञान होनेमें आपका निर्मल तथा सुखदायी आगम ही कारण है ॥313॥

इस प्रकार शुद्ध ज्ञान को धारण करनेवाले प्रीतिकर कुमार ने अपने द्वारा बनाया हुआ स्तोत्र पढ़ा तथा कर्म के द्वारा निर्मित संसार की दशाका अच्छी तरह विचार किया ॥314॥

तदनन्तर कुछ व्याकुल होता हुआ वह अभिषेकशाला (स्नानगृह) में सो गया। उसी समय नन्द और महानन्द नाम के दो यक्ष देव, जिन-मन्दिरकी वन्दना करने के लिए आये ॥315॥

उन्होंने जिन-मन्दिरके दर्शनकर प्रीतिकरके कानमें बाँधा हुआ पत्र देखा और देखते ही उसे ले लिया। पत्रमें लिखा था कि 'यह प्रीतिकरकुमार तुम्हारा सधर्मा भाई है, इसलिए सदा प्रसन्न रहनेवाले इस कुमार को तुम बहुत भारी द्रव्यके साथ सुप्रतिष्ठ नगर में पहुँचा दो। तुम दोनोंके लिए मेरा यही कार्य है' इस प्रकार उन दोनों देवों ने उस पत्र से अपने गुरुका संदेश तथा अपने पूर्वभवका सब समाचार जान लिया ॥316-318॥

पहले बनारस नगर में धनदेव नाम का एक वैश्य रहता था। हम दोनों उसकी जिनदत्ता नाम की स्त्री से शान्तव और रमण नाम के दो पुत्र हुए थे ॥319॥

वहाँ हम ने ग्रन्थ और अर्थ से सब शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया परन्तु चोर शास्त्रका अधिक अभ्यास हो ने से हम दोनों दूसरे का धन-हरण करने में तत्पर हो गये ॥320॥

हमारे पिता भी हम लोगों को इस चोरीके कार्य से रोकनेमें समर्थ नहीं हो सके इसलिए उन्होंने ने अत्यन्त कठिन समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया अर्थात् मुनिदीक्षा धारण कर ली ॥321॥

इधर धान्यपुर नगर के समीप शिखिभूधर नामक पर्वत पर मुनिराज के माहात्म्य से वहाँपर रहने वाले सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीव भी किसीको बाधा नहीं पहुँचाते हैं इस प्रकार लोगोंका कहना सुनकर हम दोनों ने उस पर्वतको सागरसेन नाम के अतिशय तपस्वी मुनिराज रहते थे हम लोगों ने भी जाकर उनके दर्शन किये, उनके समीप जैनधर्म का उपदेश सुना और मधु, मांस आदिका त्याग कर दिया ॥ 322-324॥

तदनन्तर वे मुनिराज सुप्रतिष्ठ नगर में चले जानेपर सिंह के उपद्रव से मरकर हम दोनों इस देव-पर्यायको प्राप्त हुए हैं ॥325॥

'यह सब गुरु महाराज से लिये हुए व्रतके प्रभाव से ही हुआ है' ऐसा जानकर हम दोनों उनके समीप गये, उनकी पूजा की और तदनन्तर दोनों ने पूछा कि हमारे लिए क्या आज्ञा है ? इसके उत्तरमें मुनिराज ने कहा था कि कुछ दिनोंके बाद मेरा कार्य होगा और आप दोनों उसे अच्छी तरह जानकर आदर से करना । सो मुनिराजका वह संदेश यही है यह कहकर वह पत्र खोलकर दिखाया ॥326-328॥

इसके पश्चात् उन देवों ने बहुत से धनके साथ उस प्रीतिकरको विमान में बैठाया और सुप्रतिष्ठित नगर के समीपवर्ती धरणिभूषण नाम के पर्वतपर उसे शीघ्र ही पहुँचा दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यका उदय क्या नहीं करता है ? प्रीतिकर का आना सुनकर राजा, उसके भाई-बन्धु और नगर के लोग बड़े हर्ष से अपनी-अपनी विभूतिके साथ उसके समीप आये । उन देवों ने वह प्रीतिकर कुमार उन सबके लिए सौपा और उसके बाद वे अपने निवास-स्थानपर चले गये ॥329-331॥

प्रीतिकरने नगर में प्रवेश कर समीचीन रत्नों की भेंट देकर राजाकी पूजा की और राजा ने भी योग्य स्थान तथा मान आदि देकर उसे संतुष्ट किया ॥332॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन प्रीतिकर कुमारकी बड़ी माँ प्रियमित्रा अपने पुत्र के विवाहोत्सवमें अपनी पुत्रवधूको अलंकृत करने के लिए रत्नमय आभूषणोंका समूह लेकर तथा 'रथपर सवार होकर सबको दिखलानेके लिए जा रही थी । उसे देखनेके लिए वह गूँगी कन्या स्वयं मार्ग में आई और अपने आभूषणों का समूह देखकर उसने अँगुलीके इशारे से सबको बतला दिया कि यह आभूषणोंका समूह मेरा है । तदनन्तर वह कन्या रथमें बैठी हुई प्रियमित्राको रोककर खड़ी हो गई । इसके उत्तरमें रथपर बैठी हुई प्रियमित्रा ने सबको समझा दिया कि यह कन्या पगली है ॥333-336॥

तब मन्त्र-तन्त्रादिके जाननेवाले लोगों ने विधिपूर्वक मन्त्र-तन्त्रादिका प्रयोग किया और परीक्षा कर स्पष्ट बतला दिया कि न यह पागल है और न इसे भूत लगा है ॥337॥

यह सुनकर प्रीतिकर कुमार ने उस कन्याके पास गुप्त रूप से इस आशयका एक पत्र भेजा कि हे कुमारि ! तू बिलकुल भय मत कर, राजा के पास आ, मैं भी वहाँ उपस्थित रहूँगा । पत्र देखकर तथा विश्वास कर वह कन्या बड़े हर्ष से राजा के समीप गई । राजा ने भी उसके आभूषणोंका वृत्तान्त जानने के लिए धर्माधिकारियोंको बुलाकर नियुक्त किया ॥338-340॥

राजा ने वसुन्धरा कन्याको समीप ही आड़में बिठलाकर कुमार प्रीतिकर से पूछा कि क्या आप इसका कुछ हाल जानते हैं ? ॥341॥ इसके उत्तरमें कुमार ने अपना जाना हुआ हाल कह दिया और फिर राजा से समझाकर कह दिया कि बाकीका हाल मैं नहीं जानता यह देवी ही जानती है ॥342॥

राजा ने कपड़ेकी आड़में बैठी हुई उस देवीकी गन्ध आदि से पूजा कर पूछा कि हे देवि ! तू ने जो देखा हो वह ज्योंका त्यों कह ॥343॥ इसके उत्तरमें उस देवी ने राजा को नागदत्तकी सब दुष्ट चेष्टाएँ बतला दीं । उन्हें सुनकर तथा उनपर अच्छी तरह विचार कर राजा नागदत्त से बहुत ही कुपित हुआ । उसने कहा कि इस पापी ने पुत्रवध किया है और स्वामिद्रोह भी किया है । यह कहकर उसने उसका सब धन लुटवा लिया और उसका निग्रह करनेका भी उद्यम किया परन्तु कुमार प्रीतिकरने यह कहकर मना कर दिया कि आपके लिए यह कार्य करना योग्य नहीं है । उस समय कुमारकी सुजनता से राजा बहुत ही संतुष्ट हुआ और उसने अपनी पृथिवीसुन्दरी नाम की कन्या, वह वसुन्धरा नाम की कन्या तथा वैश्योंकी अन्य बत्तीस कन्याएँ विधिपूर्वक उसके लिए ब्याह दीं ॥344-347॥

इसके सिवाय पहलेका धन, स्थान तथा अपना आधा राज्य भी दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने ने पूर्वभ्रममें पुण्य किया है ऐसे मनुष्यों को सम्पदाएँ स्वयं प्राप्त हो जाती हैं ॥348॥

इस प्रकार जो अतिशय प्रसन्न है तथा जिसकी इच्छाएँ निरन्तर बढ़ रही हैं ऐसे प्रीतिकर कुमार ने वहाँ अपनी इच्छानुसार चिरकाल तक मनचाहे काम भोगों का उपभोग किया ॥349॥

तदनन्तर किसी एक दिन मुनिराज सागरसेन, आयु के अन्त में संन्यास धारण कर स्वर्ग चले गये। उसी समय वहाँ बुद्धि-रूपी आभूषणों से सहित ऋजुमति और विपुलमति नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज मनोहर नामक उद्यानमें आये। प्रीतिकर सेठ ने जाकर उनकी स्तुति की और धर्म का स्वरूप पूछा। उन दोनों मुनियोंमें जो ऋजुमति नाम के मुनिराज थे वे कहने लगे कि गृहस्थ और मुनिके भेद से धर्म दो प्रकार का जानना चाहिए। गृहस्थोंका धर्म दर्शन-प्रतिमा, व्रत प्रतिमा आदिके भेद से ग्यारह प्रकार का है और कर्मों का क्षय करनेवाला मुनियोंका धर्म क्षमा आदिके भेद से दश प्रकार का है। धर्म का स्वरूप सुननेके बाद प्रीतिकरने मुनिराज से अपने पूर्वभवोंका सम्बन्ध पूछा। इसके उत्तरमें मुनिराज इस प्रकार कहने लगे कि सुनो, मैं कहता हूँ-किसी समय इसी नगर के बाहर सागरसेन मुनिराज ने आतापन योग धारण किया था इसलिए उनकी वन्दनाके लिए राजा आदि बहुत से लोग गये थे, वे नाना प्रकारकी पूजा की सामग्री से उनकी पूजा कर शंख तुरही आदि बाजोंके साथ नगर में आये थे। उन बाजोंका शब्द सुनकर एक श्रृगाल ने विचार किया कि 'आज कोई नगर में मर गया है इसलिए लोग उसे बाहर छोड़कर आये हैं, मैं जाकर उसे खाऊँगा' ऐसा विचार कर वह श्रृगाल मुनिराज के समीप आया। उसे देखकर मुनिराज समझ गये कि यह भव्य है और व्रत लेकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा। ऐसा विचार कर मुनिराज उस निकटभव्य से इस प्रकार कहने लगे कि पूर्व जन्ममें जो तू ने पाप किये थे उनके फल से अब श्रृगाल हुआ है और अब फिर दुर्बुद्धि होकर मुनियोंका समागम मिलने पर भी उसी दुष्कर्मका विचार कर रहा है। हे भव्य ! तू दुःखदायी पापको देनेवाले इस कुकर्म से विरत हो व्रत ग्रहण कर और शुभ परिणाम धारण कर ॥350-360॥

मुनिराज के यह वचन सुनकर श्रृगालको इस बात का बहुत हर्ष हुआ कि यह मुनिराज मेरे मन में स्थित बातको जानते हैं। श्रृगालकी चेष्टाको जाननेवाले मुनिराज ने उस श्रृगाल से फिर कहा कि तू मांस का लोभी हो ने से अन्य व्रत ग्रहण करने में समर्थ नहीं है अतः रात्रिभोजन त्याग नाम का श्रेष्ठ व्रत धारण कर ले। मुनिराज के वचन क्या थे मानो परलोक के लिए सम्बल (पाथेय) ही थे। मुनिराज के धर्मपूर्ण वचन सुनकर वह श्रृगाल बहुत ही प्रसन्न हुआ उसने भक्तिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें नमस्कार किया और रात्रिभोजन त्यागका व्रत लेकर मद्य-मांस आदिका भी त्याग कर दिया ॥361-364॥

उस समय से वह श्रृगाल चावल आदिका विशुद्ध आहार लेने लगा। इस तरह कठिन तपश्चरण करते हुए उसने कितना ही काल व्यतीत किया ॥365॥

किसी एक दिन उस श्रृगाल ने सूखा आहार किया जिस से प्यास से पीड़ित होकर वह सूर्यास्तके समय पानी पीनेकी इच्छा से सीढियोंके मार्ग-द्वारा किसी कुएँ के भीतर गया। कुएँके भीतर प्रकाश न देखकर उसने समझा कि सूर्य अस्त हो गया है इसलिए पानी बिना पिये ही बाहर निकल आया। बाहर आनेपर प्रकाश दिखा इसलिए पानी पीनेके लिए फिर से कुएँके भीतर गया। इस तरह वह श्रृगाल दो तीन बार कुएँके भीतर गया और बाहर आया। इतनेमें सचमुच ही सूर्य अस्त हो गया। निदान, उस श्रृगाल ने अपने व्रतमें दृढ़ रहकर तृषा-परिषह सहन किया और विशुद्ध परिणामों से मरकर कुबेरदत्त सेठकी धनमित्रा स्त्री से प्रीतिकर नाम का पुत्र हुआ। व्रतके प्रभाव से ही उसने ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त किया है। इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर प्रीतिकर संसार से भयभीत हो उठा, उसने व्रतके माहात्म्यकी बहुत भारी प्रशंसा की तथा मुनिराजको नमस्कार कर वह अपने घर लौट आया ॥366-371॥

आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार दुर्भिक्ष पड़ने पर दरिद्र मनुष्य बहुत ही दुःखी होता है उसी प्रकार इस संसार में व्रतरहित मनुष्य दीर्घकाल तक दुःख भोगता हुआ निरन्तर अपार खेदको प्राप्त होता रहता है ॥372॥

व्रतके कारण इस जीव का सब विश्वास करते हैं और व्रतरहित मनुष्य से सब लोग सदा शंकित रहते हैं। व्रती फल सहित वृक्ष के समान हैं और अव्रती फलरहित वन्ध्य वृक्ष के समान है ॥373॥

व्रती मनुष्य पर-जन्ममें इष्ट फल को प्राप्त होता है इसलिए कहना पड़ता है कि इस जीव का व्रत से बढ़कर कोई भाई नहीं है और अव्रत से बढ़कर कोई शत्रु नहीं है ॥374॥

व्रती मनुष्य के वचन सभी स्वीकृत करते हैं परन्तु व्रतहीन मनुष्यकी बात कोई नहीं मानता। बड़े-बड़े देवता भी व्रती मनुष्यका तिरस्कार नहीं कर पाते हैं ॥375॥

व्रती मनुष्य अवस्थाका नया हो तो भी वृद्ध जन उसे नमस्कार करते हैं और वृद्धजन व्रतरहित हो तो उसे लोग तृणके समान तुच्छ समझते हैं ॥376॥

प्रवृत्ति से पाप का ग्रहण होता है और निवृत्ति से उसका क्षय होता है । यथार्थमें निवृत्तिको ही व्रत कहते हैं इसलिए उत्तम मनुष्य व्रतको अवश्य ही ग्रहण करते हैं ॥377॥

व्रत से सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है और अव्रत से कभी संपत्ति नहीं मिलती इसलिए सम्पत्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको निष्काम होकर उत्तम व्रती होना चाहिये ॥378॥

इस जीव के लिए छोटा-सा व्रत भी स्वर्ग और मोक्षका कारण होता है इस विषय में जो दृष्टान्त चाहते हैं उन्हें प्रीतिकर का दृष्टान्त अच्छी तरह दिया जा सकता है ॥379॥

जिन्होंने पूर्वभवंमें अच्छी तरह व्रतका पालन किया है वे इस भवमें इच्छानुसार फल भोगते हैं सो ठीक ही है क्योंकि बिना कारण के क्या कभी कोई कार्य होता है ? ॥380॥

जो कारण से कार्यकी उत्पत्ति मानता है उसे सुख-दुःख रूपी कार्यका कारण धर्म और पाप ही मानना चाहिये अर्थात् धर्म से सुख और पाप से दुःख होता है ऐसा मानना चाहिये । जो इस से विपरीत मानते हैं उन्हें विपरीत फलकी ही प्राप्ति होती देखी जाती है ॥381॥

यदि वह मूर्ख, व्यसनी, निर्दय, अथवा नास्तिक नहीं है तो धर्म और पापको छोड़कर सुख और दुःखका कारण कुछ दूसरा ही है ऐसा कौन कहेगा ? ॥382॥

जो केवल इसी जन्म के हित अहितको देखता है वह भी बुद्धिमान् कहलाता है फिर जो आगामी जन्म के भी हित-अहित का विचार रखते हैं वे अत्यन्त बुद्धिमान् क्यों नहीं कहलावें ? अर्थात् अवश्य ही कहलावें ॥383॥

ऐसा मानकर शुद्ध बुद्धि के धारक पुरुषको चाहिये कि वह जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ व्रत लेकर उद्यम प्रकट करता हुआ स्वर्ग और मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे ॥384॥

तदनन्तर विरक्त बुद्धि को धारण करनेवाले प्रीतिकरने अपनी स्त्री वसुन्धराके पुत्र प्रियंकरके लिए अभिषेकपूर्वक अपनी सब सम्पदाएँ समर्पित कर दीं और अनेक सेवक तथा भाई-बन्धुओं के साथ राजगृह नगर में भगवान् महावीर स्वामी के पास आकर संयम धारण किया है ॥385-386॥

निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षका साधन, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप मोक्षमार्गकी भावना ही है । सो इसके बल से ये प्रीतिकर मुनिराज घातिया कर्मों को नष्ट कर अनन्तचतुष्टय प्राप्त करेंगे और फिर अघातिया कर्मों को नष्ट कर परमात्मपद प्राप्त करेंगे ॥387-388॥

इस प्रकार श्रीमान् गणधरदेवकी कही कथा से राजा श्रेणिक बहुत ही प्रसन्न हुआ तथा उन्हें नमस्कार कर अपने आपको कृतार्थ मानता हुआ नगर में चला गया ॥389॥

अथानन्तर किसी दूसरे दिन क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले राजा श्रेणिक ने हाथ जोड़कर गणधरदेव को नमस्कार किया तथा उन से बाकी बची हुई अपसर्पिणी काल की स्थिति और आनेवाले उत्सर्पिणी काल की समस्त स्थिति पूछी ॥390-391॥

तब गणधर भगवान् अपने दाँतोंकी किरणोंके प्रसार से सभाको संतुष्ट करते हुए गम्भीर-वाणी द्वारा इस प्रकार अनुक्रम से स्पष्ट कह ने लगे ॥392॥

उन्होंने कहा कि जब चतुर्थ काल के अन्तके तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रह जावेंगे तब भगवान् महावीर स्वामी सिद्ध होंगे ॥393॥ दुःषमा नामक पञ्चम काल की स्थिति इक्कीस हजार सागर वर्षकी है । उस कालमें मनुष्य उत्कृष्ट रूप से सौ वर्षकी आयु के धारक होंगे ॥394॥

उनका शरीर अधिक से अधिक सात हाथ ऊँचा होगा, उनकी कान्ति रूक्ष हो जायगी, रूप भद्दा होगा, वे तीनों समय भोजन में लीन रहेंगे और उनके मन काम-सेवन में आसक्त रहेंगे ॥395॥

कालदोषके अनुसार उनमें प्रायः और भी अनेक दोष उत्पन्ना होंगे क्योंकि पाप करनेवाले हजारों मनुष्य ही उस समय उत्पन्न होंगे ॥396॥ शास्त्रोक्त लक्षणवाले राजाओं का अभाव हो ने से लोग वर्णसंकर हो जावेंगे । उस दुःषमा काल के एक हजार वर्ष बीत जानेपर धर्म की हानि हो ने से पाटलिपुत्र नामक नगर में राजा शिशुपालकी रानी पृथिवीसुन्दरीके चतुर्मुख नाम का एक ऐसा पापी पुत्र होगा जो कि

दुर्जनोमें प्रथम संख्याका होगा, पृथिवी को कम्पायमान करेगा और कल्कि राजा के नाम से प्रसिद्ध होगा । यह कल्कि मघा नाम के संवत्सरमें होगा ॥397-399॥

आक्रमण करनेवाले उस कल्कि की उत्कृष्ट आयु सत्तर वर्षकी होगी और उसका राज्यकाल चालीस वर्ष तक रहेगा ॥400॥

पाषण्डी साधुओं के जो छियानवे वर्ग हैं उन सबको वह आज्ञाकारी बनाकर अपना सेवक बना लेगा और इस तरह समस्त पृथिवी का उपभोग करेगा ॥401॥

तदनन्तर मिथ्यात्वके उदय से जिसका चित्त भर रहा है ऐसा पापी कल्कि अपने मन्त्रियों से पूछेगा कि कहो इन पाषण्डी साधुओंमें अब भी क्या कोई ऐसे हैं जो हमारी आज्ञा से पराङ्मुख रहते हैं ? इसके उत्तरमें मन्त्री कहेंगे कि हे देव ! निर्ग्रन्थ साधु अब भी आपकी आज्ञा से बहिर्भूत हैं ॥402-403॥

यह सुनकर राजा फिर पूछेगा कि उनका आचार कैसा है ? इसके उत्तरमें मन्त्री लोग कहेंगे कि अपना हस्तपुट ही उनका बर्तन है अर्थात् वे हाथमें ही भोजन करते हैं, धनरहित होते हैं, इच्छारहित होते हैं, अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए वस्त्रादिका आवरण छोड़कर दिगम्बर रहते हैं, तपका साधन मानकर शरीर की स्थितिके लिए एक दो उपवासके बाद भिक्षाके समय केवल शरीर दिखलाकर याचनाके बिना ही अपने शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार आहार ग्रहण करने की इच्छा करते हैं, वे लोग अपना घात करनेवाले अथवा रक्षा करनेवाले पर समान दृष्टि रखते हैं, क्षुधा तृषा आदिकी बाधाको सहन करते हैं, कारण रहते हुए भी वे अन्य साधुओं के समान दूसरेके द्वारा नहीं दी हुई वस्तुकी कभी अभिलाषा नहीं रखते हैं, वे सर्प के समान कभी अपने रहनेका स्थान बनाकर नहीं रखते हैं, ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहते हैं और जहाँ मनुष्योंका संचार नहीं ऐसे स्थानोंमें हरिणोंके साथ रहते हैं । इस प्रकार उस राजा के विशिष्ट मन्त्री अपने द्वारा देखा हुआ हाल कहेंगे ॥ 404-409॥

यह सुनकर राजा कहेगा कि मैं इनकी अक्रम प्रवृत्तिको सहन करने के लिए समर्थ नहीं हूँ, इसलिए इनके हाथमें जो पहला भोजनका ग्रास दिया जाय वही कर रूपमें इन से वसूल किया जावे ॥410॥

इस तरह राजा के कह ने से अधिकारी लोग मुनियों से प्रथम ग्रास माँगेंगे और मुनि भोजन किये बिना ही चुप चाप खड़े रहेंगे । यह देख अहंकार से भरे हुए कर्मचारी राजा से जाकर कहेंगे कि मालूम नहीं क्या हो गया है ? दिगम्बर साधु राजाकी आज्ञा माननेको तैयार नहीं हैं ॥411-412॥

कर्मचारियोंकी बात सुनकर क्रोध से राजा के नेत्र लाल हो जावेंगे और ओंठ फड़कने लगेंगी । तदनन्तर वह स्वयं ही ग्रास छीननेका उद्यम करेगा ॥413॥

उस समय शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक कोई असुर यह सहन नहीं कर सकेगा इसलिए राजा को मार देगा सो ठीक ही है क्योंकि शक्तिशाली पुरुष अन्यायको सहन नहीं करता है ॥414॥

यह चतुर्मुख राजा मरकर रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवीमें जावेगा, वहाँ एक सागर प्रमाण उसकी आयु होगी और लोभ-कषायके कारण चिरकाल तक दुःख भोगेगा ॥415॥

प्रभावशाली मनुष्य धर्म का निर्मूल नाश कभी नहीं सहन कर सकते और कुछ सावध (हिंसापूर्ण) कार्यके बिना धर्म-प्रभावना हो नहीं सकती इसलिए सम्यग्दृष्टि असुर अन्यायी चतुर्मुख राजा को मारकर धर्म की प्रभावना करेगा ॥416॥

वाला है, और धर्म ही उन्हें निर्मल तथा निश्चल मोक्ष पदमें धारण करनेवाला है ॥417॥

धर्म का नाश हो ने से सज्जनोंका नाश होता है इसलिए जो सज्जन पुरुष हैं वे धर्म का द्रोह करनेवाले नीच पुरुषोंका निवारण करते ही हैं और ऐसे ही सत्पुरुषों से सज्जन-जगत् की रक्षा होती है ॥418॥

आठ प्रकार के निमित्तज्ञान, तपश्चरण करना, मनुष्यों के मनको प्रसन्न करनेवाले धर्मोपदेश देना, अन्यवादियोंके अभिमानको चूर करना, राजाओं के चित्तको हरण करनेवाले मनोहर तथा शब्द और अर्थ से सुन्दर काव्य बनाना, तथा शूरवीरता दिखाना इन सब कार्योंके द्वारा सज्जन पुरुषोंको जिन-शासनकी प्रभावना करनी चाहिये ॥419-420॥

चिन्तामणि रत्नके समान अभिलषित पदार्थों को देकर धर्म की प्रभावना करनेवाले, बुद्धिमानोंके द्वारा पूज्य धन्य पुरुष इस संसार में दुर्लभ हैं ॥421॥

जैन-शासनकी प्रभावना करने में जिसकी रूचि प्रवर्तमान है मानो मुक्ति उसके हाथमें ही स्थित है ऐसा जिनागममें कहा जाता है ॥422॥ जो जिन-शासनकी प्रभावना करनेवाला है वही वैयाकरण है, वही नैयायिक है, वही सिद्धान्तका ज्ञाता है और वही उत्तम तपस्वी है । यदि वह जिन-शासनकी प्रभावना नहीं करता है तो इन व्यर्थकी उपाधियों से क्या लाभ है ? ॥423॥

जिस प्रकार सूर्य के द्वारा जगत् प्रकाशमान हो उठता है उसी प्रकार जिसके द्वारा जैन शासन प्रकाशमान हो उठता है उसके दोनों चरणकमलों को धर्मात्मा अपने मस्तक पर धारण करते हैं ॥424॥

जिस प्रकार समुद्र रत्नों की उत्पत्तिका कारण है और मलयगिरि चन्दनकी उत्पत्तिका स्थान है उसी प्रकार जिन-शासनकी प्रभावना करनेवाला श्रीमान् पुरुष धर्म की उत्पत्तिका कारण है ॥425॥

जिस प्रकार राजा राज्यके कंटकोंको उखाड़ फेंकता है उसी प्रकार जो सदा धर्मके कंटकोंको उखाड़ फेंकता है और सदा ऐसा ही उद्योग करता है वह लक्ष्मी का धारक होता है ॥426॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि हर्ष-रूपी फूलों से व्याप्त मेरे मन-रूपी रंगभूमिमें जिनेन्द्र प्रणीत समीचीन धर्म की प्रभावनाका अभिनय रूपी महानट सदा नृत्य करता रहे ॥427॥

तदनन्तर उस कल्हिका अजितंजय नाम का बुद्धिमान् पुत्र, अपनी बालना नाम की पत्नीके साथ उस देवकी शरण लेगा तथा महामूल्य सम्यग्दर्शन रूपीरत्न स्वीकृत करेगा । देव के द्वारा किया हुआ जिनधर्म का माहात्म्य देखकर पापी पाखण्डी लोग उस समय से मिथ्या अभिमान छोड़ देंगे और जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ धर्म कुछ काल तक अच्छी तरह फिर से प्रवर्तमान होगा ॥428-430॥

इस प्रकार दुष्पमा नामक पन्चम कालमें एक एक हजार वर्ष के बाद जब क्रमशः बीस कल्हिके हो चुकेंगे तब अत्यन्त पापी जलमन्थन नाम का पिछला कल्हिके होगा । वह राजाओं में अन्तिम राजा होगा अर्थात् उसके बाद कोई राजा नहीं होगा । उस समय चन्द्राचार्य के शिष्य वीरांगज नाम के मुनि सब से पिछले मुनि होंगे, सर्वश्री सब से पिछली आर्यिका होंगी, अग्निल सब से पिछला श्रावक होगा और उत्तम व्रत धारण करनेवाली फल्गुसेना नाम की सब से पिछली श्राविका होगी ॥431-433॥

वे सब अयोध्याके रहनेवाले होंगे, दुःषमा काल के अन्तिम धर्मात्मा होंगे और पन्चम काल के जब साढ़ेआठ माह बाकी रह जावेंगे तब कार्तिक मास के कृष्णपक्षके अन्तिम दिन प्रातःकाल के समय स्वातिनक्षत्र का उदय रहते हुए वीरांगज मुनि, अग्निल श्रावक, सर्वश्री आर्यिका और फल्गुसेना श्राविका ये चारों ही जीव, शरीर तथा आयु छोड़कर सद्धर्मके प्रभाव से प्रथम स्वर्ग में जावेंगे । मध्याह्नके समय राजाका नाश होगा, और सायंकाल के समय अग्निका नाश होगा । उसी समय षट्कर्म, कुल, देश और अर्थके कारणभूत धर्म का समूल नाश हो जावेगा । ये सब अपने-अपने कारण मिलने पर एक साथ विनाशको प्राप्त होंगे । तदनन्तर अतिदुःषमा काल आवेगा । उसके प्रारम्भमें मनुष्य बीस वर्षकी आयुवाले, साढ़ेतीन हाथ ऊँचे शरीर के धारक, निरन्तर आहार करनेवाले पापी, नरक अथवा तिर्यन्च इन दो गतियों से आनेवाले और इन्हीं दोनों गतियोंमें जानेवाले होंगे । कपास और वस्त्रोंके अभाव से कुछ वर्षों तक तो वे पत्ते आदिके वस्त्र पहिनेंगे परन्तु छठवें काल के अन्त समयमें वे सब नग्न रह ने लगेंगे और बन्दरोंके समान दीन होकर फलादिका भक्षण करने लगेंगे ॥ 434-441॥

कालदोषके कारण मेघों ने इक्कीस हजार वर्ष तक थोड़ी थोड़ी वर्षा की सो ठीक ही है क्योंकि काल का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ॥ 442॥

मनुष्यों की बुद्धि बल काय और आयु आदिका अनुक्रम से ह्रास होता जावेगा । इस काल के अन्तिम समयमें मनुष्यों की आयु सोलह वर्षकी और शरीर की ऊँचाई एक हाथकी रह जावेगी ॥443॥

उस समय नामकर्मकी प्रकृतियोंमें से अस्थिर आदि अशुभ प्रकृतियाँ ही फल देंगी । उस समयके मनुष्य काले रंगके होंगे, उनके शरीर की कान्ति रूखी होगी, वे दुर्भग, दुःस्वर, खल, दुःख से देखनेके योग्य, विकट आकार वाले, दुर्बल तथा विरल दाँतोंवाले होंगे । उनके वक्षःस्थल, गाल और नेत्रोंके स्थान, भीतरको धँ से होंगे, उनकी नाक चपटी होगी, वे सब प्रकार का सदाचार छोड़ देंगे, भूख प्यास आदि से पीडित रहेंगे, निरन्तर रोगी होंगे, रोगका कुछ प्रतिकार भी नहीं कर सकेंगे और केवल दुःखके स्वादका ही अनुभव करनेवाले होंगे ॥ 444-446॥

इस प्रकार समय बीत ने पर जब अतिदुःषमा काल का अन्तिम समय आवेगा तब समस्त पानी सूख जावेगा, और शरीर के समान ही नष्ट

हो जावेगा ॥447॥

पृथिवी अत्यन्त रूखी-रूखी होकर जगह-जगह फट जावेगी, इन सब चीजोंके नाश हो जानेकी चिन्ता से ही मानो सब वृक्ष सूखकर मलिनकाय हो जावेंगे ॥448॥

प्रायः इस तरह समस्त प्राणियोंका प्रलय हो जावेगा । गंगा सिन्धु नदी और विजयार्थ पर्वत की वेदिकापर कुछ थोड़े से मनुष्य विश्राम लेंगे और वहाँ नदी के मुख में उत्पन्न हुए मछली, मेंढक, कछुए और केंकड़ा आदिको खाकर जीवित रहेंगे । उनमें से वहत्तर कुलोंमें उत्पन्न हुए कुछ दुराचारी दीन-हीन जीव छोटे-छोटे बिलोंमें घुसकर ठहर जावेंगे ॥449-450॥

तदनन्तर मेघ सात-सात दिन तक क्रम से सरस, विरस, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, विष-रूप और खारे पानीकी वर्षा करेंगे । इसके बाद पृथिवी की विषमता (ऊँच-नीचपना) नष्ट हो जायगी, सब ओर भूमि चित्रा पृथिवीके समान हो जावेगी और यहीं पर अपसर्पिणी काल की सीमा समाप्त हो जायगी ॥451-453॥

इसके आगे उत्सर्पिणी काल का अतिदुःषमा काल चलेगा, वह भी इक्कीस हजार वर्ष का होगा । इसमें प्रजाकी वृद्धि होगी । पहले ही क्षीर जातिके मेघ सात-सात दिन बिना विश्राम लिये जल और दूधकी वर्षा करेंगे जिस से पृथिवी रूक्षता छोड़ देगी और उसी से पृथिवी अनुक्रम से वर्णादि गुणोंको प्राप्त होगी । इसके बाद अमृत जातिके मेघ सात दिन तक अमृतकी वर्षा करेंगे जिस से औषधियाँ, वृक्ष, पौधे और घास पहलेके समान निरन्तर होंगे ॥454-457॥

तदनन्तर रसाधिक जातिके मेघ रसकी वर्षा करेंगे जिस से छह रसोंकी उत्पत्ति होगी । जो मनुष्य पहले बिलोंमें घुस गये थे वे अब उन से बाहर निकलेंगे और उन रसोंका उपयोग कर हर्ष से जीवित रहेंगे । ज्यों-ज्यों कालमें वृद्धि होती जावेगी त्यों-त्यों प्राणियोंके शरीर आदिका ह्लास दूर होता जावेगा-उनमें वृद्धि हो ने लगेगी ॥458-459॥

तदनन्तर दुःषमा नामक काल का प्रवेश होगा उस समय मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु बीस वर्षकी और शरीर की ऊँचाई साढ़ेतीन हाथकी होगी । इस काल का प्रमाण भी इक्कीस हजार वर्ष का ही होगा । इसमें अनुक्रम से निर्मल बुद्धि के धारक सोलह कुलकर उत्पन्न होंगे । उनमें से प्रथम कुलकर का शरीर चार हाथमें कुछ कम होगा और अन्तिम कुलकर का शरीर सात हाथ प्रमाण होगा । कुलकरोंमें सब से पहला कुलकर कनक नाम का होगा, दूसरा कनकप्रभ, तीसरा कनकराज, चौथा कनकध्वज, पाँचवाँ कनकपुंगव,छठा नलिन, सातवाँ नलिनप्रभ, आठवाँ नलिनराज, नौवाँ नलिनध्वज, दशवाँ नलिनपुंगव, ग्यारहवाँ पद्म, बारहवाँ पद्मप्रभ, तेरहवाँ पद्मराज, चौदहवाँ पद्मध्वज, पन्द्रहवाँ पद्मपुंगव और सोलहवाँ महापद्म नाम का कुलकर होगा । ये सभी बुद्धि और बल से सुशोभित होंगे ॥460-466॥

इनके समय में क्रम से शुभ भावोंकी वृद्धि हो ने से भूमि, जल तथा धान्य आदिकी वृद्धि होगी ॥467॥

मनुष्य अनाचारका त्याग करेंगे, परिमित समयपर योग्य भोजन करेंगे । मैत्री, लज्जा, सत्य, दया, दमन, संतोष, विनय, क्षमा, राग-द्वेष आदिकी मन्दता आदि सज्जनोचित चारित्र प्रकट होंगे और लोग अग्निमें पकाकर भोजन करेंगे ॥468-469॥

यह सब कार्य दूसरे कालमें होंगे । इसके बाद तीसरा काल लगेगा । उसमें लोगोंका शरीर सात हाथ ऊँचा होगा और आयु एक सौ बीस वर्षकी होगी ॥470॥

तदनन्तर इसी कालमें तीर्थकरोंकी उत्पत्ति होगी । जो जीव तीर्थकर होंगे उनके नाम इस प्रकार हैं-श्रेणिक 1, सुपार्श्व 2, उदंक 3, प्रोष्ठिल 4, कटपू 5, क्षत्रिय 6, श्रेष्ठी 7, शंख 8, नन्दन 9, सुनन्द 10, शशांक 11, सेवक 12, प्रेमक 13, अतोरण 14, रैवत 15, वासुदेव 16, भगलि 17, वागलि 18, द्वैपायन 19, कनकपाद 20, नारद 21, चारूपाद 22, और सत्यकिपुत्र 23, ये तेईस जीव आगे तीर्थकर होंगे । सात हाथको आदि लेकर इनके शरीर की ऊँचाई होगी । इस प्रकार तेईस ये तथा एक अन्य मिलाकर चौबीस तीर्थकर होंगे ॥471-475॥ उनमें से पहले तीर्थकर सोलहवें कुलकर होंगे । सौ वर्ष उनकी आयु होगी और सात अरत्रि ऊँचा शरीर होगा । अन्तिम तीर्थकर की आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की होगी और शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा होगा । उन तीर्थकरोंमें पहले तीर्थकर महापद्म होंगे । उनके बाद निम्नलिखित 23 तीर्थकर और होंगे-सुरदेव 1, सुपार्श्व 2, स्वयंप्रभ 3, सर्वात्मभूत 4, देवपुत्र 5, कुलपुत्र 6, उदंक 7, प्रोष्ठिल 8, जयकीर्ति 9, मुनिसुव्रत 10, अरनाथ 11, अपाप 12, निष्कषाय 13, विपुल 14, निर्मल 15, चित्रगुप्त 16, समाधिगुप्त 17, स्वयंभू 18, अनिवर्ती 19, विजय 20, विमल 21, देवपाल 22, और अनन्तवीर्य 23 । इन समस्त तीर्थकरोंके चरण-कमलोंकी समस्त इन्द्र लोग सदा पूजा करेंगे । इसी तीसरे कालमें उत्कृष्ट लक्ष्मी के धारक 12 बारह चक्रवर्ती भी होंगे ॥476-481॥

उनके नाम इस प्रकार होंगे-पहला भरत, दूसरा दीर्घदन्त, तीसरा मुक्तदन्त, चौथा गूढदन्त, पाँचवाँ श्रीषेण, छठवाँ श्रीभूति, सातवाँ श्रीकान्त, आठवाँ पद्म, नौवाँ महापद्म, दशवाँ विचित्र-वाहन, ग्यारहवाँ विमलवाहन और बारहवाँ सब सम्पदाओं से सम्पन्न अरिष्टसेन ॥ 482-484॥

नौ बलभद्र भी इसी कालमें होंगे । उनके नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं 1 चन्द्र, 2 महाचन्द्र, 3 चक्रधर, 4 हरिचन्द्र, 5 सिंहचन्द्र, 6 वरचन्द्र, 7 पूर्णचन्द्र, 8 सुचन्द्र और नौवाँ नारायणके द्वारा पूजित श्रीचन्द्र ॥485-486॥

नौ नारायण भी इसी कालमें होंगे उनके नाम इस प्रकार होंगे । पहला नन्दी, दूसरा नन्दिमित्र, तीसरा नन्दिषेण, चौथा नन्दिभूति, पाँचवाँ सुप्रसिद्धबल, छठवाँ महाबल, सातवाँ अतिबल, आठवाँ त्रिपृष्ठ और नौवाँ द्विपृष्ठ नामक विभु होगा । इन नारायणोंके शत्रु नौ प्रतिनारायण भी होंगे । उनके नाम अन्य ग्रन्थों से जान लेना चाहिए ॥487-489॥

तदनन्तर इस काल के बाद सुषम-दुषम काल आवेगा उसके प्रारम्भमें मनुष्यों की ऊँचाई पाँचसौ धनुष होगी और कुछ अधिक एक करोड़ वर्षकी आयु होगी । इसके बाद कुछ वर्ष व्यतीत हो जानेपर यहाँपर जघन्यभोगभूमिके आर्य जनों के समान सब स्थिति आदि हो जावेंगी ॥ 490-491॥

फिर पन्चम काल आवेगा । उसमें मध्यम भोगभूमिकी स्थिति होगी और उसके अनन्तर छठवाँ काल आवेगा उसमें उत्तम भोगभूमिकी स्थिति रहेगी ॥492॥

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्रके सिवाय और जो बाकी नौ कर्मभूमियाँ हैं उनमें भी इसी प्रकारकी प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार जो काल हो चुके हैं और जो आगे होंगे उन सबमें कल्पकाल की स्थिति बतलाई गई है अर्थात् उत्सर्पिणीके दश कोड़ा-कोड़ी सागर और अवसर्पिणीके 10 कोड़ा-कोड़ी सागर दोनों मिलाकर बीस कोड़ा-कोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है और यह सभी उत्सर्पिणियों तथा अवसर्पिणियोंमें होता है । सभी विदेहक्षेत्रों में मनुष्यों की ऊँचाई पाँचसौ धनुष प्रमाण होती है और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व प्रमाण रहती है । वहाँ तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और नारायण अधिक से अधिक हों तो प्रत्येक एक सौ साठ, एक सौ साठ होते हैं और कम से कम हों तो प्रत्येक बीस-बीस होते हैं । भावार्थ-अढ़ाई द्वीप में पाँच विदेह क्षेत्र हैं और एक-एक विदेहक्षेत्रके बत्तीस-बत्तीस भेद हैं इसलिए सबके मिलाकर एक सौ साठ भेद हो जाते हैं, यदि तीर्थकर आदि शलाकापुरुष प्रत्येक विदेह क्षेत्र में एक-एक हों तो एक सौ साठ हो जाते हैं और कम से कम हों तो एक-एक महाविदेह सम्बन्धी चार-चार नगरियोंमें अवश्यमेव हो ने के कारण बीस ही होते हैं ॥493-496॥

इस प्रकार सब कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए तीर्थकर आदि महापुरुष अधिक से अधिक हों तो एक सौ सत्तर हो सकते हैं । इन भूमियोंमें चारों गतियों से आये हुए जीव उत्पन्न होते हैं और अपने-अपने आचारके वशीभूत होकर मोक्षसहित पाँचों गतियोंमें जाते हैं । सभी भोग-भूमियोंमें, कर्मभूमिज मनुष्य और संज्ञी तिर्यन्च ही उत्पन्न होते हैं । भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीव मरकर पहले और दूसरे स्वर्ग में अथवा भवनवासी आदि तीन निकायोंमें उत्पन्न होते हैं । यह नियम है कि भोगभूमिके सभी मनुष्य और तिर्यन्च नियम से देव ही होते हैं ।

भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य उत्तम ही होते हैं और कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य अपनी-अपनी वृत्तिकी विशेषता से तीन प्रकार के कहे गये हैं-उत्तम, मध्यम और जघन्य । शलाकापुरुष, कामदेव तथा विद्याधर आदि, जो देवपूजित सत्पुरुष हैं वे दिव्य मनुष्य कहलाते हैं तथा छठवें काल के मनुष्य कहलाते हैं । इनके सिवाय एक पैरवाले, भाषा रहित, भाषा रहित, शंकुके समान कानवाले, कानको ही ओढ़ ने-बिछानेवाले अर्थात् लम्बे कानवाले, खरगोशके समान कानवाले, घोड़े आदिके समान कानवाले, अश्वमुख, सिंहमुख, देखनेके अयोग्य महिषमुख, कोलमुख (शूकरमुख), व्याघ्रमुख, उलूकमुख, वानरमुख, मत्स्यमुख, कालमुख, गोमुख, मेषमुख, मेघमुख, विद्युन्मुख, आदर्शमुख, हस्तिमुख, पूँछवाले, और सींगवाले ये कुभोगभूमिके मनुष्य भी नीच मनुष्य कहलाते हैं । ये सब अन्तर्द्वीपोंमें रहते हैं । सब म्लेच्छखण्डों और विजयार्थ पर्वतोंकी स्थिति तीर्थकरोंके समयके समान होती है और वृद्धि ह्रास सदा कर्मभूमियोंमें ही रहता है । इस प्रकार श्रेणिक राजा के प्रश्नके अनुसार इन्द्रभूति गणधर ने वचन रूपी किरणोंके द्वारा अन्तःकरणके अन्धकारसमूहको नष्ट करते हुए यह हाल कहा । उन्होंने ने यह भी कहा कि भगवान् महावीर भी बहुत से देशोंमें विहार करेंगे ॥497-508॥

अन्त में वे पावापुर नगर में पहुँचेंगे वहाँके मनोहर नाम के वनके भीतर अनेक सरोवरोंके बीच में मणिमयी शिलापर विराजमान होंगे । विहार छोड़कर निर्जराको बढ़ाते हुए वे दो दिन तक वहाँ विराजमान रहेंगे और फिर कार्तिककृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रिके अन्तिम समय स्वातिनक्षत्र में अतिशय देदीप्यमान तीसरे शुक्लध्यानमें तत्पर होंगे । तदनन्तर तीनों योगोंका निरोधकर समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक

चतुर्थ शुक्लध्यानको धारण कर चारों अघातिया कर्मों का क्षय कर देंगे और शरीररहित केवलगुणरूप होकर एक हजार मुनियों के साथ सबके द्वारा वान्छनीय मोक्षपद प्राप्त करेंगे ॥509-512॥

इनके बाद नन्दी मुनि, श्रेष्ठ नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और महातपस्वी भद्रबाहु मुनि होंगे । ये पाँचों ही मुनि अतिशय विशुद्धिके धारक होकर अनुक्रम से अनेक नयों से विचित्र अर्थोंका निरूपण करने वाले पूर्ण श्रुतज्ञान को प्राप्त होंगे अर्थात् श्रुतकेवली होंगे । इनके बाद विशाखाय, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और बुद्धिमान् धर्मसेन ये ग्यारह अनुक्रम से होंगे तथा द्वादशांगका अर्थ कहनेमें कुशल और दश पूर्वके धारक होंगे ॥513-522॥

ये ग्यारह मुनि भव्योंके लिए कल्पवृक्ष के समान तथा जैनधर्म का प्रकाश करनेवाले होंगे । उनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये ग्यारह अंगोंके जानकार होंगे । उनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, प्रकृष्ट बुद्धिमान्, यशोबाहु और चौथे लोहाचार्य ये चार आचारांगके जानकार होंगे । इन सब तपस्वियोंकी यह परम्परा जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निकले हुए, पवित्र तथा पापोंका लोप करनेवाले शास्त्रोंका प्ररूपण करेंगे । इनके बाद बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले जिनसेन, वीरसेन आदि अन्य तपस्वी भी श्रुतज्ञान के एकदेशका प्ररूपण करेंगे । प्रायः कर श्रुतज्ञान का यह एकदेश दुःषमा नामक पन्चम काल के अन्त तक चलता रहेगा ॥523-528॥

भरत, सागर, मनुष्यों के द्वारा प्रशंसनीय सत्यवीर्य, राजा मित्रभाव, सूर्य के समान कांतिवाला मित्रवीर्य, धर्मवीर्य, दानवीर्य, मघवा, बुद्धवीर्य, सीमन्धर, त्रिपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषपुण्डरीक, प्रशंसनीय सत्यदत्त, पृथिवी का पालक कुनाल, मनुष्योंका स्वामी नारायण, सुभौम, सार्वभौम, अजितनजय, विजय, उग्रसेन, महासेन और आगे चलकर जिनेन्द्रका पद प्राप्त करनेवाला तू, गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक ! ये सभी पुरुष श्रीमान् हैं, धर्म सम्बन्धी प्रश्न करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, और निरन्तर चौबीस तीर्थकरोंके चरण-कमलोंकी सेवा करनेवाले हैं ॥529-533॥

भगवान् महावीर स्वामी का जीव पहले पुरुरवा नाम का भील था, फिर पहले स्वर्ग में देव हुआ, फिर भरतका पुत्र मरीचि हुआ, फिर ब्रह्मस्वर्ग में देव हुआ, फिर जटिल नाम का ब्राह्मण हुआ ॥534॥

फिर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ, फिर पुष्यमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ, फिर अग्निसम नाम का ब्राह्मण हुआ ॥535॥

फिर सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुआ, फिर अग्निमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ, फिर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, फिर भारद्वाज नाम का ब्राह्मण हुआ, फिर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, फिर वहाँ से च्युत होकर मनुष्य हुआ, फिर असंख्यात वर्षों तक नरकों और त्रस स्थावर योनियोंमें भ्रमण करता रहा ॥536-537॥

वहाँ से निकलकर स्थावर नाम का ब्राह्मण हुआ, फिर चतुर्थ स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से च्युत होकर विश्वनन्दी हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नाम का तीन खण्डका स्वामी-नारायण हुआ, फिर सप्तम नरकमें उत्पन्न हुआ वहाँ से निकल कर सिंह हुआ ॥538-539॥

फिर पहले नरकमें गया, वहाँ से निकल कर फिर सिंह हुआ, उसी सिंहकी पर्यायमें उसने समीचीन धर्म धारण कर निर्मलता प्राप्तकी, फिर सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का उत्तम देव हुआ, फिर कनकोज्ज्वल नाम का विद्याधरोंका राजा हुआ, फिर सप्तम स्वर्ग में देव हुआ, फिर हरिषेण राजा हुआ, फिर महाशुक स्वर्ग में देव हुआ, फिर प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती हुआ, फिर सहस्त्रार स्वर्ग में सूर्यप्रभ नाम का देव हुआ, वहाँ से आकर नन्द नाम का राजा हुआ, फिर अच्युत स्वर्गके पुष्पोत्तर विमान में उत्पन्न हुआ और फिर वहाँ से च्युत होकर वर्धमान तीर्थकर हुआ है ॥540-543॥

जो पन्चकल्याण रूप महाऋद्धिको प्राप्त हुए हैं तथा जिन्हें मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त हुई है ऐसे वे वर्धमान स्वामी गुणभद्रके लिए अथवा गुणों से श्रेष्ठ समस्त पुरुषोंके लिए सर्व प्रकार के मंगल प्रदान करें ॥544॥

इस प्रकार अच्छी कथाके रस से मधुर तथा भक्ति से आस्वादित, गौतम स्वामी के मुखकमलमें सुशोभित सरस्वती देवीके वचन रूपी अमृतसे, वह सभा तथा मगधेश्वर राजा श्रेणिक दोनों ही, समस्त अर्थ रूप सम्पदाओं को देनेवाले एवं ज्ञान और दर्शन को पुष्ट करनेवाले बड़े भारी सन्तोषको प्राप्त हुए ॥545॥

जो निर्मल मोक्षमार्ग में रात-दिन लक्ष्मी से बढ़ते ही जाते हैं, जिन्होंने ने इस कलिकालमें भी धर्म तीर्थका भारी विस्तार किया है, और जिन्होंने ने अन्तिम तीर्थकरको भी जीत लिया है ऐसे श्रीवर्धमान जिनेन्द्र को मैं स्तुतिके मार्ग में लिये जाता हूँ-अर्थात् उनकी स्तुति करता हूँ ॥

546॥

हे ईश ! अर्थी लोग-कुछ पानेकी इच्छा करने वाले लोग, किसी स्तुत्य अर्थात् स्तुति करने के योग्य पुरुष की जो स्तुति करते हैं सो उसे प्रसन्न करने के लिए ही करते हैं परन्तु यह बात आपमें नहीं है क्योंकि आप मोहको जीत चुके हैं इसलिए मैं किसी वस्तुकी आकांक्षा रखकर स्तुति नहीं कर रहा हूँ, मुझे तो सिर्फ स्तुति करने योग्य जिनेन्द्रकी स्तुति करनेका ही अनुराग है, मैं सब प्रयोजनों से विमुख हूँ ॥ 547 ॥

हे सुमुख ! जिनका प्रमाण अर्थात् ज्ञान, प्रमेय अर्थात् पदार्थ से रहित है-जो समस्त पदार्थों को नहीं जानते हैं वे हिताभिलाषी लोगोंकी स्तुतिके विषय नहीं हो सकते । हे अहन् ! आप समस्त पदार्थों को जानते हैं-समस्त पदार्थों का जानना ही आपका स्वरूप है और आप ही उन समस्त पदार्थों के वक्ता हैं-उपदेश देनेवाले हैं इसलिए हिताभिलाषी लोगों के द्वारा आप ही स्तुति किये जानेके योग्य हैं ॥548॥
हे जिनेन्द्र ! यद्यपि आप स्तुतिका फल नहीं देते हैं तो भी स्तुति करनेवाला मनुष्य विना किसी याचनाके शीघ्र ही स्तुतिका बहुत भारी श्रेष्ठ भारी श्रेष्ठ फल अवश्य पा लेता है इसलिए दीनता से बहुत डरनेवाला और श्रेष्ठ फलकी इच्छा करनेवाला मैं आपका स्तवन क्यों न करूँ ? ॥549॥

हे जिनेन्द्र ! यदि इस संसार में कोई किसी के लिए विना कारण तृणका एक टुकड़ा भी देता है तो वह मूर्ख कहलाता है परन्तु आप विना किसी कारण मोक्ष लक्ष्मी तक प्रदान करते हैं (इसलिए आपको सब से अधिक मूर्ख कहा जाना चाहिये) परन्तु आप बुद्धिमानोंमें प्रथम ही गि ने जाते हैं यह महान् आश्चर्य की बात है ॥550॥

इस संसार में कितने ही अन्य लोगों ने अपना सर्वस्व-धन देकर याचक जनों के लिए छलरहित स्थायी धन से श्रेष्ठ बनाया है और हे जिनेन्द्र ! आप केवल वचनोंके द्वारा ही दान करते हैं फिर भी आश्चर्य की बात है कि चतुर मनुष्य उन सबका उल्लंघन कर एक आपको ही उत्कृष्ट दाता कहते हैं । भावार्थ-धन सम्पत्तिका दान करनेवाले पुरुष संसार में फँसानेवाले हैं परन्तु आप वैराग्य से ओत-प्रोत उपदेश देकर जीवों को संसार-समुद्र से बाहर निकालते हैं अतः सच्च और उत्कृष्ट दानी आप ही हैं ॥551॥

हे जिन ! विषयोंका अर्जन करना ही जिनकी बुद्धि अथवा पुरुषार्थ रह गया है तथा समस्त विषयों का निरन्तर उपभोग करना ही जिन्होंने सुख मान रखा है उन दोनों से विरुद्ध रहनेवाला आपका शासन, उन लोगों के कानको फोड़नेवाला क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा ॥552॥
हे जिनेन्द्र ! आप ने जिस पुण्यका उपदेश दिया है वही ज्ञान आदिके द्वारा परम निर्वाणका साधन हो ने से इष्ट है तथा भव्य जीवों के द्वारा करने के योग्य है । देवों के समस्त सुख प्रदान करनेवाला जो पुण्य है वह पुण्य नहीं है क्योंकि वह बन्धका देनेवाला है, विषयोंमें फँसानेवाला है और अभीष्ट (मोक्ष) का घात करनेवाला है ॥553॥

हे भगवन् ! समवसरणमें आपके जो शरीरादिक विद्यमान हैं वे निष्फल नहीं हैं क्योंकि उत्तम शिष्य आपके वचन सुनकर तथा साक्षात् आपके दर्शन कर इसी लोक में परम आनन्द को प्राप्त होते हैं सो ठीक ही है क्योंकि जितने फल हैं उन सबमें परोपकार करना ही मुख्य फल है ॥554॥

हे भगवन् ! ज्ञान दर्शनादिरूप लक्षणोंका घात करनेवाला जो नामादि कर्म आपकी आत्मामें विद्यमान है वह क्या आपके उपयोगको नष्ट कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता । हे जिनेन्द्र ! आत्मामें कर्मोंकी सत्ता हो ने से जो आपको असिद्ध-अमुक्त मानता है वह यह क्यों नहीं मान ने लगता है कि निरन्तर ऊर्ध्वगमन न हो ने से शरीर रहित सिद्ध भगवान् भी अभी सिद्धिको प्राप्त नहीं हुए हैं । भावार्थ-यद्यपि अरहन्त अवस्था में नामादि कर्म विद्यमान रहते हैं परन्तु मोहनीयका योग न हो ने से वे कुछ कर सकनेमें समर्थ नहीं हैं अतः उनकी जीवन्मुक्त अवस्था ही मान ने योग्य है ॥555॥

हे प्रभो ! गणधरादिक देव, आपको आदिसहित, अन्त रहित, आदिरहित, अन्तसहित, अनादि-अनन्त, पापसहित, पापरहित, दुःखी, सुखी और दुःख-सुख दोनों से रहित कहते हैं इसलिए जो मनुष्य नयों से अनभिज्ञ हैं वे आपको नहीं जान सकते हैं-उनके द्वारा आप अज्ञेय हैं । भावार्थ-आत्माकी जो सिद्ध पर्याय प्रकट होती है वह पहले से विद्यमान नहीं रहती इसलिए सिद्ध पर्यायकी अपेक्षा आप सादि हैं तथा सिद्ध पर्याय एक बार प्रकट होकर फिर कभी नष्ट नहीं होती इसलिए आप अन्तरहित हैं । आपकी संसारी पर्याय आदिरहित है अतः उसकी अपेक्षा अनादि हैं और कर्म क्षय हो जा ने पर संसारी पर्यायका अन्त हो जाता है उसकी अपेक्षा अन्तसहित हैं । द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सामान्य जीवत्वभाव से आप न आदि हैं और न अन्त हैं अतः आप आदि और अन्त दोनों से रहित हैं । हिंसादि पापोंका आप त्याग कर चुके हैं अतः अनवद्य हैं-निष्पाप हैं और असातावेदनीय आदि कितनी ही पाप प्रकृतियों का उदय अरहन्त अवस्था में भी विद्यमान है

अतः सावद्य हैं-पाप प्रकृतियों से सहित है । अरहन्त अवस्था में असातावेदनीयका उदय विद्यमान रह ने से कारणकी अपेक्षा आप दुखी हैं, मोह कर्म का अभाव हो जा ने से आकुलताजन्य दुःख नष्ट हो चुका है इसलिए सुखी हैं, और आप अव्यावाधगुण से सहित हैं अतः सुखी और दुखी इन दोनों व्यवहारों से रहित हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयोंकी अपेक्षा आप अनेक रूप हैं । जो इस नयवादको नहीं समझता है वह आपके इन विविध रूपोंको कैसे समझ सकता है ? ॥556॥

हे देव ! जीवों के भाव दो प्रकार के हैं एक संयोग से उत्पन्न होनेवाले और दूसरे स्वाभाविक । जो संयोग से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं वे संयोगके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाते हैं, उनके नष्ट हो ने से ज्ञानादिक स्वाभाविक भावोंमें आत्माकी जो स्थिति है वही परमनिर्वृति या परम मुक्ति कहलाती है परन्तु यह मार्ग आपके वचनों से दूर रहनेवाले अन्य दर्शनकारोंको कठिन है ॥557॥

हे भगवन् ! आप अनादि कर्मबन्धनको छेदकर जो अन्तरहित मुक्ति प्रदान करते हैं वह बात तो दूर ही रही किन्तु स्नेह आदि कारणों से रहित होकर भी समस्त प्राणियोंकी रक्षा करने में जो आपकी दक्षता है वही आपकी आप्तता सिद्ध करने के लिए बहुत है ॥558॥

हे भगवन् ! क्या आपका ज्ञान समस्त पदार्थों के देखनेके कौतूहल से सहित नहीं है ? क्या अपरिमित पदार्थों के निरूपण करने में आपकी वचन-कुशलता नहीं है ? क्या परपदार्थों से पराङ्मुख रह ने वाले आप स्वार्थरूप सम्पदाके सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं और क्या सज्जनोंके बीच एक आप ही पूज्य नहीं हैं ? ॥559॥

हे नाथ ! समस्त संसार को देखनेके लिए फैलनेवाले आपके अनन्तवीर्यके व्यापारका पार कभी नहीं प्राप्त किया जा सकता है तो भी आश्चर्य है कि सज्जन लोग आपको ही सुखियोंमें सब से अधिक सुखी बतलाते हैं परन्तु उनकी यह भक्ति है अथवा यथार्थज्ञान है सो जान नहीं पड़ता है ॥560॥

हे जिनेन्द्र ! आपकी जितनी चेष्टाएँ हैं वे सभी भक्त जीवों के मोक्ष सिद्ध करने के लिए हैं परन्तु आपको उसके किसी फलकी इच्छा नहीं है इसलिए कहना पड़ता है कि वचनामृतरूपी जलकी वृष्टि से संसार को तृप्त करते हुए एक आप ही अकारण बन्धु हैं ॥561॥

यह जीव प्रकट हुए उपयोगरूपी गुणों के द्वारा जाना जाता है और उस उपयोगको नष्ट करनेवाले चार घातिया कर्म हैं । उन घातिया कर्मों को नष्ट करने से आपका उपयोगरूपी पूर्ण लक्षण प्रकट हो चुका है इसलिए हे जिनेन्द्र ! आप ही कहिए कि ऐसे आत्मलक्षणवाले आपको सिद्ध कैसे न कहें ? ॥562॥

हे भगवन् ! आपके गुण साधारण नहीं हैं यह मैं मानता हूँ परन्तु उन असाधारण गुणों के रहते हुए भी आप साक्षात् दिखते नहीं हैं यह आश्चर्य है, यदि आपके साक्षात् दर्शन हो जावें तो वह भक्ति उत्पन्न होती है जिसके कि द्वारा बहुत भारी पुण्यका संचय होता है और बहुत भारी पाप नष्ट हो जाते हैं ॥563॥

हे देव ! मोहनीय कर्म का घात हो ने से आपके अवगाढ़ सम्यग्दर्शन हुआ था और अब ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणका क्षय हो जा ने से परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है । अवगाढ़ सम्यग्दर्शनमें चारित्रकी पूर्णता होती है और परमावगाढ़ सम्यग्दर्शनमें समस्त पदार्थों के जाननेकी सामर्थ्य होती है इस तरह दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणकी पूर्णताके कारण आप वन्दनीय हैं-वन्दना करने के योग्य हैं ॥564॥

हे भगवन् ! आप ने प्रबल घातिया कर्मोंकी सेना को तो पहले ही नष्ट कर दिया था अब अघातिया कर्म भी, जिसका बाँध टूट गया है ऐसे सरोवरके जलके समान निरन्तर बहते रहते हैं-खिरते जाते हैं । हे नाथ ! इस तरह व्यवहार-रत्नत्रयके द्वारा आपको निश्चय-रत्नत्रयकी सिद्धि प्राप्त हुई है और समीचीन धर्मचक्रके द्वारा आप तीनों लोकों के एक स्वामी हुए हैं ॥565॥

हे कामदेव के मानको मर्दन करनेवाले प्रभो ! आपका शरीर विकार से रहित है और आपके वचन पदार्थ के यथार्थ स्वरूपको देखनेवाले हैं यदि कदाचित् ये दोनों ही नेत्र और कर्ण इन्द्रियके विषय हो जावें तो वे दोनों ही, राग-द्वेष से रहित तथा समस्त पदार्थों को जाननेवाले आपको किसके मन में शीघ्र ही स्थापित नहीं कर देंगे अर्थात् सभीके मन में स्थापित कर देंगे । भावार्थ-आपका निर्विकार शरीर देखकर तथा पदार्थ के यथार्थ स्वरूपका निरूपण करनेवाली आपकी वाणी सुनकर सभी लोग अपने हृदय में आपका ध्यान करने लगते हैं । आपका शरीर निर्विकार इसलिए है कि आप वीतराग हैं तथा आपकी वाणी पदार्थ का यथार्थ स्वरूप इसलिए कहती है कि आप सब पदार्थों को जाननेवाले हैं-सर्वज्ञ हैं ॥566॥

हे विद्वानोंके पालक ! क्या इस संसार में वस्तुका स्वरूप अन्वय रूप से नित्य है अथवा निरन्वय रूप से क्षणिक है । कैसा है सो कहिए, इसका स्वरूप कहनेमें बुद्धादिक गर्भ में बैठे हुए बच्चेके समान हैं, वास्तविक बात यह है कि इन सबका ज्ञान पदार्थज्ञान से विमुख है ॥

हे देव ! आपका अनन्तचतुष्टय कपिलादिके विषयभूत नहीं है यह बात तो दूर रही परन्तु निःस्वेदत्व आदि जो आपके स्वाभाविक अतिशय हैं उनमें से क्या कोई भी कपिलादि से किसी एकके भी संभव है ? अर्थात् नहीं है; फिर भला ये बेचारे कपिलादि आपकी पंक्तिमें कैसे बैठ सकते हैं ? आप कैसे कहला सकते हैं ? ॥568॥

हे भगवन् ! यद्यपि आप ने तीनों वेदोंको नष्ट कर दिया है फिर भी मुनिगण आपको परमपुरुष कहते हैं सो क्या परमौदारिक शरीर की संगति से कहते हैं ? या मोह रूपी लताके भस्म करने से कहते हैं ? या सिद्धता गुणरूप परिणमन करने से कहते हैं या गुणों के गौरव से कहते हैं ? ॥569॥

हे भगवन् ! यद्यपि अभी आप ने औदारिक, तैजस और कर्मण इन तीन शरीरोंको नष्ट नहीं किया है तो भी शुद्धि, शक्ति और अनुपम धैर्यके सातिशय प्रकट हो ने से आप सिद्ध हो चुके हैं । हे स्वामिन् ! आप अपने द्वारा कहे हुए विशाल एवं समीचीन मार्ग में चलनेवाले लोगों को परमात्म-अवस्था प्राप्त करा देते हैं यही आपकी सब से अधिक विशेषता है ॥570॥

हे देव ! यद्यपि आपके औदयिक भाव है परन्तु चूँकि आप मोह से रहित हैं अतः वह बन्धका कारण नहीं है मात्र योगोंके अनुरोध से आपके सातावेदनीय नामक पुण्य प्रकृतिका थोड़ा-सा बन्ध होता है पर वह आपका कुछ भी विघात नहीं कर सकता इसलिए आपको यथार्थमें बन्धरहित ही कहते हैं ॥571॥

हे भगवन् ! आपके चरण-कमलों का भ्रमर बन ने से जो पुण्य प्राप्त हुआ था उसी से यह देवताओं का समूह गणनीय (माननीय) गिना गया है और उसी कारण से उसकी लक्ष्मी संख्या से बाहर हो गई है । यही कारण है कि नखोंकी ऊपरकी ओर उठनेवाली किरणों से जिसका मुख देदीप्यमान हो रहा है ऐसा यह इन्द्र मुकुट झुका कर आपके चरणोंके सम्मुख हो रहा है-आपके चरणों की ओर निहार रहा है ॥572॥

हे जिनेन्द्र ! आपका उत्कृष्ट शरीर प्रथम भाव की चरम सीमा से परिपूर्ण है, आप क्रम तथा इन्द्रियों से रहित केवलज्ञानरूपी तेजके एक मात्र स्थान हैं, आपकी गम्भीर दिव्यध्वनि निश्चय और व्यवहार नय से परिपूर्ण होकर प्रकट हुई है तथा आप सबके स्वामी हैं इसलिए हे नाथ ! आपके परमात्मपदका प्रभाव बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा है ॥573॥

हे भगवन् ! यद्यपि आपका ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है तो भी स्वरूपमें नियत है और वह किसी कार्य का कारण नहीं है । आपकी वाणी इच्छा के विना ही खिरती है तो भी वचनरहित (पशु आदि) जीवोंका भी आत्मकल्याण करने में समर्थ है । इसी प्रकार आपका जो विहार तथा ठहरना होता है वह भी अपनी इच्छा से किया हुआ । नहीं होता है और वह भी निज तथा पर किसीको भी बाधा नहीं पहुँचाता है । ऐसे हे देव ! आप मेरे निर्मलज्ञानरूपी दर्पणके तलमें ज्ञेयकी आकृतिको धारण करो अर्थात् मेरे ज्ञान के विषय होओ ॥574॥

हे भगवन् ! आप आत्माके स्वामी हैं-अपनी इच्छाओं को अपने आधीन रखते हैं तथा आप ने रागादि अविद्याओं का उच्छेद कर दिया है इसलिए आपके वचन प्रत्यक्षादि विरोध से रहित होकर समस्त संसार के लिए विना किसी बाधाके यथार्थ उपदेश देते हैं । इसी तरह हे वीर ! आप ने कामदेव के वाणोंकी शिखाकी वाचालता और शक्ति दोनों ही नष्ट कर दी है इसलिए मोहकी शत्रुताको जीतना आपके ही सिद्ध है अन्याय करनेवाले अन्य लोगोंमें नहीं ॥575॥

समस्त जगत् के द्वारा वन्दना करने योग्य देवाधिदेव श्री वर्धमान स्वामी सदा मेरे मस्तक पर विराजमान रहें और हे गणधर देव ! आप भी सदा मेरे हृदय में विद्यमान रहें क्योंकि आप ने मेरे भाग्योदय से करुणाकर स्पष्ट वाणीके द्वारा श्रद्धाकी वृद्धि करनेवाला यह प्रथमानुयोग कहा है सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे पुरुषोंका ऐसा भाव होना स्वाभाविक ही है ॥576॥

इस प्रकार जिसे आगामी कालमें मोक्ष होनेवाला है जिस ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, जो धर्म का भार धारण करनेवाला है और जिसे भारी हर्ष उत्पन्न हो रहा है ऐसा मगधपति राजा श्रेणिक, श्री वर्धमान जिनेन्द्र और गौतम गणधरकी स्तुति कर अपने नगर में प्रविष्ट हुआ ॥577॥

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि व्याख्यान करनेवाले, सुननेवाले और लिखनेवालोंको इस पुराणकी संख्या अनुष्टुप् छन्द से बीस हजार समझनी चाहिये ॥578॥

कथा :

इन्द्र लोग जिन्हें नमस्कार करते थे और इसीलिए जिनके चरण-नखरूपी चन्द्रमा के विम्बका स्पर्श करनेसे जिन इन्द्रों के उत्तम मुकुट प्रकट हो रहे थे वे इन्द्र, मस्तक पर अर्ध-चन्द्र को धारण करने की लीला से उन्मत्त हुए महादेव का भी तिरस्कार करते थे ऐसे श्री वर्धमान स्वामी सदा जय-शील हों ॥1॥

जिस प्रकार समुद्र में अनेक देदीप्यमान रत्नों के स्थान होते हैं उसी प्रकार मूलसंघ-रूपी समुद्र में महापुरुष-रूपी रत्नों के स्थान स्वरूप एक सेन वंश हो गया है ॥2॥

उसमें समस्त प्रवादी रूपी मदोन्मत्त हाथियों को त्रास देनेवाले एवं वीरसेन संघ में अग्रणी वीरसेन भट्टारक सुशोभित हुए थे ॥3॥

वे ज्ञान और चारित्र की सामग्री के समान शरीर को धारण कर रहे थे और शिष्य जनों का अनुग्रह करने के लिए ही मानों सुशोभित हो रहे थे ॥4॥

यह आश्चर्य की बात थी कि उन वीरसेन भट्टारक के चरणों में नम्र हुए राजा लोगों के मुखरूपी कमल उनके नखरूपी चन्द्रमा की किरणों से प्रफुल्लित शोभा को धारण कर रहे थे ॥5॥

सिद्धिभूपद्धति ग्रन्थ यद्यपि पद-पद पर विषम या कठिन था परन्तु उन वीरसेन स्वामी के द्वारा निर्मित उसकी टीका देखकर भिक्षु लोग उसमें अनायास ही प्रवेश करने लगे थे ॥6॥

जिन वीरसेन स्वामी के मुखरूपी कमल से प्रकट हुई वचन रूपी लक्ष्मी, धवल कीर्ति के समान श्रवण करने के योग्य है, समस्त बुद्धिमान सज्जनों को सदा प्रेम उत्पन्न करनेवाली है और समस्त संसार में फैलने के परिश्रम से ही मानो इस लोक में बहुत दिन से स्थित है उसी वचनरूपी लक्ष्मी के द्वारा अनादि काल से संचित कानों में भरे हुए मैल पूण-रूप से नष्ट हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - श्री वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम के ऊपर जो धवला नाम की टीका लिखी है वह मानो उनके मुखरूपी कमल से प्रकट हुई लक्ष्मी ही है, कीर्ति के समान श्रवण करने के योग्य है, समस्त सम्यग्ज्ञानी पुरुषों को निरन्तर उत्तम प्रीति उत्पन्न करती हैं उसका प्रभाव समस्त लोक में फैला हुआ है । और वह लोक में सिद्धान्त ग्रन्थों की सीमा के समान स्थित है । आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उनकी वह धवला टीका श्रोतृजनों के अज्ञान रूपी मैल को चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से नष्ट करता रहे । जिस प्रकार हिमवान् पर्वत से गंगानदी का प्रवाह प्रकट होता है, अथवा सर्वज्ञ देव से समस्त शास्त्रों की मूर्ति स्वरूप दिव्य ध्वनि प्रकट होती है अथवा उदयाचल के तट से देदीप्यमान सूर्य प्रकट होता है उसी प्रकार उन वीरसेन स्वामी से जिनसेन मुनि प्रकट हुए ॥7- 8॥

श्री जिनसेन स्वामी के देदीप्यमान नखों के किरण-समूह धारा के समान फैलते थे और उसके बीच उनके चरण कमल के समान जान पड़ते थे उनके उन चरण-कमलों की रज से जब राजा अपमोघवर्ष के मुकुट में लगे हुए नवीन रत्नों की कान्ति पीली पड़ जाती थी तब वह अपने आपको ऐसा स्मरण करता था कि मैं आज अत्यन्त पवित्र हुआ हूँ आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि उन पूजनीय भगवान् जिनसेनाचार्य के चरण संसार के लिए मंगल रूप हों ॥9॥

पद और वाक्य की रचना में प्रवीण होना, दूसरे पक्ष का निराकरण करने में तत्परता होना, आगम-विषयक उत्तम पदार्थों को अच्छी तरह समझना, कल्याणकारी कथाओं के कहने में कुशलता होना, ग्रन्थ के गूढ़ अभिप्राय को प्रकट करना और उत्तम मार्ग युक्त कविता का होना ये सब गुण जिनसेनाचार्य को पाकर कलिकाल में भी चिरकाल तक कलंक-रहित होकर स्थिर रहे थे ॥10॥

जिस प्रकार चन्द्रमा से चाँदनी, सूर्य यमें प्रभा और स्फटिक में स्वच्छता स्वभाव से ही रहती है उसी प्रकार जिनसेनाचार्य में सरस्वती भी स्वभाव से ही रहती है ॥11॥

जिस प्रकार समस्त लोक का एक चक्षु-स्वरूप सूर्य चन्द्रमा का सधर्मा होता है । उसी प्रकार अतिशय बुद्धिमान् दशरथ गुरु, उन जिनसेनाचार्य के सधर्मा बन्धु थे-एक गुरु-भाई थे । जिस प्रकार सूर्य अपनी निर्मल किरणों से संसार के सब पदार्थों को प्रकट करता है उसी प्रकार वे भी अपने वचनरूपी किरणों से समस्त जगत् को प्रकाशमान करते थे ॥12॥

जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य के मण्डल को बालक लोग भी शीघ्र जान जाते हैं उसी प्रकार जिनसेनाचार्य के शोभायमान वचनों में समस्त शास्त्रों का सद्भाव था यह बात अज्ञानी लोग भी शीघ्र ही समझ जाते थे ॥13॥

सिद्धान्त-शास्त्र रूपी समुद्र के पारागामी होने से जिसकी बुद्धि अतिशय प्रगल्भ तथा देदीप्यमान (तीक्ष्ण) थी, जो अनेक नय और प्रमाण के ज्ञान में निपुण था, अगणित गुणों से भूषित था तथा समस्त जगत् में प्रसिद्ध था ऐसा गुणभद्राचार्य, उन्हीं जिनसेनाचार्य तथा दशरथ गुरु का शिष्य था ॥14॥

'गुणभद्र ने पुण्य-रूपी लक्ष्मी के सौभाग्यशाली होने का गर्व जीत लिया है' ऐसा समझकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उनके पास अत्यन्त चतुर दूत के समान विशुद्ध बुद्धि वाली तपोलक्ष्मी को भेजा था और वह तपोलक्ष्मीरूपी दूती महागुण-रूपी धन से सन्पन्न रहने-वाले उस गुणभद्र की बड़ी प्रीति से सेवा करती रहती थी ॥15॥

उन गुणभद्र के वचनरूपी किरणों के समूह ने हृदय में रहनेवाले अज्ञानान्धकार को सदा के लिए नष्ट कर दिया था और वह कुवलय तथा कमल दोनों को आह्लादित करनेवाला था (पक्ष में मही-मण्डल की लक्ष्मी को हर्षित करनेवाला था) इस तरह उसने चन्द्रमा और सूर्य दोनों के प्रसार को जीत लिया था ॥16॥

परमेश्वर कवि के द्वारा कथित गद्य काव्य जिसका आधार हैं, जो समस्त छन्दों और अलंकारों का उदाहरण है, जिसमें सूक्ष्म अर्थ और गूढ़पदों की रचना हैं, जिसने अन्य काव्यों को तिरस्कृत कर दिया है, जो श्रवण करने के योग्य है, मिथ्या कवियों के दर्प को खण्डित करनेवाला है, और अतिशय सुन्दर है ऐसा यह महापुराण सिद्धान्त ग्रन्थ पर टीका लिखनेवाले तथा शिष्यजनों का चिरकाल तक पालन करनेवाले श्री जिनसेन भगवान् ने कहा है ॥17-19॥

ग्रन्थ का जो भाग, भगवान् जिनसेन के कथन से बाकी बच रहा था उसे निर्मल बुद्धि के धारक गुणभद्र सूरि ने हीनकाल के अनुरोध से तथा भारी विस्तार के भय से संक्षेप में ही संगृहीत किया हैं ॥20॥

यह महापुराण व्यर्थ के वर्णन से रहित है, सरलता से समझा जा सकता है, उत्तम लेख से युक्त है, सब जीवों का हित करनेवाला है, तथा पूजित है ऐसे इस समग्र महापुराण ग्रन्थ को भक्ति से भरे हुए भव्य जीव अच्छी तरह पढ़े तथा सुनें ॥21॥

संसार के छेद की इच्छा से जो भव्य जीव इस ग्रन्थ का बार-बार चिन्तन करते हैं, ऐसे निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारक पुरुषों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, सब प्रकार की शान्ति मिलती है, वृद्धि होती है, विजय होती है, कल्याण की प्राप्ति होती है, प्रायः इष्ट जनों का समागम होता है, उपद्रवों का नाश होता है, बहुत भारी सम्पदाओं का लाभ होता है, शुभ-अशुभ कर्मों के बन्ध के कारण तथा उनके फलों का ज्ञान होता है, मुक्ति का अस्तित्व जाना जाता है, मुक्ति के कारणों का निश्चय होता है, तीनों प्रकार के वैराग्य की उत्पत्ति होती है, धर्म की श्रद्धा बढ़ती है, असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है, अशुभ कर्मों का आस्रव रुकता है और समस्त कर्मों का क्षय होने से वह आत्यन्तिक शुद्धि प्राप्त होती है जो कि आत्मा की सिद्धि कही जाती है । इसलिए भक्ति से भरे हुए भव्यों को निरन्तर इसी महापुराण ग्रन्थ की व्याख्या करनी चाहिए, इसे ही सुनना चाहिये, इसी का चिन्तन करना चाहिये, हर्ष से इसी की पूजा करनी चाहिए और इसे ही लिखना चाहिये ॥22-27॥

समस्त शास्त्रों के जाननेवाले एवं अखण्ड चारित्र के धारक मुनिराज लोकसेन कवि, गुणभद्राचार्य के शिष्यों में मुख्य शिष्य थे । इन्होंने इस पुराण को सहायता देकर अपनी उत्कृष्ट गुरु-विनय को सत्पुरुषों के द्वारा मान्यता प्राप्त कराई थी ॥28॥

जिनके ऊँचे हाथी अपने मद रूपी नदी के समागम से कलंकित गंगा नदी का कटु जल बार-बार पीकर प्यास से रहित हुए थे तथा समुद्र की तरंगों से जो मन्द-मन्द हिल रहा था और जिसमें सूर्य की किरणों की प्रभा अस्त हो जाती थी ऐसे कुमारी-पर्वत के सघन चन्दनवन में बार-बार विश्राम लेते थे ।

भावार्थ-जिनकी सेना दक्षिण से लेकर उत्तर में गंगा नदी तक कई बार घूमी थी ॥29॥

लक्ष्मी के रहने के तीन स्थान प्रसिद्ध हैं-एक क्षीर-समुद्र, दूसरा नारायण का वक्षःस्थल और तीसरा कमल । इनमें से क्षीरसमुद्र में लक्ष्मी को सुख इसलिए नहीं मिला कि वह पर्वत के द्वारा मथा गया था, नारायण के वक्षःस्थल में इसलिए नहीं मिला कि वहाँ गोपियों के स्तनों का बार-बार आघात लगता था और कमल में इसलिए नहीं मिला कि उसके दल सूर्य की किरणों से दिन में तो खिल जाते थे परन्तु रात्रि में संकुचित हो जाते थे । इस तरह लक्ष्मी इन तीनों स्थानों से हट कर, भुज रूप स्तम्भों के आधार से अत्यन्त सुदृढ तथा हारों के समूह रूपी तोरणों से सुसज्जित जिनके विशाल वक्षःस्थल-रूपी घर में रहकर चिरकाल तक सुख को प्राप्त हुई थी ॥30॥

जिन्होंने समस्त शत्रु नष्ट कर दिये थे, और जो निर्मल यश को प्राप्त थे ऐसे राजा अकालवर्ष जब इस समस्त पृथिवी का पालन कर रहे थे

तथा कमलाकर के समान अपने प्रपितामह मुकुल के वंश को विकसित करनेवाले सूर्य के प्रताप के समान जिसका प्रताप सर्वत्र फैल रहा था, जिसने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध शत्रु रूपी अंधकार को नष्ट कर दिया था, जो चेल्ल पताका वाला था-जिसकी पताका में मयूर का चिह्न था-चेल्ल-ध्वज का अनुज था, चेल्ल-केतन (बंकेय) का पुत्र था, जैनधर्म की वृद्धि करनेवाला था, और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का धारक था ऐसा श्रीमान् लोकादित्य राजा, अपने पिता के नाम पर बसाये हुए अतिशय प्रसिद्ध बंकापुर नाम के श्रेष्ठ नगर में रहकर कण्टक रहित समस्त वनवास देश का सुखपूर्वक चिरकाल से पालन करता था ॥32-34॥

तब महामंगलकारी और समस्त मनुष्यों को सुख देनेवाले पिंगल नामक 820 शक संवत् में श्री पंचमी (श्रावण वदी 5) गुरुववार के दिन पूर्वा फाल्गुनी स्थित सिंह लग्न में जब कि बुध आर्द्रा नक्षत्र का, शनि मिथुन राशि का, मंगल धनुष राशि का, राहु तुला-राशि का, सूर्य, शुक्र कर्क-राशि का, और वृहस्पति वृष-राशि पर था तब यह उत्तरपुराण ग्रंथ पूर्ण हुआ था, उसी दिन भव्यजीवों ने इसकी पूजा की थी। इस प्रकार सर्व श्रेष्ठ एवं पुण्यरूप यह पुराण संसार में जयवन्त हैं ॥35-36॥

जब तक पृथिवी है, आकाश, चन्द्रमा है, सूर्य है, सुमेरू है, और दिशाओं का विभाग है, तब तक सज्जनों के वचन में, चित्त में और कान में यह पवित्र महापुराण स्थिति को प्राप्त हो अर्थात् सज्जन पुरुष वचनों-द्वारा इसकी चर्चा करें, हृदय में इसका विचार करें और कानों से इसकी कथा श्रवण करें ॥37॥

इस महापुराण में धर्मशास्त्र, मोक्ष का मार्ग है, कविता है, और तीर्थकरों का चरित्र है अथवा कविराज जिनसेन के मुखारविन्द से निकले हुए वचन किनका मन हरण नहीं करते ? ॥38॥

महाप्राचीन पुराण पुरुष भगवान् आदिनाथ के इस पुराण में कवियों के स्वामी इन जिनसेनाचार्य ने ऐसा कुछ अद्भुत कार्य किया है कि इसके रहते कविलोग काव्य की चर्चाओं में कभी भी हृदय-रहित नहीं होते ॥39॥

वे जिनसेनाचार्य जयवन्त रहें जो कि कवियों के द्वारा स्तुत्य हैं, निर्मल मुनियों के समूह जिनकी स्तुति करते हैं, भव्य जीवों का समूह जिनका स्तवन करता है, जो समस्त गुणों से सहित हैं, दुष्टवादी रूपी हाथियों को जीतने के लिए सिंह के समान हैं, समस्त शास्त्रों के जाननेवाले हैं, और सब राजाधिराज जिन्हें नमस्कार करते हैं ॥40॥

हे मित्र ! यदि तेरा चित्त, समस्त कवियों के द्वारा कहे हुए सुभाषितों का समूह सुनने में सरस है तो तू कवि श्रेष्ठ जिनसेनाचार्य के मुखारविन्द से कहे हुए इस पुराण के सुनने में अपने कर्ण निकट कर ॥41॥

वे गुणभद्राचार्य भी जयवन्त रहें जो कि समस्त योगियों के द्वारा वन्दनीय हैं, समस्त श्रेष्ठ कवियों में अग्रगामी हैं, आचार्यों के द्वारा वन्दना करने के योग्य हैं, जिन्होंने काम-विलास को जीत लिया है, जिनकी कीर्ति रूपी पताका समस्त दिशाओं में फहरा रही है, जो पापरूपी वृक्ष के नष्ट करने में कुठार के समान हैं और समस्त राजाओं के द्वारा वन्दनीय हैं ॥42॥

'यह महापुराण केवल पुराण ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि यह अद्भुत धर्मशास्त्र है, इसकी कथाएं श्रवणीय हैं-अत्यन्त मनोहर हैं, यह त्रेशठ शलाका-पुरुषों का व्याख्यान है, चरित्र वर्णन करने का मानों समुद्र ही है, इसमें कोई अद्भुत कविता का गुण है, और कविलोग भी इसके वचनरूपी कमलों पर भ्रमरों के समान आसक्त हैं, यथार्थ में इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीगुणभद्राचार्य स्वयं कोई अद्भुत कवि हैं' ॥43॥